एम.ए. उत्तरार्द्ध

समाजशास्त्र, चतुर्थ प्रश्नपत्र

शिक्षा और समाज

(EDUCATION AND SOCIETY)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Madhavi Lata Dubey
   Professor
   Govt. Dr. Shyama Prasad Mukharjee Science and Commerce College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Archana Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Madhavi Lata Dubey
   Professor
   Govt. Dr. Shyama Prasad Mukharjee Science and Commerce College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Archana Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr. Sitesh Saraswat, Reader, Department of Education, Bhagwati College of Education, Meerut
Units (1.3.2, 2.5, 2.5.2-2.5.4, 3.3, 4.2, 4.2.2, 4.2.4-4.2.8, 4.4, 4.5)
Dr. Saidur Rahman, Associate Professor, Department of Sociology and Social Work, College of Arts and Social Sciences, Eritrea Institute of Technology, Ministry of Education, Asmara, Eritrea
Unit (1.5.2)
Dr. Reena Sharma, Associate Professor, Department of Sociology, S.D. P.G. College, Ghaziabad
Units (1.0-1.1, 1.2.3-1.2.5, 1.3-1.3.1, 1.4-1.4.4, 1.5-1.5.1, 1.6-1.6.1, 1.7-1.12, 2.0-2.5.1, 2.6, 2.7-2.7.2, 2.8-2.8.4, 2.9-2.13, 3.0-3.2, 3.4, 3.5, 3.6.4, 3.7-3.11, 4.0-4.1, 4.2.1, 4.2.3, 4.3, 4.6-4.6.6, 4.7-4.11)
Dr. Upasana Ray, Assistant Professor, Centre for Education, Central University of Jharkhand, Ranchi
Dr. Surjoday Bhattacharya, Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh, U.P.
Girish Kumar Tiwari, Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi
Unit (1.2-1.2.2)
Dr. Namrata Prasad, Lecturer, Department of Sociology, Bapu Post Graduate College, Pipiganj, Gorakhpur, U.P.
Unit (1.6.2-1.6.3)
Dr. Rakhi Mittal, Associate Professor, Ginni Devi Modi Girls P.G. College, Modinagar, Ghaziabad
Unit (3.6-3.6.3)
Dr. Suman Lata, Lecturer, Department of Economics, Ginni Devi Modi Girls P.G. College, Modinagar, Ghaziabad, U.P.
Unit (2.8.5, 2.8.6)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

शिक्षा और समाज

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 शैक्षिक समाजशास्त्र के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य – शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा – शिक्षा की प्रकृति – शिक्षा के उद्देश्य – शिक्षा एवं समाज में संबंध – शिक्षा का क्षेत्र; प्रकार्यवाद – प्रकार्य की अवधारणा एवं विशेषताएं – प्रकार्यवाद पर विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण; संघर्ष / कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य / सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत – संघर्ष – समाजवाद की रेडिकल विचारधारा – कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य – सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत; परिघटना समाजशास्त्र : सूक्ष्म व्याख्यात्मक दृष्टिकोण – परिघटनावादी क्रियावाद – प्रतीकात्मक क्रियावाद; नारीवाद – नारीवादी आंदोलनों का इतिहास – नारीवाद : अर्थ एवं पृष्ठभूमि – नारीवाद : सिद्धांत एवं स्वरूप; आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद	**इकाई 1** : शिक्षा का समाजशास्त्र : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य **(पृष्ठ 3–105)**
इकाई–2 समाजीकरण, परिवार एवं सामाजिक वर्ग; समाजीकरण और शिक्षा – समाजीकरण – शिक्षा का समाजीकरण से सम्बन्ध; राज्य, विचारधारा और शैक्षिक नीति; राष्ट्रीय शिक्षा नीतियां : अर्थ, पृष्ठभूमि, लक्ष्य एवं मूल्यांकन – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तथा 1979 – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 – राममूर्ति समीक्षा समिति, 1990 का प्रतिवेदन – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020; शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण; सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता – सामाजिक परिवर्तन : कारक, प्रक्रिया एवं प्रतिमान – सामाजिक गतिशीलता; एक प्रणाली के रूप में स्कूल और एक प्रक्रिया के रूप में स्कूली शिक्षा – भाषा एक निर्देशन के रूप में – पाठ्यचर्या और समझ – पाठ्यचर्या : अर्थ एवं परिभाषा – पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत – आकलन और मूल्यांकन – परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में शिक्षक	**इकाई 2** : समाजीकरण, परिवार और सामाजिक वर्ग **(पृष्ठ 107–198)**
इकाई–3 बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा – बहुसंस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा – संस्कृति की सामान्य विशेषताएं; शैक्षिक अवसरों की समानता : समता, गुणवत्ता और दक्षता; शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व और प्रबंधन में लैंगिक असमानताएं – लैंगिक असमानता : तात्पर्य, परिभाषा, कारण और प्रभाव – लैंगिक असमानता के रूप – शिक्षा – रोजगार – नेतृत्व – प्रबंधन; शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी – सूचना प्रौद्योगिकी : अर्थ एवं परिभाषा – सूचना प्रौद्योगिकी का महत्व; शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद – एम. के. गांधी – पाउलो फ्रेइरे – इवान इलिच – जातीयता एवं शिक्षा	**इकाई 3** : बहु–संस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा **(पृष्ठ 199–274)**
इकाई–4 सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ : भारत में पूर्व औपनिवेशिक और औपनिवेशिक काल में शिक्षा – समाज में शिक्षा का महत्व व उद्देश्य – शिक्षा की ऐतिहासिक प्रणालियां – 300 ई. पू. भारत में शिक्षा व्यवस्था – ब्राह्मण युग में शिक्षा – बौद्ध युग में शिक्षा – मुस्लिमयुगीन शिक्षा – भारत में पूर्व औपनिवेशिक काल में शिक्षा – भारत में औपनिवेशिक काल में शिक्षा; शिक्षा, विविधता और असमानताएं – क्षेत्र – जनजाति – जाति – लिंग – ग्रामीण एवं शहरी आवास; शिक्षा और आधुनिकीकरण; शिक्षा में समता और समानता : सकारात्मक भेदभाव और आरक्षण; लैंगिक असमानता : लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा – लैंगिक समानता एवं शिक्षा को प्रभावित करने वाले कारक – लैंगिक समानता में पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों की भूमिका – शिक्षक की भूमिका – लैंगिक समानता और सहपाठी प्रभाव – लैंगिक समानता की चुनौतियां – लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा के लिए सरकारी प्रयास	**इकाई 4** : भारत में शिक्षा और समाज **(पृष्ठ 275–378)**

विषय–सूची

परिचय **1**

इकाई 1 शिक्षा का समाजशास्त्र : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य **3–105**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 शैक्षिक समाजशास्त्र के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य
  1.2.1 शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा
  1.2.2 शिक्षा की प्रकृति
  1.2.3 शिक्षा के उद्देश्य
  1.2.4 शिक्षा एवं समाज में संबंध
  1.2.5 शिक्षा का क्षेत्र
1.3 प्रकार्यवाद
  1.3.1 प्रकार्य की अवधारणा एवं विशेषताएं
  1.3.2 प्रकार्यवाद : विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण
1.4 संघर्ष/कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य/सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत
  1.4.1 संघर्ष
  1.4.2 समाजवाद की रेडिकल विचारधारा
  1.4.3 कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य
  1.4.4 सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत
1.5 परिघटना समाजशास्त्र : सूक्ष्म व्याख्यात्मक दृष्टिकोण
  1.5.1 परिघटनावादी क्रियावाद
  1.5.2 प्रतीकात्मक क्रियावाद
1.6 नारीवाद
  1.6.1 नारीवादी आंदोलनों का इतिहास
  1.6.2 नारीवाद : अर्थ एवं पृष्ठभूमि
  1.6.3 नारीवाद : सिद्धांत एवं स्वरूप
1.7 आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद
1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 समाजीकरण, परिवार और सामाजिक वर्ग **107–198**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 समाजीकरण, परिवार एवं सामाजिक वर्ग
2.3 समाजीकरण और शिक्षा
  2.3.1 समाजीकरण
  2.3.2 शिक्षा का समाजीकरण से सम्बन्ध
2.4 राज्य, विचारधारा और शैक्षिक नीति

2.5 राष्ट्रीय शिक्षा नीतियां : अर्थ, पृष्ठभूमि, लक्ष्य एवं मूल्यांकन
2.5.1 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तथा 1979
2.5.2 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986
2.5.3 राममूर्ति समीक्षा समिति, 1990 का प्रतिवेदन
2.5.4 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020
2.6 शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण
2.7 सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता
2.7.1 सामाजिक परिवर्तन : कारक, प्रक्रिया एवं प्रतिमान
2.7.2 सामाजिक गतिशीलता
2.8 एक प्रणाली के रूप में स्कूल और एक प्रक्रिया के रूप में स्कूली शिक्षा
2.8.1 भाषा एक निर्देशन के रूप में
2.8.2 पाठ्यचर्या और समझ
2.8.3 पाठ्यचर्या : अर्थ एवं परिभाषा
2.8.4 पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत
2.8.5 आकलन और मूल्यांकन
2.8.6 परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में शिक्षक
2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.10 सारांश
2.11 मुख्य शब्दावली
2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 बहु–संस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा **199–274**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा
3.2.1 बहुसंस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा
3.2.2 संस्कृति की सामान्य विशेषताएं
3.3 शैक्षिक अवसरों की समानता : समता, गुणवत्ता और दक्षता
3.4 शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व और प्रबंधन में लैंगिक असमानताएं
3.4.1 लैंगिक असमानता : तात्पर्य, परिभाषा, कारण और प्रभाव
3.4.2 लैंगिक असमानता के रूप
3.4.3 शिक्षा
3.4.4 रोजगार
3.4.5 नेतृत्व
3.4.6 प्रबंधन
3.5 शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी
3.5.1 सूचना प्रौद्योगिकी : अर्थ एवं परिभाषा
3.5.2 सूचना प्रौद्योगिकी का महत्व
3.6 शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद
3.6.1 एम. के. गांधी
3.6.2 पाउलो फ्रेइरे
3.6.3 इवान इलिच
3.6.4 जातीयता एवं शिक्षा
3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली

3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 भारत में शिक्षा और समाज **275–378**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ : भारत में पूर्व औपनिवेशिक और औपनिवेशिक काल में शिक्षा
- 4.2.1 समाज में शिक्षा का महत्व व उद्देश्य
- 4.2.2 शिक्षा की ऐतिहासिक प्रणालियां
- 4.2.3 300 ई. पू. भारत में शिक्षा व्यवस्था
- 4.2.4 ब्राह्मण युग में शिक्षा
- 4.2.5 बौद्ध युग में शिक्षा
- 4.2.6 मुस्लिमयुगीन शिक्षा
- 4.2.7 भारत में पूर्व औपनिवेशिक काल में शिक्षा
- 4.2.8 भारत में औपनिवेशिक काल में शिक्षा

4.3 शिक्षा, विविधता और असमानताएं
- 4.3.1 क्षेत्र
- 4.3.2 जनजाति
- 4.3.3 जाति
- 4.3.4 लिंग
- 4.3.5 ग्रामीण एवं शहरी आवास

4.4 शिक्षा और आधुनिकीकरण
4.5 शिक्षा में समता और समानता : सकारात्मक भेदभाव और आरक्षण
4.6 लैंगिक असमानता : लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा
- 4.6.1 लैंगिक समानता एवं शिक्षा को प्रभावित करने वाले कारक
- 4.6.2 लैंगिक समानता में पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों की भूमिका
- 4.6.3 शिक्षक की भूमिका
- 4.6.4 लैंगिक समानता और सहपाठी प्रभाव
- 4.6.5 लैंगिक समानता की चुनौतियां
- 4.6.6 लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा के लिए सरकारी प्रयास

4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'शिक्षा और समाज' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. समाजशास्त्र (उत्तरार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक मनुष्य की प्राकृतिक क्षमता को विकसित करना होता है। समाज से तात्पर्य सामाजिक संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था से है। वर्तमान समय में समाज में अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। जहां तक शिक्षा और समाज के समाजशास्त्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की बात है वहां यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि आज मानव जिस स्थिति में है, इसके लिए शिक्षा के क्षेत्र में अतीत से वर्तमान तक हुए परिवर्तनों को उत्तरदायी माना जा सकता है। शिक्षा का समाजशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र एवं मनुष्यों के मनोविज्ञान के मध्य एक स्पष्ट संबंध स्थापित करता है। मानव समाज में होने वाले परिवर्तन अनेक प्रक्रियाओं से संबंधित होते हैं। सामाजिक प्रक्रिया अंतःक्रियाओं की एक शृंखला होती है जिसकी निश्चित दिशा एवं परिमाण होता है।

सभ्यता और संस्कृति का दर्पण होता है समाज, और समाज का विकास मूलतः शिक्षा पर ही निर्भर करता है। ऐसे में शिक्षा का समाजोन्मुख होना एक अनिवार्य स्वाभाविकता है। शैक्षणिक समाजशास्त्र, शिक्षा पर सामाजिक प्रतिक्रिया एवं सामाजिक प्रतिक्रियाओं पर शिक्षा के प्रभावों के बारे में अध्ययन करने का विज्ञान है। शिक्षा समाज में और समाज के ही लिए होने वाली एक अभिक्रिया होती है जिसका उद्देश्य एवं प्रविधियां उस समाज की स्थिति और परिस्थिति पर भी निर्भर करती हैं।

इस पुस्तक में शिक्षा और समाज के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में अहम पहलुओं का सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक इकाई के आरंभ में विषय–विश्लेषण से पूर्व उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए पुस्तक को चार इकाइयों में समायोजित किया गया है, जिनका विवरण निम्नांकित है–

पहली इकाई शिक्षा के समाजशास्त्र के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित है, जिसमें प्रकार्यात्मक, संघर्ष, सांस्कृतिक प्रजनन आदि सिद्धांतों के व्याख्यात्मक दृष्टिकोण, नारीवाद, आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद का विवेचन किया गया है।

दूसरी इकाई समाजीकरण और सामाजिक वर्ग पर केंद्रित है। इसमें सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक गतिशीलता, राज्य, विचारधारा और शैक्षिक नीति, एक प्रणाली के रूप में स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया आदि तथ्यों को समझाया गया है।

टिप्पणी

तीसरी इकाई में बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा; शैक्षिक अवसरों की समानता, गुणवत्ता और दक्षता; शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व व प्रबंधन क्षेत्रों में असमानता; सूचना प्रौद्योगिकी एवं शिक्षा; शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद के अंतर्गत एम. के. गांधी, पाउलो फ्रेइरे, इवान इलिच जैसे महापुरुषों का शिक्षा में योगदान का विश्लेषण किया गया है।

चौथी इकाई भारत में शिक्षा और समाज पर आधारित है। इसमें सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ में, भारत में पूर्व औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिक काल में शिक्षा की स्थिति; शिक्षा, विविधता और असमानताएं, शिक्षा और आधुनिकीकरण, शिक्षा में सकारात्मक भेदभाव, लैंगिक असमानता जैसे लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा में असमानताओं आदि तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षा और समाज के कतिपय पहलुओं का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इन इकाइयों के अध्ययन से छात्र तत्संदर्भित विषयों से भली–भांति अवगत हो सकेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करेगी।

इकाई 1 शिक्षा का समाजशास्त्र : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 शैक्षिक समाजशास्त्र के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य
  1.2.1 शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा
  1.2.2 शिक्षा की प्रकृति
  1.2.3 शिक्षा के उद्देश्य
  1.2.4 शिक्षा एवं समाज में संबंध
  1.2.5 शिक्षा का क्षेत्र
1.3 प्रकार्यवाद
  1.3.1 प्रकार्य की अवधारणा एवं विशेषताएं
  1.3.2 प्रकार्यवाद : विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण
1.4 संघर्ष/कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य/सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत
  1.4.1 संघर्ष
  1.4.2 समाजवाद की रेडिकल विचारधारा
  1.4.3 कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य
  1.4.4 सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत
1.5 परिघटना समाजशास्त्र : सूक्ष्म व्याख्यात्मक दृष्टिकोण
  1.5.1 परिघटनावादी क्रियावाद
  1.5.2 प्रतीकात्मक क्रियावाद
1.6 नारीवाद
  1.6.1 नारीवादी आंदोलनों का इतिहास
  1.6.2 नारीवाद : अर्थ एवं पृष्ठभूमि
  1.6.3 नारीवाद : सिद्धांत एवं स्वरूप
1.7 आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद
1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

शिक्षा का समाजशास्त्र सार्वजनिक संस्थाओं एवं व्यक्तिगत अनुभवों की शिक्षा एवं इसके परिणामों का अध्ययन होता है। शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक मनुष्य की प्राकृतिक क्षमता को विकसित करना होता है। हम जानते हैं कि मानव समाज मनुष्यों के परस्पर संबंधों की एक परिवर्तनशील एवं अत्यंत जटिल व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था में समाज के अंदर मनुष्यों का परस्पर व्यवहार, मेल–जोल, क्रिया–कलाप, कर्तव्य, अधिकार एवं नियंत्रण आदि सम्मिलित होते हैं। समाज के अंदर मात्र मनुष्यों के संबंध नहीं वरन् मनुष्यों की अंतःक्रियाओं एवं परस्पर आंतरिक संबंधों का समावेश होता है।

मैकाइवर के अनुसार– "समाज का विस्तृत अर्थ यह है कि समाज के अंदर प्रत्येक प्रकार एवं वंश के संबंधों का समावेश होता है जिसमें मनुष्यों द्वारा किसी दूसरे सामाजिक प्राणी से परस्पर संबंध स्थापित किए जाते हैं।"

टिप्पणी

समाज का अभिप्राय सामाजिक संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था से होता है। वर्तमान समय में समाज में अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों में शिक्षा की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका है। इसी कारण से शैक्षिक विचारधारा में नई–नई प्रवृत्तियां एवं विधाएं अस्तित्व में आ रही हैं। इन नवीन प्रवृत्तियों के उभरने के परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में भी बहुत से परिवर्तन हो रहे हैं। शैक्षिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की वह शाखा है जिसमें शिक्षा एवं समाज के ताने–बाने को समझने का प्रयास किया जाता है।

प्रस्तुत इकाई में शिक्षा के समाजशास्त्र के सिद्धांत, प्रकार्यात्मकता, संघर्ष सिद्धांत, कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य, सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत, सूक्ष्म व्याख्यात्मक दृष्टिकोण, नारीवाद, आधुनिकतावाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- शिक्षा के समाजशास्त्र के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को समझ पाएंगे;
- प्रकार्यवाद के सैद्धांतिक दृष्टिकोण से परिचित हो पाएंगे;
- समाजशास्त्र के संघर्ष सिद्धांत से अवगत हो पाएंगे;
- परिघटनावादी एवं प्रतीकात्मक क्रियावाद के व्याख्यात्मक दृष्टिकोण को समझ पाएंगे;
- नारीवाद, आधुनिकतावाद तथा उत्तर आधुनिकतावाद की समीक्षा कर पाएंगे।

1.2 शैक्षिक समाजशास्त्र के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

इस विषय का अध्ययन निम्नानुसार किया जा सकता है।

1.2.1 शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

'शिक्षा' शब्द संस्कृत भाषा के 'शिक्ष्' धातु में 'अ' प्रत्यय लगने से बना है। 'शिक्ष्' धातु का अर्थ होता है– सीखना और सिखाना। इसलिए 'शिक्षा' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है–'सीखने एवं सिखाने' की क्रिया। आंग्ल भाषा में शिक्षा शब्द के लिए 'एजुकेशन' (Education) शब्द का प्रयोग किया जाता है। आंग्ल भाषा का यह शब्द लैटिन भाषा के 'एजुकेटम' (Educatum) शब्द से बना है और एजुकेटम शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के ही दो शब्दों 'ए' (E) तथा ड्यूको (Duco) से हुई है। 'ए' का अर्थ है– 'अंदर' से और ड्यूको का अर्थ है–'आगे बढ़ाना'। इसलिए 'एजुकेशन' का अर्थ है– बालक में अंतर्निहित शक्तियों को विकसित करना। इस प्रकार, शाब्दिक अर्थ में, शिक्षा बालक में अंतर्निहित शक्तियों के विकास एवं प्रकटीकरण की प्रक्रिया है।

टिप्पणी

भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पर्यायवाची के रूप में विद्या तथा ज्ञान शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। विद्या शब्द का उद्‌गम "विद्" धातु से हुआ है, जिसका अर्थ होता है– "जानना", "पता लगाना" अथवा "सीखना"। बाद में "विद्या" शब्द पाठ्यक्रम के रूप में रूढ़ हो गया। आरंभ में विद्या के अंतर्गत चार विषयों का समावेश किया गया, कुछ समय पश्चात मनु ने "आत्म–विद्या" नामक पंचम विद्या का एक नया प्रकार भी जोड़ा। शनैः–शनैः विद्या की संख्या चौदह हो गई, जिनमें वेद, वेदांग, धर्म, न्याय, मीमांसा आदि का समावेश किया गया, परंतु मूलतः विद्या शब्द का अर्थ ज्ञातव्य के रूप में ही प्रचलित रहा।

आधुनिक धारणा के अनुसार, शिक्षा, बालक के अंदर छिपी हुई समस्त शक्तियों को सामाजिक वातावरण में विकसित करने की कला है। प्राचीन शिक्षा के अंतर्गत निर्देशन पर बल दिया जाता था। मस्तिष्क 'एक खाली बर्तन' तथा 'एक कोरी स्लेट' आदि प्राचीन धारणाओं का खंडन करते हुए आजकल इस बात पर बल दिया जाता है कि न तो मस्तिष्क एक खाली बर्तन के समान है, जिसको भरने के लिए निर्देशन द्वारा ज्ञान को बाहर से भरना होगा अथवा न ही वह एक कोरी स्लेट है, जिस पर विषय–वस्तु को अंकित करना पड़े। वस्तुस्थिति यह है कि मस्तिष्क जन्म से ही सक्रिय होता है तथा इसमें वातावरण से संबंध स्थापित करने की शक्ति होती है। आधुनिक शिक्षा, शिक्षण की अपेक्षा सीखने पर बल देती हुई मार्गदर्शन, अभिवृद्धि तथा सामाजिक विकास के रूप में उपस्थित होती है।

प्राचीन शिक्षा बालक के मानसिक विकास पर बल देती थी, जिसके अनुसार केवल ज्ञानार्जन को ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य माना जाता था। आधुनिक शिक्षाशास्त्री व्यक्ति की प्रकृति का अध्ययन करते हुए मानसिक विकास के साथ ही उसके शारीरिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास पर भी बल देते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य है– बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा उसमें सामाजिक कुशलता के गुणों का विकास करना।

प्राचीन धारणा के अनुसार, पाठ्यक्रम में केवल उन विषयों को ही सम्मिलित किया जाता था, जिनके अध्ययन से बालक का मानसिक विकास हो जाए। इसका पाठ्यक्रम पूर्व निर्धारित होता था। आधुनिक युग में बालक के सर्वांगीण विकास हेतु पाठ्यक्रम संबंधी तथा सहगामी दोनों प्रकार की क्रियाओं एवं अनुभवों को सम्मिलित करके पाठ्यक्रम को लचीला तथा प्रगतिशील बनाया जा रहा है। संक्षेप में, आधुनिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत ज्ञानार्जन संबंधी विषयों की अपेक्षा सामाजिक अध्ययन पर बल दिया जाता है।

शिक्षण पद्धतियां– शिक्षा की प्राचीन धारणा पाठ्यक्रम के सभी विषयों को कंठस्थ करने पर बल देती थी। इस रटन पद्धति के कारण शिक्षा निर्जीव तथा नीरस हो गयी थी। आधुनिक धारणा के अनुसार, बालक के सर्वांगीण विकास हेतु रटन–पद्धति की अपेक्षा बाल–केंद्रित विधियों तथा शिक्षण पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।

टिप्पणी

अनुशासन– प्राचीन धारणा के अनुसार, अनुशासन के लिए कठोर दंड अथवा केवल डंडे को ही शिक्षक की सहायक सामग्री समझा जाता था पर आधुनिक धारणा में आत्म–अनुशासन की भावना को विकसित करने पर बल दिया जाता है।

परीक्षा– परीक्षा के संबंध में प्राचीन धारणा ने निबंधात्मक परीक्षाओं को जन्म दिया, जिससे बालक की बौद्धिक शक्ति का पता लगाया जा सके। आधुनिक धारणा में वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं, प्रगति–पत्रों तथा वर्धनशील लिखित विवरण पर बल दिया जाता है, जिससे बालक की विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली प्रगति का आकलन किया जा सके।

शिक्षा के साधन– आधुनिक धारणा के अनुसार, शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल विद्यालय ही नहीं अपितु परिवार, समुदाय, धर्म तथा राज्य आदि सभी अनौपचारिक साधनों पर भी है। उक्त अनौपचारिक साधनों द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा का दीर्घकालीन प्रभाव होता है, इसलिए आधुनिक धारणा के अनुसार, सभी अनौपचारिक साधनों को विद्यालयरूपी औपचारिक साधन के साथ प्रदान किया जाता है।

विद्यालय– आधुनिक धारणा के अनुसार, विद्यालय को समाज का लघु रूप मानते हुए ऐसे रोचक तथा शिक्षाप्रद वातावरण के निर्माण पर बल दिया जाता है, जिसमें रहते हुए सभी बालक एक–दूसरे के संपर्क में आकर विभिन्न क्रियाओं द्वारा जीवन के वास्तविक अनुभवों को प्राप्त करता है। फ्रोबिल ने तो विद्यालय को उपवन की संज्ञा दी है, जिसमें रहते हुए बालक रूपी पौधा, शिक्षक रूपी माली की देख–रेख में वास्तविक रूप से विकसित होता रहता है।

शिक्षक– प्राचीन धारणा के अनुसार, शिक्षा, शिक्षक–प्रधान थी पर आधुनिक युग में शिक्षा का केंद्र–बिंदु बालक है। इस दृष्टि से आधुनिक धारणा के अनुसार, शिक्षक एक मित्र, दार्शनिक तथा पथ–प्रदर्शक है।

शिक्षा की परिभाषाएं

शिक्षा के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम भिन्न–भिन्न विद्वानों द्वारा दी गई इसकी परिभाषाओं पर चर्चा करेंगे। ये परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

उपनिषदों के अनुसार, ''सा विद्या वा विमुक्तये'' अर्थात शिक्षा वह है, जो मुक्ति दिलाए।

विवेकानंद के अनुसार, ''मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।''

पाश्चात्य दार्शनिकों में प्लेटो शिक्षा को निम्न शब्दों में परिभाषित करते हैं–

''शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को वह पूर्णता प्रदान करना है, जिसके कि वे योग्य हैं।''

अरस्तू के अनुसार, ''स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है।''

हरबर्ट स्पेंसर शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''शिक्षा का अर्थ अंतःशक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।''

टिप्पणी

जॉन डीवी के शब्दों में, ''शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है, जो उसमें अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।''

टी. रेमेंट कहते हैं, ''शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य शैशवकाल से प्रौढ़काल तक विकास करता है और जिसके द्वारा वह धीरे–धीरे अपने को अनेक प्रकार से अपने प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।''

पेस्टालॉजी के अनुसार, ''शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, समरस और प्रगतिशील विकास है।''

फ्रोबेल ने शिक्षा को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है :

''शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बालक अपनी आंतरिक शक्तियों को बाहर की ओर प्रकट करता है।''

शिक्षा की उपरोक्त परिभाषाओं पर यदि ध्यान दिया जाए तो एक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि उपरोक्त परिभाषाएं अपूर्ण हैं। ये सभी एकांगी हैं तथा किसी एक अनुशासन से संबंधित हैं। दर्शनशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाएं मोक्ष, मन, आत्मा एवं चारित्रिक विकास तथा शुद्धिकरण से संबंधित हैं तो समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाएं सामाजिक अनुकूलन से। वहीं मनोवैज्ञानिकों ने बालक की जन्मजात शक्तियों के संपूर्ण विकास को शिक्षा कहा है। ये क्षेत्र विशेष से संबंधित परिभाषाएं, शिक्षा के संपूर्ण अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकती हैं। शिक्षा के अर्थ की विशद व्याख्या, इन सभी परिभाषाओं में निहित तथ्यों को संकलित करके की जा सकती है। ये तथ्य निम्नलिखित हैं–

- शिक्षा एक सोद्देश्य प्रक्रिया है;
- शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है;
- शिक्षा एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है;
- शिक्षा विकास की प्रक्रिया है;
- इससे मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास होता है; तथा
- मनुष्य के व्यवहार में वांछित परिवर्तन कर उसे सशक्त एवं सभ्य नागरिक बनाया जाता है।

शिक्षा का अर्थ : विश्लेषण

यहां हम शिक्षा के अर्थ का विश्लेषण तीन रूपों में करेंगे– 1. शिक्षा का संकुचित अर्थ, 2. शिक्षा का व्यापक अर्थ तथा 3. शिक्षा का वास्तविक अर्थ। इन तीनों का विवरण इस प्रकार है–

शिक्षा का संकुचित अर्थ

संकुचित रूप से विद्यालय में प्रदान की जाने वाली शिक्षा को ही शिक्षा कहते हैं। इसके अंतर्गत एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार बालक को नियंत्रित वातावरण में निश्चित

टिप्पणी

ज्ञान को निश्चित विधि के द्वारा सीमाबद्ध समय में प्रदान किया जाता है ताकि उसका मानसिक विकास हो सके।

एस.एस. मैकेंजी ने शिक्षा के संकुचित अर्थ को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है–

''संकुचित दृष्टि से शिक्षा का अर्थ अपनी शक्तियों के विकास और सुधार के लिए किए गए किन्हीं भी चेतनापूर्ण प्रयासों से लगाया जा सकता है।''

प्रोफेसर ड्रीवर– ''शिक्षा एक प्रक्रिया है, जिसमें एक बालक के ज्ञान, चरित्र तथा व्यवहार को एक विशेष सांचे में ढाला जाता है।

जी.एच. थॉमसन– शिक्षा एक विशेष प्रकार का वातावरण है, जिसका प्रभाव बालक के चिंतन, दृष्टिकोण तथा व्यवहार करने की आदतों पर स्थायी रूप से परिवर्तन के लिए डाला जाता है।''

शिक्षा के इस अर्थ में शिक्षक का स्थान मुख्य होता है तथा बालक का गौण। शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह बालक को मानसिक दृष्टि से विकसित करने का प्रयास करे। ऐसे ज्ञान को प्राप्त करके बालक टैगोर द्वारा रचित 'तोता की कहानी' का तोता अवश्य बन जाता है परंतु उसका सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप वह अपने भावी जीवन में अनिश्चित रहता है। संक्षेप में, संकुचित अर्थ के अनुसार, शिक्षा बालक की स्वतंत्रता का गला घोंट कर उसके स्वाभाविक विकास को रोक देती है। ध्यान देने की बात है कि जहां इस रूप में विद्यालय में प्राप्त शिक्षा के कुछ दोष हैं, वहां अपना निजी महत्व भी है। मिल के शब्दों में– ''शिक्षा द्वारा एक पीढ़ी के लोग, दूसरी पीढ़ी के लोगों में संस्कृति का संक्रमण करते हैं ताकि वे उसका संरक्षण कर सकें और यदि संभव हो तो उसमें उन्नति भी कर सकें।''

शिक्षा का व्यापक अर्थ

व्यापक दृष्टि में शिक्षा का अर्थ बालक के उन सभी अनुभवों से है, जिनका प्रभाव उसके ऊपर जन्म से लेकर मृत्यु तक पड़ता है। अर्थात शिक्षा वह नियंत्रित वातावरण है, जिसमें रहते हुए बालक अपनी प्रकृति के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है। अन्य शब्दों में, शिक्षा जीवन–भर चलने वाली प्रक्रिया है। ऐसी शिक्षा किसी विशेष व्यक्ति, समय, स्थान अथवा देश तक ही सीमित नहीं रहती, अपितु जिन व्यक्तियों के संपर्क में आकर बालक कुछ भी सीखता है, वे सब उसके शिक्षक हैं। संक्षेप में, शिक्षा बालक के प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया है। रूसो ने भी शिक्षा के इसी अर्थ को दृष्टि में रखते हुए प्रकृतिवाद का नारा लगाया था।

शिक्षा के व्यापक अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कुछ अन्य विचारकों की निम्नलिखित पंक्तियों पर प्रकाश डाल रहे हैं–

1. एस.एस. मैकेंजी– ''व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जीवन–पर्यन्त चलती है तथा जीवन के प्रत्येक अनुभव में उससे वृद्धि होती है।''

टिप्पणी

2. एम.के. गांधी– ''शिक्षा का अर्थ, मैं बालक अथवा मनुष्य में आत्मा, शरीर और बुद्धि के सर्वांगीण और सबसे अच्छे विकास से समझता हूं।
3. डंविल– ''शिक्षा के व्यापक अर्थ में वे सभी प्रभाव आ जाते हैं, जो व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रभावित करते हैं।''

शिक्षा के व्यापक एवं संकुचित अर्थ में अंतर

नीचे इस अंतर को और स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है–

क्र.सं.	व्यापक शिक्षा	संकुचित शिक्षा
1.	शिक्षा एक जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।	यह पूरे जीवन चक्र में एक निश्चित अवधि तक ही सीमित है।
2.	इसमें औपचारिक, अनौपचारिक सभी प्रकार की शिक्षा व्यवस्था शामिल है।	इसमें सिर्फ औपचारिक शिक्षा ही शामिल है।
3.	शिक्षा की पाठ्यचर्या अति व्यापक होती है।	शिक्षा की पाठ्यचर्या संकुचित होती है।
4.	इस शिक्षा में विविध शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाता है।	इस शिक्षा में कुछ निश्चित विधियों का प्रयोग किया जाता है, जिनका वर्णन संभव है।
5.	इस शिक्षा के लिए किसी स्थान विशेष की आवश्यकता नहीं होती है।	यह शिक्षा विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रदान की जाती है।

शिक्षा का वास्तविक अर्थ

उपर्युक्त शीर्षकों में हमने शिक्षा के शाब्दिक, संकुचित, व्यापक तथा विश्लेषणात्मक अर्थों पर प्रकाश डाला है। अब हम शिक्षा के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश डालेंगे। संकुचित अर्थ में शिक्षा परिवर्तन विरोधी तथा सीमित है। इस अर्थ के अनुसार, बालक को एक नियंत्रित वातावरण में निश्चित पाठ्यक्रम के अंतर्गत पढ़ाया जाता है। इससे बालकों की रुचियों, क्षमताओं तथा योग्यताओं की अवहेलना होती है। ऐसे ही व्यापक अर्थ में शिक्षा अधिक उदार रूप ले लेती है। इस अर्थ के अनुसार, बालक को अनियंत्रित वातावरण में रखते हुए उसके स्वाभाविक विकास पर बल दिया जाता है। यदि शिक्षा के व्यापक अर्थ को स्वीकार कर लिया जाए तो बालक का सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से शिक्षा के संकुचित तथा व्यापक दोनों ही अर्थों में कमियां हैं। वस्तुस्थिति यह है कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जीवन का सच्चा आनंद लिया जा सकता है। अतः यदि बालक को एक सुखी, संपन्न तथा प्रसन्न जीवन का आनंद लेने के योग्य बनाना है तो शिक्षा के संकुचित तथा व्यापक दोनों अर्थों का समन्वय करके शिक्षा प्रदान करनी होगी। दोनों अर्थों का प्रगतिशील समन्वय हो जाने से शिक्षा ऐसी प्रक्रिया के रूप में उपस्थित हो जाती है, जो चेतन अथवा अचेतन रूप से बालक की व्यक्तिगत रुचियों, क्षमताओं, योग्यताओं तथा सामाजिक आदर्शों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा प्रदान करता है। आवश्यकतानुसार स्वतंत्रता प्रदान करते हुए

टिप्पणी

शिक्षा बालक का बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास इस प्रकार करती है ताकि व्यक्ति और समाज दोनों ही उन्नति के शिखर पर चढ़ते रहें।

शिक्षा के विभिन्न अर्थों, आधारों तथा परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा एक सापेक्ष, चेतन अथवा अचेतन, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक वातावरण संबंधी प्रक्रिया है। संक्षेप में, शिक्षा वातावरण संबंधी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मानव का विकास तथा समाज का कल्याण होना चाहिए। रेमांट ने भी शिक्षा को विकास की सचेतन तथा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया माना है, जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक, भौतिक तथा सामाजिक, आदि सभी प्रकार के विभिन्न वातावरणों से समायोजन प्राप्त करना सीख जाता है। अतः शिक्षा को परिभाषित करते हुए रेमांट ने उचित ही लिखा है– ''शिक्षा उस विकास का नाम है, जो शैशव अवस्था से प्रौढ़ अवस्था तक होता ही रहता है।'' अर्थात शिक्षा वह काम है, जिससे मानव अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।

शिक्षा अनवरत चलने वाली एक प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास तथा उसके ज्ञान एवं कला–कौशल में वृद्धि के द्वारा उसके व्यवहार में परिवर्तन करना है ताकि वह एक सभ्य एवं सुसंस्कृत नागरिक बनकर राष्ट्र के चहुंमुखी विकास में अपना योगदान दे सके।

यही शिक्षा का व्यापक अर्थ भी है। जे.एस. मैकेंजी ने शिक्षा के व्यापक अर्थ को परिभाषित करते हुए कहा कि– ''व्यापक दृष्टि से शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है और जीवन के प्रत्येक अनुभव के द्वारा इसका विकास होता है।'' सामान्यतः हम विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रदान की जाने वाली शिक्षा को ही औपचारिक शिक्षा कहते हैं। यह धारणा शिक्षा के संकुचित अर्थ को अभिव्यक्त करती है।

शिक्षा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने शिक्षा के संकुचित एवं व्यापक अर्थ पर प्रकाश डाला है। शिक्षा के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसके निम्नलिखित तत्वों को समझना आवश्यक है–

1. **शिक्षा का स्थान**– शिक्षा का स्थान केवल विद्यालय तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका कार्यक्रम जन्म से लेकर मृत्यु तक चलता ही रहता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन यात्रा में हर क्षण कुछ नया सीखता है।
2. **शिक्षा का अर्थ**– शिक्षा का अर्थ बालक की जन्मजात शक्तियों का सर्वांगीण विकास करना है, ज्ञान को बलपूर्वक ठूंसना नहीं। एडिसन का मत है– ''शिक्षा के द्वारा मानव के अंतर में निहित उन सभी शक्तियों तथा गुणों का दिग्दर्शन करना, जिनको शिक्षा की सहायता के बिना अंदर से बाहर निकालना नितांत असंभव है।''

टिप्पणी

3. **शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में**– शिक्षा जड़ नहीं अपितु एक प्रगतिशील प्रक्रिया है, जो बालक को देश, काल, परिस्थिति के अनुसार प्रगति की ओर अग्रसर करती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि शिक्षा का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति सोच–विचार कर क्रियाशील होता है।

4. **शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया के रूप में**– प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एडम्स ने अपनी पुस्तक में शिक्षा को एक द्विमुखी प्रक्रिया मानते हुए इसका निम्नलिखित ढंग से विश्लेषण किया है–

   (क) शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है, जिसमें एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, जिससे व्यवहार में परिवर्तन आता है।

   (ख) यह प्रक्रिया केवल सचेतन ही नहीं है अपितु विचारपूर्ण भी है, जिसमें शिक्षक का प्रयोजन होता है और वह उसी के अनुसार बालक के व्यवहार में परिवर्तन करता है।

   (ग) वे साधन, जिनके द्वारा बालक के व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है, दो हैं– (अ) शिक्षक के व्यक्तित्व का बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव, तथा (ब) ज्ञानार्जन की विभिन्न विधियां।

   शिक्षा रूपी द्विमुखी प्रक्रिया की दो धुरियां हैं। एक धुरी शिक्षक है तथा दूसरी धुरी बालक। शिक्षा में शिक्षक तथा बालक दोनों का महत्व समान होता है। यदि शिक्षक सिखाता है तो बालक सीखता है। इस प्रकार, शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक तथा बालक दोनों के बीच परस्पर आदान–प्रदान होता है। शिक्षक अपने व्यक्तित्व तथा ज्ञान के विभिन्न अंगों के प्रभाव से बालक के व्यवहार में परिवर्तन तथा सुधार लाता है। इस प्रकार, दोनों के सक्रिय सहयोग से शिक्षा की प्रक्रिया चलती रहती है।

5. **शिक्षा–त्रिमुखी प्रक्रिया के रूप में**– प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी ने भी एडम्स की भांति शिक्षा को एक प्रक्रिया माना है। परंतु दोनों शिक्षाशास्त्रियों के विचारों में अंतर है। संक्षेप में जॉन डीवी के अनुसार, शिक्षा की प्रक्रिया के दो पक्ष हैं– (क) मनोवैज्ञानिक तथा (ख) सामाजिक। डीवी ने बताया है कि यद्यपि यह बात निर्विवाद सत्य है कि बालक को शिक्षित करने के लिए उसकी जन्मजात शक्तियों का ज्ञान होना परम आवश्यक है, पर समाज से अलग रहकर बालक की शिक्षा नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, समाज के सहयोग के बिना बालक के मनोवैज्ञानिक पक्ष का विकास उचित दिशा में नहीं हो सकता। शिक्षा, बालक को उस समाज के लिए शिक्षित करने के लिए है, जिसका उसे आगे चलकर सदस्य बनना है। इस दृष्टि से बालक की शिक्षा, समाज के माध्यम से ही होनी चाहिए। समाज ही यह निश्चित करेगा कि बालक को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार कौन–कौन से विषय,

टिप्पणी

किस–किस शिक्षण पद्धति के द्वारा पढ़ाए जाए। इस दृष्टि से शिक्षा की प्रक्रिया में पाठ्यक्रम का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि पाठ्यक्रम नहीं होगा तो शिक्षक क्या पढ़ाएगा और बालक क्या पढ़ेगा? पाठ्यक्रम ही एक ऐसी धुरी है, जो शिक्षक तथा बालक रूपी दोनों धुरियों को मिलाती है। ऐसी स्थिति में यदि शिक्षा की प्रक्रिया में पाठ्यक्रम को सम्मिलित कर लिया जाए, तो हम शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया न कहकर त्रिमुखी प्रक्रिया मानेंगे।

1.2.2 शिक्षा की प्रकृति

शिक्षा, मानव जीवन के लगभग सभी पक्षों से संबंधित है। अतः यह प्रत्येक अनुशासन से भी संबंधित है और विभिन्न विद्वानों ने इस पर विचार भी किया है। उन सब विद्वानों के दृष्टिकोणों को समेकित करने पर शिक्षा की प्रकृति के संबंध में अग्रलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं–

1. शिक्षा एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है;
2. शिक्षा अनवरत चलती रहती है;
3. शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि इसके उद्देश्य समाज द्वारा निर्धारित किए जाते हैं और यह प्रक्रिया समाज में ही संपन्न की जाती है;
4. शिक्षा के उद्देश्य विकासोन्मुख होते हैं, इस प्रकार यह विकास की प्रक्रिया है;
5. शिक्षा समाज की संरचना, उसके धर्म–दर्शन, शासन तंत्र आदि पर निर्भर करती है;
6. समाज का जैसा स्वरूप होता है, वैसा ही शिक्षा का स्वरूप होता है; तथा
7. शिक्षा गतिशील है क्योंकि इसका स्वरूप, समाज के स्वरूप में परिवर्तन के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है।

शिक्षा के अंग

हम शिक्षा के विश्लेषणात्मक अध्ययन में देख चुके हैं कि शिक्षा को जॉन डीवी ने एक त्रिमुखी प्रकिया का रूप दिया है। अब हम इस प्रक्रिया को विस्तार में देखेंगे। डीवी के अनुसार, शिक्षा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है अर्थात शिक्षा के तीन अंग हैं– (1) शिक्षक, (2) बालक तथा (3) पाठ्यक्रम।

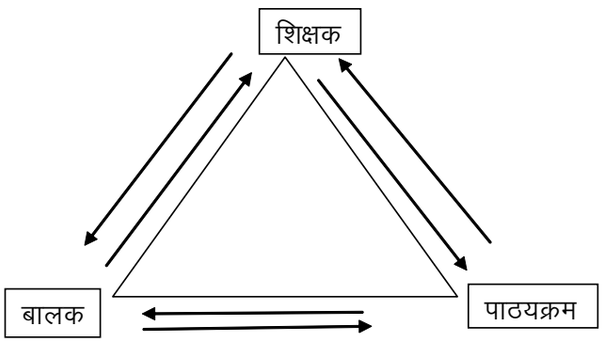

टिप्पणी

निम्नलिखित पंक्तियों में हम शिक्षा के उक्त तीनों अंगों पर अलग–अलग प्रकाश डाल रहे हैं–

- **शिक्षक**– वर्तमान काल के विपरीत प्राचीन युग में शिक्षक को मुख्य स्थान प्राप्त था तथा बालक को गौण। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक शिक्षा में शिक्षक का स्थान यद्यपि गौण हो गया है तथा बालक का मुख्य, इसके बावजूद शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से और भी अधिक बढ़ गया है। इसका कारण यह है कि आधुनिक युग में शिक्षक केवल बालक के वातावरण का एक महत्वपूर्ण अंग ही नहीं है, अपितु वह संपूर्ण वातावरण का निर्माणकर्ता भी है। शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक के दो कार्य हैं–

  (1) अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करना है तथा

  (2) ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना, जिनमें रहते हुए बालक उन क्रियाशीलनों तथा अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सके, जिनके द्वारा उसकी समस्त आवश्यकताएं पूरी होती रहें। वह एक संपन्न जीवन व्यतीत करते हुए समाज के कल्याण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सके।

  इसके अतिरिक्त शिक्षा के उद्देश्यों में से एक मुख्य उद्देश्य, बालक के चरित्र का निर्माण करना भी है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव विशेष महत्व रखता है। यदि शिक्षक का चरित्र उच्च कोटि का होगा तो उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से बालक में भी चारित्रिक गुण अवश्य विकसित हो जाएंगे। अन्यथा विपरीत फलाफल के रूप में बालक का मार्ग भ्रमित भी हो सकता है। इस दृष्टि से शिक्षक का चरित्रवान, प्रसन्नचित तथा धैर्यशील होना आवश्यक है। शिक्षक को अपने विषय का पूर्ण तथा अन्य विषयों का सामान्य ज्ञान भी अवश्य होना चाहिए। इससे उसे अपने कार्य में सफलता मिलेगी और कक्षा में अनुशासन भी बना रहेगा। वर्तमान युग में शिक्षक के लिए सच्चरित्रता तथा पांडित्य के साथ–साथ आधुनिक शिक्षण–पद्धतियों का ज्ञान होना भी परम आवश्यक है। इससे वह उचित शिक्षण पद्धतियों के प्रयोग द्वारा बालक का सर्वाधिक विकास कर पाने में सक्षम होगा।

- **बालक**– अब शिक्षा बाल केंद्रित हो गई है। यही कारण है कि वर्तमान युग के सभी शिक्षाशास्त्री, बालक को सच्चे अर्थों में शिक्षित करने के लिए अब इस बात पर बल देते हैं कि शिक्षा के समस्त कार्य बालक की रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार होने चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक युग में पाठ्यक्रम, पाठ्य विषय तथा पाठ्य–पुस्तकें होना आवश्यक हैं। आज उसी व्यक्ति को योग्य शिक्षक माना जा सकता है, जिसे अपने विषय के ज्ञान के साथ–साथ बाल मनोविज्ञान का भी संपूर्ण ज्ञान हो।

टिप्पणी

- **पाठ्यक्रम**– शिक्षा की प्रक्रिया में पाठ्यक्रम का विशेष स्थान है। यह बालक तथा शिक्षक को जोड़ने का काम करता है। यह बालक एवं शिक्षक, दोनों की सीमाओं को निश्चित करके शिक्षा की समस्त योजना को शिक्षा के उद्देश्यों के अनुसार संचालित करता है। संकुचित शब्दों में पाठ्यक्रम का अर्थ कुछ विषयों व सीमित तथ्यों का अध्ययन करना है। पर व्यापक अर्थ में पाठयक्रम समस्त अनुभवों का वह संयोग है, जिसको बालक विद्यालय के प्रांगण में प्राप्त करता है। इसके अंतर्गत वे क्रियाएं आ जाती हैं, जिन्हें बालक तथा शिक्षक दोनों मिलकर करते हैं। पाठ्यक्रम का निर्माण देश, काल तथा समाज की आवश्यकताओं एवं प्रचलित विचारधाराओं के अनुसार किया जाता है।

1.2.3 शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का क्या प्रयोजन है और मानव जीवन के मूल उद्देश्य से इसका क्या संबंध है, यही शैक्षिक दर्शन का विजिज्ञास्य प्रश्न है। चीन के दार्शनिक मानव को नीतिशास्त्र में दीक्षित कर उसे राज्य का विश्वासपात्र सेवक बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। प्राचीन भारत में सांसारिक अभ्युदय और पारलौकिक कर्मकांड तथा लौकिक विषयों का बोध होता था और परा विद्या से निःश्रेयस की प्राप्ति ही विद्या के उद्देश्य थे। अपरा विद्या से अध्यात्म तत्व का ज्ञान होता था। परा विद्या मानव की विमुक्ति का साधन मानी जाती थी। गुरुकुलों और आचार्यकुलों में अंतःवासियों के लिए ब्रह्मचर्य, तप, सत्य व्रत आदि श्रेयों की प्राप्ति परमाभीष्ट थी और तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालय प्राकृतिक विषयों के सम्यक ज्ञान के अतिरिक्त नैतिक शीलपूर्ण जीवन के महान उपस्तंभ थे। भारतीय शैक्षिक दर्शन का आध्यात्मिक धरातल विनय, नियम, आश्रम, मर्यादा आदि पर सदियों तक अवलंबित रहा।

शिक्षा से जीवन बनता है, संवरता है और नए निर्माण के क्षितिज उन्मुक्त होते हैं. यह सब तभी संभव है जब शिक्षा के उद्देश्य सही हों। दिशाहीन कार्य का कोई परिणाम नहीं निकलता चाहे वह कितना ही आवश्यक तथा श्रेष्ठ हो। यही बात शिक्षा पर भी लागू होती है। शिक्षा जीवन के लिए आवश्यक है लेकिन यदि यह निश्चित न हो कि इससे क्या हासिल करना है तो इसका भी कोई परिणाम नहीं निकलेगा। अतः यह उद्देश्य निश्चित होना आवश्यक है।

विभिन्न शैक्षिक उद्देश्य

रिवलिन के शब्दों में– 'शिक्षा अर्थपूर्ण और नैतिक क्रिया है। अतः यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि यह उद्देश्यहीन है। स्पष्ट है कि शिक्षा उद्देश्य पूर्ण होती है लेकिन विभिन्न देशों में विभिन्न समय पर शिक्षा के भिन्न–भिन्न उद्देश्य थे। प्राचीन भारत में आध्यात्मिक विकास, यूनान में नागरिकता का विकास तथा स्पार्टा में व्यक्ति को युद्ध के लिए तैयार करना इत्यादि शिक्षा के उद्देश्य थे।

शिक्षा में ज्ञानार्जन उद्देश्य का प्रतिपादन सुकरात, अरस्तू, दांते, कमेनियस तथा बेकन आदि आदर्शवादी संप्रदाय के विद्वानों ने किया है। इस उद्देश्य के अनुसार ज्ञान

टिप्पणी

के बल से ही व्यक्ति का विकास होता है तथा वह अपने जीवन में सुख और शांति का अनुभव करता है। इस दृष्टि से ज्ञानार्जन का उद्देश्य शिक्षा जगत में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस उद्देश्य को समझने के लिए इसके संकुचित तथा व्यापक दोनों अर्थों को समझना परम आवश्यक है। सामान्यतः इस उद्देश्य के अग्रलिखित दो पहलू हैं –

ज्ञानार्जन उद्देश्य– संकुचित अर्थ में इस उद्देश्य को विद्या के लिए विद्या के नाम से संबोधित किया जाता है। यह उद्देश्य कोई नया उद्देश्य नहीं है। प्राचीन काल से ही विद्वानों ने इस उद्देश्य पर बल दिया है। साधारण व्यक्तियों ने भी इस उद्देश्य को लेकर विद्या ग्रहण की है। अतः शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालकों को विभिन्न विषयों का अधिक से अधिक ज्ञान दें। इस उद्देश्य के समर्थकों के अनुसार विद्या वह ज्ञान है जिसको केवल विद्वान ही जानते हैं। दैनिक जीवन में होने वाले अनुभवों को ये लोग ज्ञान नहीं मानते। अधिकांश माता–पिता तथा शिक्षक मस्तिष्क की कलाबाजी में पूर्ण विश्वास रखते हैं। अतः वे बालकों को पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य करते रहते हैं।

मानसिक विकास– व्यापक अर्थ में ज्ञान का अर्थ मानसिक विकास से होता है। अतः ज्ञान का तात्पर्य विभिन्न विषयों को रट लेने से ही नहीं है, अपितु मस्तिष्क को शक्ति प्रदान करते हुए अनुशासन में रखना है। ऐसा ज्ञान उचित और अनुचित का बोध कराता है तथा कार्य करने की क्षमता का विकास करता है। वास्तव में सच्चा ज्ञान व्यक्ति के जीवन को सफल और सुखी बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। परंतु ऐसा उसी समय संभव हो सकता है जब ज्ञान को बालक अपने अनुभव के आधार पर स्वयं ही खोज कर निकाले। इससे वह अपने भावी जीवन में आने वाली कठिनाईयों का साहस के साथ सामना कर सकेगा तथा प्रत्येक समस्या को अपने पूर्व अनुभव के आधार पर सुलझाने में सफल हो सकेगा। यही कारण है कि कुछ शिक्षा–शास्त्रियों ने "विद्या के लिए विद्या" के स्थान पर "मानसिक विकास" को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

शिक्षा को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के निश्चित उद्देश्य हों। शिक्षक को इन उद्देश्यों से पूर्ण होना चाहिए जिससे वह अपने छात्रों को उनकी प्राप्ति में सहायता देकर उनके जीवन को सफल बना सकता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह उनको किसी भी दिशा में ले जा सकता है। इससे छात्रों का ही नहीं वरन समाज का भी विकट अहित हो सकता है। स्पष्ट है कि छात्रों को शिक्षा देने से पूर्व शिक्षिक को शिक्षा देने के संदर्भ में उद्देश्य का ज्ञान होना चाहिए। वी. डी. भाटिया के शब्दों में, ''उद्देश्य के ज्ञान के अभाव में शिक्षक उस नाविक के समान है जो लक्ष्य या मंजिल को नहीं जानता है और बालक उस पतवार–विहीन नौका के समान है जो लहरों के थपेड़े खाकर किसी भी किनारे पर जा लगेगी।''

अब हम शिक्षा के व्यक्तिगत, सामाजिक और व्यवसायिक उद्देश्यों के बारे में जानेंगे।

टिप्पणी

शिक्षा का व्यक्तिगत उद्देश्य

शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य एक प्राचीन उद्देश्य है। इस उद्देश्य के समर्थक समाज की अपेक्षा व्यक्ति को बड़ा मानते हैं। उसका विश्वास है कि व्यक्तियों के बिना समाज कोरी कल्पना है। व्यक्तियों ने ही मिलकर अपने हितों की रक्षा करने के लिए समाज की रचना की है तथा समय–समय पर संस्कृति, सभ्यता एवं विज्ञान के क्षेत्रों में भी अपना–अपना योगदान दिया है। इस योगदान के फलस्वरूप ही सामाजिक प्रगति का क्षेत्र बड़ा और बढ़ता चला जा रहा है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के विकास से ही समाज का विकास हुआ तथा दिन–प्रतिदिन हो रहा है। अतः शिक्षा को व्यक्तिगत रुचियों, क्षमताओं तथा विशेषताओं का विकास करना चाहिए। इसीलिए कुछ शिक्षा–शास्त्रियों ने शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का समर्थन किया है। नन के अनुसार– "मानव जगत में प्रत्येक अच्छाई पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा व्यक्तिगत रूप में किए गए कार्यों द्वारा आती है। इसीलिए शिक्षा पद्धति को इस तथ्य के अनुरूप बनाया जाना चाहिए।" नन के ही शब्दों में "ऐसी दशाएं उत्पन्न होनी चाहिए जिसमें वैयक्तिकता का पूर्ण विकास हो सके और व्यक्ति मानव–जीवन को अपना मौलिक योगदान दे सके।" शिक्षा का यह उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब राज्य, समाज तथा शिक्षा संस्थाएं सभी इस दिशा में प्रयत्न करें।

यूकेन ने वैयक्तिकता का अर्थ आध्यात्मिक वैयक्तिकता से लगाया है। इसके मतानुसार आध्यात्मिक वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व जन्मजात नहीं होते वरन उन्हें प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार वैयक्तिक उद्देश्य का अर्थ है– श्रेष्ठ व्यक्तिगत और आध्यात्मिक वैयक्तिकता का विकास। रॉस के शब्दों में "शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का अर्थ जो हमारे स्वीकार करने के योग्य है, वह केवल यह है– महत्वपूर्ण व्यक्तित्व और आध्यात्मिक वैयक्तिकता का विकास।"

वैयक्तिक उद्देश्यों के रूप– शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के दो रूप हैं– 1. आत्माभिव्यक्ति, और 2. आत्मानुभूति।

वैयक्तिक उद्देश्य का संकुचित अर्थ

संकुचित अर्थ में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य को आत्माभिव्यक्ति, बालक की शक्तियों का सर्वांगीण विकास तथा प्राकृतिक विकास आदि नामों से पुकारा जाता है। इस अर्थ में यह उद्देश्य प्रकृतिवादी दर्शन पर आधारित है। इसके प्रतिपादकों का अटल विश्वास है कि समाज की अपेक्षा व्यक्ति बड़ा है। अतः उनकी धारणा है कि परिवार, समाज, राज्य तथा विद्यालयों को बालक की व्यक्तिगत शक्तियों को विकसित करने के लिए ही स्थापित किया गया है। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य तथा सामाजिक संस्था का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति के जीवन को अधिक से अधिक अच्छा, संपन्न तथा सुखी एवं पूर्ण बनाए।

इस उद्देश्य का प्रचार सबसे पहले प्रकृतिवादी दार्शनिक रूसो ने अपनी प्राकृतिक शिक्षा के द्वारा किया। उसने लिखा है– " प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट स्वभाव को लेकर

टिप्पणी

जन्म लेता है। हम बिना सोचे–समझे भिन्न–भिन्न रुचियों वाले बालकों को एक ही प्रकार के कार्यों में जुटा देते हैं। ऐसी शिक्षा उनकी विशेषताओं को नष्ट करके एक निर्जीव सामान्यता की छाप लगा देती है। रूसो ने कृत्रिम समाज का खंडन करते हुए इस बात पर बल दिया कि बालक की संपूर्ण शिक्षा का प्रबंध प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। उसने यह भी बताया कि बालक का प्राकृतिक विकास उसी समय हो सकता है जब उसकी शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था उसकी रुचियों, रुझानों तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की जाएगी। ऐसी दशा में सामूहिक शिक्षण तथा निश्चित पाठ्यक्रम का बहिष्कार करके वैयक्तिक शिक्षा तथा लचीले पाठ्यक्रम का निर्माण करके समस्त शिक्षण–पद्धतियों को क्रिया के सिद्धांतों पर आधारित करना चाहिए।

रूसो की भांति अन्य शिक्षा शास्त्रियों ने भी वैयक्तिक उद्देश्य के इसी अर्थ पर बल दिया परंतु उन सब में टी.पी. नन का प्रमुख स्थान है। नन ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशन इट्स डेटा एंड दी फर्स्ट प्रिंसिपल्स' में व्यक्ति की व्यक्तिगत शक्तियों के विकास पर विशेष बल देते हुए लिखा है– "मानव जगत में यदि कुछ भी अच्छाई आ सकती है तो वह व्यक्तिगत पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वतंत्र प्रयासों के द्वारा ही आ सकती है। अतः शिक्षा का संगठन इस सत्य के आधार पर ही होना चाहिए"।

वैयक्तिक उद्देश्य का व्यापक अर्थ

व्यापक अर्थ में शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य हमारे सामने आत्मानुभूति के रूप में प्रकट होता है। मनोविज्ञान भी व्यक्तित्व के विकास के व्यापक अर्थ का समर्थन करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक बालक एक दूसरे से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक दृष्टि से भिन्न होता है। यह भिन्नता रुचियों, शक्तियों, विचारों तथा कार्य करने की क्षमता में भी होती है। यही नहीं, प्रत्येक बालक की सामान्य बुद्धि, जीवन के आदर्श तथा कार्य करने की गति में भी बहुत अंतर होता है। किसी बालक की बुद्धि मंद होती है, तो किसी की प्रखर। ऐसे ही एक बालक शारीरिक कार्य करने में रुचि लेता है तो दूसरा मानसिक कार्य को करना अधिक पसंद करता है। इसी प्रकार कोई बालक किसी अमुक कार्य को जल्दी समाप्त कर लेता है तो उसी कार्य को दूसरा बालक देरी से कर पाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई से दो बालक प्रत्येक दृष्टि से एक से नहीं हो सकते।

बुद्धि तथा योग्यताओं के इन भेदों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक बालक के लिए एकसा कठोर पाठ्यक्रम बनाकर सबको एक ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करना अमनोवैज्ञानिक है। ऐसा करने से बालकों का समुचित विकास नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व का उत्तम विकास करना है तो व्यक्तिगत विभिन्नता के सिद्धांत को दृष्टि में रखना होगा। अतः प्रत्येक विद्यालय का कर्तव्य है कि वह बालक की रुचियों, आवश्यकताओं तथा योग्यताओं को दृष्टि में रखते हुए उसके समक्ष ऐसे अवसर प्रदान करे जिनके आधार पर उसकी मूल–प्रवृतियां निखर जाएं तथा उसकी समस्त शक्तियों एवं गुणों का समुचित विकास होकर वह एक उत्तम व्यक्ति बन जाए।

टिप्पणी

दूसरे शब्दों में, शिक्षा की व्यवस्था बालकों की आवश्यकताओं तथा समाज के कल्याण को ध्यान में रख कर होनी चाहिए। माता–पिता भी अपने बालकों को स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने इसीलिए भेजते हैं कि उनके बालक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात जब बड़े होकर समाज में प्रवेश करें तो वे उपयोगी नागरिकों के रूप में समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय रूप से भाग लेकर अपना–अपना भार स्वयं वहन कर सकें। इससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण संभव है। नन ने इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखा है– "शिक्षा बालक को इस प्रकार से सहायता प्रदान करे कि वह समाज में अथवा मानवीय जीवन को अपनी योग्यतानुसार मौलिक योगदान दे सके।"

उपर्युक्त आशय की पूर्ति के लिए नन के मतानुसार समाज, राज्य तथा शिक्षा संस्थाओं को बालक की रुचियों तथा प्रवृतियों को सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार विकसित करना चाहिए जिससे उसके व्यक्तित्व का उच्चतम विकास हो जाए तथा वह बड़ा होकर आनंदमय जीवन व्यतीत कर सके।

नन का अपनी पुस्तक के द्वितीय अध्याय में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य की पुष्टि करने के लिए जीवविज्ञान का सहारा लेना तथा यह कहना कि प्रत्येक वस्तु अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्णता प्राप्त करती है, उसके प्रकृतिवादी होने का संकेत करती है। ध्यान देने की बात है कि नन ने व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग इस प्रकार से किया है कि लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। वास्तविकता यह है कि कोई भी व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं होता। वह समाज में रहता है, समाज का प्रतिनिधित्व करता है तथा समाज का ही अभिन्न अंग है। यदि व्यक्ति को समाज से पृथक कर दिया जाए तो वह किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है।

नन के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व के विकास से उसका तात्पर्य आत्माभिव्यक्ति न होकर आत्मबोध है। आत्माभिव्यक्ति में आत्म–प्रकाशन की भावना प्रधान होती है। इससे व्यक्ति अपनी मूल–प्रवृतियों के वशीभूत होकर बिना किसी रोक–टोक के स्वछंद रूप से कार्य करता है। वह यह नहीं देखता कि उसकी क्रियाओं में समाज का क्या तथा कितनी हानि हो सकती है। इसके विपरीत आत्म–अनुभूति में आत्म वह आदर्श है जिसकी हम कल्पना करते हैं तथा जिसकी अनुभूति केवल दूसरों की रुचियों को ध्यान में रखते हुए ही की जा सकती है। आत्म–अनुभूति में व्यक्ति समाज की सेवा करना अपना परम कर्तव्य समझता है। उसकी आत्मा को ऐसे कार्यों को करने में सुख और शांति प्राप्त होती है जिनसे समाज का लाभ होता है।

इस प्रकार व्यापक अर्थ में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का आशय आत्म–अनुभूति है। चूंकि आत्म–अनुभूति से आत्मा का ज्ञान केवल समाज के ही माध्यम से हो सकता है इसलिए व्यक्ति से आशा की जाती है कि यह समाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए अपना अधिक से अधिक विकास करे तथा समाज को यथाशक्ति मौलिक योगदान दे। जे. एम. रौस ने भी इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखा है– "नन के व्यक्तित्व शब्द का अर्थ उस आदर्श से है जिसको अभी प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्न कर रहा है। जिसको अभी प्राप्त नहीं किया गया है अपितु प्रयत्न करके प्राप्त किया जा सकता है।''

टिप्पणी

वैयक्तिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का वैयक्तिक विकास होना चाहिए क्योंकि–

1. संसार में सभी श्रेष्ठ रचनाएं व्यक्ति के स्वतंत्र प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई हैं।
2. जनतंत्रीय व्यवस्था व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देती है।
3. मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति की मूल–प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर ऐसी दशाओं का निर्माण किया जाए जिससे उसका स्वतंत्र विकास हो।
4. प्रत्येक समाज की संस्कृति और सभ्यता को व्यक्ति ही उन्नत रूप देकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी कों सौंपते हैं, अतः शिक्षा में वैयक्तिक विकास का ही समर्थन किया जाना चाहिए।
5. व्यक्ति समाज की इकाई है। यदि व्यक्ति को अपने पूर्ण उत्कर्ष के लिए अवसर प्रदान किए जाएं तो इससे अंततोगत्वा समाज की भी उन्नति होगी। इस दृष्टि से भी वैयक्तिक उद्देश्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

नन के शब्दों में, वैयक्तिकता जीवन का आदर्श है। शिक्षा की किसी भी योजना का महत्व उसकी उच्चतम वैयक्तिक श्रेष्ठता का विकास करने की सफलता से आंका जाना चाहिए।

वैयक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क

वैयक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत हैं–

1. शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य से व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है।
2. वैयक्तिक उद्देश्य समाजवादी विचारधारा के विपरीत है।
3. यह उद्देश्य आत्म प्रदर्शन की गलत धारणा पर आधारित है।
4. इससे व्यक्ति में पाश्विक प्रवृत्तियों का विकास हो सकता है।
5. इस उद्देश्य के अंतर्गत मनुष्य के सामाजिक स्वरूप की उपेक्षा की गई है।
6. व्यक्ति को अत्यधिक स्वतंत्रता देने से अंत में सामाजिक विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो सकती है।
7. व्यक्ति की निरंकुश स्वतंत्रता का समर्थन करने के कारण व्यक्ति की तर्कशक्ति का भी ह्रास होने लगता है। वह भले–बुरे तथा उचित–अनुचित में कोई अंतर नहीं कर सकता।
8. यह उद्देश्य वास्तविक जीवन के लिए अव्यवहारिक है क्योंकि विद्यालयों में प्रत्येक छात्र के वैयक्तिक विकास के लिए विशेष प्रकार के पाठ्यक्रम और विधियों की व्यवस्था नहीं की जा सकती।
9. रॉस के अनुसार सामाजिक पर्यावरण से अलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं है और व्यक्तित्व अर्थहीन शब्द है क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही तो विकसित और कुशल बनाया जाता है।

टिप्पणी

वैयक्तिकता के उद्देश्य के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज अथवा समाजिकता के भाव की उपेक्षा करके वैयक्तिकता के विकास की विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

वैयक्तिकता के उद्देश्य में भी जहां तक आत्माभिव्यक्ति के रूप को स्वीकार किया जा सकता है या नहीं तो उसे तो बिलकुल भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, हां उसके आत्मानुभूति के रूप को स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि उसमें व्यक्ति के सामाजिक विकास के पक्ष की अवहेलना नहीं की गई है। लेकिन वैयक्तिक विकास का उद्देश्य अपने पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

सामाजिक उद्देश्य के अनुसार सामाज या राज्य का स्थान व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। बैगेल और डीवी ने सामाजिक उद्देश्य का तात्पर्य सामाजिक दक्षता से लगाया है लेकिन अपने अतिवादी स्वरूप में यह उद्देश्य व्यक्ति को समाज की तुलना में अत्यंत निम्न कोटि का मानता है तथा व्यक्ति के सारे अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों को राज्य के हाथों में सौंप देता है। इस अतिवादी स्वरूप के अंतर्गत समाज को साध्य और व्यक्ति को साधन माना जाता है, अर्थात व्यक्ति का अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं होता।

लेकिन यदि हम इस उद्देश्य के अतिवादी रूप को छोड़ दें तो सरल रूप में इस उद्देश्य का तात्पर्य होगा– व्यक्तियों में सहयोग एवं सामाजिक भावना का विकास करना। इसी सामाजिक भावना के आधार पर रेमण्ट ने कहा था कि– सामाजविहीन अकेला व्यक्ति कल्पना की खोज है। वैसे जॉन डीवी द्वारा प्रतिपादित सामाजिक दक्षता का प्रत्यय इस उद्देश्य का एक सरल एवं उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। डीवी ने सामाजिक दक्षता के अंतर्गत नागरिकता संबंधी कुशलता को सम्मिलित किया है। उसके मतानुसार विद्यालयों को इन दोनों प्रकार की कुशलताओं की प्राप्ति होनी चाहिए।

सामाजिक उद्देश्य का संकुचित अर्थ

समाजवाद के उग्र रूप में सामाजिक उद्देश्य के संकुचित अर्थ पर बल दिया जाता है। ध्यान देने की बात है कि समाजवाद के उग्र रूप में राज्य एक आदर्श रूपी भौतिक सत्ता है, जो व्यक्ति से कहीं ऊंचा तथा हर प्रकार से उत्कृष्ट है एवं व्यक्ति की सब आकांक्षाओं और इच्छाओं से ऊपर है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की अपेक्षा समाज अथवा राष्ट्र हर हालत में बड़ा है। इस दृष्टि से व्यक्ति का संपूर्ण जीवन राष्ट्र की भलाई के लिए है, न कि राष्ट्र व्यक्ति के लिए है। अतः राष्ट्र का अधिकार है कि वह अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा आदर्शों की पूर्ति के लिए व्यक्ति को जैसा चाहे बनाए तथा शिक्षा के द्वारा बालकों को जिस सांचे में ढालना चाहे, ढाले। प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की सत्ता को बढाने के लिए अपनी सत्ता को मिटा दे तथा तन और मन से उसकी सेवा करके उसे सबल तथा सुदृढ़ बनाए। इस प्रकार सामान्य रूप से जीवन का तथा विशिष्ट रूप से शिक्षा का लक्ष्य राष्ट्र का कल्याण करना है।

टिप्पणी

राष्ट्र के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण साधन है। सामाजिक उद्देश्य के संकुचित अर्थ में राष्ट्र स्वयं की शिक्षा की एक सुनिश्चित प्रणाली बनाकर लागू करता है। यही नहीं, पाठ्यक्रम, शिक्षण–पद्धतियों एवं संकाय को भी इसी प्रकार से आयोजित करता है कि व्यक्ति की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं का संकुचन भी हो जाए और उसमें आज्ञा–पालन, अनुशासन, संगठन तथा अपार भक्ति के ऐसे भाव भी विकसित हो जाएं कि वह राष्ट्र कल्याण हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दे। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य अपने संकुचित अर्थ में राज्य अथवा राष्ट्र को ही सबसे ऊंची सत्ता मानता है। इसके अनुसार मानव की स्वतंत्रता का दमन करके मानवीय जीवन के प्रत्येक अंग का पूर्णरूपेण समाजीकरण कर दिया जाता है।

सामाजिक उद्देश्य का व्यापक अर्थ

समाजवाद के उदार रूप (जनतंत्रवाद समाजवाद) में सामाजिक उद्देश्य के व्यापक अर्थ पर बल दिया जाता है। जनतंत्रात्मक समाजवाद में समाज के महत्व को तो स्वीकार किया जाता है, परंतु व्यक्ति समाज के सम्मुख नगण्य नहीं माना जाता। उसे इस उद्देश्य के उग्र रूप की भांति आंख मींचकर बिना सोचे–समझे राष्ट्रहित के लिए प्राणों की बाजी लगाने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, अपितु वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने अधिकार तथा कर्तव्यों का पालन करके राष्ट्र की तन, मन और धन से सेवा करता है। समाजवाद का यह उदार रूप वांछनीय है। इस प्रकार का समाजवाद अमेरिका, इंग्लैंड, तथा भारतवर्ष जैसे जनतंत्रात्मक राष्ट्रों में पाया जाता है। चूंकि जनतंत्रवादियों का अटल विश्वास है कि राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर ले जाने के लिए व्यक्तियों को सच्चा नागरिक बनाना परमावश्यक है इसलिए उक्त जनतंत्रात्मक राष्ट्रों ने सामाजिक उद्देश्य के व्यापक अर्थ को अलग–अलग रूप से स्वीकार करके अपने अपने यहां शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से की है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज–सेवा की भावना से ओत–प्रोत होकर सच्चा नागरिक बन जाए।

जनतंत्र में सच्ची नागरिकता एक चुनौती है। इसका कारण यह है कि नागरिकता के लिए उनके बौद्धिक, सामाजिक तथा नैतिक गुणों की आवश्यकता होती है। इन सभी गुणों को बालकों की रुचियों, योग्यताओं तथा क्षमताओं के अनुसार विकसित करना परम आवश्यक है। अतः बालक को सच्चा नागरिक बनाने के लिए, उसकी समस्त शक्तियों को पूर्णरूपेण विकसित करने के लिए उसे ऐसे अवसर प्रदान करने पड़ते हैं जिनके आधार पर वह अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों को समझ कर अपने राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के विषय में स्पष्ट तथा स्वतंत्र रूप से चिंतन कर सके एवं उन्हें सरलतापूर्वक सुलझा सके। ध्यान देने की बात है कि व्यक्ति समाज की सेवा तभी कर सकता है जब उसकी समस्त शक्तियां विकसित हो चुकी हों तथा वह किसी पर भार न हो। ऐसा व्यक्ति अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अन्य व्यक्तियों को कष्ट नहीं देना चाहता अपितु वह अपनी प्रत्येक क्रिया के द्वारा समाज का भला करना चाहता है। बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसित करते हुए अपनी योग्यताओं तथा क्षमताओं के अनुसार स्वतंत्र नागरिक के रूप में राष्ट्र की सेवा कर सके। बागले तथा डीवी आदि शिक्षाशास्त्रियों ने भी सामाजिक उद्देश्यों के व्यापक अर्थ को ही स्वीकार किया है।

टिप्पणी

संक्षेप में सामाजिक उद्देश्य के व्यापक अर्थ में "शिक्षा समाज के लिए", "शिक्षा नागरिकता के लिए" तथा "शिक्षा सामाजिक कुशलता के लिए" होनी चाहिए। इस उद्देश्य के द्वारा प्रदान की हुई शिक्षा बालकों को अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों के प्रति जागरूक बनाती है तथा समाज हित में कार्य करते हेतु क्षमता प्रदान करती है।

जीविकोपार्जन का उद्देश्य या व्यवसायिक उद्देश्य

व्यवसायिक उद्देश्य को आजीविका (रोजी–रोटी) का उद्देश्य भी कभी–कभी कह दिया जाता है। इस उद्देश्य से आशय यही है कि शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति अपनी जीविका अर्जित करने के योग्य बन जाए। दूसरे शब्दों में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक को किसी व्यवसाय के लिए तैयार करना है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन जाने से व्यक्ति समाज और देश की अधिक सेवा कर सकता है। डीवी के शब्दों में 'यदि एक व्यक्ति अपनी जीविका प्राप्त करने में असमर्थ है, तो इस बात की आशंका है कि यह स्वयं चरित्र भ्रष्ट हो जाए और दूसरों को हानि पहुचाए। महात्मा गांधी के अनुसार 'सच्ची शिक्षा को बालक और बालिकाओं के लिए बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार का बीमा होना चाहिए।'

1.2.4 शिक्षा एवं समाज में संबंध

समाज का संगठन शिक्षा को सदैव प्रभावित करता है, चाहे वह प्राचीन काल का स्पार्टा हो अथवा आधुनिक काल का जर्मनी, चाहे अमेरिका हो, चाहे भारत, रूस या जापान। इसके अतिरिक्त आर्थिक तत्व भी शिक्षा का अत्यधिक प्रभावित करते हैं। यदि देश धनी एवं समृद्ध है तो शिक्षा के लिए धन का व्यय पर्याप्त मात्रा में होता है। परन्तु यदि देश निर्धन है तो शिक्षा को अनावश्यक समझकर अथवा धनाभाव के कारण उसे छोड़ दिया जाता है। पहले देशवासियों के खाने-पहनने एवं उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं का आयोजन करें, फिर शिक्षा की ओर ध्यान दें। यह दृष्टिकोण इतना अशुद्ध है कि निर्धन की निर्धनता की और बढ़ा देता है। शिक्षा के अभाव में देश के नागरिक ऊंचे उठने की शक्ति को खो बैठते हैं। न तो उनकी रोटी की समस्या हल होती है और न उनके अज्ञान के कपाट खुलते हैं। यही कारण है कि आज हम संसार में ऐसे अनेक देशों को पाते हैं जिनमें अशिक्षा और जीविकोपार्जन सम्बन्धी मुद्दे एक बहुत-ही गम्भीर समस्या बने हुए हैं। भारत में भी आर्थिक कठिनाई के कारण देश के भावी नागरिकों को उत्तम शिक्षा प्रदान करने का समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका है।

शिक्षा वह है जो जीवनभर चलती रहती है। शिक्षा से तात्पर्य केवल विद्यालय-शिक्षण से नहीं है, वरन् शिक्षा की क्रिया का प्रारम्भ मानव के जन्म के समय से ही हो जाता है और उसके मृत्यु-पर्यन्त अनवरत रूप से चलता रहता है।

ब्राउन के अनुसार, "शिक्षा एक चेतनाभूत नियंत्रित प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाए जाते हैं, और व्यक्ति के द्वारा समूह में।" यहां चेतनाभूत नियंत्रित प्रक्रिया से तात्पर्य यह है कि शिक्षा की प्रक्रिया से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आन्तरिक न होकर बाहरी शक्तियों द्वारा होते हैं, जो वातावरण में निहित होती है। जब बालक कोई कार्य करना सीखता है, जैसे–अपने वस्त्र पहनना, अपने हाथ से भोजन करना आदि, तो इस प्रकार के सीखने में वातावरण तथा बालक के सगे सम्बन्धियों का हाथ होता है, और

टिप्पणी

इसी प्रकार हम सीखने को हम शिक्षा की प्रक्रिया के रूप में समझते हैं। परन्तु हर प्रकार के व्यवहार सम्बन्धी परिवर्तन शिक्षा के कारण नहीं होते, जैसे–शिशु के मुंह से ध्वनि का निकलना, जो एक स्वत: होने वाली प्रक्रिया है और शरीर की बनावट के कारण हर शिशु के मुंह से निकलती है। परन्तु इसी ध्वनि को जब माता-पिता या समाज एक भाषा के रूप में संगठित कर देते हैं तो यह शिक्षा की प्रक्रिया हो जाती है।

शिक्षा की प्रक्रिया भी विशेष रूप से एक सामाजिक प्रक्रिया ही है। इसके अनुसार, विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप बालक के व्यवहार में परिवर्तन लाया जाता है। बालक की मूल शक्तियों को सामाजिक वातावरण द्वारा प्रेरणा मिलती है और वह सीखने लगता है तथा उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है, यही शिक्षा है।

सामाजिक प्रक्रिया के बहुत से रूप होते हैं, जो कुशलतापूर्वक एवं अधिक प्रभावशाली ढंग से सामाजिक प्रक्रिया की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेना सम्भव बनाती है–चाहे वह सामाजिक, आर्थिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी या किसी दूसरे उचित सामाजिक मूल्य सम्बन्धी हो–वही शिक्षा है। इस प्रकार शिक्षा एक प्रक्रिया है जो सामाजिक प्रक्रिया द्वारा तथा सामाजिक प्रेरणा द्वारा स्वयं होती है। यह प्रक्रिया समाज की प्रगति में सहायक होती है और उचित सामाजिक संस्थाओं को प्रोत्साहित करती है। अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा मनुष्य को सामाजिक बनाती है और शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य समाज का स्तर ऊंचा उठाता है।

1.2.5 शिक्षा का क्षेत्र

शिक्षा का क्षेत्र व्यापक है शिक्षा का संबंध व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से है। इस प्रकार जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो किसी ना किसी रूप में इसके क्षेत्र में नहीं आता हो। एक व्यक्ति के लिए शिक्षा के सभी क्षेत्रों में निपुण होना असंभव है। विभिन्न व्यक्ति शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट शिक्षा ग्रहण करते हैं। शिक्षा को प्रगतिशील बनाने के लिए हमें शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन की आवश्यकता होती है। शिक्षा के निम्नलिखित क्षेत्र हैं–

1. छात्र
2. शिक्षक
3. पाठ्यक्रम
4. स्कूली शिक्षा
5. शिक्षा दर्शन
6. शिक्षा मनोविज्ञान
7. शिक्षा समाजशास्त्र
8. पाठ्य सहगामी क्रियाएं
9. शिक्षण विधि
10. शिक्षण साधन या सामग्री
11. शिक्षा समस्याएं

टिप्पणी

12. शैक्षिक वातावरण
13. शिक्षा प्रशासन एवं प्रबंधन
14. शिक्षा तकनीकी
15. शिक्षा का इतिहास
16. तुलनात्मक शिक्षा
17. सामाजिक प्रौढ़ शिक्षा
18. महिला शिक्षा
19. व्यवसाय शिक्षा
20. अध्यापन शिक्षा
21. पुस्तकालय शिक्षा
22. शैक्षिक तथा व्यावसायिक शिक्षा
23. बेसिक शिक्षा
24. कार्य अनुसंधान शिक्षा
25. सांख्यिकी शिक्षा तथा नवाचार

(क) छात्र

छात्र की भूमिका शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षा बालकों एवं बालिकाओं के लिए ही दी जाती है। आज के बच्चे कल का भविष्य होते हैं वही देश तथा समाज की जरूरतों को पूरा करेंगे। अतः उनके लिए अच्छी शिक्षा का होना अति आवश्यक है।

(ख) शिक्षक

शिक्षा हर जगह व्याप्त है चाहे वह घर हो या बाहर अथवा स्कूल हो या कॉलेज। शिक्षा हर जगह प्राप्त की जा सकती है। जो भी व्यक्ति किसी से जो कुछ भी सीखता है उसे ही हम शिक्षा करते हैं जो व्यक्ति उसे सिखाता है उसे शिक्षक तथा जो व्यक्ति सीखता है उसे शिष्य कहते हैं। शिक्षा हम प्रत्येक प्राणी, पशु पक्षी या जीव–जंतु से भी प्राप्त कर सकते हैं।

(ग) पाठ्यक्रम

वर्तमान युग में शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु पाठ्यक्रम एक आवश्यक उपकरण है। पाठ्यक्रम शिक्षण की हर गतिविधि को समयबद्ध तरीके से निश्चित दिशा में ले जाने का कार्य करता है जिससे हम एक सीमित क्षेत्र में रहकर अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि पाठ्यक्रम ही व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होता है।

(घ) स्कूली शिक्षा

स्कूली शिक्षा वह शिक्षा होती है जो छात्र को एक सीमित आयु तक दी जाती है जिसके माध्यम से वह अपने भावी जीवन को सुधार सकें। स्कूली शिक्षा में हमें यह सिखाया

जाता है कि कैसे हम अपने जीवन को गतिशील समाज, देश एवं संसार की विभिन्न परिस्थितियों में ढ़ाल सकते हैं। व्यवसायिक शिक्षा भी शिक्षा का ही एक रूप है।

टिप्पणी

(ङ) शिक्षा दर्शन

शिक्षा दर्शन, जिसमें शिक्षा से संबंधित विभिन्न समस्याओं को दर्शाया जाता है तथा विभिन्न विशेषज्ञ उन समस्याओं का विश्लेषण कर उनका हल निकालते हैं।

(च) शिक्षा मनोविज्ञान

मनोविज्ञान को मानव व्यवहार के अध्ययन से संबंधित विज्ञान कहा जाता है। मानव व्यवहार की व्याख्या करना मनोविज्ञान का कार्य है। मानव व्यवहार के आधारभूत सिद्धांतों की रचना से यह विषय, विज्ञान की श्रेणी में आ गया है। जीवन के हर क्षेत्र में शिक्षा मनोविज्ञान की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। शिक्षा मनोविज्ञान के द्वारा बालक की रुचि, अभिरुचि, योग्यता, क्षमता, बुद्धि आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है ताकि बालक को उसी के अनुसार शिक्षा दी जा सके।

(छ) शिक्षा समाजशास्त्र

शिक्षा समाजशास्त्र वह है जिसमें समाज और शिक्षा का समन्वित रूप से अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार की शिक्षा में समाज की बुराइयों को जानकर उन्हें दूर करने का प्रयास किया जाता है तथा समाज को बेहतर बनाने की शिक्षा बच्चों को दी जाती है। जिससे सामाजिक विकास एवं उन्नति हो सके।

(ज) पाठ्य सहगामी क्रियाएं

पाठ्य सहगामी क्रियाएं वह होती हैं जिनके द्वारा शिक्षण को रुचि पूर्ण, उद्देश्य पूर्ण, रोचक एवं बच्चों के अनुकूल बनाया जाता है। पाठ्य सहगामी क्रियाओं के माध्यम से यह बताया जाता है कि शिक्षक को कौन सी कक्षा में कितने विषय रखने हैं कितने पढ़ाने हैं और किस ढंग से पढ़ाना है ताकि शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा किया जा सके और बच्चों को एक अच्छी शिक्षा दी जा सके यह इसी बात की पुष्टि करता है।

(झ) शिक्षण विधि

सरल एवं सहज शिक्षण हेतु एक शिक्षक जिस तरीके से छात्र एवं छात्राओं को शिक्षा प्रदान करता है उसे ही शिक्षण विधि कहते हैं। शिक्षण विधि से बच्चों तथा शिक्षक को किसी भी विषय को सरलता से समझाने में मदद मिलती है। शिक्षक किसी भी पाठ या प्रकरण को पढ़ाने से पहले गहन चिंतन मनन करता है तथा बच्चों को सरल एवं रुचि पूर्ण ढंग से शिक्षण विधियों का प्रयोग करते हुए उन्हें शिक्षा प्रदान करता है।

(ञ) शिक्षण साधन या सामग्री

बेहतर शिक्षा हेतु शिक्षण साधन या सामग्री की आवश्यकता होती है जिससे हम शिक्षा को सरल बनाते हैं जैसे लिखने के लिए पेंसिल, चॉक, पेन आदि का प्रयोग करते हैं। ब्लैक बोर्ड, बुक, चार्ट, मॉडल, संकेतक, झाड़न इत्यादि शिक्षण सामग्रियों का प्रयोग करते हैं। इन सामग्रियों का प्रयोग विषय के अनुसार हर शिक्षक अलग तरीके से कर सकता है।

टिप्पणी

(ट) शिक्षा समस्याएं

शैक्षिक समस्याओं में शिक्षा से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है तथा उन समस्याओं का समाधान निकाला जाता है ताकि वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ी को उन समस्याओं का सामना न करना पड़े।

(ठ) शैक्षिक वातावरण

शैक्षिक वातावरण वह परिवेश होता है जिसमें बच्चों को बेहतर शिक्षा प्रदान करने की संभावना/क्षमता होती है। बच्चे को नैतिक शिक्षा देना, समाज से जोड़ना तथा देश की उन्नति के लिए विभिन्न परिवेश में ढलने की क्षमता प्रदान करना एक बेहतर शैक्षिक वातावरण में ही संभव है।

(ड) शिक्षा प्रशासन एवं प्रबंधन

शिक्षा प्रशासन या प्रबंधन शिक्षा से संबंधित नियमों, पाठ्यक्रम एवं गतिविधिओं का प्रबंधन करता है और आवश्यकतानुसार नियमों एवं पाठ्यक्रम में बदलाव कर अच्छी शिक्षा देने का प्रयास करता है ताकि बालक एवं बालिकाओं को उचित शिक्षा प्राप्त हो सके।

(ढ) शैक्षिक तकनीकी

शैक्षिक तकनीकी में व्यावहारिक या प्रयोगात्मक अध्ययन किया जाता है जिसके माध्यम से शैक्षिक उद्देश्य, शारीरिक उद्देश्य, मानसिक उद्देश्य एवं सामाजिक उद्देश्यों के साथ साथ पाठ्य–वस्तु, शिक्षण सामग्री, शिक्षण विधि, शैक्षिक वातावरण, विद्यार्थियों का व्यवहार तथा विद्यार्थियों के मध्य होने वाली अंतःप्रक्रिया को नियंत्रित करके अधिकतम शैक्षिक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।

(ण) शिक्षा का इतिहास

शिक्षा के इतिहास में हम प्राचीन मध्यकालीन एवं वर्तमान शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। प्राचीन काल में कौन सी शिक्षा नीति अपनाई जाती थी, उस काल में शिक्षा से संबंधित जिन समस्याओं का सामना किया गया था उन समस्याओं को दूर कर वर्तमान शिक्षा नीति को बनाने का प्रयास किया जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. "सा विद्या वा विमुक्तये" अर्थात शिक्षा वह है, जो मुक्ति दिलाए! यह कथन कहां से उद्धृत है?

   (क) उपनिषद (ख) वेद

   (ग) पुराण (घ) रामायण

2. निम्न में से कौन शिक्षा की प्रकृति को प्रतिबिंबित करता है?

   (क) एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है (ख) अनवरत चलती रहती है

   (ग) सामाजिक प्रक्रिया है (घ) उपर्युक्त सभी

1.3 प्रकार्यवाद

टिप्पणी

प्रकार्य तथा प्रकार्यवाद की अवधारणा का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1.3.1 प्रकार्य की अवधारणा एवं विशेषताएं

जैसा कि हम जानते हैं कि सामाजिक संरचना अखंड व्यवस्था नहीं है बल्कि अनेक इकाइयों की क्रमबद्धता एवं परस्पर संबद्धता का परिणाम एक सामाजिक संरचना होती है। आशय यह है कि इकाइयों द्वारा कुछ निश्चित भूमिकाएं संपन्न करने से संरचना बनी रहती है। प्रकार्य इन्हीं भूमिकाओं से संबंधित है। समाजशास्त्रीय संदर्भ में सामाजिक संरचना की इकाइयों द्वारा किए जाने वाले सभी कार्यों और योगदानों को प्रकार्य कहते हैं। प्रकार्य सामाजिक संरचना को बनाए रखते हैं। किसी व्यवस्था में, संरचना स्थिर पक्ष होती है और प्रकार्य गतिशील पक्ष होता है।

समाजशास्त्र में सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने 'सावयवी सादृश्य' के आधार पर प्रकार्य की अवधारणा को समझाया। इसके बाद रेडक्लिफ ब्राउन, इमाइल दुर्खीम, मर्टन पारसंस, मैलेनोवस्की आदि ने इसे और अधिक स्पष्ट किया। प्रकार्य की अवधारणा के स्पष्टीकरण हेतु समाजशास्त्रियों द्वारा कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं–

जानसन के अनुसार– ''किसी भी आंशिक संरचना जैसे एक उप समूह, भूमिका, सामाजिक सामान्यक अथवा सांस्कृतिक मूल्य या उप व्यवस्था की एक या अधिक सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देने वाला कार्य प्रकार्य कहलाता है। यदि इनमें से एक या अधिक आवश्यकताओं को पूरा करने में बाधा उत्पन्न हो तो उसे अकार्य कहा जाएगा।''

मर्टन के अनुसार– ''प्रकार्य वे अवलोकित परिणाम हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल या सामंजस्य को बढ़ाते हैं।''

जॉन मार्टिण्डेल के अनुसार– ''प्रकार्य व्यवस्था के द्वारा निर्धारित एवं व्यवस्था की स्थापना में सहायक क्रिया है।''

एल.ए. कोजर के अनुसार– ''प्रकार्य किसी सामाजिक क्रिया का परिणाम है जो किसी संरचना तथा उसके निर्माणक अंगों के अनुकूलन और सामंजस्य में सहायक होता है।''

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार– ''प्रकार्य किसी इकाई द्वारा दिया जाने वाला वह योगदान है जो उस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जरूरी है जिसका वह भाग है।''

उपरोक्त परिभाषाएं स्पष्ट करती हैं कि यदि व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति हेतु इसकी विभिन्न इकाइयों में सामंजस्य बना रहता है तो समाज की निरंतरता भी बनी रहती है। सामाजिक संरचना की प्रत्येक इकाई अथवा आंशिक संरचना कोई न कोई प्रकार्य करती है जिससे सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताएं पूरी होती हैं और इस प्रकार प्रकार्यात्मक भूमिकाएं, प्रतिमानित आधार पर समाज में व्यवस्था एवं संतुलन को बनाए रखने में सहायक होती हैं।

टिप्पणी

विलियम स्कॉट (समाजशास्त्र के शब्दकोश से) के अनुसार– समाज व्यवस्था में विद्यमान और कार्य कर रहे घटक (उदाहरण परंपरा, योग्यता, संस्था आदि) अन्य घटकों के लिए (समाज व्यवस्था में सांस्कृतिक व्यवस्था की अथवा व्यक्तित्व प्रणाली में) अथवा समग्र व्यवस्था के लिए जो परिणाम प्राप्त होते हैं उसे प्रकार्य या फंक्शन कहते हैं।

इस प्रकार समग्र समाज एक व्यापक संकल्पना है। यह अनेक उपसंरचनाओं से बना होता है। संस्थाएं सामाजिक संस्था या व्यापक समाज संरचना की उपसंरचना (Sub-Structures) या उप–व्यवस्था हैं। यह उप–संरचना भी उप–समूह, भूमिका, नियम या मानक और सांस्कृतिक मूल्य तथा आंशिक संरचनाओं से बनते हैं। समाज संरचना कायम रखने हेतु हर एक आंशिक संरचना का योगदान होता है। समग्र समाज व्यवस्था का अथवा उप संरचना की जरूरतें पूरी करने की दृष्टि आंशिक संरचना का जो योगदान होता है उसे ही प्रकार्य अथवा 'Fuction' कहा जाता है।

प्रकार्य एक ऐसा उपागम है, जिसमें विभिन्न सामजिक संस्थाओं, सांस्कृतिक विषयों आदि का उनके प्रकार्यों का अवलोकन करते हुए अध्ययन किया जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर की रचना विभिन्न अंगों के आपसी सम्बन्ध से होती है तथा इन अंगों का स्वयं का भी अलग–अलग कार्य होता है उसी प्रकार समाज की संरचना विभिन्न संस्थाओं, सदाचारों, रिवाजों आदि के अन्तःसम्बन्धों से होती है। इन सबके अपने कार्य होते हैं तथा समाज के रूप में संयुक्त हो जाने के बाद इनके अपने अलग कार्य हो जाते हैं। संरचनात्मक–कार्यात्मक उपागम से एक ओर तो संरचना को महत्वपूर्ण माना जाता है और दूसरी ओर इसके द्वारा सम्पादित प्रकार्यों का भी महत्व है।

प्रकार्य का महत्व

प्रकार्य के महत्व को निम्न बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है–

1. इसने मान व्यवहार के वैयक्तिक निश्चायकों के स्थान पर सामाजिक निश्चायकों पर बल दिया है।
2. इसने व्यक्तियों की अभिप्रेरणाओं के सन्दर्भ में व्याख्या और सामाजिक तन्त्रों की आवश्यकताओं के सन्दर्भ पर व्याख्या में स्पष्ट भेद किया है।
3. इसने मानव अभिप्रेरणाओं के विषय में अनुमान को समाप्त कर दिया है।
4. इसने विषयक निश्चायक कारकों पर बल दिया है।
5. इसने इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक क्रियाओं का व्यवस्थित और लम्बे समय तक परिणाम होता है।
6. अन्तर्निहित प्रकार्यों के द्वारा अध्ययन की गहराई बढ़ गई है।
7. सामाजिक तंत्र, सामाजिक संरचना के सम्बोधों के फलस्वरूप अध्ययनवस्तु अधिक स्पष्ट हो गई है।

टिप्पणी

प्रकार्य की विशेषताएं

प्रकार्य की विशेषताएं निम्न प्रकार से दी जा सकती हैं–

- प्रत्येक समाज की संरचना की इकाइयों में प्रकार्यात्मक संबद्धता पाई जाती है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई की एक निश्चित स्थिति होती है और इसी के अनुसार उसकी भूमिका निर्धारित होती है। इकाइयों द्वारा संपादित ऐसी भूमिकाएं जिनसे संरचना में संतुलन आता है, प्रकार्य कहलाती हैं।
- प्रकार्य संरचना का गतिशील पक्ष है।
- समाज की इकाइयां सदैव प्रकार्य ही करें यह आवश्यक नहीं है। जब इकाइयां ऐसे कार्य करती हैं जिनसे व्यवस्था में अनुकूलन कम होता है तब उसे अकार्य कहा जाता है।
- प्रकार्य सामाजिक संरचना में अनुकूलन व संतुलन बढ़ाने में सहायक होते हैं इसलिए कह सकते हैं कि प्रकार्य व्यवस्था द्वारा निर्धारित प्रतिमानित व्यवस्था द्वारा स्वीकृत एवं मान्य होते हैं।

प्रकार्य एवं प्रकार्यवाद के विभिन्न पक्षों से संबंधित विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोणों का अध्ययन प्रकार्यवाद के अंतर्गत निम्नानुसार किया जा सकता है।

1.3.2 प्रकार्यवाद : विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण

प्रकार्यवाद की शुरुआत जैविकीय प्रकार्यवाद से हुई है। जब प्राकृतिक विज्ञान में जैविकीय विज्ञान का विकास हुआ तो समाजवैज्ञानिकों ने जैविकीय सावयववाद को समाजशास्त्रीय सिद्धांतों पर भी लागू किया। किंग्सले डेविस का मानना है कि व्यवस्था के नाम पर प्रकार्यवाद समाज के गति को रोकता है। इस सिद्धांत का लक्ष्य समाज में ऐसे भ्रम को पैदा करना है ताकि यथास्थिति बनी रहे। उनके अनुसार प्रकार्यवाद सिद्धांत नहीं होकर एक विचारधारा है जो पूंजीपतियों के शोषण को सही ठहराती है।

प्रकार्यवादियों का मानना है कि सामाजिक संसार एक संपूर्ण व्यवस्था है, जिसमें सर्वसम्मति अथवा मतैक्य होता है, परंतु इस सर्वसम्मति वाली व्यवस्था में भी संघर्ष और अव्यवस्था पायी जाती है। व्यवस्था में विरोध के कारण हिंसा और तोड़–फोड़ भी होती है। इस प्रकार प्रकार्यवादियों का मानना है कि ''प्रत्येक व्यवस्था की कुछ आवश्यकताएं होती हैं तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान्य एवं विघटनकारी शक्तियों में ऐसा तालमेल स्थापित हो जाता है कि व्यवस्था का संतुलन और उसकी सजातीयता बनी रहती है।'' प्रकार्यवादियों का यह भी मानना है कि समाज के विभिन्न अंग जैसे– राजनीति, शिक्षा, अर्थ, विकास, राजस्व आदि एक–दूसरे से परस्पर संबद्ध हैं अथवा जुड़े हैं। यह संबद्धता अथवा जुड़ाव मात्र संयोग नहीं है, बल्कि इसके पीछे कार्य–कारण संबंध है। प्रकार्यवाद के कई प्रकार हैं, जैसे– सावयवी प्रकार्यवाद, मानवशास्त्रीय प्रकार्यवाद, विश्लेषणात्मक प्रकार्यवाद, समाजशास्त्रीय प्रकार्यवााद। प्रकार्यवाद के प्रमुख विचारक किंग्सले डेविस, अगस्ट कॉम्टे, हर्बर्ट स्पेन्सर, टी. पारसन्स, रॉबर्ट मर्टन आदि हैं।

टिप्पणी

रॉबर्ट मर्टन ने प्रकार्य को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। उनका मानना है कि प्रकार्य शब्द के पांच अर्थ निकलते हैं– पहला अर्थ सार्वजनिक सभा अथवा त्योहार से संबंधित है। दूसरा अर्थ किसी व्यवस्था के संदर्भ में होता है। तीसरा अर्थ राजनीति विज्ञान में क्रियाकलापों से है। इसका चौथा अर्थ राज्यपालों के फंक्शन से है, तथा पांचवां अर्थ वह है जिसे समाजशास्त्री काम में लेते हैं। उनके अनुसार प्रकार्य वह गतिविधि है जिससे समाज में संपूर्ण व्यवस्था बनी रहती है।

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र में उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं समाजशास्त्र। इसकी उत्पत्ति 19वीं सदी के अंतिम दशक से मानी जाती है। इस सिद्धांत में अनेक उतार–चढ़ाव भी हुए हैं। वर्तमान प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इसका संशोधित रूप है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य को यहां तक पहुंचाने में अथवा इसके संशोधित स्वरूप के विकास में विभिन्न सामाजिक चिंतकों ने अपना विशिष्ट योगदान दिया है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य के विकास में विभिन्न सामाजिक विचारकों का योगदान इस प्रकार है–

अगस्ट कॉम्टे का सावयवी प्रकार्यवाद

फ्रांस की क्रांति के बाद समाज में अव्यवस्था और अशांति फैल गयी थी। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र के जनक अगस्ट कॉम्टे ने ऐसे दर्शन पर जोर दिया जो लोगों में भाइचारे का विकास कर सके। लोगों में भाईचारे की समझ को विकसित करने के लिए कॉम्टे ने प्रकार्यवाद को परिभाषित किया। वे पहले समाजशास्त्री हैं जिन्होंने सावयव और समाज को समान स्तर पर रखा। उनका मानना था कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग प्रकार्यों द्वारा एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग भी आपस में जुड़े रहते हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्लेषणात्मक प्रकार्यवाद

हर्बर्ट स्पेन्सर अन्य प्रकार्यवादी विचारकों की तरह ही ब्रह्माण्ड को कई खण्डों में बंटा देखते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर का मानना है कि मुख्य तौर पर इस ब्रह्माण्ड के तीन खण्ड हैं– कार्बनिक, अकार्बनिक तथा अधि–सावयवी। स्पेन्सर ने इन तीनों खण्डों का विशद् विश्लेषण किया है। स्पेन्सर के अनुसार अधि–सावयवी खण्ड का संबंध कार्बनिक तथा अकार्बनिक खण्डों के साथ है अर्थात् इनमें प्रकार्यात्मक संबंध है। स्पेन्सर के शब्दों में प्रकार्यवाद वह सिद्धांत है जो ब्रह्माण्ड के तीनों खण्डों के पारस्परिक संबंधों को प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखता है।

इमाइल दुर्खीम का सामाजिक तथ्यों का प्रकार्यवाद

दुर्खीम ने स्पेन्सर की जैविकीय व्यवस्था की सामाजिक व्यवस्था से तुलना की कटु आलोचना की है। अपनी पुस्तक 'द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' में दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों का प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया है। उनके अनुसार समाज की कुछ प्रकार्यात्मक आवश्यकताएं होती हैं जिसमें सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का बना रहना है। उनके अनुसार सर्वसम्मति से समाज में व्यक्तियों को एकीकृत रखा जा सकता है और सामूहिक चेतना का विकास किया जा सकता है। उनके अनुसार जब तक समाज में बुनियादी नैतिक मुद्दों पर सर्वसम्मति नहीं बन जाती है, समाज में सुदृढ़ता नहीं आ सकती है। दुर्खीम ने धर्म का भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया है। दुर्खीम के

अनुसार सामाजिक तथ्य ही समाज के विभिन्न व्यक्तियों को एकसूत्रता में बांधते हैं, यही प्रकार्यवाद है।

टिप्पणी

पारसन्स का आधारभूत पूर्व आवश्यकताएं सिद्धांत

अन्य प्रकार्यवादियों की तरह ही पारसन्स समाज में मूल्यों के प्रति सर्वसम्मति को आवश्यक मानते हैं। यदि समाज के सदस्य परस्पर एक–दूसरे के मूल्यों के प्रति आस्था रखते हैं तो समाज सुचारू रूप से चलता है और समाज में एकता बनी रहती है। पारसन्स समाज को एक व्यवस्था मानकर चलते हैं। उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था की चार प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं हैं– अनुकूलन, लक्ष्य–प्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिमान अनुरक्षण। पारसन्स के अनुसार यदि पूर्व आवश्यकताएं पूरी नहीं की जाती हैं तो व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा।

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य संबंधी विभिन्न चिंतकों के सिद्धांत

प्रकार्यवाद के प्रमुख विचारक किंग्सले डेविस, अगस्ट कॉम्टे, हर्बट स्पेन्सर, टालकोट पारसन्स, रॉबर्ट मर्टन, ब्रोनिसलॉ मैलिनोवेस्की, रेडक्लिफ ब्राउन आदि हैं। प्रमुख विचारों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

ब्रोनिसलॉ मैलिनोवेस्की का प्रकार्यवाद

ब्रोनिसलॉ मैलिनोवेस्की प्रथम सामाजिक–सांस्कृतिक–मानवशास्त्री थे जिन्होंने प्रकार्यवादी विचार को व्यवस्थित किया। मैलिनोवेस्की को सामाजिक सांस्कृतिक मानवशास्त्र में क्षेत्रकार्य को प्रारंभ करने का श्रेय दिया जाता है। इन्होंने प्रशांत महासागर के ट्रॉबियाण्ड द्वीप समूह के जनजातीय समुदायों के अपने अध्ययन में बताया कि आदिम संस्कृतियों के लोगों की भी अपनी मान्यताएं और मूल्य होते हैं तथा इन संस्कृतियों का विश्लेषण उनकी मान्यताओं एवं मूल्यों के अनुसार ही होना चाहिए। जनजातियों की संस्कृति के अध्ययन में मैलिनोवेस्की ने संस्कृति को पूर्णता के रूप में देखा है और उसके विभिन्न अंगों के मध्य प्रकार्यात्मक एकीकरण की अनिवार्यता को स्वीकार किया है।

मैलिनोवेस्की के अनुसार किसी संस्कृति के सभी तत्व परस्पर संबंधित होते हैं तथा इनमें से किसी एक में होने वाला परिवर्तन अन्य तत्वों को भी प्रभावित करता है। संस्कृति के विभिन्न अंगों के मध्य इस तालमेल अथवा संगति को प्रकार्यात्मक समाकलन कहा जाता है। इस तरह समाकलन की स्थिति संस्कृति को पूर्णता के रूप में प्रस्तुत करती है। मैलिनोवेस्की का कहना है कि किसी भी संस्कृति में ऐसा कुछ नहीं होता जो सार्थक रूप में संस्कृति के अन्य तत्वों से किसी प्रकार से संबद्ध नहीं हो या उसमें संस्कृति की कोई भूमिका नहीं हो।

मैलिनोवेस्की ने अपने प्रकार्यवादी विचारों में संस्कृति को वृहद् पर्यावरण का अनुकूल साधन माना है। उनके अनुसार अन्य सभी प्राणियों की तरह मनुष्य के जन्मजात शारीरिक उपागम उसकी जीविका को सुनिश्चित नहीं कर पाते हैं, परंतु विकसित मस्तिष्क और शरीर के विशेष लक्षणों के कारण मनुष्य में संस्कृति–सृजन की क्षमता विकसित होती है। इसी संस्कृति के माध्यम से मनुष्य अपना अनुकूलन निश्चित करता है। इस प्रकार संस्कृति पर्यावरण से अनुकूलन का साधन होती है।

टिप्पणी

मैलिनोवेस्की ने अपने प्रकार्यवाद को 'आवश्यकताओं का सिद्धांत' के रूप में स्थापित किया है। उनका मानना है कि मनुष्य की मूल जैविकीय आवश्यकताएं संस्कृति के लिए आवश्यक दशाएं निर्धारित करती हैं। सार्वभौमिक स्तर पर सभी संस्कृतियों की कुछ आवश्यकताएं होती हैं जो मनुष्य की जीविका और संतुष्टि के लिए आवश्यक होती है। उनके अनुसार सामाजिक संस्थाओं के प्रकार्य तथा मनुष्य की इन प्राथमिक जैव–मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के बीच गहरा संबंध होता है।

इसे मैलिनोवेस्की ने निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है–

प्राथमिक आवश्यकताएं सांस्कृतिक प्रत्युत्तर

1. पोषण खाद्य आपूर्ति
2. प्रजनन विवाह और परिवार
3. सुरक्षा और संरक्षण आवास एवं आवरण
4. विश्राम–मनोरंजन के साधन
5. गतिशीलता–कार्यकलाप एवं संचरण
6. वृद्धि प्रशिक्षण

इस प्रकार मैलिनोवेस्की ने प्रदर्शित किया है कि किसी भी संस्कृति में अनेक सांस्कृतिक व्यवहारों को जैविकीय एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं से संबंधित किया जा सकता है, परंतु मनुष्य की सभी आवश्यकताएं केवल जैविकीय या मनोवैज्ञानिक नहीं होती हैं। मनुष्य के लिए प्राथमिक जैव–मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति स्वयं अपनी कुछ आवश्यकताओं को जन्म देती है, जिसे व्युत्पन्न आवश्यकताएं कहा जाता है, जैसे–

व्युत्पन्न आवश्यकताएं सांस्कृतिक प्रत्युत्तर

1. सांस्कृतिक साधनों का पुनर्नवीकरण अर्थव्यवस्था
2. व्यवहारों के नियमन की आवश्यकता–सामाजिक नियंत्रण
3. मानव संसाधनों का पुनर्नवीकरण शिक्षा
4. शक्ति का संगठन–राजनीतिक संगठन

सभी संस्कृतियों में पायी जाने वाली इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण के अलावा एक अन्य कृत्रिम वातावरण का भी निर्माण कर लेता है, जिसे संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति को समाकलित करने में कुछ सांस्कृतिक तत्व क्रियाशील होते हैं। आर्थिक विनिमय के स्वरूप तथा आनुष्ठानिक विनियमों में निहित पारस्परिकता संस्कृति के ऐसे पक्ष होते हैं जो संस्कृति की समाकलित आवश्यकताओं को पूरा करता है और उसकी पूर्णता को बनाये रखता है। इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों के अस्तित्व और उनकी सार्थकता को उपर्युक्त आवश्यकताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है। प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न द्वितीयक अथवा व्युत्पन्न आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। व्यक्तियों द्वारा संस्कृति का सृजन होता है और उसको समाकलित स्वरूप प्रदान किया जाता है।

मैलिनोवेस्की का मानना है कि प्राथमिक आवश्यकताएं मौलिक होती हैं और उनकी संतुष्टि अनिवार्य होती हैं लेकिन, यह व्यक्तिगत स्तर पर संभव नहीं होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति सांगठनिक प्रयासों से होती है जो समाज में पाये जाते हैं। मैलिनोवेस्की इन्हें संस्थाएं कहते हैं। उनका कहना है कि संस्थाओं की जड़ें मानव स्वभाव की गहराइयों में होती हैं यानी वह मानव स्वभाव को प्राथमिक जैविकीय आवश्यकताओं के पर्याय के तौर पर देखते हैं।

मैलिनोवेस्की के सिद्धांत की कई आधारों पर आलोचना की जाती है, जैसे– उनके सिद्धांत में संरचना का विचार नहीं है, परंतु मैलिनोवेस्की का कहना है कि प्रकार्य की परिभाषा में एक प्रकार की परिभाषा सन्निहित है। मैलिनोवेस्की के सिद्धांत की दूसरी आलोचना यह है कि इसमें ऐतिहासिकता को महत्व प्रदान नहीं किया गया है। उन्होंने क्षेत्र–अध्ययन और एथनोग्राफी पर आधारित अध्ययन किया है, जो केवल वर्तमान संस्कृति के अध्ययन तक सीमित है, उसमें अतीत का विचार सम्मिलित नहीं है। इसकी तीसरी आलोचना यह है कि इस सिद्धांत में समाज और संस्कृति के विघटनात्मक तत्वों पर विचार नहीं किया गया है।

रॉबर्ट के. मर्टन का प्रकार्यवाद

रॉबर्ट के. मर्टन ने आधुनिक समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का संशोधित अध्ययन कर एक व्यवस्थित पद्धति के रूप में विकसित करने का कार्य किया है। मर्टन से पूर्व दुर्खीम, मैलिनोवेस्की और रेडक्लिफ ब्राउन जैसे विचारकों ने प्रकार्यवाद अथवा शास्त्रीय प्रकार्यवाद की जो मान्यताएं निर्धारित की थीं, उनमें व्यापक संशोधन किया है। इन संशोधनों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत रखा जा सकता है–

- मर्टन ने पूर्व प्रकार्यवादियों का यह विचार कि सामाजिक व्यवस्था का प्रत्येक अंग संपूर्ण व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक होता है, को अस्वीकार करते हुए कहा कि समाज की सभी इकाइयां सभी सदस्यों के लिए और संपूर्ण समाज के लिए समरूप नहीं होती हैं। एक इकाई किसी एक सदस्य के लिए प्रकार्यात्मक हो सकती है तो दूसरे सदस्य के लिए दुष्प्रकार्यात्मक हो सकती है।
- पूर्व प्रकार्यवादियों की मान्यता कि समाज की सभी इकाइयां प्रकार्यात्मक हैं, को मर्टन ने अस्वीकृत करते हुए कहा कि इकाई का परिणाम प्रकार्यात्मक (सकारात्मक) के साथ ही दुष्प्रकार्यात्मक (नकारात्मक) अथवा अकार्यात्मक भी होता है, क्योंकि इकाइयों के कुछ कार्य प्रकट होते हैं तो कुछ कार्य अप्रकट भी होते हैं।
- मर्टन ने पूर्व–प्रकार्यवादियों के विचार कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के लिए कुछ प्रकार्य अथवा आवश्यकताएं अनिवार्य होते हैं, को खारिज करते हुए कहा कि समाज में वैकल्पिक संरचनाएं और संस्थाएं विद्यमान होती है जो सामाजिक व्यवस्था के विशिष्ट प्रकार्यों को पूरा करती हैं।

इस प्रकार मर्टन ने पारंपरिक अथवा शास्त्रीय प्रकार्यवाद की उपर्युक्त मान्यताओं का खण्डन करते हुए इसका संशोधित रूप प्रस्तुत किया। मर्टन ने अपना 11 सूत्रीय पैराडाइम प्रस्तावित किया है जिसके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं–

1. प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए उन इकाइयों को निर्धारित करना, जिनसे प्रकार्य होते हैं।

टिप्पणी

2. सामाजिक घटनाओं की वस्तुनिष्ठ घटनाओं का पता करना।
3. किसी इकाई का प्रकार्यात्मक प्रभाव कहां तक और किन इकाइयों पर पड़ रहा है, इसका पता लगाना।
4. प्रकार्यात्मक विकल्पों की खोज करना।
5. प्रकार्यात्मक विश्लेषण की वैचारिकी विश्लेषण को किस प्रकार प्रभावित कर रही है, इसका पता लगाना।
6. किसी व्यवस्था के जीवित रहने के लिए वास्तव में किन आवश्यताओं की पूर्ति आवश्यक है, इसका पता करना।
7. समाज में गतिशीलता एवं परिवर्तन कैसे हो रहे हैं, इसका पता लगाना।

मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए प्रस्तावित अपने पैराडाइम के प्रयोग के कई लाभ बताये हैं, जैसे– इसकी सहायता से आधार तत्वों तक सीधे पहुंचा जा सकता है। इससे समाजशास्त्री प्रकार्यात्मक विश्लेषण के परिणामों के प्रति संवेदनशील हो जाते हैं। इससे सिद्धांत को उचित तरीके से नियमित करने में सहायता मिलती है इससे समाजशास्त्रीय विश्लेषण में प्रयुक्त मान्यताएं, अवधारणाएं आदि हमारे समक्ष आ जाती हैं। इससे विश्लेषण का तरीका क्या हो, किन बातों का और कितना अध्ययन हो आदि के निर्धारण में सहायता हो जाती है।

मर्टन ने पारंपरिक प्रकार्यवादियों के विश्लेषण का खण्डन करते हुए सामाजिक व्यवस्था की इकाइयों के **'प्रकट और अप्रकट प्रकार्यों'** पर जोर दिया है। मर्टन के अनुसार प्रकट कार्य किसी घटना के वैसे परिणाम होते हैं जिसके घटित होने का अनुमान पहले से ही होता है। दूसरी तरफ अप्रकट कार्य किसी घटना के वैसे परिणाम हैं जिन्हें न तो कर्ता जानता है और न ही चाहता है। मर्टन ने प्रकट और अप्रकट प्रकार्यों को प्रकार्यवादी विश्लेषण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि–

(क) इससे तर्कहीन लगने वाली घटनाओं के पीछे छिपे उद्देश्यों का पता लगता है।

(ख) इससे समाज के वैज्ञानिक ज्ञान का विस्तार होता है।

(ग) इससे स्थापित नैतिक मूल्यों को चुनौती मिलती है।

(घ) इससे सार्थक सैद्धांतिक खोज की ओर ध्यान जाता है और अनुसंधान के नये प्रश्नों की उत्पत्ति संभव होती है।

मर्टन ने प्रकार्यवाद के सिद्धांत को बहुत व्यवस्थित किया है और उसे संशोधित करके आधुनिक स्वरूप प्रदान किया है, तथापि उनके सिद्धांत की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है–

(क) गोल्डनर के अनुसार मर्टन के प्रकार्यवाद रूढ़िवाद और क्रांतिकारी होने का आरोप लगाया है, वह कमजोर नींव पर आधारित है।

(ख) मर्टन का प्रकार्यवाद भी अन्य प्रकार्यवादियों की तरह उद्देश्यपरकता से ग्रसित है, क्योंकि मर्टन ने किसी इकाई के प्रभाव को ही कारण के तौर पर स्वीकार किया है।

टिप्पणी

(ग) मर्टन के प्रकार्यवादी विश्लेषण के पैराडाइम में तुलना और सामान्यीकरण की भूमिका का अभाव है।

(घ) आलोचकों के अनुसार पारसन्स की तरह मर्टन ने भी सामाजिक व्यवस्था में असहमति और संघर्ष के पहलू पर अधिक जोर नहीं दिया है।

(ङ) कोहेन का कहना है कि मर्टन ने अपने सिद्धांत में जिन प्राकल्पनाओं को शामिल किया है, उन्हें प्रमाणित करना बहुत कठिन है। मर्टन अपने नियमों को पूरी तरह से स्पष्ट करने में असफल रहे हैं।

(च) मर्टन द्वारा अपने पूर्ववर्ती प्रकार्यवादियों के विचारों में संशोधन करने के संबंध में डेहरेंडार्फ का कहना है कि प्रकार्यवाद के सभी स्वरूप यूटोपिया हैं, क्योंकि इन्हें समाज पर लागू करते समय वास्तविकता कम और कल्पना अधिक होती है।

(छ) होमन्स, टर्नर जैसे आलोचकों का कहना है कि मर्टन के प्रकार्यवाद को सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सिद्धांत में एक कथन और एक निष्कर्ष अवश्य होता है, परंतु मर्टन के प्रकार्यवाद में ऐसा कुछ नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद कहा जा सकता है कि मर्टन ने प्रकार्यवाद की पारंपरिक कमियों को उजागर करते हुए उसे नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करने की कोशिश की है और प्रकार्यवाद को सुदृढ़ता प्रदान की है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 'सावयवी प्रकार्यवाद' दृष्टिकोण के जनक विद्वान हैं–

(क) राबर्ट मर्टन (ख) अगस्ट कॉम्टे

(ग) टी पारसंस (घ) हर्बट स्पेन्सर

4. किस विद्वान ने प्रकार्यवाद को 'आवश्यकताओं का सिद्धांत' के रूप में स्थापित किया है?

(क) मैलिनोवेस्की (ख) इमाइल दुर्खीम

(ग) किंग्सले डेविस (घ) टी रेमेंट

1.4 संघर्ष/कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य/सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत

संघर्ष सिद्धांत, समाजवाद की रेडिकल विचारधारा, कट्टरपंथी परिप्रेक्ष्य और सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत को इस प्रकार समझा जा सकता है–

1.4.1 संघर्ष

अवधारणा– संघर्ष करना मानव समाज की एक प्रमुख प्रक्रिया है। संसार का प्रत्येक जीव, अपने अस्तित्व एवं स्वार्थवश, अन्य जीवों से टकराव की स्थिति में होता है। अपना अधिकार प्राप्त करना हो या अपने जीवनयापन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी हो प्रत्येक स्तर पर प्राणियों को संघर्ष करना ही पड़ता है। संघर्ष, किसी व्यक्ति या

टिप्पणी

व्यक्तियों के समूह की इच्छा के विरुद्ध किया गया प्रयत्न होता है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को दबाने या अपनी बात मनवाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का वर्तमान स्वरूप 'मनुष्य' भी संघर्ष का ही परिणाम है, क्योंकि वानर से मनुष्य बनने तक, हमने, प्रकृति के साथ एक लंबा संघर्ष किया है। ग्रीन के अनुसार, "संघर्ष, जानबूझकर किया गया एक ऐसा प्रयास होता है जो किसी की इच्छा के विरोध करने या उसकी इच्छा के आड़े आने पर या उसे दबाने के लिए किया जाता है।" स्पष्टतः यह एक प्रयास है जो दूसरों को अपनी बात मनवाने के लिए विवश करने का काम करता है।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, 'संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसमें व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह अपनी बात मनवाने के लिए, दूसरे पक्ष को हिंसा करके, या हिंसा करने की धमकी देकर, अपना उद्देश्य पूर्ण करना चाहते हैं। संघर्ष में व्यक्ति या समूह हिंसा का आश्रय भी ले सकते हैं तथा हिंसात्मक प्रक्रिया करने की धमकी देकर भी अपनी बात मनवाने का प्रयास करते हैं।'

संघर्ष के कारण

संघर्ष किसी एक निश्चित कारण से नहीं होता वरन् परिस्थितिजन्य होता है। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है एवं अपने स्वार्थों एवं उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए अपने अनुभव एवं अपनी महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप बुद्धि का प्रयोग करता है। जब मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती एवं स्वार्थ सिद्ध नहीं होता मनुष्य स्वयं ही टकराव एवं संघर्ष की स्थिति में आ जाते हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि कोई मनुष्य सीधे–सीधे ही टकराव या संघर्ष का रास्ता चयन करे। संघर्ष प्रारंभ होना भी एक सोपानदार प्रक्रिया होती है। कोई भी मनुष्य, यह प्रयास नहीं करना चाहता कि वह अनावश्यक किसी को हानि पहुंचाये, वरन प्रथमदृष्टया वह यह ही प्रयास करता है कि सरलतापूर्वक एवं बिना किसी को कोई हानि पहुंचाए अपना स्वार्थ पूर्ण हो जाए, परंतु जब वह वस्तु नहीं मिलती या आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य संघर्ष को ही एकमात्र मार्ग समझता है। उदाहरण के लिए मजदूर, कारखाना मालिक से सुविधाएं बढ़ाने की जायज मांग करते हैं परंतु जब बार–बार आश्वासन मिलते हैं और वेतन बढ़ाया नहीं जाता तो मजदूरों को असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं का दामन ही थामना पड़ता है जो कि वह अपनी इच्छा या खुशी से नहीं करते हैं वरन् अपनी आवश्यकताओं से विवश होकर ही करते हैं। इस संघर्ष में भी मजदूर वर्ग कभी भी यह नहीं चाहेगा कि कारखाने या व्यवस्था को हानि हो, वरन् उसका मूल उद्देश्य व्यवस्था के संचालन में व्यवधान उत्पन्न करना होता है जिससे कि समाज के अन्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं का ध्यान इनकी समस्याओं की तरफ खींचा जा सके।

संघर्ष के इसके अतिरिक्त भी अनेक कारण हैं जिनमें से प्रमुख हैं–

1. सामाजिक परिवर्तन,
2. आर्थिक तंगी एवं अभावग्रस्त जीवन,
3. समाज में व्याप्त असमानता,
4. व्यक्तिगत असमानताएं,
5. सांस्कृतिक असमानताएं,

टिप्पणी

6. धार्मिक असमानताएं,
7. स्वार्थों में भिन्नता एवं टकराव,
8. व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा,
9. लैंगिक संघर्ष तथा
10. अधिकारों के प्रति जारूकता आ जाना इत्यादि।

संघर्ष के प्रकार

संघर्ष एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो कि स्थितिजन्य है एवं इसका जन्म, स्थितियों के कारण से होता है, अर्थात् कोई व्यक्ति या समूह जानबूझकर या स्वेच्छा से संघर्षपूर्ण स्थितियां उत्पन्न नहीं कर सकते, वरन् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक कारक, मनुष्यों को संघर्ष करने हेतु विवश करते हैं। इन्हीं बिंदुओं के परिप्रेक्ष्य में गिलिन एवं गिलिन ने पांच प्रमुख प्रकार के संघर्षों का वर्णन किया है–

1. **व्यक्तिगत या वैयक्तिक संघर्ष**– यदि संघर्ष मात्र दो ही व्यक्तियों के मध्य सीमित हो तो यह व्यक्तिगत या वैयक्तिक संघर्ष कहलाता है। मनुष्य की अनेक मूल प्रवृत्तियां एवं महत्वकांक्षाएं इस प्रकार के संघर्ष का मूल कारण होती हैं। हिंदू धर्मशास्त्रों में मनुष्य के पांच महान शत्रु बताए गए हैं जो कि– काम, क्रोध, मोह, लोभ एवं अहंकार हैं। मनुष्य इन्हीं शत्रुओं के मायाचक्र में उलझ कर अपने ही समान अन्य व्यक्तियों से विवाद एवं द्वेषभाव रखने लग जाता है। यह द्वेष, ईर्ष्या एवं घृणा, व्यक्ति को व्यक्ति से टकराव की स्थिति में ले आते हैं।
2. **प्रजातीय संघर्ष**– जब संघर्ष दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य हो तो इसे सामूहिक संघर्ष कहते हैं जो कि अनेक प्रकार का हो सकता है। इसी संघर्ष का एक रूप, प्रजातीय संघर्ष के रूप में देखने को मिलता है। समाज की अनेक प्रजातियां स्वयं को अन्य से श्रेष्ठ समझती हैं इसी आधार पर ये जातियां या प्रजातियां आपस में एक–दूसरे के साथ संघर्ष करती हैं। इतिहास में अनेक प्रकार के प्रजातीय संघर्ष देखने को मिलते हैं जिनमें किसी एक प्रजाति ने अपने से हीन एवं कमतर समझी जाने वाली प्रजातियों के विरुद्ध अत्यंत ही हिंसक संघर्ष किये हैं। इन संघर्षों में स्वयं को उच्च समझने वाली जाति, निम्न–जाति पर अनेकों प्रकार के अत्याचार एवं शोषण भी करती है। विश्व में श्वेत–श्याम या गोरे–काले का भेदभाव इसी प्रकार के संघर्ष की श्रेणी में आता है।
3. **वर्ग–संघर्ष**– मानव समाज अनेक वर्गों में बंटा हुआ है परंतु प्रमुख रूप से दो ही वर्ग है– एक शासक वर्ग एवं दूसरा शासित वर्ग। वर्ग–संघर्ष की अवधारणा को कार्ल मार्क्स ने भलीभांति स्पष्ट किया है। इसमें इन्होंने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से संपूर्ण मानव इतिहास ही वर्गों के संघर्ष का ही इतिहास रहा है। एक वर्ग सदैव दूसरे से संघर्ष करते आया है।
4. **राजनीतिक संघर्ष**– राज्यसत्ता की प्राप्ति ही प्रमुख रूप से राजनीतिक दलों का उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनेक व्यक्ति एक संगठन के रूप में एक दल स्थापित करते हैं जिनकी एक निश्चित विचारधारा होती है। जो व्यक्ति इस विचारधारा का समर्थन करते हैं एवं समझते हैं कि इसमें उनका

टिप्पणी

स्वार्थ हल हो रहा है तो वे इस दल का सदस्य बन जाते हैं। इसी प्रकार से अनेक दल हमारे समाज में पाये जाते हैं। चूंकि सभी दल अपनी अलग विचारधारा के ही आधार पर अस्तित्व में आये हैं तथापि वे एक–दूसरे के विरोधी भी होंगे। यह विरोध ही संघर्ष का राजनीतिक रूप ले लेता है। वर्तमान समय में हम प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में रहते हैं जिसमें नागरिकों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है एवं राजनीतिक दल चुनावी संघर्ष के उपरांत सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। परंतु हारे हुए दल अपना विरोध एवं संघर्ष जारी रखते हैं।

5. **अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष**– यदि राजनीतिक संघर्ष दो राष्ट्रों के मध्य हो तो यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर का संघर्ष बन जाता है। विश्व के अनेक राष्ट्र एक–दूसरे के साथ राजनीतिक संघर्ष में संलिप्त होते हैं। यह संघर्ष कई बार तो सदियों पुराना भी हो सकता है। येरूशलम को लेकर तीन राष्ट्रों के मध्य संघर्ष पिछले 2000 वर्ष से चल रहा है। इसमें फलस्तीन, येरुशलम एवं इजराइल का संघर्ष मुख्य है। भारत–चीन–पाकिस्तान भी अंतर्राज्यीय संघर्ष का शिकार हैं।

संघर्ष के परिणाम

जैसा कि मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि संघर्ष के अनेक परिणाम होते हैं परंतु इनमें सबसे प्रमुख है जन–धन की हानि। विश्व इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि उपरोक्त वर्णित पांच प्रकार के संघर्षों के कारण लाखों व्यक्ति अकारण मृत्यु का शिकार हुए हैं तथा अनेक सभ्यताएं, संस्कृतियां भी नष्ट हो गई हैं। इतिहास से सबक लेते हुए यही प्रेरणा मिलती है कि संघर्ष अनिवार्य है परंतु यह अहिंसक होना चाहिए। प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में यदि शांतिपूर्वक विधि से संघर्ष किया जाता है तो संपूर्ण मानव समाज का हित होता है परंतु यदि हिंसक विधियों से असहयोग किया जाये तो यह मानव हित में नहीं है।

कार्ल मार्क्स ने संघर्ष को हिंसा से संबद्ध कर दिया जो कि स्वार्थपरक है। इसी प्रकार से गांधी जी का असहयोगात्मक संघर्ष पूर्णतः अहिंसक था जिसने भारत से ब्रिटिश शासन को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अतः स्पष्ट है कि संघर्ष से मानव को लाभ होता है परंतु यह संघर्ष पूर्णतः अहिंसक होना चाहिए। इस तरह के अहिंसक असहयोग, धरना, प्रदर्शन एवं वार्ता द्वारा भी अपनी बातों को रखकर मनवाया जा सकता है।

1.4.2 समाजवाद की रेडिकल विचारधारा

रेडिकल दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें कार्ल मार्क्स के द्वारा किए गए कार्यों की तरफ देखना होगा क्योंकि इस दृष्टिकोण की जड़ें मार्क्स के समाजवादी सिद्धांत के साथ बहुत गहराई से जुड़ी हुई हैं। 1960 के दशक तक संघर्षवादी और रेडिकल दृष्टिकोण का अमेरिका के समाज में अधिक बोलबाला नहीं था किंतु यदि हम इस दृष्टिकोण के मूल तत्व को समझने का प्रयास करें तो हमें यह देखने को मिलता है कि संघर्षवादी विचारधारा और रेडिकल दृष्टिकोण में कई विषयों को लेकर समानता थी, जैसे दोनों ही विचारधाराएं असमानता, संघर्ष और सत्ता व उनके न्याय प्रणाली से संबंध पर केंद्रित थीं। इस प्रकार रेडिकल दृष्टिकोण संघर्षवादी सिद्धांत का एक ऐसा रूप है जहां पर आर्थिक आधार को संघर्ष का मुख्य कारण माना गया है।

टिप्पणी

रेडिकल दृष्टिकोण व संघर्षवादी विचारधारा दोनों ही समाज में बड़ी संरचनाओं, ऊंचे ओहदे के व्यक्तियों द्वारा सामाजिक संरचना पर पड़ने वाले प्रभाव का अवलोकन करने के पक्ष में रहे हैं। रेडिकल विचारधारा हर उस व्यवस्था का विरोध करती है, जिससे कि समाज में असमानता का भाव उत्पन्न होता है जैसे आर्थिक आधार पर लोगों के बीच असमानता तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना।

ऐसा माना जाता है कि रेडिकल दृष्टिकोण का उद्‌भव अमेरिकी समाज में उस समय हुआ जब 1960 के दशक में नागरिक अधिकारों व युद्ध विरोधी प्रदर्शनों को लेकर जनता में भारी आक्रोश था। समाज में व्याप्त इस प्रकार के आक्रोश को प्रकार्यवादी लोगों द्वारा अधिक महत्व न मिलने के कारण संघर्षवादी विचारधारा का उद्‌भव हुआ, जिसे हम मार्क्सवादी विचारधारा के साथ जोड़कर भी देख सकते हैं।

रेडिकल विचारधारा को मानने वाले व्यक्ति इस बात में विश्वास रखते हैं कि चीजें हमेशा वैसी ही नहीं होती जैसी वह दिखाई देती हैं। इसलिए किसी समाज की वास्तविकता को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उस समाज की व्यवस्था कैसे काम करती है, अतः सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक संस्थानों की कार्य पद्धति रेडिकल विचारधारा के अंतर्गत आने वाले मुख्य विषयों में एक मानी जाती है। रेडिकल विचारधारा मुख्यतया सामाजिक ढांचे के अस्तित्व व भूमिका की बात करती है, जिसमें मुख्यतया आर्थिक बनावट को लिया जाता है और उसे ही समाज में व्याप्त असमानता, संघर्ष और तनाव का कारण माना गया है।

रेडिकल विचारधारा या संघर्षवादी विचारधारा समाज में व्याप्त असमानता और संघर्ष की बात करते हैं। उसी स्थिति को शिक्षा के क्षेत्र में भी इस विचारधारा के द्वारा देखने का प्रयास किया गया और यह माना गया कि शिक्षा के क्षेत्र में भी सभी बच्चों को एक प्रकार से शिक्षा की सुविधाएं न प्रदान करना भी छात्रों के बीच असंतोष और असमानता के भाव को बढ़ावा देने का कार्य करता है। संघर्षवादी विचारधारा और रेडिकल विचारधारा समाज में व्याप्त वर्ग विशेष के आधार पर आधारित असमानता और विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष के आधार को शिक्षा के साथ जोड़कर देखते हुए यह बताने का प्रयास करते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में भी पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर छात्रों में जिन सामाजिक गुणों के विकास की बात की जाती है, वह भी समाज में व्याप्त असमानता जैसे गरीब व अमीर के बीच और उच्च वर्ग व निम्न वर्ग के बीच की असमानता तथा सत्ता पक्ष व कमजोर पक्ष के बीच की असमानता जैसे विषयों को अनदेखा करती है। रेडिकल विचारधारा इस बात को प्रमुखता से उजागर करती है कि किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था समाज में वर्ग विशेष को फायदा पहुंचाकर गरीब को और अधिक गरीब बनाने का काम करती है और असमानता व संघर्ष की स्थिति के कारण यह विचारधारा समाज में बदलाव व न्यायपरक सामाजिक व्यवस्था को लाने के उद्देश्य को महत्वपूर्ण मानती है।

1.4.3 कट्‌टरपंथी परिप्रेक्ष्य

संघर्ष सिद्धांत की जड़ें, कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के कार्यों में पाई जाती हैं, इन दोनों का यह मानना है कि सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए आम सहमति की जगह अंत में, दबाव ही काम में आता है। जहां मार्क्स और वेबर द्वारा सामाजिक स्तरण के

टिप्पणी

प्रकारों और डिग्रियों की अलग–अलग कल्पना की गई है, वहीं दोनों की इस विचार पर सहमति पाई गई है कि इन समाज के विभिन्न स्तरों में संघर्ष एक मौलिक गतिशीलता है। मार्क्स के विचार में पूंजीवादी समाज दो मुख्य आर्थिक वर्गों में विभाजित था– श्रमजीवी वर्ग और पूंजीपति वर्ग। ये दोनों वर्ग हमेशा एक दूसरे के खिलाफ खड़े रहते थे। वेबर समाज में अर्थव्यवस्था के महत्व से भली भांति वाकिफ थे, लेकिन उनके विचार में समाज में राजनीतिक बल और स्थिति भी बेहद महत्वपूर्ण थे। सामाजिक समूहों में लोगों का एक दूसरे से संबंध का आधार संपत्ति और धन से ज्यादा गहरा जातीय एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा साझा 'जीवनशैली' के कारण था।

संघर्ष का कार्यात्मक विश्लेषण : एल. कोसर

एंटी–सामाजिक वाद–विवाद हटाकर और सभी प्रकार के संघर्षों के प्रति व्यापक प्रयोग वाले सिद्धांतों को रखते हुए, लुइस कोसर ने जॉर्ज सिम्मेल के जर्मन समाजशास्त्र के विचार का शुद्धिकरण करने की कोशिश की है। संघर्ष, सामूहिक सीमाओं की भावनाओं को और गहरा कर देता है। नजदीकी तौर पर संबंधित दो व्यक्तियों या समूहों के बीच उत्पन्न हुआ संघर्ष, समूह के लिए चुनौतीपूर्ण होने के कारण, सबसे ज्यादा तीव्र होता है। बाहरी संघर्ष के कारण समूह के सदस्य एकजुट हो जाते हैं; यही कारण है कि आंतरिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए, अक्सर समूह बाहरी दुश्मनों की खोज में रहते हैं। विडंबना यह है कि विरोधी एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, काफी हद तक उस प्रकार जैसे युद्ध में जुटे दुश्मन सैनिक एक दूसरे को अपने अस्तित्व से प्रभावित करते हैं। संघर्ष ऐसी प्रक्रिया की सहायता से प्रसारित होते हैं, जिसके जरिए प्रत्येक पक्ष, गठबंधन में एक निष्पक्ष पार्टी लाने की कोशिश करता है।

कोसर द्वारा निर्मित इन सिद्धांतों के कारण संघर्ष की प्रक्रिया के संबंध में खोज की एक आधुनिक विचारधारा की शुरुआत हुई। कोसर के कार्य भी लगभग डैरेन्डॉर्फ के वर्ग सिद्धांत के समय ही सामने आए और इन दोनों सिद्धांतों के मिश्रण ने समाजशास्त्रियों को यह अहसास दिलाया कि एक मुख्य परम्परा को संघर्ष सिद्धांत का नाम दिया जा सकता है।

संघर्ष का प्रकार्यवाद : कोसर की अवधारणा

संघर्ष से संबंधित कोसर की अवधारणा के अनुसार सामाजिक संघर्ष का संगठनात्मक प्रकार्य संघर्ष के विघटनात्मक परिणामों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

उदाहरणस्वरूप विरोधी देश से युद्ध (संघर्ष) की स्थिति में, देश के सभी नागरिकों, संप्रदायों और राजनीतिक दलों में एकता देखने को मिलती है तथा इसका कारण सभी नागरिकों का कुछ आधारभूत मूल्यों में विश्वास होता है। यहां युद्ध एक विघटनाकारी घटना है किंतु इसके कारण सभी नागरिकों का एकमत होना संगठनात्मक परिणाम है।

किंतु किसी समाज के विरोधी पक्षों में यदि आधारभूत मूल्यों के प्रति आस्था नहीं होती तो ऐसी स्थिति में किसी मामूली अवांछित घटना के कारण भी दोनों विरोधी पक्ष एक दूसरे को मारने–मरने पर आमादा हो जाते हैं। तथा स्थिति दंगों से लेकर गृहयुद्ध तक हो सकती है। ऐसा संघर्ष विघटनात्मक परिणाम को प्रदर्शित करता है।

टिप्पणी

कोसर के अनुसार संघर्ष यथार्थवादी एवं अयार्थवादी होता है। चुनाव में उम्मीदवारों द्वारा अपनी विजय हेतु संघर्ष को यथार्थवादी संघर्ष की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें विरोधी पक्ष को नष्ट करना लक्ष्य नहीं होता अपितु अपनी विजय प्रमुख होती है। आतंकवादियों द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या अयथार्थवादी संघर्ष की श्रेणी में आता है। इसमें अपनी विजय या अपना हित चाहे न हो किंतु विरोधी पक्ष की हानि प्रमुख लक्ष्य होता है।

अर्थात विरोधी को नुकसान पहुंचाए बिना परिणाम या लक्ष्य प्राप्ति, यथार्थवादी संघर्ष की विशिष्टता है और बिना लक्ष्य के केवल विरोधी के नुकसान पहुंचाना, अयथार्थवादी संघर्ष कहलाता है जो कि स्पष्टतः विघटनकारी होता है।

लुइस कोसर के अनुसार, 'नवाचार और रचनात्मकता के लिए दबाव डालकर, संघर्ष सामाजिक प्रणाली का बचाव कर सकता है'। संघर्ष के कारण, पार्टियों के बीच संघर्ष के साधनों का खात्मा होता है। इसमें कोई शक नहीं कि यह विरोध या शत्रुता व्यक्त करता है, लेकिन यह तनावपूर्ण रिश्तों को ठीक करने का भी काम करता है। पुराने बंधनों की जगह नए संबंध बनाकर, यह शिकायतें दूर करता है। यह बाहरी विरोध के माध्यम से समूह में आंतरिक एकता लाता है। इस प्रकार, सामाजिक संघर्ष के अनेक फायदे हैं, जैसे कि नए नियमों और संस्थाओं का निर्माण, नए गठबंधन और संधियां करना, तकनीकी सुधार लाना, अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार, सामाजिक सरलीकरण, तनाव और हताशा दूर करना तथा सामाजिक पुनर्गठन करना। समाज में संघर्ष के फायदों का वर्णन करते हुए कोसर ने कहा है, 'सामाजिक समूहों में आंतरिक और आपसी संघर्ष के कारण ऐसे अभ्यस्त संबंधों को बनने से रोका जा सकता है जो उत्तरोत्तर रूप से रचनात्मकता को शक्तिहीन बनाते हैं। मूल्यों और हितों का टकराव, 'जो है' (वर्तमान में) और 'जो होना चाहिए' (परिवर्तन के बाद) जैसी विरोधी परिस्थितियां, निहित हितों और बल, धन तथा पद का अपना हिस्सा मांगने वाले समूहों और नए स्तरों के बीच संघर्ष जीवन शक्ति के लिए हमेशा उत्पादक रहे हैं; इसका बहुत बढ़िया उदाहरण है, 'मध्य काल के गतिहीन संसार और रेनेसां सभ्यता में उत्पन्न हुई रचनात्मकता के विस्फोट के बीच का विरोध जिसने उस गतिहीन संसार को गतिशील बना दिया'।

''द फंक्शंस ऑफ सोशल कॉनफ्लिक्ट'' नामक अपनी किताब में लुइस कोसर ने संघर्ष के समाज पर प्रभाव और उसकी तीव्रता के संबंध में निम्न प्रस्ताव प्रस्तुत किए हैं–

1. उद्देश्यों, मूल्यों और हितों से संबंधित आंतरिक संघर्ष, जो उन मौलिक मान्यताओं का विरोध नहीं करते जिन पर संबंध आधारित होते हैं; सामाजिक संरचना के लिए सकारात्मक रूप से कार्य करते हैं।
2. ऐसे आंतरिक संघर्ष, जिनमें विरोधी पार्टियां ऐसे मौलिक मूल्य न साझा करें जिन पर सामाजिक प्रणाली आधारित होती है, संरचना के लिए हानिकारक साबित हो सकते हैं।
3. जितना घनिष्ठ समूह होगा, उसमें होने वाले संघर्ष की प्रकृति उतनी ही तीव्र हो जाएगी। जिस समूह के सदस्य अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ समूह में हिस्सा लेते हैं और जिस समूह के संघर्षों को दबाया जाता है, ऐसे समूह में उत्पन्न होने वाले संघर्ष की तीव्रता उस संबंध की बुनियाद तक हिला सकती है।

टिप्पणी

4. जिन समूहों के सदस्य, समूह में केवल आंशिक रूप से हिस्सा लेते हैं, वहां संघर्ष कम हानिकारक होता है। ऐसे समूहों में अनेक संघर्षों की संभावना हो सकती है।
5. लचीले सामाजिक ढांचों में, विभिन्न संघर्ष एक दूसरे का रास्ता काटते हैं, जिस कारण एक ही बिन्दु पर मतभेद उत्पन्न होने से बचाव हो जाता है। विभिन्न संघर्षों में, आंशिक हिस्सेदारी संरचना के भीतर एक संतुलन बनाए रखती है।
6. खुले समाजों और ढीली संरचना वाले समूहों में होने वाला वह संघर्ष, जो विरोधियों के बीच तनाव मिटाने की कोशिश करता है, संबंधों के एकीकरण और संतुलन में योगदान प्रदान करता है।
7. सामाजिक प्रणालियां, विभिन्न स्तरों तक संघर्षों को झेलती या संस्थागत करती हैं। समाज अक्सर ऐसी यंत्रकला अपनाता है जिससे संबंधों में उत्पन्न होने वाले विरोधों के बीच की असंतुष्टि और शत्रुता पर काबू पाया जा सके। ऐसी यंत्रकला, ज्यादातर 'सुरक्षा–बल' संस्थाओं द्वारा कार्य करती है जिससे उग्र प्रवृत्तियों तथा शत्रुतापूर्ण भावनाओं के लिए वैकल्पिक वस्तुएं प्रदान की जाती हैं।
8. सामाजिक संरचना की दृढ़ता के अनुसार, सुरक्षा–बल की आवश्यकता बढ़ती जाती है, मतलब कि, विरोधी विचारों को व्यक्त करने पर लगी रोक के स्तर के अनुसार।

एकीकृत संघर्ष सिद्धांत : आर. कॉलिंस

रैंडल कॉलिंस द्वारा विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने आधुनिक जटिल संगठनों, जैसे कि राज्य और स्तरीकरण का विस्तृत विश्लेषण किया है। इनके विचार हैं कि समाजशास्त्र में वर्णात्मक सिद्धांत का ठोस केंद्र बसता है। इनके अनुसार, ये सिद्धांत मुख्य रूप से संघर्ष परम्परा में निहित हैं जिनमें, 'आम, परीक्षण योग्य व्याख्यात्मक सामान्यीकरण का नेटवर्क' सम्मिलित है और समकालीन एवं ऐतिहासिक सामग्री, दोनों पर ठोस सामाजिक खोज की जाती है। इनके अनुसार, संघर्ष सिद्धांत एक 'ऐसी वैज्ञानिक परम्परा है, इस नजरिए से कि उसमें आदर्श सामाजिक विज्ञान का विकास हुआ था और इस तरह कि हम उसमें से महत्वपूर्ण अनुभवसिद्ध शक्ति के आम सामान्यीकरणों का स्थिर नेटवर्क निकाल सकते हैं'।

विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धांत कोई सामान्यीकृत सिद्धांत नहीं है जिसे सभी विज्ञानों पर लागू किया जा सकता है। यह व्यापक सामाजिक घटनाओं में से सामाजिक स्थान, उपलब्ध संसाधनों तथा विकल्पों के विश्लेषण पर आधारित है। यह कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, इमाइल दुर्खीम, जी.एच. मेड आदि विद्वानों से प्रेरित है। इसमें प्रतीकात्मक संपर्कवाद, घटना–क्रिया–विज्ञान और नृजाति कार्यप्रणाली शामिल हैं। कॉलिंस के अनुसार, विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धांत का उद्देश्य है, 'मैकियावेलि की फ्लोरेंटाइन राज्य के लिए योजनाओं की जगह उनकी वैश्विक उन्नति पर ध्यान देना, निट्ज्शे और फ्रायड की प्रेरणात्मक अंतर्दृष्टियों पर ध्यान देना, उनके जीवोपयोगितावाद और लिंग आधारित भेदभाव पर नहीं। संघर्ष सिद्धांत का मतलब है प्रिंस के बिना मैकियावेलि हेगल के बिना मार्क्स; स्पेंसर के बिना डार्विन के आदर्शवाद के बिना वेबर;

टिप्पणी

फ्रायड के बिना विक्टोरियावाद– इससे भी बेहतर यह है कि फ्रायड ने अपने निट्ज्शयन ऐतिहासिक परिसर को बहाल रखा है। पर्याप्त अलगाव के साथ, समाजशास्त्र में उपलब्धता की मुख्य रेखा दिखाई दी जानी चाहिए'।

कॉलिंस के अनुसार, 'मनुष्य सामाजिक लेकिन संघर्ष–जनित प्राणी है'। वे हॉब्स के इस विचार से सहमत हैं कि आदमी प्राकृतिक रूप से स्वार्थी होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आस–पास उपलब्ध संसाधनों के बल पर ऊंचे से ऊंचा स्तर पाने की कोशिश करता है। हर समाज में धन, शक्ति, प्रतिष्ठा और अन्य मूल्यवान वस्तुएं, असमान रूप से आवंटित हैं। यह संघर्ष का संभावित और मुख्य कारण है। समानता के नियम, समाज को स्तर अनुक्रम में बांटते हैं। विभिन्न स्तरों पर लोगों को उनके पास उपलब्ध ज्यादा या कम संसाधनों के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है। वांछनीय सामग्री के असमान आवंटन पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति की, उपलब्ध दुर्लभ वस्तुओं का बड़े से बड़ा हिस्सा पाने की मंशा होती है। कॉलिंस ने इस परिस्थिति की व्याख्या करते हुए कहा है, 'मौलिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति के लिए काम कर रहा है और दुनिया में बहुत सारी संस्थाएं मौजूद हैं, खासकर वो जिनमें सत्ता का प्रयोग होता है, ऐसी संस्थाओं में इन हितों का निहित विरोध किया जाता है। इस मूलभूत दृष्टिकोण के तीन तत्व हैं–

1. मनुष्य आत्म–निर्मित व्यक्तिपरक संसारों में रहते हैं;
2. दूसरे लोग एक व्यक्ति के आत्मपरक अनुभवों को नियंत्रित करने वाले धागे खींचते हैं; और
3. नियंत्रण के संबंध में अक्सर संघर्ष होता है। मूल रूप से, जीवन स्तर प्राप्त करने का एक संघर्ष है जिसमें कोई व्यक्ति अपने आस–पास के व्यक्तियों की ताकत को अनदेखा नहीं कर सकता।

   यदि हम यह मान लें कि हर व्यक्ति उसे उपलब्ध हर संसाधन का प्रयोग करके दूसरों से उस परिस्थिति के सर्वोत्तम उपयोग हेतु सहायता ले तो हमें स्तरीकरण के भिन्न–भिन्न विकल्पों को समझने का दिशा निर्देश प्राप्त हो जाएगा'।

सामाजिक संरचना पर शासन लोगों द्वारा उनके संघर्ष में शामिल किए गए संसाधनों, उनकी सामाजिक स्थिति उन समूहों द्वारा जिनका वे हिस्सा हैं, उनकी संख्यात्मक ताकत और उनकी परस्पर गतिविधियों की तीव्रता के जरिए किया जाता है। कॉलिंस ने अपने इस मॉडल को उन संस्थानों पर लागू किया जो 'विरोधी हितों के लिए अखाड़ों के रूप में जाने जाते हैं' या उन राज्यों में जहां 'हिंसा का आयोजन किया जाता है' और उस सामाजिक स्तरीकरण पर जहां 'प्रभुत्व संबंधों को एक प्रणाली के रूप में चित्रित किया जाता है'।

इस सिद्धांत को सारांशित करते हुए कॉलिंस इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि, 'संघर्ष दृष्टिकोण का बुनियादी परिसर यह है कि हर व्यक्ति उसे और उसके प्रतियोगियों को उपलब्ध संसाधनों के अनुसार अपने लिए अच्छे से अच्छा करने की कोशिश करता है; और यह कि सामाजिक संरचना– चाहे औपचारिक संगठन या अनौपचारिक परिचय केवल लोगों के आपसी मिलाप और विशेष ढंग से संचार से ज्यादा कुछ नहीं।

टिप्पणी

1.4.4 सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत

विभिन्न विद्वानों ने **संस्कृति** को निम्न प्रकार से **परिभाषित** किया है–

दामिन L. Damen ने अपनी पुस्तक 'The Culture Learning: The Fifth Dimension on the Language Classroom' में संस्कृति को स्पष्ट करते हुए कहा कि संस्कृति सीखी जाती है तथा यह मनुष्य के द्वारा अपने दैनिक जीवन में साझा की जाती है। इस प्रकार से साझा किए हुए प्रतिमानों में विभिन्न प्रकार की मानवीय अंतःक्रियाएं सम्मिलित होती हैं। संस्कृति, मनुष्य की प्रारम्भिक काल में ग्रहण करने वाली यंत्रावली है।

होपस्टड G. Hofstede यह महसूस करते हैं कि संस्कृति मनुष्य की सामूहिक प्रोग्रामिंग है जोकि मनुष्य की एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी से विभक्त करने का कार्य करती है।

J.P. Lederach ने अपने कार्य के माध्यम से संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि संस्कृति साझा किया हुआ ज्ञान होता है तथा यह वह स्कीम होती है जो कि मनुष्य के एक समूह के द्वारा उत्पन्न की हुई होती है तथा अपने आसपास की सामाजिक वस्तु स्थितियों की व्याख्या के लिए होती है।

क्लिंटन ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि संस्कृति सीखे हुए व्यवहार का विन्यास होती है तथा यह उन साझा किए हुए तत्वों का परिणाम होती है जो मनुष्य द्वारा व्यवहार में लाए जाते हैं तथा एक विशिष्ट समाज के सदस्यों में आपस में विनिमय भी किए जाते हैं।

मेलिनोव्स्की Bronislaw Malinowski (1884–1942) यह विश्वास करते हैं कि संस्कृति के माध्यम से मनुष्य की सामान्य एवं विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति होती है।

ब्राउन A-R- Radcliffe&Brown (1881–1955) का विश्वास है कि मनुष्य की सभ्यता के लिए संस्कृति आवश्यक है तथा इससे समाज के विकास में सहायता मिलती है।

समाजशास्त्र के **सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत** का प्रतिपादन फ्रांसीसी समाजशास्त्री पियरे फेलिक्स बोर्डेयू द्वारा किया गया था। बोर्डेयू ने शिक्षा के समाजशास्त्र के सिद्धांत में प्रमुख योगदान दिया। उन्होंने शैक्षणिक क्षेत्रों में, संस्कृति और कलाओं में व्यापक प्रभाव डाला।

सांस्कृतिक पुनरुत्पादन या प्रजनन समाज के पक्षों (जैसे वर्गों) को अंतर–पीढ़ी में स्थानांतरित करने की एक प्रक्रिया है। ऐसी कई विधियां हैं जिनसे इस तरह का प्रजनन हो सकता है। अक्सर, लोगों के समूह, विशेष रूप से सामाजिक वर्ग, मौजूदा सामाजिक संरचना को पुनर्जीवित करने के लिए कार्य कर सकते हैं ताकि उनके लाभों को संरक्षित किया जा सके। फ्रांसीसी समाजशास्त्री और सांस्कृतिक सिद्धांतकार पियरे बॉर्डियू के अनुसार मौजूदा सांस्कृतिक रूपों, मूल्यों, प्रथाओं और साझा समझ (अर्थात मानदंडों) को एक पीढ़ी से भावी पीढ़ी को प्रेषित किया जाता है, जिससे समय के साथ सांस्कृतिक अनुभव की निरंतरता बनी रहती है। अन्य शब्दों में, सांस्कृतिक प्रजनन वह

टिप्पणी

प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्कृति के सभी पक्षों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक समाज से अन्य समाज में स्थानांतरित किया जाता है। इसी तरह, आधुनिक समाजों में स्कूली शिक्षा की प्रक्रियाएं सांस्कृतिक पुनरुत्पादन के मुख्य तंत्रों में से हैं, जो केवल औपचारिक निर्देश के पाठ्यक्रमों में जो पढ़ाया जाता है उसके माध्यम से ही संचालित नहीं होती बल्कि ऐतिहासिक रूप से, लोगों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित होती हैं। निरंतर यह देखा गया है कि लोग अपने साथ कुछ सांस्कृतिक मानदंडों और परंपराओं को भी अपने साथ लेकर विभिन्न क्षेत्रों में जाते रहे हैं। संस्कृतियां व्यवहार के उन पक्षों को प्रसारित करती हैं जो घर से बाहर रहते हुए व्यक्ति अनौपचारिक तरीके से सीखते हैं। व्यक्तियों के बीच वह अंतःक्रिया, जिसके परिणामस्वरूप स्वीकृत सांस्कृतिक मानदंडों, मूल्यों और सूचनाओं का हस्तांतरण होता है, इसे ही सांस्कृतिक समाजीकरण कहा जाता है।

सांस्कृतिक प्रजनन का स्वरूप

सांस्कृतिक प्रजनन का स्वरूप सामाजिक कारकों के सापेक्ष स्थान, जागरूकता और सामाजिक या सांस्कृतिक मानदंडों को पुनः प्रस्तुत करने की इच्छा में भिन्नता के कारण भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

संस्कृति

संस्कृति आंशिक रूप से जागरूक तथा अवचेतन दोनों रूपों में सीखी जा सकती है जब पुरानी पीढ़ी युवा पीढ़ी को सोचने और व्यवहार करने के पारंपरिक तरीकों को अपनाने के लिए आमंत्रित करती है, प्रेरित करती है और आने वाली पीढ़ी उसे अपनाती है।

हालांकि, कई संदर्भों में संस्कृति पिछली पीढ़ियों के मानदंडों और परंपराओं का अनुकरण करती है, लेकिन संस्कृति के माध्यम से प्रत्येक क्रमिक पीढ़ी की संस्कृतियों के बीच समानता की श्रेणी भिन्न हो सकती है। क्योंकि यह अवधारणा सांस्कृतिक मानदंडों के पालन करने हेतु क्रमिक पीढ़ी की प्रवृत्ति से प्रदर्शित होती है। माता–पिता और शिक्षक सांस्कृतिक पुनरुत्पादन के दो सबसे प्रभावशाली प्रेरक बल हैं।

प्रसार

प्रसार तुलनात्मक रूप से असंबंधित समूहों या व्यक्तियों के बीच सांस्कृतिक मानदंडों और व्यवहारों का फैलाव है। उदाहरणार्थ, अमेरिकी संस्कृति में भारतीय भोजन या फ्रांसीसी भाषाविज्ञान का एकीकरण दोनों ही इस अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

पियरे बॉर्डियू और प्रजनन सिद्धांत

सांस्कृतिक प्रजनन की अवधारणा को पहली बार 1970 के दशक की शुरुआत में फ्रांसीसी समाजशास्त्री और सांस्कृतिक सिद्धांतकार पियरे बॉर्डियू द्वारा विकसित किया गया था। प्रारंभ में, बॉर्डियू का कार्य आधुनिक समाज में शिक्षा से संबंधित था, यह विश्वास करते हुए कि शिक्षा प्रणाली का उपयोग केवल प्रमुख वर्ग की संस्कृति को 'पुनः उत्पन्न' करने के लिए किया जाता था ताकि अभिजात वर्ग के लिए सत्ता लगातार बनी रहे।

टिप्पणी

बॉर्डियू के सिद्धांत लुडविग विटजेन्सटीन, मॉरिस मरलेउ–पॉन्टी, एडमंड हुसरली, जॉर्जिस कैंगुइलहेम, कार्ल मार्क्स, गास्टन बेचेलार्ड, मैक्स वेबर, एमिल दुर्खीम, और नॉर्बर्ट एलियास के अलावा समाजीकरण के अध्ययन का प्रारम्भ और कैसे प्रमुख संस्कृति और कुछ मानदंडों और परंपराओं ने कई सामाजिक संबंधों को प्रभावित किया, जैसे विचारों की पृष्ठभूमि पर बने मालूम होते हैं। बॉर्डियू के विचार विशेष रूप से लुई अल्थुसर की वैचारिक राज्य उपकरणों की धारणा के समान थे, जो उसी समय के आसपास उभरे थे। बॉर्डियू के समाजशास्त्रीय कार्य में सामाजिक पदानुक्रमों के पुनरुत्पादन के तंत्र के विश्लेषण का प्रभुत्व था। मार्क्सवादी विश्लेषणों के विरोध में, बॉर्डियू ने आर्थिक कारकों को दी गई प्रधानता की आलोचना की, और जोर देकर कहा कि सामाजिक कारकों की अपनी सांस्कृतिक प्रस्तुतियों और प्रतीकात्मक प्रणालियों को सक्रिय रूप से लागू करने और संलग्न करने की क्षमता सामाजिक संरचनाओं के पुनरुत्पादन में एक आवश्यक भूमिका निभाती है।

बॉर्डियू के अनुसार, असमानताओं को शिक्षा प्रणाली और अन्य सामाजिक संस्थानों के माध्यम से पुनर्चक्रित (recycle) किया जाता है। बॉर्डियू का मानना था कि पश्चिम के समृद्ध और संपन्न समाज सांस्कृतिक राजधानी बन रहे हैं। उच्च सामाजिक वर्ग, बुर्जुआ संस्कृति से परिचित विद्वानों और शिक्षित व्यक्तियों ने लोगों के जीवन की संभावनाओं को निर्धारित किया है। यह उच्च सामाजिक वर्ग के लोगों द्वारा अधिरोपित था और सामाजिक पदानुक्रमों के संरक्षण में सहायता करता था। इस प्रणाली ने व्यक्तिगत प्रतिभा और अकादमिक योग्यता को नजरअंदाज और उपेक्षित किया। शिक्षा, संस्कृति और समाज में सांस्कृतिक प्रजनन जैसे विचारों को, बॉर्डियू ने अपनी पुस्तक 'द इनहेरिटर्स (1964)' में सिद्धांतों के रूप में प्रदर्शित किया। इसने उन्हें ''सांस्कृतिक प्रजनन सिद्धांत'' के पूर्वज के रूप में स्थापित किया।

बॉर्डियू की अवधारणाओं में शामिल हैं:– सांस्कृतिक, सामाजिक और प्रतीकात्मक राजधानी, आदतें; क्षेत्र सिद्धांत तथा प्रतीकात्मक हिंसा।

एक कारक के रूप में शिक्षा

पियरे बॉर्डियू का सांस्कृतिक प्रजनन का सिद्धांत मूल वर्ग सदस्यता और अंतिम वर्ग सदस्यता के बीच की कड़ी से संबंधित है, और यह कड़ी शिक्षा प्रणाली द्वारा मध्यस्थ है।

बॉर्डियू का मानना है कि युवा पीढ़ी को जो पढ़ाया जाता है वह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पूंजी की अलग–अलग डिग्री पर निर्भर करता है। ऐसी संस्कृतियों ने सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्राप्त कर ली है और उन्हें एक प्रमुख समूह माना जाता है। हालांकि, ऐसी सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्राप्त करने हेतु 'अविवेकी' शिक्षा से गुजरना एक अनिवार्यता है ऐसे सांस्कृतिक मानदंडों का उपयोग जीवन के आरम्भिक दिनों में किया जाता है। सांस्कृतिक प्रजनन के माध्यम से, केवल प्रमुख संस्कृति से सम्बंधित सदस्य ही इस सांस्कृतिक प्रणाली के लाभ प्राप्त कर सकते हैं अतः जो प्रमुख संस्कृति के सदस्य नहीं हैं, उन्हें इसका लाभ नहीं होगा। पूंजीवादी समाज एक स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करते हैं, जहां मजदूर वर्ग के पास शारीरिक श्रम के लिए उपयुक्त शिक्षा होती हैः इस तरह की असमानताओं को दूर करने से व्यवस्था टूट जाएगी। इसलिए, पूंजीवादी समाजों में स्कूलों को स्तरीकरण की एक विधि

टिप्पणी

की आवश्यकता होती है, और अक्सर ऐसा करने का तरीका इस तरह का होता है कि प्रमुख संस्कृति अपना आधिपत्य नहीं खोती। इस स्तरीकरण को बनाए रखने का एक तरीका सांस्कृतिक प्रजनन का माध्यम है।

एलिस सुलिवन (2001) के अनुसार, सांस्कृतिक प्रजनन के सिद्धांत में तीन मूलभूत प्रस्ताव शामिल हैं:

1. माता–पिता की सांस्कृतिक पूंजी (श्रेष्ठता) बच्चों को विरासत में मिलती है;
2. बच्चों की सांस्कृतिक पूंजी को शैक्षिक साख में परिवर्तित किया जाता है; तथा
3. शैक्षिक साख उन्नत पूंजीवादी समाजों में सामाजिक पुनरुत्पादन का एक प्रमुख तंत्र है।

सांस्कृतिक पुनरुत्पादन में शिक्षा की सही भूमिका के बारे में कोई स्पष्ट सहमति नहीं है तथा यह प्रणाली या तो सामाजिक स्तरीकरण, संसाधन असमानता और अवसरों तक पहुंच में विसंगतियों जैसे विषयों को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करती है। हालांकि, यह माना जाता है कि प्राथमिक साधन जिसमें शिक्षा किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, वर्ग, मूल्यों और पदानुक्रम को निर्धारित करती है, सांस्कृतिक पूंजी के वितरण के माध्यम से होती है। सांस्कृतिक पूंजी संचय की यह धारणा, और जिस हद तक एक व्यक्ति सांस्कृतिक पूंजी प्राप्त करता है, वह संसाधनों और अवसरों तक व्यक्ति की पहुंच को निर्धारित करता है।

अन्तर्निहित पाठ्यक्रम

सांस्कृतिक प्रजनन के एक कारक के रूप में शिक्षा की अवधारणा को सामग्री और पढ़ाए जाने वाले विषय द्वारा सीधे तौर पर कम समझाया गया है, बल्कि इसके द्वारा एक अन्तर्निहित अविश्लेषित पाठ्यक्रम का अध्ययन किया जाता है। यह शिक्षा प्रक्रिया के समाजीकरण के पक्ष को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से एक किशोर शिक्षा के दायरे में आगे सफल होने के लिए आवश्यक ''उचित दृष्टिकोण और मूल्य'' प्राप्त करता है। औपचारिक शिक्षा प्रणाली के भीतर एक किशोर की सफलता या विफलता औपचारिक शैक्षिक योग्यता के दोनों उपायों को प्रदर्शित करने की उनकी क्षमता के साथ–साथ समाजीकरण तंत्र के माध्यम से प्राप्त उपरोक्त गुणों की प्राप्ति तथा उपयोग शामिल है। शिक्षा की यह प्रकृति प्राथमिक स्तर से उच्च माध्यमिक स्तर तक एक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत की जाती है। हर नए स्तर पर प्रगति हेतु छात्र की क्षमता वृद्धि के लिए पूर्व अर्जित क्षमताओं में महारत की आवश्यकता होती है। शैक्षिक प्रक्रिया को सफलतापूर्वक पूरा करने की क्षमता कार्यबल की भागीदारी, पर्याप्त वेतन, व्यावसायिक प्रतिष्ठा, सामाजिक स्थिति आदि को प्राप्त करने की क्षमता से दृढ़ता से संबंधित है।

पारसोनियन प्रकार्यवाद

शिक्षा कार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ प्रदान करती है – जिसे पारसोनियन प्रकार्यवाद के रूप में जाना जाता है। यह बताता है कि शिक्षा का कार्य व्यक्तियों को भविष्य के काम के लिए आवश्यक मूल्य और दृष्टिकोण प्रदान करना है। यह इस धारणा को बनाता है कि चाहे

टिप्पणी

कोई व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र में भाग लेता है, उसको अपने दिन–प्रतिदिन की बातचीत के लिए समान सामाजिक कौशल की आवश्यकता होगी। इस अवधारणा से, एक वैचारिक राज्य तंत्र के रूप में सांस्कृतिक शिक्षा का विचार उभरा तथा परिवार इस संदर्भ में विद्यालय, दोनों सामाजिक वर्गों, व्यावसायिक पदानुक्रम, मूल्य अभिविन्यास और विचारधारा को पुनः प्रस्तुत करने हेतु मिलकर काम करते हैं।

सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में शिक्षा प्रणाली

शिक्षा व्यक्तियों को क्रमबद्ध करती है और उन्हें उनके नियत व्यवसाय को पूरा करने के लिए आवश्यक कौशल प्रदान करती है। व्यक्ति के उपयुक्त व्यवहार का आकलन श्रम बल के भीतर किया जाना चाहिए।

शिक्षा की प्राथमिक भूमिका सभी को समान रूप से शिक्षित करने की बजाय व्यक्तियों को क्रमबद्ध करने की एक विधि के रूप में मानी जाती हैद्य माता–पिता या अन्य स्रोतों से उच्च स्तर की संचित सामाजिक पूंजी वाले लोग शिक्षा प्रणाली के भीतर आसानी से उत्कृष्टता प्राप्त करने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार, ये व्यक्ति विशिष्ट और तुलनात्मक रूप से अत्यधिक प्रतिष्ठित बने रहते हैं। इसके विपरीत, जिनके पास कम सामाजिक या सांस्कृतिक पूंजी है, शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में उनका निम्न स्तर बना रहेगा और उन्हें सांस्कृतिक पूंजी की कम मांग वाले व्यवसायों में रखा जायेगा। यह व्यावसायिक चयन व्यक्ति के व्यवसाय के बाहर भी सांस्कृतिक मानदंडों और सामाजिक स्थिति को बनाए रखेगा।

जो व्यक्ति शैक्षिक प्राप्ति की प्रक्रिया को सफलतापूर्वक पूरा कर लेता है, उसे, ऐसा न करने वाले या न कर पाने वाले व्यक्ति की तुलना में महत्वपूर्ण तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार शिक्षा समाज में पहले से मौजूद अंतर्निहित सांस्कृतिक और सामाजिक मानदंडों को जिस सीमा तक पुनः प्रस्तुत करती है, वह इन स्थापित मानदंडों के निरंतर प्रसार में एक महत्वपूर्ण कारक साबित होती है। औपचारिक शिक्षा की प्रक्रिया को पूरा करने और न करने वाले व्यक्तियों के बीच इस कठोर विभाजन के साथ, दो समूहों के बीच सामाजिक स्तरीकरण और असमानता उभरती है। यह भावी सांस्कृतिक मानदंडों की पुष्टि करती है और प्रत्येक भावी पीढ़ी द्वारा उसी प्रणाली को पुनः उत्पन्न किया जाता है।

'संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति के जीवन के प्रतिमानों, व्यवहारों, अनेकानेक भौतिक एवं अभौतिक प्रतीकों, परंपराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय अंतःक्रियाओं और आविष्कारों को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुतः भारत विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति वाला देश है। अन्य देशों की संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ–साथ लुप्त होती रहीं परंतु भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ कायम रही है। इसकी उदारता तथा समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किंतु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं

टिप्पणी

सांस्कृतिक परिवर्तन में यह अधिक संबंध है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है उसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया हैं। संस्कृति एक जटिल अवधारणा है जिसे एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें व्यवहार के ढंग भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परंपराएं, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। हमारे समाज को क्या शिक्षा दी जाए एवं उस शिक्षा का उद्देश्य क्या हो? इसको निर्धारित करने के अनेक मानदंड हैं।

मनुष्य के व्यक्तित्व की दिशा को संस्कृति ही निश्चित करती है। हालांकि संस्कृति सार एवं निर्देशों को ही इंगित करती है। ये सार एवं निर्देश सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के रूप में प्रदर्शित होते हैं। मनुष्य का व्यवहार समाज की संस्कृति के द्वारा ही परिभाषित होता है। समाज की संस्कृति के अनुरूप ही उस समाज के सदस्यों एवं व्यक्तियों का व्यवहार भी होगा। भारतीय समाज में स्त्रियों को सम्मान देने की संस्कृति है जिस कारण व्यक्तियों को स्त्रियों को सम्मान, चाहे या अनचाहे सार्वजनिक रूप से देना ही होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यों के जीवन निर्वाह की पद्धति के रूप में संस्कृति को लिया जा सकता है। यह मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाने के लिए आवश्यक भी होती है। मनुष्य संस्कृति को फिर अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में ले आते हैं।

मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने के लिए, कुछ मूलभूत प्रक्रियाएं अवश्य ही करनी पड़ती हैं। इस संदर्भ में समाज में व्यक्ति, समाज एवं इसकी संस्कृति का अध्ययन करना आवश्यक है। मनुष्य का जन्म तो एक भौतिक शरीर के रूप में इस पृथ्वी पर होता है परंतु जन्म के समय वह एक प्राणी या स्थूल शरीर मात्र है जो पशुवत होता है। उसे यह नहीं पता होता है कि अपनी दैनिक क्रियाएं किस मान्यता के आधार पर संपादित करनी हैं। जन्म के पश्चात समाज में आने पर बच्चा अपने आस–पड़ोस में हो रही क्रियाओं को सीख कर ज्ञान प्राप्त करता है कि किस कार्य को किस प्रकार से करना सामाजिक क्रिया है अथवा उससे एक मान्यता प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को संस्कृति के द्वारा सभ्य एवं सामाजिक बनाया जाता है।

संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति को समाज का दर्पण एवं आधार के रूप में देखा जाता है। संस्कृति के द्वारा ही व्यक्ति एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति एवं इसकी विशेषताओं तथा चरित्र का सम्यक ज्ञान, समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति की प्रकृति का ज्ञान होने पर हम यह जान सकते हैं कि समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता के क्या कारण हैं अर्थात समाज में सांस्कृतिक विभिन्नता क्यों होती है। अतः हम कह सकते हैं कि विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में विभिन्नता पाई जाती है। संस्कृति का चरित्र यह होता है कि वह समाज में एकजुटता एवं सामूहिक समूह भावना को बनाए रखने में योगदान करती है।

संस्कृति के द्वारा मनुष्य की पहचान होती है। संस्कृति की विभिन्न प्रकार की विशेषताएं अग्रलिखित हैं–

टिप्पणी

1. संस्कृति मनुष्य के समाजीकरण की एक प्रक्रिया होती है।
2. संस्कृति में निरंतरता होती है।
3. संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलती रहती है।
4. समाज में अलग–अलग संस्कृतियां पाई जाती हैं।
5. समाज की पहचान उसके द्वारा अपनाई गई संस्कृति के आधार पर की जाती है।
6. अलग–अलग समाज की संस्कृतियों में पारस्परिक संघर्ष होता रहता है।
7. संस्कृति सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कार्य करती है।
8. संस्कृति के द्वारा मनुष्य अपने पूर्वजों द्वारा सीखे गए ज्ञान का उपयोग, अपने जीवन को सरल एवं सुखमय बनाने के लिए करते हैं।
9. शिक्षा के कारण स्थापित सांस्कृतिक मान्यताओं में परिवर्तन होते रहते हैं।
10. प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति का पोषण एवं निर्वाह करना चाहता है।
11. संस्कृति एक सामूहिक प्रक्रिया है जिसको सामाजिक समूह अपने आचरण, व्यवहार एवं रहन–सहन में निर्वाहित करते हैं।
12. संस्कृति, ज्ञान के आधार पर स्थापित की गई मान्यताएं हैं जो मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाकर रखने में सहायक होती हैं।
13. संस्कृति का प्रसार होता है।
14. संस्कृति अगर परिवर्तनशील एवं ग्राह्य हो तो इसका प्रसार बड़े पैमाने पर और वैश्विक हो सकता है।
15. समाज में वही संस्कृति अपना अस्तित्व बनाकर रख सकती है जो समस्त मानव समाज के सर्वथा हित एवं कल्याण में है।
16. जो संस्कृति बिना वैज्ञानिक आधार वाली एवं शोषण पर केंद्रित होती है उसका धीरे–धीरे विलोप हो जाता है।
17. उच्च वर्ग की संस्कृति का अनुमान निम्न जातियां करना चाहती हैं।

संस्कृति समाज में एकजुटता बनाकर रखती है एवं जो व्यक्ति एक ही संस्कृति से संबंधित होते हैं उनमें पारस्परिक मैत्रीपूर्ण क्रियाएं होती हैं।

उपर्युक्त के साथ यह भी सत्य है कि संस्कृति की कुछ कमियां भी होती हैं। भारतीय समाज इसका एक विशेष उदाहरण है। भारत की संस्कृति में अनेक ऐसी मान्यताएं एवं प्रथाएं प्रचलन में रही हैं जो सभ्य समाज में स्वीकार्य नहीं हैं। इन सांस्कृतिक विशेषताओं एवं इन पर आधारित मान्यताओं का विज्ञान के विकास के साथ–ही पतन एवं विलोप होता चला गया। अब संस्कृति से संबंधित हमारी कतिपय मान्यताएं अतीत का अंगमात्र हैं, जैसे–

- बाल विवाह।
- सती प्रथा।
- स्त्रियों में पर्दा प्रथा।

टिप्पणी

- छुआछूत एवं अस्पृश्यता।
- अंधविश्वासों पर आधारित प्रथाएं– भूत–प्रेत आदि में विश्वास।
- बहुपत्नी विवाह।
- विधवा विवाह निषेध।
- भूदासों की परंपरा।
- रजवाड़े।
- दलितों का मंदिरों में वर्जित प्रवेश।
- जातिगत व्यावसायीकरण।
- जनजातीय एवं वन्य समाज।
- जादू–टोना।
- कुलीन समुदायों का समाज पर सर्वथा वर्चस्व।
- धर्मभीरुता।
- जड़ता।

संस्कृति समाज का समाजीकरण करती है इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है एवं इसके द्वारा समाज में निरंकुशता समाप्त होकर नागरिक कल्याण की भावना निहित होती है। संस्कृति की विशेषता इसी में है कि यह समाज को सामाजिक जीवंतता प्रदान करे, मनुष्य को पशु भाव से मुक्ति दिलाए। संस्कृति के कारण ही मनुष्य समाज में अपना आचरण निर्धारित करता है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें मानवीय मूल्य एवं संवेदनाओं को सदैव प्राथमिकता दी गयी है। भारतीय संस्कृति का उदय ही धार्मिक आधार पर हुआ है। भारतीय प्राचीन मानवीय व्यवस्था में यही संस्कृति आरूढ़ रही कि समस्त विश्व का कल्याण हो, प्राणियों में सौहार्द्र एवं प्रेम की भावना प्रबल हो। इस संस्कृति के वाहक भारतीय दर्शनशास्त्र एवं वेद–पुराण भी हैं। वसुधैव कुटुंबकम' की संस्कृति भारतीय समाज की ही परिकल्पना है जिसमें मनुष्यों को यही शिक्षा दी जाती रही है कि समस्त विश्व के प्राणियों को इस प्रकार से प्रेम करो जैसे आप स्वयं से एवं अपने परिवार के सदस्यों के साथ करते हैं।

संस्कृति के प्रकार

ऑगबर्न एवं निमकॉफ तथा अन्य प्रमुख विद्वानों ने संस्कृति के दो प्रकारों की चर्चा की है– भौतिक संस्कृति एवं अभौतिक संस्कृति

(क) भौतिक संस्कृति– मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के कारण अनेक अविष्कारों को जन्म दिया है। ये आविष्कार हमारी संस्कृति के भौतिक तत्व माने जाते हैं। अतः भौतिक संस्कृति उन आविष्कारों का नाम है, जिनको मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के कारण जन्म दिया है। यह भौतिक संस्कृति मानव–जीवन के बाह्य रूप से सम्बन्धित है। भौतिक संस्कृति को ही सभ्यता कहा जाता है। मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज, मेज–कुर्सी, बिजली का पंखा आदि सभी भौतिक तत्व भौतिक संस्कृति अथवा सभ्यता के ही प्रतीक हैं। संस्कृति के भौतिक पक्ष मैथ्यू आरनोल्ड, अल्फर वेबर तथा मैकाइवर और पेज ने सभ्यता कहा है।

टिप्पणी

भौतिक संस्कृति के अर्न्तगत उन सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं का समावेश होता है जिनका निर्माण मनुष्य ने अपने लिए किया है, तथा जिन्हें हम देख एवं छू सकते हैं। प्रो. बीयरस्टीड ने भौतिक संस्कृति के समस्त तत्वों को मुख्य तेरह वर्गों में विभाजित करके इसे और स्पष्ट करने का प्रयास किया है– मशीनें, उपकरण, बर्तन इमारतें, सड़कें, पुल, शिल्प वस्तुऐं, कलात्मक वस्तुएँ, वस्त्र, वाहन, फर्नीचर, खाद्य पदार्थ, औषधियां आदि

(ख) अभौतिक संस्कृति– मानव जीवन को संगठित करने के लिए मनुष्य ने अनेक रीति–रिवाजों, प्रथाओं, रूढ़ियों आदि को जन्म दिया है। ये सभी तत्व मनुष्य की अभौतिक संस्कृति के रूप हैं। ये तत्व अमूर्त हैं। इसलिए संस्कृति मानव–जीवन के उन अमूर्त तत्वों का योग है, जो नियमों, उपनियमों, रूढ़ियों, रीति–रिवाजों आदि के रूप में मानव व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। इस प्रकार संस्कृति जीवन के अमूर्त तत्वों को कहते हैं। वास्तव में संस्कृति के अन्तर्गत वे सभी चीजें सम्मिलित की जा सकती हैं जो व्यक्ति की आंतरिक व्यवस्था को प्रभावित करती हैं। दूसरे शब्दों में, संस्कृति में वे सभी पदार्थ सम्मिलित किए जा सकते हैं, जो मनुष्य के व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। टायलर ने लिखा है कि, "संस्कृति मिश्रित–पूर्ण व्यवस्था है, जिसमें समस्त ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता के सिद्धान्त, विधि–विधान, प्रथाएँ एवं अन्य समस्त योग्यताएँ सम्मिलित हैं, जिन्हें व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"

अभौतिक संस्कृति का तात्पर्य संस्कृति के उस पक्ष में होता है, जिसका कोई मूर्त रूप नहीं होता, बल्कि विचारों एवं विश्वासों के माध्यम से मानव व्यवहार को नियन्त्रित, नियमित एवं प्रभावी करता है। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती रहती है। प्रो. बीयरस्टीड ने विचारों के कुछ समूह प्रस्तुत किए हैं– वैज्ञानिक सत्य, धार्मिक विश्वास, पौराणिक कथाएँ, उपाख्यान, साहित्य, अन्धविश्वास, सूत्र, लोकोक्तिया आदि।

संस्कृति का मानव जीवन पर प्रभाव

अभौतिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति के सामने आगे बढ़ने का प्रयास सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। जब हम दूसरी संस्कृतियों के तत्वों से परिचित होते हैं तो उनकी नवीनता एवं उपयोगिता से प्रभावित होकर उन्हें अपनाने का प्रयास करते हैं। इसी से सामाजिक परिवर्तन होता है। दूसरी संस्कृति के तत्व अपनाने के प्रयास से हम अपनी मूल संस्कृति के प्रतिमानों को भी बनाए रखना चाहते हैं। यह द्वैधवृत्ति सामाजिक परिवर्तन का कारण मानी जाती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में यह संबंध इतना अधिक है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है उसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक पर्यावरण का सामाजिक पर्यावरण से प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है। प्रत्येक समाज में संस्कृति के दोनों अंग विद्यमान हैं। भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से नियंत्रित करती है।

संस्कृति और सांस्कृतिक कारकों की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका को इनके सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले निम्नलिखित प्रमुख प्रभावों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

टिप्पणी

1. **प्रौद्योगिकीय विकास पर प्रभाव**– संस्कृति प्रौद्योगिक विकास की दिशा तथा गति निर्धारित करती है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से घेर लिया है। विकसित समाजों में तो इन आविष्कारों की सहायता से संपूर्ण मानव जीवन नियंत्रित होता है। अनुकूल सांस्कृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिकी विकास में सहायक होता है।
2. **आर्थिक जीवन पर प्रभाव**– संस्कृति व्यक्तियों के आर्थिक विकास में सहायक होती है। दूसरी ओर आधुनिक युग में आर्थिक संस्थाएं भी मानव जीवन को एक सीमा तक प्रभावित करती हैं। मार्क्स, वेब्लन आदि विचारकों का मत है कि आर्थिक संस्थाएं व्यक्ति को ही नहीं संपूर्ण समाज को प्रभावित करती हैं।
3. **राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव**– संस्कृति राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं को भी प्रभावित करती है। किसी देश में किस प्रकार का शासनतंत्र पाया जाएगा यह सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करता है। दूसरी ओर राजनीतिक संस्थाएं भी व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं।
4. **सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव**– संस्कृति सामाजिक संरचना, संगठन तथा संस्थाओं को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, परिवार तथा विवाह का क्या रूप होगा? यह सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों पर आधारित है। इस कारण परिवार तथा विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज में एक जैसा नहीं है। किस देश में किस तरह की सामाजिक संस्थाएं पाई जाएंगी? यह सब सांस्कृतिक पर्यावरण निर्धारित करता है।
5. **व्यक्तित्व पर प्रभाव**– व्यक्तित्व तथा संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी समाज की संस्कृति द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति का ही समावेश होता है। व्यक्ति उन्हीं बातों का अनुकरण करता है जो उसके समाज में प्रचलित होती हैं। प्रथाओं, लोकाचारों, परंपराओं एवं त्योहारों आदि का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है।
6. **धार्मिक जीवन पर प्रभाव**– संस्कृति व्यक्तियों के धार्मिक जीवन को भी प्रभावित करती है। धार्मिक संस्थाओं का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। धर्म द्वारा व्यक्ति का संपूर्ण जीवन एवं व्यवहार निर्दिष्ट होता है। मैक्स वेबर जैसे विचारकों का कथन है कि धर्म संपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक ढांचे को बनाता है। धर्म स्वयं सांस्कृतिक पर्यावरण पर आधारित है तथा निरंतर इससे प्रभावित होता है।
7. **समाजीकरण पर प्रभाव**– संस्कृति का व्यक्ति के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बच्चा जन्म लेता है तब वह पशु के समान होता है। धीरे–धीरे परिवार, पड़ोस, स्कूल आदि से वह सामाजिक गुण सीखता है। व्यक्ति का समाजीकरण कैसे होगा यह सांस्कृतिक पर्यावरण की मान्यताओं पर निर्भर करता है। बच्चा निरंतर समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति से प्रभावित होता है। यही कारण है कि एक भारतीय, फ्रांसीसी तथा अमेरिकी बच्चे में अलग–अलग

गुण विकसित हुए मिलते हैं। इन दोनों के सामाजिक जीवन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है जिसका कारण केवल सांस्कृतिक पर्यावरण ही है।

टिप्पणी

संस्कृति में धर्म, कला, विज्ञान, विश्वास, रीति–रिवाज, रहन–सहन तथा मानव द्वारा निर्मित सभी वस्तुएं सम्मिलित की जाती हैं। भौगोलिक पर्यावरण के विपरीत सांस्कृतिक पर्यावरण निर्मित होता है। प्रत्येक समाज की अपनी सामूहिक जीवन प्रणाली होती है। संस्कृति में परंपराओं जनरीतियों एवं लोकाचारों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन्हीं सभी से किसी देश की सांस्कृतिक विरासत का पता चलता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति की परंपराओं, जनरीतियों एवं लोकाचारों का वृत्तांतरण पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता रहता है।

संस्कृति की समाज में भूमिका एवं महत्व

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जानकारी नहीं, बल्कि तकनीकी कौशल का अधिग्रहण है जो कि आधुनिक समाज में महत्वपूर्ण है। हमें परोपकार की भावना से जिम्मेदार नागरिक बनना होगा। एक व्यापक शिक्षा प्रणाली, एक नैतिक आधार और सामाजिक जिम्मेदारी को मजबूत आधार प्रदान करने में सहायक होती है जिससे कि समाज में युवा पीढ़ी को आकार देने में मदद मिलती है। संस्कृति और शिक्षा अविभाज्य तथा एक–दूसरे के पूरक हैं। शिक्षा, जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों को उपयोगी बनाने के लिए सहायक है, जबकि संस्कृति शिक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिप्रेरणा पाई जाती है। विद्यालय जाना, पढ़ाई करना, व्यवसाय करना, भोजन करना, संगीत सुनना, सिनेमा देखना, खेल–खेलना आदि सभी कार्यों के पीछे कहीं न कहीं कोई न कोई अभिप्रेरणा विद्यमान रहती है। उदाहरण के लिए विद्यालय जाने के पीछे शिक्षा ग्रहण करके जीवन में सफलता हासिल करना एक अभिप्रेरणा है। इसी प्रकार मनुष्य का व्यवहार हमेशा ही कुछ प्रेरकों या तत्वों द्वारा नियंत्रित और दिशानिर्देशित होता है तथा ये प्रेरक तत्व आंतरिक होते हैं।

इस प्रकार समाजीकरण व्यक्ति को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाकर समाज की क्रियाओं में भाग लेने में समर्थ बनाता है। समाजीकरण की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की परिस्थिति व सामाजिक भूमिकाएं बदलती रहती हैं और उनके अनुरूप व्यवहार के लिए उसे आचरण तथा व्यवहार के नये प्रतिमान सीखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बचपन में जहां बच्चा सामाजीकरण के माध्यम से माता–पिता, संबंधियों व बुजुर्गों से व्यवहार करना सीखता है, वहीं युवावस्था में उसे नये सिरे से दफ्तर में अपने सहयोगियों, वरिष्ठों, पड़ोसियों आदि से व्यवहार के तौर–तरीकों को सीखना पड़ता है। समाजीकरण को विभिन्न विचारकों और समाजशास्त्रियों ने सिद्धांतों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है जिनमें जी.एच. मीड, चार्ल्स कूले, इमाइल दुर्खीम प्रमुख हैं। मजबूत सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करके शिक्षा से छात्रों को समाज को समझने में मदद मिलेगी और वे विकास के संदर्भ में संस्कृति के महत्व को स्वीकार कर सकेंगे।

शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृति का महत्व

संस्कृति की सबसे अधिक उपयोगिता वैश्वीकृत परिदृश्य में शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में है। शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान और विज्ञान की सामग्री अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर विश्व

के सभी देश और शिक्षण संस्थाएं आपस में बांटती हैं। यह आदान–प्रदान संस्कृति के माध्यम से ही होता है। अनुसंधान के परिणामों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आपस में संस्कृति के द्वारा ही साझा करते हैं।

टिप्पणी

राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा और संस्कृति का महत्व

किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास उस देश की शिक्षा और संस्कृति पर निर्भर करता है। शिक्षा के अनेक आयाम हैं जो राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हैं। भारत में शिक्षा–व्यवस्था को संचालित करने वाली प्रबंधन इकाई के रूप में प्रशासन नाम की नई चीज जुड़ने से शिक्षा ने व्यावसायिक रूप ले लिया है। शिक्षण को आधुनिक घटना के रूप में देखा जा रहा है। इतिहास में भारत में ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु होते थे, अब शिक्षक हैं। शिक्षक और गुरु में भिन्नता है। गुरु के लिए शिक्षण व्यवसाय नहीं बल्कि आनंद था। शिक्षक अतीत से प्राप्त सूचना या जानकारी को आगे बढ़ाता है, जबकि गुरु ज्ञान प्रदान करता है। सूचना एवं ज्ञान में भिन्नता है। शिक्षा विकास की कुंजी है, विश्वास जैसे आवश्यक गुणों के जरिए लोगों को अनुप्राणित कर सकती है। विकसित एवं विकासशील दोनों वर्ग के देशों में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका समझी गई है। भारत में राष्ट्रीय शिक्षा–नीति को लेकर समय–समय पर बहस होती रही है।

देश के शिक्षण संस्थान प्रतिवर्ष बेरोजगार नौजवानों की फौज तैयार करते जा रहे हैं, परिणामस्वरूप मानव समाज आत्मकेंद्रित और स्वार्थकेंद्रित होता जा रहा है। आज देश की राजनीति में काम और योग्यता का मूल्यांकन न होकर धन का वर्चस्व हो रहा है।

पूंजीवाद से मानवीय संवेदनाएं ध्वस्त हो रही हैं और हमारा शिक्षक समाज इस भयावह परिस्थिति को निरीह और असहाय प्राणी बनकर मूकदर्शक की भांति देखने को विवश है।

आज का शिक्षक शिक्षण छोड़कर अन्य समस्त सरकारी योजनाओं व गतिविधियों में संलग्न है। वह प्राथमिक स्तर का हो अथवा विश्वविद्यालयीन, उनसे लोकसभा, विधानसभा सहित अन्य स्थानीय चुनाव, जनगणना, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री अथवा अन्य इस श्रेणी के नेताओं के आगमन पर सड़क किनारे बच्चों की प्रदर्शनी लगवाने के अतिरिक्त अन्य सरकारी कार्य संपन्न करवाए जाते हैं। देश की शिक्षा–व्यवस्था एवं शिक्षकों की मौजूदा चिंतनीय दशा के लिए हमारी राष्ट्रीय और प्रादेशिक सरकारें सीधे तौर पर जिम्मेदार हैं, जिन्होंने शिक्षक समाज को अपने हितों की पूर्ति का साधन बना लिया है। शिक्षा वह है, जो जीवन की समस्याओं को हल करे, जिसमें ज्ञान और काम का योग है। सुख और दुख की भांति मनुष्य ज्ञान को भी दूसरों के साथ बांट लेना चाहता है। जो वह स्वयं जानता है उसे दूसरों तक पहुंचाना चाहता है और जो दूसरे जानते हैं उसे स्वयं जानना चाहता है। सांस्कृतिक मानकीकरण की अभिव्यक्ति को अलग–अलग संदर्भों में अलग–अलग तरीके से महसूस किया जा सकता है। प्रायः उन्हें पश्चिमी या लोकप्रिय सांस्कृतिक व्यवहारों के दायरे से निकालकर स्थानीय पारंपरिक संस्कृति को पुनर्सृजित किया जा सकता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. संघर्ष का प्रमुख कारण है–
   (क) सामाजिक असमानता एवं सामाजिक परिवर्तन
   (ख) आर्थिक तंगी एवं अभावग्रस्त जीवन
   (ग) सांस्कृतिक एवं धार्मिक असमानताएं
   (घ) उपर्युक्त सभी।
6. निम्न में से कौन बॉर्डियू की अवधारणाओं में शामिल है?
   (क) सांस्कृतिक, सामाजिक और प्रतीकात्मक राजधानी
   (ख) आदतें तथा क्षेत्र सिद्धांत
   (ग) प्रतीकात्मक हिंसा
   (घ) उपर्युक्त सभी।

1.5 परिघटना समाजशास्त्र : सूक्ष्म व्याख्यात्मक दृष्टिकोण

व्याख्यात्मक समाजशास्त्र उन अर्थों पर ध्यान केंद्रित करता है जिसे लोग अपनी सामाजिक दुनिया से जोड़ते हैं। यह दर्शाता है कि वास्तविकता का निर्माण स्वयं लोग अपने दैनिक जीवन में करते हैं। चूंकि 19वीं शताब्दी में फ्रांसीसी दार्शनिक अगस्टे कॉम्टे द्वारा समाजशास्त्र की स्थापना एक संकाय के रूप में की गई थी, इसलिए समाज का अध्ययन कई अलग–अलग तरीकों से विकसित हुआ है। समाजशास्त्र का प्रारंभिक उदय कॉम्टे द्वारा समर्थित प्रत्यक्षवादी दर्शन में गहराई से निहित था, जो समाज का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक तरीकों और तकनीकों पर निर्भर था। व्याख्यात्मक समाजशास्त्र प्रत्यक्षवाद के विकल्प के रूप में विकसित हुआ।

परिघटना समाजशास्त्र सामाजिक जीवन से संबंधित व्याख्यात्मक दृष्टिकोण है जो, सामाजिक अभिनेता के नजरिए से सामाजिक क्रिया को समझने की आवश्यकता पर जोर देता है। यहां पारंपरिक समाजशास्त्र के ज्ञान और समकाल में प्रचलित परिघटना समाजशास्त्र के बीच की भिन्नता स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अन्य सामाजिक सिद्धांतों की तरह, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद एक बेहद व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मीड ने प्रारंभिक प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया को आचरण से अलग करने की कोशिश की, जबकि ब्लमर ने इसे दो पक्षों के बीच युद्ध के रूप में देखा।

शट्ज के मुख्य दार्शनिक कार्य में, सामाजिक वास्तविकता की समस्याओं से संबंधित, एडमंड हसर्ल के परिघटना समाजशास्त्र का प्रयोग शामिल था, जबकि उनका मुख्य कार्यप्रणाली संबंधित योगदान, परिघटना समाजशास्त्र के सिद्धांतों को मैक्स वेबर के समाजशास्त्र में जोड़ने में रहा है। शट्ज का यह सोचना था कि सामाजिक वास्तविकता से संबंधित, एक परिघटना समाजशास्त्र तत्वज्ञानी का काम है उसके दस्तूरी संसार की महत्वपूर्ण विशेषताओं को अनावरित, वर्णित तथा विश्लेषित करना

टिप्पणी

और इसके परिणामस्वरूप, 'द फिनामिनोलॉजी ऑफ द सोशल वर्ल्ड (1932)' से शुरू होकर, इनके द्वारा लिखी गई सारी किताबों में रोजमर्रा के जीवन की वास्तविकता को विस्तृत जांच के विषय रूप में लिया गया है।

अन्य सामाजिक सिद्धांतों की तरह, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद एक बेहद व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। जॉर्ज हरबर्ट मीड, चार्ल्स हॉर्टन कूली और विलियम आइसैक थॉमस द्वारा दिए गए सिद्धांतों ने इसे शुरुआती केंद्र प्रदान किया था लेकिन आने वाले सालों में विभिन्न नजरिए विकसित हो गए। हरबर्ट ब्लमर के विचारों में पारम्परिक प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद की एक झलक देखी जा सकती है; मैनफर्ड का वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अर्विंग गॉफ्फमैन का नाट्य शास्त्रीय दृष्टिकोण और शायद नृजाति कार्यप्रणाली तथा परिघटना इसके अन्य विकल्प हैं।

1.5.1 परिघटनावादी क्रियावाद

यह माना जाता है कि परिघटनावादी क्रियावाद दृष्टिकोण के दो मुख्य दृष्टिकोण हैं : वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक।

परिघटनावादी क्रियावाद दृष्टिकोण गुणात्मक जांच का एक रूप है जो किसी विशेष रचना के जीवंत, अनुभवात्मक पहलुओं पर जोर देता है– यानी, इस अनुभव के बारे में क्या सोचा जाता है या इसके बाद के अर्थ के बारे में क्या सोचा जाता है, इसके बजाय घटना का अनुभव कैसे होता है इसका अध्ययन करता है।

मूल रूप से, परिघटनावादी क्रियावाद दृष्टिकोण विभिन्न प्रकार के अनुभव की संरचना का अध्ययन करता है, जिसमें धारणा, विचार, स्मृति, कल्पना, भावना और इच्छा से लेकर शारीरिक जागरूकता, सन्निहित क्रिया और सामाजिक गतिविधि शामिल है, जिसमें भाषाई गतिविधि भी शामिल है।

परिघटनावादी क्रियावाद दृष्टिकोण (फिनामिनोलॉजी) देखे गए असामान्य लोगों या घटनाओं का दार्शनिक अध्ययन है क्योंकि इनका कोई अध्ययन या स्पष्टीकरण नहीं होता है। घटना विज्ञान का एक उदाहरण हरे रंग की चमक (फ्लैश) का अध्ययन है जो कभी–कभी सूर्यास्त के ठीक बाद या सूर्योदय से ठीक पहले होती है।

सामाजिक व्यवहार के कार्यात्मक स्वरूप पर जोर डालने वाले अन्य पारम्परिक सिद्धांतों एवं कार्य प्रणालियों के विपरीत, परिघटना और नृजाति कार्यप्रणाली समाजशास्त्र सामाजिक जीवन से संबंधित वह व्याख्यात्मक दृष्टिकोण हैं जो, 'सामाजिक अभिनेता के नजरिए से सामाजिक क्रिया को समझने की आवश्यकता' पर जोर देता है। मनुष्य की स्वयं को जानने और दूसरे के प्रति अपने संबंध समझने की मौलिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, ये दृष्टिकोण अनुकूल दिखाई पड़ते हैं– 1. लोगों द्वारा अपने संसार के संदर्भ में समझा गया अर्थ– चीजें, लोग, घटनाएं 2. लोगों को, खुद को और दूसरों को देखने का नजरिया 3. उनके व्यवहार को प्रभावित करने वाले उद्देश्य।

यहां पारम्परिक समाजशास्त्र के ज्ञान और समकाल में प्रचलित परिघटना समाजशास्त्र के बीच की विभिन्नता स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। ध्यान से देखा जाए तो बहुत ज्यादा फर्क नहीं है, क्योंकि इसमें विश्लेषणात्मक दृष्टिकोणों और नजरियों पर जोर दिया गया है, क्योंकि 'अगर परिघटना समाजशास्त्रियों की दिलचस्पी

टिप्पणी

की बात की जाए तो, वे रोजमर्रा के जीवन में अंतरव्यक्तिपरक चेतना के आधार में रुचि रखते हैं (व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत चिंतन), ज्ञान का पारम्परिक समाजशास्त्र सामाजिक–ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा ज्ञान से संबंधित रहा है, विशेष रूप से बौद्धिक ज्ञान से।

एडमंड हसर्ल (1859–1938) द्वारा उनके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ, 'आइडियाज इंट्रोडक्शन टू प्योर फिनामिनोलॉजी (1913)' में किया गया 'परिघटना' शब्दों का प्रयोग, सबसे पहले दार्शनिक और वैज्ञानिक तरीके के सिद्धांत का वर्णन करता है। प्राकृतिक विज्ञान का सबसे सामान्य तरीका स्वीकृत सच्चाई के गुट से चलकर, प्रकृति से प्रश्न पूछता हुआ और उन प्रश्नों के उत्तरों की व्याख्या करता हुआ, अज्ञात पर अपनी विजय प्रस्तुत करता है। परिघटना और अवरोधक परिकल्पना अवलोकन, विवरण तथा श्रेणीकरण करने की ऐसी तकनीकें ढूंढ़ती है जो उसे संरचनाओं और संबंधों का ऐसा खुलासा करने की क्षमता प्रदान करती है जैसा प्रयोगात्मक तकनीकों से संभव होना मुश्किल है।

धारणाओं को लिखने के पीछे परिघटना मनोविज्ञान के बीच विभिन्नता के स्पष्टीकरण का विचार था, जो हसर्ल ने वैध ठहराया है, लेकिन विज्ञान और परिघटना तत्वज्ञान, जिससे बनाए रखने के लिए वे तैयार थे, सभी विज्ञानों का आधार है। जब एक समाजशास्त्री या मनोवैज्ञानिक, परिघटना संबंधित जांच करता है तो वह उस क्षेत्र में प्रधान सभी सामान्य सिद्धांतों तथा मान्यताओं को अलग रख देता है; लेकिन वह खुद को सभी पूर्वधारणाओं से पृथक नहीं कर सकता (उदाहरण के लिए, बाहरी संसार, प्रकृति की स्थिरता आदि में विश्वास)। प्लेटो के नजरिए से, सभी विज्ञान (तत्वविज्ञान के अलावा), किसी न किसी मान्यता पर आधारित होने चाहिए। अपना वादा पूरा करने हेतु, अंत में, परिघटना दृष्टिकोण को हमें सम्पूर्णतः पूर्वधारणा रहित विज्ञान तक पहुंचाना चाहिए।

समाजशास्त्र में, परिघटना दृष्टिकोण को अनुशासन के विकास के शुरुआती दौर में देखा जा सकता था, लेकिन इस सदी के तीसरे भाग में यह मुख्य सैद्धांतिक तथा कार्यात्मक विचारधारा बन गया है, भारी मात्रा में इसके प्रमुख अनुयायी देखे जा सकते हैं, जो विज्ञान में योगदान देने हेतु कड़ी मेहनत कर रहे हैं। परिघटना समाजशास्त्र, समाजशास्त्र के अनुभवसिद्ध आधार पर सवालिया निशान लगाता है, जिससे पारम्परिक सामाजिक ज्ञान की पर्याप्तता और सार्थकता चुनौती के दायरे में आ जाती है। टिमाशेफ के अनुसार, यदि परिघटना समाजशास्त्र को विभिन्न दृष्टिकोण का दावा करना है हसर्ल के परिघटना से कोई संबंध साधना है तो, 'उसे व्यक्ति की चेतना की संरचना और उस चेतना के सामाजिक ताने बाने से संबंध पर अपना ध्यान केंद्रित करना होगा'।

यहां इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि हसर्ल को वास्तव में सामाजिक एवं व्यवहार संबंधी विज्ञानों का ठोस तथा सैद्धांतिक समस्याओं के बारे में ज्यादा ज्ञान नहीं था। कुछ दार्शनिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में परिघटना समाजशास्त्र के संभव न होने के बारे में दृढ़ भावना प्रचलित है, लेकिन फिर भी समाजशास्त्रियों का एक मुखर, साक्षर और बढ़ता संगठन है जिनका इस प्रकार के कार्य में विश्वास दृढ़ होता जा रहा है वे परिघटना समाजशास्त्र के संस्थापक द्वारा रखी गई नींव पर इमारत बनाने का काम कर

टिप्पणी

रहे हैं, या कम से कम इन्होंने अमेरिकी जमीन पर उस विषय की शुरुआत और विकास का दायित्व उठाया है। अपने कार्य में उन्होंने मैक्स वेबर के 'कार्य' के सिद्धांत और उनके 'आदर्श प्रकार' ढंग के निर्माण का स्पष्टीकरण करने की कोशिश की है। शट्ज के योगदान पर चर्चा करने से पहले, यहां यह बताना जरूरी है कि यूरोप में तत्वविज्ञान की ओर झुकाव वाले शुरुआती समाजशास्त्रियों ने, परिघटना से संबंधित कई मामलों पर जांच करनी शुरू कर दी थी, खासकर जर्मन समाजशास्त्री एल्फ्रेड वीरकैंट्ड (1867–1952) और उसी अवधि के फ्रेंच विज्ञानी, ज्यूल्स मॉन्नेरट ने. वीरकैंट्ड, जिन्होंने 'नैचुरल एंड कल्चरल पीपल (1895) और 'थ्योरी ऑफ सोसाइटी (1922)', लिखी है, का यह मानना था कि समाज मानव की परस्पर क्रिया और उसके तरीकों का कुल योग है जिसे 'विचारात्मक अमूर्त' कहा जाता है और जिसमें 'चिंतन द्वारा स्पष्ट की गई मौलिक स्थिति सिद्धांतों' की तलाश शामिल है, 'स्थिति' तथा 'चिंतन' शब्दों पर दबाव, शट्ज के कार्यों को काफी हद तक प्रभावित करता है। जैसाकि 'सोशियल फैक्ट्स आर नॉट थिंग्स (1946)' में दर्शाया गया है, इसके लेखक मॉन्नेरट, घोर रूप से दुर्खीम के विरुद्ध थे। इनके कार्य में सामाजिक परिस्थितियों की जांच सम्मिलित थी जो समाजशास्त्र द्वारा विश्लेषण योग्य तात्कालिक अनुभवों को ठोस रूप देती है– एक ऐसे समाजशास्त्र द्वारा जो इस धारणा पर निर्मित है कि दुर्खीम द्वारा सामाजिक घटना कहे जाने वाले 'सामाजिक तथ्य' दरअसल केवल मानवीय ढंग से परिभाषित और 'शर्तों' या परिस्थितियों के रूप में देखे जाते हैं, इस प्रकार इन्हें केवल मानवीय तरकीब होने के आधार पर वास्तविक माना जा सकता है।

एल्फ्रेड शट्ज (1899–1959) एक सामाजिक तत्वविज्ञानी थे, जिन्होंने नाजियों के डर से 1939 में जर्मनी छोड़ दिया। बैंकिंग और चातुर्य में गुणवान एवं प्रतिभाशाली, शट्ज ने 1943 में, अपने गुजर बसर के लिए सुबह के समय न्यूयॉर्क सिटी बैंक में नौकरी करनी शुरू की तथा शाम के समय सामाजिक खोज के लिए न्यू चिंतनधारा में सामाजिक तत्वविज्ञान पढ़ाना शुरू किया। नौ साल बाद वे समाजशास्त्र और तत्वविज्ञान के प्रोफेसर बन गए और 1959 में, अपनी मृत्यु तक वे न्यू चिंतनधारा में पढ़ाने का काम करते रहे। अमेरिकी समाजशास्त्र में परिघटना की शुरुआत का श्रेय शट्ज को जाता है। इन्होंने, लोगों द्वारा रोजमर्रा के जीवन से जोड़ने वाले अर्थों को केंद्रीय महत्व प्रदान किया और हसर्ल के तत्वविज्ञान को समाजशास्त्र के अनुकूल बनाने के साथ वेबर वर्सचेर या उनके व्यक्तिपरक समझ के संद्धांत को अपनी प्रणाली में सम्मिलित किया। हसर्ल के परिघटना तत्वज्ञान को सामाजिक विज्ञान समस्याओं पर लागू करने की कोशिश में, शट्ज को यह अहसास हुआ कि वेबर द्वारा प्रस्तावित 'वर्सचेर' का सिद्धांत उनके द्वारा दिए गए व्यक्तिगत चेतना के जोर के अनुकूल था।

शट्ज, मूल रूप से इस बात में विश्वास रखते थे कि, 'अनुभव और मान्यताओं के साझा किए गए अर्थ सामाजिक जीवन के लिए आधार प्रदान करते हैं'।

1.5.2 प्रतीकात्मक क्रियावाद

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद एक सूक्ष्म–स्तरीय सिद्धांत है जो एक समाज के भीतर व्यक्तियों के बीच संबंधों पर केंद्रित है। जिस तरह से लोग अपनी सामाजिक दुनिया

को समझते हैं उसे संचार–भाषा और प्रतीकों के माध्यम से अर्थ का आदान–प्रदान माना जाता है।

टिप्पणी

साधारण शब्दों में– प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद क्या है? प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद से आशय यह है कि हम अपने अनुभव को प्रतीकों और अक्षरों के साथ कैसे जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए, 'गाय' शब्द केवल अक्षरों की एक शृंखला (ग + आ + य) है। किन्तु 'गाय' से सम्बद्ध अक्षरों एवं इनसे जुड़ कर बने शब्द 'गाय' के साथ जुड़े हमारे अनुभव के परिणामस्वरूप हम इसे एक प्यारी एवं सम्माननीय चार पैरों वाले जीव के रूप में देखते हैं।

लेकिन यह क्रिया यहीं पर रुकती नहीं है। गायों के साथ आपके अनुभवों के आधार पर, अक्षरों की यह व्यवस्था नकारात्मक या सकारात्मक अर्थ वाली हो सकती है। उदाहरण के लिए, यदि आपको बचपन में गाय ने मारा था, तो 'गाय' शब्द आपको डरा सकता है किन्तु यदि गाय के साथ आपका अनुभव अच्छा रहा था, तो 'गाय' शब्द आपके लिए सकारात्मक अर्थ भी रख सकता है।

हर कोई जानता है कि 'गाय' शब्द का क्या अर्थ है, एक चार पैरों वाला जीव। हर एक के लिए इस शब्द का अर्थ व्यक्तिपरक है। इसलिए, व्यक्तियों का अनुभव, शब्दों, वस्तुओं, विचारों, घटनाओं तथा लोगों हेतु नियत प्रतीकात्मक अर्थों को विशेष परिप्रेक्ष्य देता है।

व्यावहारिकता एक व्यापक दार्शनिक स्थिति है जिसमें से हम मीड द्वारा विकसित सामाजिक उन्मुखीकरण को प्रभावित करने वाले विभिन्न पहलुओं की पहचान कर सकते हैं। व्यवहारवादियों के अनुसार, 'बाहर संसार में कुछ भी उपस्थित नहीं है; संसार के प्रति और संसार में हमारी क्रिया के कारण वह सक्रिय रूप निर्मित होता जाता है'। इसके अलावा लोगों का संसार के प्रति ज्ञान उनके अनुभवों और उन चीजों तक सीमित है जो उन्हें प्रासंगिक लगती हैं। अंत में यह कहा जा सकता है कि लोगों को अच्छी तरह समझने के लिए उनकी संसार में भूमिका समझना जरूरी होगा। प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद के लिए तीन महत्वपूर्ण चीजें हैं–

1. अभिनेता (कर्ता–कार्य करने वाला) और संसार के बीच परस्पर क्रिया पर केंद्रण।
2. अभिनेता (कर्ता) और संसार को स्थित संरचनाओं की जगह गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखना।
3. अभिनेता (कर्ता) की सामाजिक संसार को समझने की योग्यता को महत्व देना।

दार्शनिक व्यवहारवादी जॉन ड्यूवी के कार्य में आखिरी प्वाइंट को बहुत महत्व दिया गया है। ड्यूवी के अनुसार मन कोई चीज या ढांचा नहीं है, बल्कि ये इसे एक ऐसी चिंतन प्रक्रिया मानते थे जिसमें पड़ावों की एक शृंखला शामिल है, जैसेकि, सामाजिक संसार में चीजों की परिभाषा देना, व्यवहार के संभावित मोड्स की रूपरेखा बनाना, वैकल्पिक कार्यप्रणाली के परिणामों की छवि बनाना, असंभाव्य संभावनाएं मिटाना और अंत में, कार्य करने का सबसे बढ़िया तरीका ढूंढ़ना। प्रक्रिया पर इस प्रकार का केंद्रण प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद के विकास में बेहद प्रभावशाली था।

डेविड लुइस और रिचर्ड स्मिथ के विचार में प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद के विकास में, मीड की तुलना में ड्यूवी और विलियम जेम्स ज्यादा प्रभावशाली साबित हुए।

टिप्पणी

यह तर्क प्रस्तुत करते समय उन्होंने व्यावहारिकता की दो शाखाओं के बीच की भिन्नता को उभारा है–

दार्शनिक यथार्थवाद (मीड से संबंधित) और कल्पनावादी व्यावहारिकता (ड्यूवी तथा जेम्स से संबंधित)। इनके विचार में, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद पर कल्पनावादी दृष्टिकोण का अधिक प्रभाव था और यह दार्शनिक यथार्थवाद के भी असंगत थी। कल्पनावाद का यह मानना है कि चाहे मैक्रो–स्तर की घटनाएं घटती हैं, लेकिन उनका लोगों की चेतना और उनके व्यवहार पर निर्धारक प्रभाव नहीं पड़ता। ज्यादा सकारात्मक ढंग से देखा जाए तो, यह दृष्टिकोण व्यक्तियों को स्वतंत्र एजेंट्स की तरह देखता है जो अपने स्वयं के व्यक्तिगत हितों और पल की योजना के अनुसार स्वीकार, अस्वीकार, संशोधित अथवा परिभाषित करते हैं, समुदाय के मानदंडों, भूमिकाओं, विश्वासों आदि को। सामाजिक यथार्थवादियों के विपरीत, समाज पर और समाज के व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं के नियंत्रण पर जोर दिया गया है। स्वतंत्र एजेंट्स होने की जगह, अभिनेताओं, उनकी समझ और व्यवहारों पर समाज का व्यापक नियंत्रण रहता है।

इस विभिन्नता के मद्देनजर, मीड, यथार्थवादी कैंप में ज्यादा फिट बैठते हैं और इसलिए वे प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद की कल्पनावादी दिशा को अच्छी तरह पकड़ नहीं पाए। बाद के विकास में, हरबर्ट ब्लमर द्वारा ज्यादा मुख्य भूमिका निभाई गई है। मीड के दृष्टिकोण की लुइस तथा स्मिथ द्वारा दी गई व्याख्या का समर्थन इस बात को सिद्ध करता है कि वह भी मनोवैज्ञानिक आचरण से प्रभावित थे, एक ऐसा दृष्टिकोण जो उन्हें यथार्थवादी और अनुभवसिद्ध दिशा में ले गया। अपनी इस मौलिक सोच को जॉन बी वॉटसन के उग्र आचरण से अलग पहचान देने हेतु उन्होंने अपने इस विचार को सामाजिक आचरण का नाम दिया।

वॉटसन के विचारों से प्रभावित उग्र व्यवहारवादी, व्यक्तियों के प्रत्यक्ष व्यवहार में दिलचस्पी रखते थे। उनका ध्यान केवल अवलोकनीय व्यवहार या प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले उत्तेजकों पर केंद्रित था। उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच के समय में होने वाली गुप्त मानसिक प्रक्रिया को वे मानना नहीं चाहते थे या उस ओर उनका कोई झुकाव नहीं था। मीड ने प्रत्यक्ष व्यवहार के महत्व को पहचाना, लेकिन उन्हें व्यवहार के गुप्त पहलुओं के अस्तित्व से भी इनकार नहीं था, जिन्हें उग्र व्यवहारवादियों ने पूरी तरह अनदेखा कर दिया था। लेकिन चूंकि मीड, व्यवहारवाद के लिए मौलिक न होने वाले अनुभववाद को स्वीकृत कर चुके थे, इसलिए वे इन गुप्त घटनाओं को दार्शनिक रूप नहीं देना चाहते थे। बल्कि, उन्होंने तो व्यवहारवाद के अनुभवसिद्ध विज्ञान को उन तक विस्तृत करने की कोशिश की, मतलब कि उत्तेजना एवं प्रतिक्रिया के बीच के समय में घटने वाली घटनाएं।

मीड तथा उग्र व्यवहारवादियों के बीच मानव तथा जानवरों के व्यवहार संबंधों के विचारों में भी बहुत भिन्नता थी। उग्र व्यवहारवादियों को मनुष्यों और जानवरों के बीच कोई भिन्नता महसूस नहीं होती थी, जबकि मीड का मानना था कि दोनों के बीच बहुत गुणात्मक विभिन्नता होती है।

इस भिन्नता का मुख्य कारण पाया गया मनुष्य की मानसिक क्षमताओं में जिस कारण लोग उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच भाषा का इस्तेमाल करके अपनी प्रतिक्रिया के संबंध में निर्णय ले सकते हैं।

टिप्पणी

खासकर ड्यूवी और मीड के सिद्धांतों पर आधारित व्यावहारिकता और आचरण को 1920 के दशक में, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो के कई ग्रैजुएट शिक्षार्थियों को समझाया गया। इन शिक्षार्थियों द्वारा, जिनमें से एक हरबर्ट ब्लमर भी थे, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद स्थापित किया गया। बेशक, अन्य सिद्धांतकारों ने भी इन शिक्षार्थियों को प्रभावित किया, इनमें से सबसे महत्वपूर्ण थे जॉर्ज सिम्मेल। सिम्मेल की कार्य के प्रारूपों और परस्पर क्रिया में दिलचस्पी, मीड के सिद्धांत के अनुरूप भी थी और एक तरह से उसका विस्तार भी करती थी। प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया का विकास और कई विचारों से भी प्रभावित था लेकिन व्यावहारिकता, उग्र आचरण और सिम्मेल का सिद्धांत, बेहद महत्वपूर्ण प्रभाव थे।

ब्लमर द्वारा 1937 में 'प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया' शब्दों का पहली बार इस्तेमाल किया गया था, इसके अलावा उन्होंने कई निबंध भी लिखे जो इसके विकास में सहायक बने। मीड ने शुरुआती प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया को आचरण से अलग करने की कोशिश की, जबकि ब्लमर ने इसे दो पक्षोंके बीच युद्ध के रूप में देखा। ब्लमर के लिए, दोनों, आचरण और संरचनात्मक कार्यात्मकता का झुकाव मनुष्य के व्यवहार की रचना करने वाले कारकों पर केंद्रित था। उदाहरण के लिए, बाहरी उत्तेजनाएं और मानदंड। जहां तक ब्लमर का सोचना था, दोनों उस महत्वपूर्ण प्रक्रिया को अनदेखा करते थे जिससे अभिनेता, खुद को प्रभावित करने वाली ताकतों और अपने व्यवहारों को अर्थ प्रदान करते हैं।

ब्लमर के अनुसार, व्यक्ति के व्यवहार पर बाहरी उत्तेजकों के प्रभाव पर जोर देते हुए व्यवहारवादी, स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक न्यूनीकारक थे। आचरण के अलावा, ब्लमर अन्य कई प्रकार के मनोवैज्ञानिक न्यूनीकरण से परेशान थे। उदाहरण के लिए, वे उन लोगों की आलोचना करते थे, जो मनुष्य की क्रिया को 'रवैये' के सिद्धांत के पारम्परिक मानदंडों के आधार पर करते थे। उनके विचार में, इस सिद्धांत का प्रयोग करने वाले ज्यादातर लोग रवैये को अभिनेता के अंदर 'पहले से व्यवस्थित प्रवृत्ति' मानते हैं, इनका यह भी मानना है कि लोगों द्वारा की जाने वाली क्रियाएं उनके रवैये से प्रभावित होती हैं। ब्लमर के अनुसार, यह 'यंत्रवत विचारधारा' है। उनके लिए बतौर आंतरिक प्रवृत्ति, रवैया इतना महत्वपूर्ण नहीं है, 'बल्कि उस प्रक्रिया का परिभाषित किया जाना जिसके जरिए अभिनेता अपना कार्य करता है'। ब्लमर ने चेतन तथा अचेतन उद्देश्यों पर ध्यान केंद्रित करने वालों की भी आलोचना की है। वे इस विचार को लेकर नाराज थे कि अभिनेता स्वतंत्र मानसिक आवेगों से उत्तेजित हो जाते हैं, जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता। अभिनेताओं की कामेच्छा जैसी ताकतों द्वारा उत्तेजित हो पाने वाला फ्रॉयड का सिद्धांत, ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का उदाहरण है जिसका ब्लमर विरोध करते थे। संक्षिप्त में कहा जाए तो, ब्लमर किसी भी ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के विरुद्ध थे जो अभिनेताओं द्वारा अर्थ के निर्माण की प्रक्रिया को अनदेखा करते हों, इस बात की सच्चाई से कि अभिनेताओं का एक आत्म होता हैं और वे अपने आप से संबंध रखते हैं।

हालांकि ब्लमर की सामान्य आलोचना मीड की आलोचना के समान थी, लेकिन इन्होंने अपनी आलोचनाओं को आचरण से परे ले जाकर इसमें अन्य प्रकार के मनोवैज्ञानिक न्यूनीकरण भी सम्मिलित कर दिए।

टिप्पणी

ब्लमर सामाजिक सिद्धांतों के भी विरुद्ध थे, खासतौर पर संरचनात्मक कार्यात्मकता, जो व्यक्तिगत व्यवहार को व्यापक बाहरी ताकतों द्वारा निर्धारित मानती है। इस श्रेणी में ब्लमर ने वह सिद्धांत सम्मिलित किए जो सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक कारकों को सामाजिक समझते थे जैसेकि सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, संस्कृति, स्थिति पद, सामाजिक भूमिका, प्रथाएं, संस्था, सामूहिक प्रतिनिधित्व, सामाजिक स्थिति, सामाजिक आदर्श और मूल्य। सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, दोनों वास्तविकता के अर्थ और सामाजिक निर्माण के महत्व को अनदेखा करते हैं। ब्लमर द्वारा सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की आलोचना को इस प्रकार सारांशित किया गया है–

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद के मौलिक सिद्धांत

अनेक प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों ने प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद के मौलिक सिद्धांतों का विस्तृत विवरण करने की कोशिश की है। मौलिक सिद्धांतों में निम्न सम्मिलित हैं–

1. अन्य तुच्छ प्राणियों से अलग, मनुष्य क्षमता से लैस है।
2. सोचने की क्षमता, सामाजिक परस्पर क्रिया से उत्पन्न होती है, जिसके जरिए लोग सामाजिक संकेतों के अर्थ समझते हैं जिससे वे समाज के अन्य लोगों से संचार के योग्य बनते हैं।
3. लोगों, परिस्थिति की अपनी समझ के अनुसार संचार में प्रयोग किए जाने वाले संकेतों के अर्थ परिवर्तित कर देते हैं।
4. लोगों द्वारा किए गए इन परिवर्तनों का कुछ श्रेय उनके अपने आपसे परस्पर क्रिया को जाता है, जिसके आधार पर वे संभावित कार्यप्रणाली से जुड़े फायदों और नुकसानों का आकलन करके एक विकल्प का चुनाव करते हैं।
5. क्रिया और परस्पर क्रिया के आपस में गुथे पैटर्न से समूह तथा समाज बनते हैं।

सोचने की क्षमता

यह महत्वपूर्ण मान्यता कि मनुष्य सोचने की क्षमता का स्वामी है, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद को व्यवहारवादी जड़ों से अलग करता है। यह मान्यता, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावाद के सम्पूर्ण सैद्धांतिक उन्मुखीकरण का आधार है। बर्नार्ड मेल्ट्जेर, जेम्स पैट्रास और लैरी रेनॉल्ड्स का यह कहना था कि मनुष्य की सोचने की क्षमता की कल्पना, ड्यूवी, कूली और मीड जैसे शुरुआती परस्पर क्रियावादियों के लिए महत्वपूर्ण योगदान है। सोचने की क्षमता, लोगों को चिंतन के आधार पर कार्य करने हेतु प्रेरित करती है, न कि बिना सोचे समझे। लोगों को हमेशा अपने द्वारा किए गए कार्य को सोच समझकर दिशा निर्देश देना चाहिए, बस यूंही कुछ भी नहीं कर देना चाहिए।

सोचने की क्षमता व्यक्ति के मन में जड़ी है, लेकिन प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों की मनुष्य के मन के बारे में एक असाधारण धारणा है। ये इसे शारीरिक दिमाग से अलग मानते हैं। मन के विकास के लिए व्यक्ति के पास दिमाग होना जरूरी है, लेकिन दिमाग द्वारा मन का निर्माण होना अनिवार्य नहीं है, जैसाकि तुच्छ जानवरों के मामले में देखा गया है (ट्रौयेर, 1946)। इसके अलावा, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादी मन को एक चीज, एक भौतिक संरचना नहीं मानते, बल्कि ये उसे एक निरंतर प्रक्रिया

के रूप में देखते हैं। यह प्रक्रिया, उत्तेजना और प्रतिक्रिया की व्यापक प्रक्रिया का एक हिस्सा है। असल में 'मन', परस्पर क्रियावाद एक अन्य पहलू से जुड़ा हुआ है, जैसेकि समाजीकरण, संकेत/चिह्न, आत्म, परस्पर क्रिया और यहां तक कि समाज।

टिप्पणी

सोच और परस्पर क्रिया

एक व्यक्ति के पास सोचने की केवल सामान्य क्षमता होती है। इस क्षमता को सामाजिक परस्पर क्रिया की प्रक्रिया द्वारा आकृत तथा परिष्कृत किया जाना चाहिए। इस विचार के आधार पर प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादी सामाजिक परस्पर क्रिया के एक विशिष्ट रूप पर अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रेरित हो जाते हैं– समाजीकरण। मनुष्य की सोचने की क्षमता का विकास बचपन की शुरुआत में समाजीकरण के दौरान होता है और प्रौढ़ अवस्था के समाजीकरण में यह क्षमता परिष्कृत होती है। प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों की समाजीकरण प्रक्रिया के प्रति विचारधारा, अन्य समाजशास्त्रियों से अलग है। पारम्परिक समाजशास्त्री, संभवतः समाजीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जिसके जरिए लोग उन चीजों का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो समाज में जीवित रहने के लिए अनिवार्य हैं (संस्कृति, भूमिका अपेक्षाएं आदि)। प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों के लिए, समाजीकरण एक अधिक आधुनिक प्रक्रिया है जो लोगों में सोचने की क्षमता का विकास संभव करती है, विशिष्ट रूप से मानवीय ढंग के अनुसार। इसके अतिरिक्त, समाजीकरण कोई सरल, एक तरफा प्रक्रिया नहीं है जिसमें अभिनेता को जानकारी प्राप्त होती है। बल्कि, यह एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें अभिनेता अपनी आवश्यकताओं के अनुसार, प्राप्त की गई जानकारी को आकार देता है।

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादी, केवल समाजीकरण में ही दिलचस्पी नहीं रखते बल्कि ऐसी सामान्य परस्पर क्रिया में भी रुचि रखते हैं, जो 'अपने आप में महत्वपूर्ण हो'। परस्पर क्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सोचने की क्षमता का विकास भी होता है और अभिव्यक्ति भी। सभी प्रकार की परस्पर क्रिया, हमारी सोचने की क्षमता को परिष्कृत करती है। इसके अलावा चिंतन द्वारा परस्पर क्रिया प्रक्रिया को आकार प्राप्त होता है। तकरीबन सभी परस्पर क्रियाओं में, अभिनेताओं को दूसरों का ध्यान रखते हुए यह सोचना चाहिए कि उनके द्वारा की जाने वाली क्रिया दूसरों की गतिविधियों में कैसे फिट बैठेगी। सभी परस्पर क्रियाओं में चिंतन शामिल नहीं होता। सामाजिक परस्पर क्रियाओं के मौलिक प्रकारों में, ब्लमर द्वारा दी गई यह विभिन्नता (मीड के बाद) यहां प्रासंगिक है। पहली गैर–प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया– मीड के संकेतों के वार्तालाप– में सोचना शामिल नहीं होता। दूसरी प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया में मानसिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है।

चिंतन का महत्व, वस्तुओं के प्रति प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों के विचारों में दर्शाया गया है। ब्लमर तीन प्रकार की वस्तुओं की विभिन्नता पर रोशनी डालते हैं– भौतिक वस्तुएं जैसेकि एक कुर्सी या एक पेड़ सामाजिक वस्तुएं जैसेकि एक विद्यार्थी या एक गाय अमूर्त वस्तुएं जैसेकि एक विचार या नैतिक सिद्धांत। वस्तुओं को केवल उन चीजों के रूप में देखा जाता है जो बस 'बाहर' वास्तविक संसार में हैं; इनके संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण चीज है अभिनेताओं द्वारा दी गई इनकी परिभाषा। इससे यह

टिप्पणी

यथार्थवादी विचार स्थापित होता है कि भिन्न वस्तुओं का भिन्न लोगों के लिए भिन्न अर्थ होता है– एक वनस्पतिशास्त्री, एक लकड़हारा, एक कवि और घर का माली एक ही पेड़ को विभिन्न नजरिए से देखेंगे। लोग, समाजीकरण प्रक्रिया के दौरान, वस्तुओं के अर्थ समझते हैं।

अर्थ तथा प्रतीक (चिह्न) समझना

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों (मीड के बाद) द्वारा सामाजिक परस्पर क्रिया को सामान्य महत्व दिया गया है। इस प्रकार, अर्थ मानसिक प्रक्रियाओं से नहीं बल्कि परस्पर क्रिया की प्रक्रिया से उभरता है। यह केंद्रण मीड के व्यवहारवाद से लिया गया है– उन्होंने मनुष्य की क्रिया और परस्पर क्रिया पर विशेष ध्यान केंद्रित किया था, पृथक मानसिक प्रक्रियाओं पर नहीं। प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादी, सामान्य रूप से इसी दिशा में चलते चले जा रहे हैं। दूसरी चीजों के साथ, केंद्रीय चिंता का विषय यह नहीं है कि लोग किस प्रकार मानसिक रूप से अर्थों और प्रतीकों की रचना करते हैं, बल्कि यह कि वे सामान्य रूप से परस्पर क्रिया के और विशेष रूप से समाजीकरण के दौरान इन्हें सीखते किस प्रकार हैं।

लोग सामाजिक परस्पर क्रिया के दौरान प्रतीक एवं अर्थ समझते व सीखते हैं। लोग बिना सोचे समझे संकेतों को प्रतिक्रिया देते हैं, जबकि प्रतीकों को प्रतिक्रिया देते समय लोग काफी विचार करते हैं। संकेत अपने आप में स्पष्ट होते हैं (उदाहरण के लिए, एक गुस्साए कुत्ते के भाव, या प्यास से मरते हुए आदमी को पानी पिलाने पर उसके भाव)। प्रतीक या चिह्न, वे सामाजिक वस्तुएं हैं जो यह दर्शाते हैं कि लोग जिस बात से सहमत होंगे वे उसी का वर्णन करेंगे। सभी सामाजिक वस्तुएं दूसरी चीजों को नहीं दर्शाती, लेकिन ऐसा करने वाली चीजों को प्रतीक कहा जाता है। शब्द, शारीरिक कलाकृतियां और शारीरिक क्रियाएं, उदाहरण के लिए, क्रॉस या डेविड का स्टार और एक बंद मुट्ठी, सभी प्रतीक माने जा सकते हैं। अकसर लोग, प्रतीकों के माध्यम से अपने बारे में कुछ सूचित करना चाहते हैं– उदाहरण के लिए, उनका रॉल्स रॉयेस चलाना उनके विशेष जीवन स्तर का प्रतीक है।

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादी भाषा को प्रतीकों की एक व्यापक प्रणाली के रूप में देखते हैं। शब्द असल में चिह्न होते हैं, क्योंकि ये किसी चीज के लिए प्रयोग किए जाते हैं। शब्द, बाकी सभी प्रतीकों को संभव बनाते हैं। कार्य, वस्तुएं और अन्य शब्द (भाषा के संदर्भ में) होते हैं और इनके 'अर्थ' भी होते हैं क्योंकि इन्हें शब्दों के इस्तेमाल द्वारा वर्णित किया जाता रहा है और जाता रहेगा।

लोगों के लिए, विशिष्ट मानव ढंग से ताल्लुक बनाए रखने हेतु, प्रतीक महत्वपूर्ण होते हैं। प्रतीकों की वजह से एक मनुष्य, सामने खड़ी वास्तविकता के प्रति निष्क्रिय प्रतिक्रिया नहीं देता, बल्कि अभिनय किए जाने वाले संसार में, सक्रिय रूप से बनाता है और पुनर्निर्मित करता है।

इस सामान्य उपयोगिता के अतिरिक्त, प्रतीक (सामान्य रूप से) और भाषा (विशेष रूप से) अभिनेता के लिए अनेक विशेष कार्य करते हैं।

पहला, प्रतीक देखी और महसूस की गई चीजों के संबंध में उन्हें नाम देने, श्रेणीबद्ध करने और याद रखने के योग्य बनाकर, लोगों को भौतिक तथा सामाजिक

टिप्पणी

संसार के साथ निपटने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार लोग अपने अव्यवस्थित संसार को व्यवस्थित कर सकते हैं। भाषा के प्रयोग से लोग चीजों को नाम दे सकते हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध कर सकते हैं और विशेषतौर पर अन्य प्रतीकों, जैसेकि सचित्र छवियों की तुलना में उन्हें ज्यादा अच्छी तरह याद रख सकते हैं।

दूसरा, प्रतीक लोगों की अपने वातावरण को समझने की क्षमता को बेहतर बनाते हैं। अविवेच्य उत्तेजकों के ढेर के नीचे दबने की जगह, अभिनेता को वातावरण के कुछ हिस्सों की तरफ मोड़ा जा सकता है।

तीसरा, प्रतीक सोचने की शक्ति को बेहतर बनाते हैं। जहां सचित्र प्रतीकों का सेट केवल सीमित सोचने की शक्ति प्रदान करता है वहीं, भाषा इस क्षमता को व्यापक रूप से विस्तृत कर देती है। इस प्रकार सोचा जाए तो, चिंतन को अपने खुद के साथ की जाने वाली प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया कहा जा सकता है।

चौथा, प्रतीक, व्यक्ति की समस्याएं सुलझाने की क्षमता में वृद्धि लाते हैं। मनुष्य प्रतीकात्मक माध्यम से सोचकर एक कार्य करने से पहले कई प्रकार की क्रियाओं का विकल्प ले सकते हैं। इससे भारी गलती करने की संभावनाएं कम हो जाती हैं।

पांचवां, प्रतीकों का उपयोग प्रयोगकर्ताओं को समय और स्थान से ऊंचा उठा देता है। प्रतीकों के प्रयोग से प्रयोगकर्ता जीवन की अतीत या भविष्य में कल्पना कर सकते हैं। इसके अलावा, प्रयोगकर्ता अपने व्यक्तित्व को प्रतीकात्मक ढंग से ऊंचा उठाते हुए, किसी दूसरे व्यक्ति के नजरिए से संसार की कल्पना कर सकते हैं। यह प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों का प्रसिद्ध 'भूमिका–परिग्रह' सिद्धांत है।

छठा, प्रतीक हमें स्वर्ग या नर्क जैसी आध्यात्मिक वास्तविकताओं की कल्पना करने के योग्य बनाते हैं।

सातवां, प्रतीक लोगों को अपने वातावरण का गुलाम बनने से बचाते हैं। ये निष्क्रिय नहीं सक्रिय बनाते हैं, मतलब कि, अपने द्वारा किए जाने वाले कार्यों में आत्म–निर्देशित।

क्रिया और परस्पर क्रिया

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों की मुख्य चिंता है 'अर्थ' और 'प्रतीकों' का मनुष्य की क्रिया व परस्पर क्रिया पर प्रभाव। यहां मीड द्वारा परिभाषित गुप्त और प्रकट व्यवहार की विभिन्नता को प्रयोग में लाना लाभदायक रहेगा। गुप्त व्यवहार में वह चिंतन प्रक्रिया सम्मिलित है जिसमें प्रतीकों तथा अर्थों का प्रयोग होता है। प्रकट व्यवहार का मतलब है प्रयोगकर्ता द्वारा प्रदर्शित प्रत्यक्ष व्यवहार। किसी प्रकार के प्रकट व्यवहार के लिए गुप्त व्यवहार की आवश्यकता नहीं होती (बाहरी उत्तेजकों के प्रति बिना सोचे समझे दी गई प्रतिक्रिया या स्वाभाविक व्यवहार)। बहरहाल, मनुष्यों द्वारा की जाने वाली ज्यादातर क्रिया में दोनों प्रकार के व्यवहार शामिल होते हैं। गुप्त व्यवहार, प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है,

जबकि प्रकट व्यवहार पारम्परिक व्यवहारवादियों या विनिमय सिद्धांतकारों के काम आता है। 'अर्थ' तथा 'प्रतीक' मानव सामाजिक क्रिया (जिसमें केवल एक प्रयोगकर्ता शामिल होता है) और सामाजिक परस्पर क्रिया (जिसमें दो या दो से ज्यादा

टिप्पणी

प्रयोगकर्ता परस्पर सामाजिक कार्रवाई करते हैं) को खास विशेषताएं प्रदान करते हैं। सामाजिक कार्य उस कार्य को कहते हैं, जिसमें व्यक्ति 'दूसरों को दिमाग में रखकर कार्य करते हैं' (चौरॉन, 1985)। दूसरे शब्दों में, एक कार्य को करते समय, लोग दूसरे प्रयोगकर्ताओं पर उस कार्य के प्रभाव का आकलन करने लगते हैं। वैसे तो, लोग बिना सोचे समझे स्वाभाविक व्यवहार में संलग्न रहते हैं, लेकिन उनमें सामाजिक कार्रवाई में संलग्न होने की क्षमता भी होती है।

सामाजिक परस्पर क्रिया की प्रक्रिया में, लोग कार्रवाई में सम्मिलित अन्य लोगों को प्रतीकात्मक ढंग से अर्थ समझाने की कोशिश करते हैं। दूसरे लोग इन प्रतीकों को समझने की कोशिश करते हैं उस समझ के आधार पर अपनी प्रतिक्रिया तैयार करते हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक परस्पर क्रिया में, अभिनेता आपसी प्रभाव की प्रक्रिया में शामिल होते हैं।

विकल्प बनाना

अर्थों और प्रतीकों को नियंत्रित करने की क्षमता के कारण, तुच्छ जानवरों से अलग, व्यक्ति अपने द्वारा किए जा रहे कार्य के संबंध में विकल्प बना सकता है। लोगों के लिए उन पर थोपे गए अर्थ और प्रतीक स्वीकार करना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार, परिस्थिति की अपनी समझ के आधार पर, 'मनुष्य के पास नए अर्थ निकालने की क्षमता होती है' (मैनिस एंड मेल्ट्जर, 1978)।

विलियम आइसैक थॉमस, परिस्थिति की परिभाषा के सिद्धांत में इस रचनात्मक क्षमता को रेखांकित करने में सहायक थे, 'यदि लोग परिस्थितियों को वास्तविक परिभाषित करते हैं, तो वे अपने परिणामों में वास्तविक होती हैं'। थॉमस इस बात से परिचित थे कि परिस्थितियों की परिभाषाएं हमें समाज द्वारा प्रदान की गई हैं। असल में उन्होंने इस बात पर जोर दिया था, विशेषतौर पर परिवार और समुदाय को सामाजिक परिभाषाओं के स्रोत के रूप में मानना। खैर, परिस्थितियों की 'आकस्मिक' व्यक्तिगत परिभाषाओं पर जोर देने के कारण, थॉमस की एक विशेष स्थिति है, जो लोगों को अर्थों और प्रतीकों को बदलने तथा परिवर्तित करने की अनुमति देती है'।

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों के अनुसार, अभिनेताओं के पास कम से कम थोड़ी स्वतंत्रता है। वे किसी तरह विवश या निर्धारित नहीं हैं; वे अनोखे तथा स्वतंत्र विकल्प चुनने में सक्षम हैं। इसके अलावा वे ऐसे जीवन का विकास करने के योग्य हैं जिसमें अनोखापन और अपना खुद का एक स्टाइल हो।

अभिनेताओं की कुछ अलग करने की क्षमता, गैरी फाइन तथा शेरिल क्लीनमैन (1983) द्वारा लिखित एक निबंध में दर्शाई गई है, जिसमें लेखकों ने सामाजिक नेटवर्क का पर्यवेक्षण किया है। सामाजिक नेटवर्क को एक अचेतन और बाधक सामाजिक संरचना के रूप में देखने की जगह, फाइन और क्लीनमैन नेटवर्क को सामाजिक संबंधों के एक ऐसे सेट के रूप में देखते हैं जो लोगों को अर्थ प्रदान करते हैं और जिनका व्यक्तिगत एवं सामूहिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जाता है।

आत्म सिद्धांत

प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों के लिए, आत्म, विशाल प्रतिष्ठा का एक सिद्धांत है। असल में, ऐसा माना जाता है कि 'आत्म, परस्पर क्रियावादियों की बौद्धिक स्कीम के

टिप्पणी

केंद्र का गठन करता है। अन्य सभी सामाजिक प्रक्रियाएं तथा घटनाएं उस केंद्र के आस–पास घूमते हुए उससे अपना विश्लेषणात्मक अर्थ तथा संगठन प्राप्त करती हैं।

चार्ल्स हर्टन कूली ने 'The looking-glass self' के सिद्धांत का सुझाव दिया था, जो सामाजिक परस्पर क्रिया और दूसरों के बोध के जरिए एक व्यक्ति के आत्म विकास की ओर इशारा करता है। 'The looking-glass self' के विचार को तीन घटकों में बांटा जा सकता है। पहला, हम इस बात की कल्पना करते हैं कि हम दूसरों को किस प्रकार नजर आते हैं। दूसरा, हम इस बात की कल्पना करते हैं कि वे किस प्रकार के प्रकटीकरण को किस तरह आंकते हैं। तीसरा, हम दूसरों के आकलन की कल्पना के आधार पर एक प्रकार के गर्व या वैराग्य की आत्म भावना अपने मन में जगा लेते हैं।

कूली का 'The looking-glass self' सिद्धांत और मीड का 'आत्म' का सिद्धांत, आधुनिक प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादियों की आत्म की धारणा के विकास हेतु महत्वपूर्ण था। ब्लमर द्वारा आत्म की बेहद सरल परिभाषा दी गई है– 'इस शब्द (आत्म) में कोई गुप्त बात नहीं छिपी है; इसका तो बस इतना सा सरल अर्थ है कि एक मनुष्य अपने खुद के कर्मों की वस्तु बन सकता है.....वह अपने प्रति कार्य करता है और अपने स्वयं के लिए वस्तु होने के आधार पर, दूसरों के प्रति अपने कर्मों के लिए अपना दिशा निर्देशन करता है'। 'आत्म' कोई चीज नहीं बल्कि एक प्रक्रिया है (पेरिंबनायाग,1985)। जैसाकि ब्लमर ने कहा है, 'आत्म' केवल बाहरी उत्तेजकों को प्रतिक्रिया देने की जगह, कार्य करने में मनुष्यों की सहायता करता है। वैसे यह, आत्म द्वारा कार्य करने के ढंग के चुनाव हेतु, उसके महत्व को रेखांकित करता है, ब्लमर ने कूली और मीड द्वारा दिए गए शुरुआती फॉर्मूलों से ज्यादा कुछ नहीं किया है। आधुनिक विचारकों और खोजकों द्वारा 'आत्म' के सिद्धांत को परिष्कृत किया गया है।

वैसे तो प्रतीकात्मक परस्पर क्रियाओं ने 'आत्म' के प्रति हमारी समझ की ओर महत्वपूर्ण योगदान दिया है, लेकिन इस क्षेत्र में सबसे अच्छा कार्य समाजशास्त्री, मॉरिस रोसनबर्ग (1979) द्वारा किया गया है जो सामान्य तौर पर इस सिद्धांत से संबंधित नहीं हैं। रोसनबर्ग चाहे एक प्रतीकात्मक परस्पर क्रियावादी नहीं हैं, लेकिन फिर भी इन पर मीड एवं कूली जैसे लोगों का बहुत प्रभाव पड़ा है। आत्म के संबंध में उनके विचार, सामान्य रूप से प्रतीकात्मक–परस्पर क्रियावादियों के अनुरूप हैं और इस सिद्धांत का उन्मुखीकरण भी करते हैं।

रोसनबर्ग ने शुरुआत में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उनकी मुख्य दिलचस्पी केवल आत्म में नहीं बल्कि आत्म के सिद्धांत में थी। वस्तु तथा व्यक्ति, दोनों होने के कारण, आत्म एक अधिक सामान्य सिद्धांत है। आत्म–सिद्धांत, एक वस्तु होने के नाते आत्म है। रोसनबर्ग ने आत्म–सिद्धांत को परिभाषित करते हुए कहा है, 'इसमें व्यक्ति के सम्पूर्ण विचार तथा भावनाएं सम्मिलित होती हैं जो उसे खुद को एक वस्तु की तरह संबोधित करती हैं। इस प्रकार, आत्म–सिद्धांत केवल आत्म का एक हिस्सा है और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का तो उससे भी छोटा हिस्सा है लेकिन यह असाधारण महत्व से सम्पन्न है, क्योंकि यह हरेक के लिए एक महत्वपूर्ण वस्तु है, आमतौर पर दुनिया की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु। आत्म के प्रति विश्वास, महत्वपूर्ण होने के अलावा, अन्य कई तरीकों से विशिष्ट होते हैं। उदाहरण के लिए, केवल इन्हीं रवैयों का बीते समय/घटनाओं से संबंध होता है। आत्म–सिद्धांत कुछ विशेष अवर्णनीय जानकारी का परिणाम है; यह

व्यक्ति की अनोखी जानकारी और उसके अपने प्रति नजरिए को प्रतिबिंबित करता है। वैसे तो आत्म के प्रति रवैयों की अन्य रवैयों से समानता होती है, लेकिन आत्म के प्रति कुछ खास रवैये अवश्य होते हैं, जैसेकि गर्व और शर्मिंदगी। क्रिकेट के खेल या पूड़ी भाजी के प्रति रवैयों की तुलना में, आत्म के प्रति रवैयों में सटीकता और सत्यापनीयता कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सटीकता के महत्वपूर्ण होने के बावजूद, कम सत्यापनीयता के कारण इसका निर्धारण करना थोड़ा मुश्किल होता है।

रोसनबर्ग ने मौजूदा आत्म, वांछित आत्म तथा प्रस्तुत आत्म के बीच की विभिन्नता को भी स्पष्ट किया है। मौजूदा आत्म, जो हम हैं उसे दर्शाता है; वांछित आत्म, जो हम बनना चाहते हैं उसे दर्शाता है; और प्रस्तुत आत्म जो किसी विशेष परिस्थिति में हमारे स्वयं के प्रदर्शन को दर्शाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. दार्शनिक ग्रंथ 'आइडियाज इंट्रोडक्शन टू प्योर फिनामिनोलॉजी (1913)' के लेखक हैं–

   (क) शट्ज (ख) एडमंड हसर्ल

   (ग) चार्ल्स हॉर्टन कूली (घ) विलियम आइसैक थॉमस

8. 'द फिनामिनोलॉजी ऑफ द सोशल वर्ल्ड (1932)' के लेखक हैं–

   (क) एडमंड हसर्ल (ख) चार्ल्स हॉटन कूली

   (ग) विलियम आइसैक थॉमस (घ) शट्ज

1.6 नारीवाद

इसका अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1.6.1 नारीवादी आंदोलनों का इतिहास

नारीवाद एक सामाजिक आंदोलन है जो महिलाओं के लिए समान अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष को संदर्भित करता है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्य आंदोलनों के साथ ही शुरू हुआ जैसे कि फ्रांसीसी क्रांति, संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्रता का युद्ध या अन्य उदारवादी क्रांतियां जो पश्चिमी दुनिया में हुए।

पहला नारीवादी आंदोलन (1789–1870)

प्रथम नारीवादी आंदोलन का मूल 18वीं शताब्दी के अंत में था और यह लगभग पूरी शताब्दी तक फैला हुआ है। इस पहली लहर का उद्देश्य समान अधिकारों का दावा था जो कि बुर्जुआ क्रांतियों और मानव अधिकारों की पूर्वोक्त सार्वभौमिक घोषणा के अंतर्गत पुरुषों को प्राप्त हुआ था।

प्रबुद्ध नारीवाद

कानूनी और सामाजिक सुरक्षा की कमी के कारण महिलाओं को असुरक्षित ही छोड़ दिया गया था, इसलिए, महिलाओं ने संगठित होने और आंदोलन आरम्भ करने में कोई

टिप्पणी

संकोच नहीं किया। इस पहली लहर से समानता और महिलाओं के अधिकारों पर बहस आरंभ हुई। पहली लहर के कुछ सबसे महत्वपूर्ण विचारक हैं–

- मैरी वोल्स्टनक्राफ्ट
- पौलेन डी बर्रे आदि

नारीवाद की दूसरी लहर और मताधिकार (1870– 1940)

महिलाओं के लिए सार्वभौमिक अधिकारों हेतु नारीवाद की दूसरी लहर यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्पन्न हुई। नारीवाद की यह लहर दूसरी औद्योगिक क्रांति और पश्चिमी दुनिया में तेजी से हुए राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों से प्रेरित थी।

इस दूसरी नारीवादी लहर का उद्देश्य सार्वभौमिक वोट के अधिकार का दावा करना था क्योंकि महिलाओं को अपने शासकों को चुनने का अधिकार नहीं था, जिसने महिलाओं को राजनीतिक और सामाजिक हीनता की स्थिति में रखा।

नारीवाद की दूसरी लहर ने निम्नलिखित उद्देश्यों का दावा किया–

- श्रमिक उद्योगों में महिलाओं का समावेशन (प्रथम विश्व युद्ध के दौरान)
- वोट देने का अधिकार
- परिवार में लिंग समानता तथा महिलाओं पर पुरुषों के वर्चस्व पर नियंत्रण

1848 में सेनेका फॉल्स की अमेरिकी घोषणा संयुक्त राज्य अमेरिका में, दूसरी नारीवादी लहर की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक थी। इस कथन ने उनके पिता और पतियों से महिलाओं की स्वतंत्रता का दावा किया। 1871 के बाद, कुछ देशों ने अपनी सरकारों में सार्वभौमिक मताधिकार व्यवस्था को स्थापित करना आरंभ किया। उदाहरणतः स्पेन में, मताधिकार आंदोलन कि महान प्रतिनिधियों में से एक थी– क्लारा कैंपोमेर, जिन्होंने फेमिनिन रिपब्लिकन यूनियन बनाया और स्पेन में महिलाओं के मताधिकार को बढ़ावा दिया।

नारीवाद की तीसरी लहर: समकालीन नारीवाद (1950–1980)

महिलाओं के खिलाफ हिंसा, यौन दमन और पुरुषों से वास्तविक समानता की कमी पिछली सदी के मध्य में ही स्पष्ट हो गया था (जोकि वास्तव में अभी भी है)। 60 के दशक के दौरान आई नारीवाद की तीसरी लहर में महिलाओं ने न्याय से पहले समानता को देखना शुरू कर दिया था। महान प्रतिपादक सिमोन डी बेवॉयर या बैटी फ्राइडन ने अपनी पुस्तकों में सम्बंधित समस्याओं को इंगित करना आरंभ किया जो एक गुप्त, सूक्ष्म लेकिन स्पष्ट रूप से गंभीर तरीके से समाज में दिखाई देती हैं, जैसे कि लिंग भूमिका और रूढ़िवादिता, महिलाओं का यौन उत्पीड़न, लिंग हिंसा, मनोवैज्ञानिक शोषण आदिद्य इस कालखंड में कई महिला कार्यकर्ताओं ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अस्तित्व की पुष्टि की जिसने महिलाओं को व्यवस्थित रूप से उत्पीड़ित किया है। नारीवाद की तीसरी लहर ने निम्नलिखित उद्देश्यों के साथ संघर्ष किया–

- पितृसत्ता का उन्मूलन
- शिक्षा में समानता
- औरत को यौन स्वतंत्रता

- महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का उन्मूलन (लिंग हिंसा)
- कार्यस्थल में वास्तविक समानता

चौथी नारीवादी लहर (1980–वर्तमान)

टिप्पणी

नारीवाद की यह चौथी लहर वर्तमान में इतिहास में स्थापित हो रही है और अभी तक इसे सही ढंग से परिभाषित नहीं किया गया है। हालांकि यह सच है कि यह नारीवाद की तीसरी लहर के समान ही है। हालांकि नस्लवाद विरोध, एलजीबीटी अधिकारों की लड़ाई, यौन स्वतंत्रता, वर्ग संघर्ष आदि इस लहार के भी कुछ प्रमुख मुद्दे हैं। चौथी नारीवादी लहर की विशेषता है इसकी ऑनलाइन सक्रियता। त्वरित प्रतिक्रिया आज के तकनिकी युग में नारीवादी आंदोलनों की विशेषता बन गयी है।

1.6.2 नारीवाद : अर्थ एवं पृष्ठभूमि

नारीवाद एक ऐसा विचार है जो कि पुरुष एवं स्त्री के मध्य असमानता को अस्वीकार कर नारी के सबलीकरण की प्रक्रिया को बौद्धिक एवं क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करता है। महिला स्वतंत्रतावादी आन्दोलन के विकास के साथ ही उनमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना बढ़ी है और महिला–विमुक्ति आन्दोलन के समर्थकों ने महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों का विरोध करना शुरू कर दिया है। महिलाओं का शोषण और उनकी राजनीतिक स्थिति महिलाओं की जैविक स्थिति से जुड़ी है। उदारवादी नारीवाद के अंतर्गत सिद्धांत पहले से ही विद्यमान थे। इस विचारधारा ने सरकार एवं कानून के माध्यम से नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने पर बल दिया।

नारीवाद राजनीतिक आन्दोलन का एक सामाजिक सिद्धांत है, जो स्त्रियों के अनुभवों से जनित है। हालांकि मूलतः यह सामाजिक संबंधों से प्रेरित है; किन्तु कई नारीवादी विद्वानों का मुख्य विचार लैंगिक असमानता और स्त्रियों के अधिकार से संबंधित है। नारीवाद के समर्थकों के मत के अनुसार समाज में नारी का स्थान दोयम दर्जे का है; क्योंकि पुरुषों ने अपनी सुख–सुविधाओं और स्वार्थों को ध्यान में रखकर ही सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण व पोषण किया है। नारियों को समाज में कैसा आचरण करना चाहिए, उसका निर्धारण भी पुरुषों ने ही किया है। महिलाओं के साथ जीवन के विभिन्न आयामों में भेदभाव पुरुष–प्रधान समाज में एक स्वाभाविक घटना है। नारी सशक्तीकरण के माध्यम से ही लैंगिक समानता की बात सम्भव है।

नारीवादी सिद्धांत का उद्देश्य लैंगिक असमानता की प्रकृति एवं कारणों को समझना तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले लैंगिक भेदभाव की राजनीति और शक्ति संतुलन के सिद्धांतों पर इसके प्रभाव की व्याख्या करना है। स्त्री–विमर्श सम्बन्धी राजनीतिक प्रचार का जोर प्रजनन सम्बन्धी अधिकार, घरेलू हिंसा, मातृत्व अवकाश, समान वेतन सम्बन्धी अधिकार, यौन उत्पीड़न, भेदभाव एवं यौन हिंसा पर रहता है। स्त्रीवादी–विमर्श सम्बन्धी आदर्श का मूल कथ्य यही रहता है कि कानूनी अधिकारों का आधार लिंग न बने। नारीवाद के सिद्धांत के अंतर्गत मूलरूप से समानता एवं सबलीकरण के माध्यम से महिलाओं एवं पुरुष के मध्य व्याप्त सामाजिक असमानता को नकारना है। नारीवाद एक विचारधारा भी है और एक आन्दोलन भी।

टिप्पणी

नारीवाद में मुख्य रूप से तीन परंपराएं हैं– उदारवादी, समाजवादी तथा आमूल। रूढ़वादी तो समाज के पितृतंत्रीय ढांचे को चुनौती ही नहीं देते तथा लिंग के आधार पर सार्वजनिक–पुरुष व निजी–स्त्री के भेद को प्राकृतिक बताते हैं। प्रथम चरण से ही उदारवादी नारीवादी पुरुषों के बराबर महिलाओं को एक समान अधिकारों की मांग करते रहे हैं। उदारवादी नारीवादी के दार्शनिक आधार में यह सिद्धांत निहित है कि सभी व्यक्ति, पुरुष व महिलाएं एक समान हैं तथा इस कारण महिलाओं के लिए सार्वजनिक जीवन के द्वारा खोल दिए जाने चाहिए। उदारवादी नारीवादियों की सुधारवादी सोच के विपरीत समाजवादी नारीवादी महिलाओं के शोषण को पूंजीवादी व्यवस्था का फल मानते हैं।

नारीवाद का वैश्विक विचार इस विश्वास को संदर्भित करता है कि पुरुषों और महिलाओं को सभी अवसरों, उपचार, सम्मान और सामाजिक अधिकारों में समान रूप से उन्हें योग्य समझा जाए। साधारणतः नारीवादी वे होते हैं, जो लिंग भेद के आधार पर सामाजिक असमानता को पहचानते हैं और ऐसी घटनाओं को होने से रोकते हैं। नारीवादी यह बताते हैं कि इतिहास की सभी संस्कृतियों में महिलाओं की तुलना में पुरुषों को अधिक अवसर प्राप्त हुआ है। नारीवाद के कुछ प्रकार हैं– सांस्कृतिक नारीवाद, कट्टरपंथी नारीवाद, समाजवादी नारीवाद और उदारवादी नारीवाद।

1870 के दशक से यह प्रत्यक्ष है कि बहुत सारे नारीवादी शोधकर्ता एक ऐसे सिद्धांत का विकास करने में लगे थे, जो महिलाओं के उत्पीड़न की व्याख्या करने में सहायता कर सकता था, जोकि सूचित कर सकता था कि उत्पीड़न का विरोध कैसे किया जा सकता था, तथा उसे चुनौती कैसे दी जा सकती थी। 1880 के दशक के उत्तरार्ध के दौरान, कई शोधकर्ता और सिद्धांतकार सदियों से महिलाओं की अधीनता के स्पष्टीकरण से दूर हो गए और कई विशेष मुद्दों के साथ प्रासंगिक समस्याओं का विश्लेषण करने लगे थे। ऐसे विश्लेषण या तो नीतिकारों के लिए, नहीं तो कार्यकर्ताओं के लिए थे, लेकिन कभी–कभी यह मुख्य रूप से शैक्षिक वर्ग की जरूरतों को भी पूरा करता था, जैसा कि हमने भारतीय मामलों में अधिकांशतः देखा है। नारीवाद से सम्बंधित अनुसंधान और उसके प्रकाशन का काफी विस्तार हुआ और इसके लिए काफी हद तक विभिन्न महिला अध्ययन कार्यक्रमों को सरकार द्वारा भारत के विभिन्न भागों में वित्तपोषित किया गया था। 1880 के दशक तक भारत में कट्टरपंथी नारीवाद ने इस व्यापक श्रेणी में विभिन्न दिशाओं में फैलाये गए पुरुषों और महिलाओं के बीच मतभेदों पर इस दौरान बहुत जोर दिया, तथा पारम्परिक रूप से महिलाओं से जुड़ी विशेषताओं के सकारात्मक पहलुओं की पहचान पर जोर दिया। कुछ कट्टरपंथी नारीवादियों ने काले नारीवाद की आलोचना को काफी गंभीरता से लिया और नस्लवाद, वर्ग उत्पीड़न और साम्राज्यवाद के मुद्दों को पितृसत्ता के विश्लेषण में शामिल किया।

1.6.3 नारीवाद : सिद्धांत एवं स्वरूप

नारीवादी समाजशास्त्र महिलाओं के पक्ष में है और पुरुषों के उस प्रभुत्व को चुनौती तथा टक्कर देता है, जो कि महिलाओं की पुरुषों से असमानता को संस्थागत करती थी। नारीवादी सिद्धांत उन कारणों का विश्लेषण करते हैं, जो कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक भेदभाव को अवतरित करते हैं।

टिप्पणी

अधिकतर नारीवादियों ने पितृसत्तात्मक प्रणाली की आलोचना करने पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। महिलाओं की तुलना में पुरुषों के पास समाज के संसाधनों का लाभ उठाने के बेहतर अवसर थे, इसीलिए पुरुष महिलाओं पर शक्ति का प्रयोग करने में सक्षम थे। व्यक्तिगत स्तर के साथ बड़े पैमाने पर भी लिंगों के बीच अंतरंग संबंध हमेशा से ही सत्तात्मक रिश्ते थे (मिल्लेट्ट, 1972/1970)। कुछ व्यक्तियों ने बदलाव करके मदद भी की, लेकिन यह महिलाओं की मुक्ति तब तक नहीं ला सकता था, जब तक समाज की क्रियाओं में बदलाव नहीं लाया जाता।

1960 के दशक के आखिरी तथा 1970 के शुरुआती वर्षों में नारीवादी आंदोलनों में कुछ नारीवादी समूहों या घटनाओं में पुरुष भी शामिल थे (वेलेहन, 1955), लेकिन वे सम्मेलनों और समूहों को एकाधिकृत करने की प्रवृति के कारण निराश हो गए और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पुरुषों के बिना और भी बहुत कुछ हासिल किया जा सकता है (फिलिप्स, 1991–98)। कुछ लोगों ने नारीवादी आंदोलनों को समर्थन देना जारी रखा, लेकिन उन्होंने इस तथ्य का परीक्षण किया, जिसमें वे अपना समूह बनाकर महिलाओं की सहायता के लिए और बेहतर रास्तों की तलाश करते थे (मेस्सनर, 1997) और वे नारीवादी सम्मेलनों में छुपा समर्थन, जैसे बच्चों की देखभाल करते थे।

नारीवाद की पारिभाषिक विशेषता का परिदृश्य इस बात पर था कि महिलाओं की अधीनता पर सवाल उठाया जाना चाहिए तथा इसे चुनौती दी जानी चाहिए। इसमें महिलाओं की वर्तमान तथा भूतपूर्व अवस्थाओं की महत्वपूर्ण जांच भी सम्मिलित थी। इसमें उन दमनकारी पितृसत्तात्मक विचारधाराओं को चुनौती देना भी शामिल था, जो महिलाओं की परतंत्रता को प्राकृतिक, सार्वभौमिक और अनिवार्य माने जाने के साथ उस ज्ञान की वकालत करते हैं जो विश्व को पुरुषों के नजरिए से चलाए जाने के लिए सार्वभौमिक बनाता है। यह आवश्यक है कि संसार में महिलाओं की स्थिति से देखा जाए, जिन्हें ज्ञान के उत्पादन से दूर रखा गया है। ऐसे नजरिये अधिक पर्याप्त ज्ञान प्रदान करेंगे, क्योंकि ये वर्तमान पितृसत्तात्मक ज्ञान के द्वारा नहीं पहचाने गए मुद्दों की व्याख्या करेंगे, जो कि पुरुषों के द्वारा महिलाओं की अधीनता तथा उनके शोषण से संबंधित हैं।

नारीवाद की शुरुआत इस सोच के साथ होती है कि महिलाओं पर अत्याचार होता है और कई लोगों के लिए यह उत्पीड़न एक प्राथमिकता है। नारी आजादी के कार्य पुरुषों की शक्तियों द्वारा सीमित हैं, क्योंकि पुरुषों को महिलाओं की तुलना में अधिक आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक संसाधनों की प्राप्ति है और इस तथ्य को नहीं झुठलाया जा सकता है कि महिलाओं के बीच परतंत्रता एवं शोषण लिप्त है। जाति और लिंग एक साथ मुखर होकर अश्वेत महिलाओं के लिए एक पहचान बन जाती है। बहरहाल, देश की अर्थव्यवस्था और अन्य लोक संस्थान पर समाजशास्त्र का पारंपरिक जोर निजी–संस्थानों, जैसे परिवार और लोक तथा निजी क्षेत्रों में व्यक्तिगत रिश्तों के उत्पीड़न को अनदेखा करने के मुख्य स्रोत पर है।

नारीवाद इस बात में विश्वास रखता है कि महिलाओं और पुरुषों को समान रूप से देखना चाहिए तथा उन्हें समान अधिकार मिलने चाहिए। इस बात को कई पुरुषों

टिप्पणी

तथा महिलाओं ने अपनाया है। यह पुरुषों पर अध्ययन से मिलता–जुलता है कि लिंग एक सामाजिक रूप से निर्मित अवधारणा है, जिसके महत्वपूर्ण परिणाम हम सभी के जीवन में देखने को मिलते हैं (क्रैग, 1992)। समाजशास्त्री बेन ऐंगर (1993), के अनुसार, "पुरुष नारीवादी हो सकते हैं। पुरुषों और महिलाओं दोनों के पास लिंग असमानता के कारण तथा परिणाम को बेहतर समझ प्राप्त करने के लिए बहुत कुछ है। पिछले तीन दशकों से, महिलाओं तथा पुरुषों को विशिष्ट रूप से प्रभावित कर रहे कारणों को समझने के लिए बहुत से संगठनों का निर्माण हुआ है तथा इसमें लिंग समानता को बेहतर समझ पाने में लोगों की सहायता मिली है।"

नारीवादी सिद्धांत

नारीवादी सिद्धांत मानदंडों, भूमिकाओं, संस्थानों और कई प्रकार की उम्मीदों की पहचान करने का प्रयास है, जो महिलाओं के व्यवहार की सीमाओं को रोकते हैं। इसके साथ यह भी दर्शाता है कि शक्तियों की कमियों के बावजूद भी महिलाएं व्यक्तिगत संचालन कैसे करती हैं (स्टीवर्ट, 1994)।

नारीवादी सिद्धांत अन्य सामाजिक सिद्धांतों से कुछ इस प्रकार से अलग है–

1. यह अंतर्नुशासित समुदाय के द्वारा किए गए कार्य हैं, जिनमें समाजशास्त्रियों के साथ–साथ बहुत से अन्य विषयों जैसे– मानवविज्ञान, जीवविज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, कानून, दर्शन और राजनीतिशास्त्र के विद्वान भी शामिल हैं।
2. अन्य नारीवादी सिद्धांतकारों की तरह नारीवादी समाजशास्त्रियों ने भी अपने प्रयासों से मूल विषयों को विस्तार देने के लिए प्रयास किया है। यह मानवीय समाज में सामाजिक दुनिया को बदलने के इरादे के महत्वपूर्ण विकास की सोच पर केंद्रित है।
3. अधिकांश समाजशास्त्री नारीवादी सिद्धांत को अपने सामाजिक कार्य में सम्मिलित करने से हिचक रहे थे, क्योंकि वह सिद्धांत काफी नया तथा कट्टरपंथी था। वह इसलिए कि उसके बहुत से रचनाकार समाजशास्त्री न होकर राजनीतिक कार्यकर्ता थे।

उदार नारीवाद

उदार नारीवाद जिसे समानतावादी या मुख्यधारा नारीवाद भी कहते हैं, नारीवाद का सर्वाधिक सामान्य शाखा समझा जाता है। यह साधारण वाक्य पर आधारित है कि सभी लोग बराबर बनाए गए हैं और लिंग के कारण अवसर की समानता से वंचित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि लैंगिकवाद के उन्मूलन से दोनों स्त्री–पुरुष लाभ उठाते हैं, पुरुष पंक्ति में समाहित किए जाते हैं। उदार नारीवाद विवेक, शिक्षा, प्राकृतिक अधिकारों के ज्ञानोदय विश्वासों पर आधारित है जो सभी स्त्री पुरुषों को बढ़ाता है। यह जॉन स्टुअर्ट मिल (1869 / 2002) के The Subjection of Women में स्पष्ट रूप से कहा गया कथन है कि 'जो अब नारी का स्वभाव कहा जाता है यह उत्कृष्ट रूप से बनावटी चीज है– कुछ दशा में जबरन उत्पीड़न, दूसरों में अस्वाभाविक प्रोत्साहन का परिणाम'। स्त्रियां बहुलवादी व्यवस्था के अंतर्गत एकसाथ कार्य कर सकती हैं और अपने घटकों को सकारात्मक असर डालने एवं लाभकारी सामाजिक बदलाव के लिए संगठित कर सकती

हैं। मांग पूरी होगी यदि संघटन प्रभावी हो और दबाव निपुणता से प्रबंध किया गया हो (देक्कार्ड, 1983)।

टिप्पणी

1700 से उदार नारीवाद ने स्त्रियों के नागरिक अधिकारों, शिक्षा, राजनीतिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता, व्यक्तिगत पसंद और आत्मनिर्णय पर ध्यान केंद्रित करते हुए उदार राजनीतिक संवाद के अधिकार और कर्तव्य को बढ़ाने के लिए लड़ाई लड़ी है। इसने नागरिक अधिकार कानून में समावेश, शिक्षा तक पहुंच और अवसर का बराबरी अभियान के द्वारा लिंग असमानता को संबोधित किया है। विवेकपूर्ण समझ हर एक के उदार सिद्धांत के लिए निर्धारक विशेषता है। उदारतावाद ने इस प्रकार वंचित लोगों के लिए कानून बनाने, जाति के असमान शक्ति संबंध का संज्ञान, लिंग और स्पर्धा पर ध्यान दिया है जो समाज को बनाती हैं और समानता के खिलाफ काम करती हैं।

ऐतिहासिक रूप से उदार नारीवाद स्त्रियों के समान अधिकारों के लिए बहस के लिए चिंतित रहा है– स्त्रियों के लिए पुरुषों की तरह एकसमान नागरिक अधिकार पाना। समान अधिकार नारीवादियों ने उन कानूनों और परंपरा के खिलाफ लड़ा है जो पुरुषों को अधिकार देती हैं और स्त्रियों को नहीं या जो स्त्रियों की रक्षा के लिए बनायी गयी हैं, यह जानते हुए कि महज औपचारिक समानता अपर्याप्त है।

उन लोगों ने स्त्री अधिकारों को कार्यस्थल पर जैसे मातृत्व छुट्टी, वेतन के लिए स्त्रियों के खिलाफ विभेद को गैरकानूनी घोषित करने के लिए कानून पारित करने की भी वकालत की है। स्त्रियां पुरुषों की तरह मनुष्य हैं, उनके पास पुरुषों जैसे समान अपरिहार्य प्राकृतिक अधिकार हैं। स्त्री जाति उसकी ऊंचाई के साथ अप्रासंगिक है, स्त्रियां पूर्ण उपयुक्तता में सक्षम होती हैं इसलिए पूर्ण मानव अधिकार की हकदार होती हैं। हालांकि पश्चिमी औद्योगिक समाज में स्त्रियां जाति के आधार पर विभेद की जाती हैं, यही कारण है कि स्त्रियों पर सामूहिक रूप से बगैर उनकी व्यक्तिगत इच्छा, हित, योग्यता और जरूरत के कुछ प्रतिबंध लगाए गए हैं। स्त्रियों को पुरुषों के साथ समान अधिकार से वंचित किया जाता है और सामूहिक रूप से पुरुषों को जो अधिकार मिले हैं उनकी आजादी की अनुमति स्त्रियों को सामूहिक रूप से नहीं दी गयी हैं। इसके अतिरिक्त जब पुरुषों का आकलन उनकी व्यक्तिगत खूबियों पर किया जाता है, महिलाओं का आकलन उनके स्त्रीय कौशल के रूप में किया जाता है– यही कारण है कि उनके अपने निजी हित के अनुसरण में पुरुषों के समान अधिकारों से वंचित किया जाता है।

समाजशास्त्र में, उदार/सुधारवादी नारीवादियों से सवाल किया गया है कि लिंगों के बीच मतभेद सहज नहीं हैं, लेकिन समाजीकरण का एक परिणाम है, जो "लिंग–भूमिका अनुकूलन" के रूप में जाना जाता है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं से अलग ढंग से व्यवहार किया जा रहा है और मानव के रूप में अपनी पूरी क्षमता को विकसित करने से महिलाओं को हतोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। कुछ नारीवादी शोधकर्ता महिलाएं ऐसी भी हैं, जिन्हें अनुसंधान से बाहर किया गया है और उनके साथ भेदभाव तथा पुरुषों की अपेक्षा अलग ढंग से बर्ताव किया गया है, इसी बात से समाज में महिलाओं की अधीनस्थ स्थिति का पता चलता है। महिलाओं को बराबर का हक दिलाने के लिए, यह प्रदर्शित करना आवश्यक है कि पुरुष और महिला पूरी तरह से मानव हैं और क्षमताओं में बराबर हैं। पश्चिमी समाज में पुरुषों और महिलाओं के बीच

मतभेद के अलग–अलग प्रकार होते हैं और दोनों लिंगो के साथ सामाजिक अपेक्षाओं से भेदभावपूर्ण कानून होता है।

टिप्पणी

हालांकि, ना ही एक सुधारवादी स्थिति से सामाजिक अनुसंधान महिलाओं का पता लगाने के अनुभवों और ना ही समाज का पता लगाने के लिए विकसित अवधारणाओं और उपकरणों के उपयोग की चुनौती ने, पुरुषों के दृष्टिकोण को बदला है। क्या प्रमुख मुद्दों पर शोध पर्याप्त रूप से पुरुष की विचारधाराओं को चुनौती देता है? यह महिलाओं के समावेश में तर्क है और इस मुद्दे पर अनुसंधान के लिए नींव है, जोकि अनुसंधान के नमूने का मौजूदा सैद्धांतिक दृष्टिकोण होगा। हालांकि, अनुसंधान में महिलाओं को समान अवसर से इनकार किया जा रहा है और उनके साथ भेदभाव तथा श्रम का विभाजन किया जा रहा है। इस बात की आवश्यकता है कि लिंग भेद को समझा जाए और ऐसे विचारों को चुनौती दी जाए।

सदियों से, उदार नारीवादियों ने शिक्षा और व्यवसायों, संपत्ति के अधिकार, वोट और अन्य सभी अधिकारों का पुरुषों ने आनंद लिया है। इन क्षेत्रों में अपनी बराबर पहुंच बनाने के लिए अपना अभियान चलाया है। उनके पास समान शिक्षा है और समानता के आधार पर महिलाओं की समानता के लिए अनेक तर्क दिए हैं। महिलाएं तर्कसंगत और सार्वजनिक पदों को प्राप्त करने तथा संपत्ति का प्रबंध करने में पुरुषों के बराबर ही सक्षम हैं। इन तर्कों से, उदार नारीवादियों ने अनिवार्य रूप से यह माना है कि महिलाओं और पुरुषों के बीच मतभेद जैविक है तथा निर्धारित या सामाजिक रूप से लिंगो में अंतर नहीं होना चाहिए, बल्कि उन्हें मानवता के आधार से देखना चाहिए और समाज को इसके प्रति शिक्षित किया जाना चाहिए। शिक्षा और रोजगार के अवसरों में बराबर संघर्ष करने हेतु महिलाओं को पदों पर रहकर बच्चों की देखभाल भी करनी पड़ती है जिससे महिलाओं के लिए उत्पादन संरचनाओं में दोहरी भूमिका निभाना कुछ कठिन कार्य है, केवल संकट के क्षणों में, उदार लोकतंत्र ने ही इस समस्या पर सार्थक ध्यान दिया है।

उदार नारीवादियों ने लिंग असमानता की सीमा का निर्धारण करने के लिए निम्नलिखित रणनीतियों का प्रस्ताव दिया है:

- अभिप्रेरण बदलाव के लिए राजनीतिक और कानूनी चैनलों के मौजूदा उपयोग
- समान आर्थिक अवसर
- परिवार, स्कूल और बड़े पैमाने पर मीडिया संदेशों में बदलाव।

इस तरह, उदार नारीवादी समाजीकरण के विभिन्न रूपों के बारे में बात करते हैं, जिसमें लिंग भूमिकाएं बराबर हैं। हर व्यक्ति को लैंगिकता की चुनौती देने की कोशिश करनी चाहिए। उदार नारीवादियों के विचार से, आदर्श लिंग व्यवस्था वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए सबसे उपयुक्त जीवनशैली को चुनता है। उदार नारीवादियों ने समानता के अभ्यास के रूप में इसे आदर्श दिखाने व बढ़ाने का प्रयास किया है।

आलोचना : उदार नारीवाद के क्षेत्र पर आलोचनाएं निम्नलिखित हैं:

- उदार नारीवादी, महिलाओं की समानता तथा संरचनात्मक समस्याओं से निपटने में नाकाम रहे।

टिप्पणी

- उदार नारीवादी आलोचनाओं को प्रामाणिक चुनौती देने में विफल रहे। अद्वैतवाद, तर्कसंगत संस्थाओं के रूप में मनुष्य को परिभाषित करता है। मानव का जीवन अपने शरीर और भावनाओं की कीमत पर है, जो जीवन को नियंत्रित करने के लिए जरूरी है। महिलाओं का प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण है, इसीलिए संरचनात्मक शक्ति के संबंध में उनके साथ शोषण और कामुकता को छुपा रहना चाहिए।
- उदार नारीवाद के आलोचकों का कहना है कि यह सबसे कमजोर तर्क है कि महिलाओं की कामुकता और प्रजनन शक्ति के अधिकार व्यक्तिगत हैं।

सांस्कृतिक नारीवाद

उदार नारीवादियों ने भी महिलाओं को पोषण, देखभाल, सहयोग और संयुक्तता के रूप में सशक्त बनाने पर अपना ध्यान केंद्रित करने के साथ "सांस्कृतिक नारीवाद" को गले लगाया है और महिलाओं की भूमिकाओं से जुड़े सकारात्मक गुणों पर बल द्वारा दूसरों को बताया है (वोरेल, 1996)। महिलाओं की समानता और भिन्नता पर जोर देते हुए प्रकाश डाला गया है। यद्यपि यह नारीवाद के क्षेत्र से एक अलग शाखा है, जोकि "लिंग भेद या समानता की डिग्री" बनाने के लिए सांस्कृतिक नारीवाद की अनुमति देता है और कुछ स्तर पर सभी नारीवादी शाखाओं को भी शामिल किया है। उदार नारीवादी इस बात पर जोर देते रहे हैं कि अन्य शाखाओं की तुलना में इन सिद्धांतों में महिलाओं की सदस्यता के और अधिक होने की संभावना है।

मार्क्सवादी नारीवाद

मार्क्सवादी नारीवाद जातिवाद और नारी के सामाजिक संघर्ष को एक साथ देखते हैं। इस सिद्धांत को सामाजिक नारीवाद भी कहा जाता है। सामाजिक नारीवाद में मार्क्स–एंगेल्स मॉडल, जिसमें महिलाओं की हीन परिस्थिति को आर्थिक पूंजीवादी और इसका पूंजीवादी समाज के पितृसत्तात्मक परिवार के तौर पर वर्णन किया जाता है।

इस अध्याय के अंत में सामाजिक नारीवाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। मार्क्सवादी नारीवाद के अनुसार लिंगवाद और पूंजीवाद एक दूसरे के पूरक हैं। मार्क्सवादी नारीवाद मार्क्सवादी श्रेणी और नारीवादी सामाजिक संघर्ष को साथ लाता है।

मार्क्स के सिद्धांत का केंद्र बिंदु पूंजीवाद है और इसके अनुसार नारी को बराबरी तभी मिलेगी जब उनको काम के बदले वेतन मिलना शुरू होगा। यह पूर्णतया पूंजीवादी समाज में निजीकृत परिवार के उदय में नारी के सामाजिक आश्रित स्थिति के परीक्षण पर आधारित है। मार्क्स ने खुद ही इन टिप्पणियों को बनाया था, परन्तु उनके सहयोगी और सह लेखक एंगेल्स ने इनका अपनी पुस्तक The Origin of the Family, Private Property and the State में विश्लेषण किया। इसमें तर्क दिया गया है कि वह परिवार जिसमें महिलाएं पुरुषों पर आश्रित होती हैं, वह पूंजीवाद का ही परिणाम है। सामान्य शब्दों में, जैसे समाज कृषि से विकसित हुआ है, लोगों के पास संपत्ति बढ़ती गई है।

टिप्पणी

पूंजीवाद में, यह संपत्ति पुरुष विशेष के हाथ में संचित हो गयी है। (वे लोग जो फैक्ट्री और व्यवसाय चलाते हैं)। ये ही पुरुष लोग अपनी संपत्ति को अपने बच्चों को सौंपते हैं। ये निश्चित करने के लिए यह विरासत उनके बच्चों को मिले, पुरुष महिलाओं को नियंत्रण में रखते हैं, खासतौर से उनको परिवार में निर्भर बनाकर। इस तर्क के अनुसार, ये साफ है कि क्यों मार्क्स और एंगेल्स सलाह देते हैं कि महिलाओं को आर्थिक आजादी, जो कि नौकरी से मिल सकती है, बराबरी के लिए आवश्यक है? मार्क्स का विश्वास था कि महिलाओं को बराबरी समाजवाद के लिए आवश्यक है परंतु वर्ण संघर्ष की तुलना में इसको दूसरी प्राथमिकता दी गई है।

गृहकार्यों में बिना वेतन का काम और इसके उलटे नौकरी ये दोनों मिलकर पूंजीवादी पितृसत्ता को बढ़ावा देते हैं। बहुत सारे नारीवादी पुरुष और महिलाएं, ये मानते हैं कि आर्थिक और भावात्मक निर्भरता एक–दूसरे पर निर्भर करती है। आर्थिक असुरक्षा के डर की वजह से पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार हो जाता है। घर और कार्यस्थलों से पूंजीवाद को हटाना और समाजवाद लाना आवश्यक है। लिंग भेद और आर्थिक शोषण एक दूसरे को बढ़ावा देते हैं, इसलिए एक समाजवादी कार्यावली की आवश्यकता है जो दोनों को बदल सके। सामाजिक नारीवाद कामकाजी महिलाओं के साथ–साथ उन महिलाओं के लिए भी आकर्षक है, जिनको पूंजीवादी व्यवस्था में आर्थिक अवसर से बेदखल कर दिया गया है। लैटिन अमेरिका में काफी विस्तार हुआ है, साथ ही अनेक विकासशील देशों की महिलाओं के लिए भी ये शक्तिशाली जरिया बना हुआ है। ये स्पष्ट है कि इसकी सबसे साफ अभिव्यक्ति सोवियत संघ में हुई जहां पर महिलाओं ने घरेलू कार्य के साथ नौकरी भी की।

यद्यपि सामाजिक नारीवाद साफतौर पर मार्क्स के सिद्धांतों से जुड़ा है, परंतु इनमें कुछ व्यापक अंतर भी है। मार्क्सवाद संपत्ति और आर्थिक स्थिति पर आधारित है, वहीं सामाजिक नारीवाद लिंग और लैंगिकता पर जोर देती है। पुरुष और महिलाएं अपने ही लिंग समूह पर ध्यान देते हैं, इसलिए ये साफ नहीं कहा जा सकता कि समाजवाद का संघर्ष दोनों के लिए एक ही है। नारीवाद के लिए एक मानवोचित सामाजिक तरीके से एक आम सहमति से ये निर्धारित किया जा सके कि नए समाज का प्रारूप कैसा हो और पुरुषों को पुरुष के तौर पर क्या–क्या सुविधा त्याग करनी चाहिए?

महिलाएं पुरुषों की तरह ही मनुष्य हैं और दोनों को एक ही अक्षुण्ण प्राकृतिक अधिकार है। एक महिला की लैंगिकता उसके अधिकारों के लिए अप्रासंगिक है। महिलाएं पूर्ण समझदारी करने में सक्षम हैं और इसलिए वे सम्पूर्ण मानवीय अधिकारों की हकदार हैं। हालांकि, पश्चिमी औद्योगिक समाजों में भी महिलाओं से लिंग के आधार पर भेदभाव किया जा रहा है और उन पर प्रतिबंध रखा जाता है, इसीलिये महिलाओं को व्यक्तिगत इच्छाओं, हितों और योग्यता की जरूरत है। महिलाओं को पुरुषों के साथ समान अधिकारों से वंचित किया जा रहा है और एक समूह के रूप में उन्हें बहुत प्रकार की अनुमति या स्वतंत्रता नहीं है, जबकि एक समूह के रूप में पुरुषों को आनंद लेने के लिए अनुमति दी जाती है। इसके अलावा, पुरुषों के साथ न्याय हो रहा है, जबकि व्यक्ति के रूप में योग्यता के आधार पर, महिलाओं में उनकी उपलब्धियों

पर न्याय नहीं होता है और वे पुरुषों के साथ अपने हितों को आगे बढ़ाने में स्वयं को अधिकार से वंचित कर रही हैं।

कट्टरपंथी नारीवाद

टिप्पणी

कट्टर नारीवाद का उदय 1960 में, उदारवादी नारीवाद के नारी विरोधी पहलुओं को ललकारने के असफलता के प्रतिक्रिया के तौर पर तथा मार्क्सवाद में महिलाओं के रवैये के तौर पर हुआ।

कट्टर नारीवाद ने सैद्धांतिक ढांचा तथा राजनीतिक प्रथा से जुड़ी उदारवाद के साथ रूढ़िवादी मार्क्सवाद दोनों को गलत माना। कट्टर नारीवाद के अनुसार महिलाओं का उद्धार ऐसे सिद्धांत या प्रथा से नहीं हो सकता जिसमें संक्षिप्त मनुष्य के, उसके लिंग या श्रेणी से अलग अधिकार का प्रावधान हो। दूसरी तरफ, इसमें ये भी बताया गया है कि श्रेणी के उत्प्रेरण को महिला उत्प्रेरण या पूंजीवादी आर्थिक सामाजिक उत्पादन के तरीकों से तुलना सही नहीं है।

मार्क्सवाद के विपरीत, कट्टर नारीवाद मानता है कि महिलाओं का उत्प्रेरण, उत्प्रेरण का प्राथमिक और आधारभूत स्वरूप है। पितृसत्ता जोकि पुरुष प्रधानता का विस्तृत तंत्र है, ये पूरे इतिहासकाल में सामाजिक, शैक्षणिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में पुरुषों की प्रधानता को स्थापित करती है। महिलाओं का सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और वैचारिक पटल से अलग का उत्प्रेरण हुआ है। परिवार को महिलाओं के शोषण के एक साधन के रूप में देखा जाता है– जिसमें शारीरिक गुलामी, जबरदस्ती बच्चा पैदा करना आदि क्रिया जिसमें पुरुष महिलाओं के शरीर को नियंत्रित करता है। कट्टर नारीवाद पुरुष या स्त्री के जैविक अंतर को महत्व नहीं देता, परंतु उनके जो अर्थ दिए गए हैं, उनको नहीं स्वीकारता है। महिलाओं के उत्प्रेरण की जड़ या तो उनके जैविक मातृत्व की वजह से है या फिर पुरुषों के द्वारा निर्धारित आक्रामकता में।

कट्टर नारीवाद का मूल सिद्धांत मानता है कि लिंग असमानता पुरुष प्रधान स्वायत्त तंत्र की उपज है और लिंग विभेद सामाजिक भेदभाव का प्राथमिक परिणाम है। उनका मानना है कि हमेशा से लिंग के आधार पर भेदभाव हुआ है, जिसमें पुरुषों के आधिपत्य को जबरदस्ती थोपा गया है। पितृवाद एक सार्वभौमिक प्रथा है जिसमें पुरुष महिलाओं पर हावी रहते हैं। कट्टर नारीवाद मुख्य रूप से महिलाओं की मुक्ति का एक क्रांतिकारी आंदोलन है। इसके प्रवक्ताओं के अनुसार, समाज का कोई भी कोना पुरुष प्रधानता से अछूता नहीं है और इस वजह से महिलाओं की जिंदगी के हर वो पहलू, जिनको आज प्राकृतिक तौर पर देखा जाता है, उसको प्रश्न करके नए तरीके खोजने की जरूरत है। इस सिद्धांत के अनुसार, ये कार्यकारिणी का दूसरा क्षेत्र नहीं है जिसको समाज के अभिजात वर्ग करेंगे, बल्कि महिला प्रथा का अभिन्न अंग है। यह सिद्धांत प्रथा से ही आया है और इसको लगातार अनुभव के साथ मापने की ओर लगातार पुनः प्रतिपादित करने की जरूरत है। ये क्रांति, कट्टर नारीवाद अभी, और यहीं से शुरू होती है, जिसमें महिलाएं सकारात्मक पहल करके अपनी जिंदगी में बदलाव और उत्प्रेरण को समाप्त करेंगी।

टिप्पणी

कट्टर और क्रांतिकारी नारीवाद एकीकृत नहीं है। इसके मुख्य रूप से तीन कारण बताये हैं–

- नारीवाद राजनीति और व्यक्तिगत यौन आचरण– एक प्रमुख प्रश्न है कि क्या महिलाएं पुरुष के साथ रह सकती हैं या अलग होना आवश्यक है?
- लिंग भेद जैविक या सामाजिक है?
- कौन–सी राजनीतिक रणनीति अपनायी जाए–वापसी या क्रांति?

कट्टर नारीवाद ये नहीं मानता है कि महिलाओं की परतंत्रता जैविक कमियों के कारण है। वे स्वीकार नहीं करते कि महिलाओं को दोषी करार दिया जाए। वे जो जैविक कारणों की व्याख्या करते हैं, उनके अनुसार पुरुष जैविकता दोषी हैं– पुरुष प्राकृतिक रूप से आक्रामक होते हैं और वे अपनी इस आक्रामकता से महिलाओं को नियंत्रित करते हैं।

इस तरह के कार्यों में एक शक्तिशाली और प्रभावी उदाहरण Mary Daly के Gyn/Ecology में मिलता है। इस पुस्तक के एक भाग का उद्देश्य विभिन्न सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कर्मों में महिलाओं के उत्प्रेरण को दिखाना है। डॉली ने *Gyn/Ecology: The Meta-ethics of Radical Feminism* (1978) में पुरुषों द्वारा बहुत सी डरावनी आक्रामकता के द्वारा महिलाओं को प्रताड़ित करने को दिखाया गया है। इसमें उन्होंने भारत के सती, चीनियों द्वारा पैरों में रस्सी बांधना, अफ्रीकी जननांग विकृति, यूरोप के डायन और अमरीकी प्रसूतिशास्त्र को उदाहरण के तौर पर दिखाया है जिसमें पुरुषों ने जबरदस्ती महिलाओं का शोषण किया है, और हिंसा द्वारा महिलाओं को अधीन किया है और अभी भी करते हैं।

ये नारीवादी महिलाओं को सच्चे नारीत्व पर आधारित अपनी नयी पहचान बनाने को उत्साहित करते हैं, जो उनके जैविक प्रकृति पर आधारित हो, जिसे पितृवाद ने विकृत कर दिया है। महिलाओं को नई नारी रचनात्मकता को जिसका आधार परस्परता और अपनी पहचान हो, को मनाने के लिए उत्साहित किया जाता है।

ये लोग पुरुष और स्त्री के संयुक्त व्यवहार को अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि सबसे मूल्यवान विशेषता वो होती है जो सिर्फ महिलाओं में है। साथ ही चूंकि पुरुष महिलाओं से हर रिश्ते में हावी होते हैं, इसलिए महिलाओं को पुरुष से अलग रहना चाहिए। उनके अनुसार ये आदर्श महिलाओं को पितृसत्ता से स्वतंत्र कर देते हैं, जिसकी वजह से वे बंटे हुए हैं और नुकसान उठाते हैं।

डॉली, उन तर्कों का भी खंडन करती है जिसमें महिलाओं के साझा उत्प्रेरण को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में छुपाया जाता है और कहती है कि ये सभी प्रथा महिलाओं के सार्वभौमिक उत्प्रेरण के उदाहरण हैं। बाकी कई कट्टर नारीवादियों की तरह डॉली ने ये अंदेशा नहीं जताया है कि महिलाओं की उत्प्रेरण की वजह मात्र पुरुषों के प्रभुत्व और शक्ति को कायम रखने के लिए है। बाकी तर्कों से अलग, उनके अनुसार, पुरुषों की आर्थिक स्थिति नहीं, बल्कि पुरुषों द्वारा महिलाओं के शरीर और उनके मन या फिर उनके लैंगिकता और प्रजनन को नियंत्रण में लेने की वजह से पुरुष, स्त्री पर अधिकार दिखाते हैं। जब ये महिलाएं इन अंकुश से बच निकलती हैं तो वे तहस–नहस हो जाती

टिप्पणी

हैं, जैसे भारत में विधवा को सती प्रथा भुगतना पड़ता था। पुरुष ज्यादातर कोशिश महिलाओं को अपने लिए खतरा न बनने देने के लिए करते हैं और पितृसत्ता इसमें अहम है। कट्टर नारीवादियों के लिए महिलाओं की अधीनता मुख्य चिंता का विषय है और इनके सिद्धांत का उद्देश्य महिलाओं की इस पुरुष अधीनता को हटाना है। सामान्य धारणा है कि पुरुष हर क्षेत्र में महिलाओं से श्रेष्ठ है और इसीलिए महिला व पुरुष के रिश्ते शक्ति संस्थागत तौर से होते हैं, इसलिए ये राजनीतिक विश्लेषण का विषय हैं। कट्टर सिद्धांत का उद्देश्य ये उजागर करना है कि कैसे पुरुष अपनी शक्ति का दुरुपयोग जिंदगी के हर क्षेत्र जिसमें व्यक्तिगत संबंध भी है, जैसे– बच्चा पैदा करना, घरेलू काम, शादी और यौन उत्पीड़न इत्यादि के लिए करता है।

महिलाओं की अधीनता में समय और स्थान के साथ कुछ खास बदलाव नहीं हुआ है और इसे सार्वभौमिक तथा प्राथमिक तौर पर देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि महिला की इस अधीनता का लाभ पुरुषों को मिलता है। इससे ये साफ होता है कि महिला और पुरुष का संबंध राजनीतिक है, इसमें स्थायी और दूरगामी बदलाव के लिए यौन संबंधों में बदलाव की जरूरत होगी, जिससे महिलाओं की पुरुषों से अधीनता समाप्त होगी।

कट्टर नारिवादियों का तर्क है कि महिलाओं की संस्कृति, ज्ञान और विस्तृत जानकारी को पुरुषों द्वारा अस्वीकार किया गया है। पुरुषों ने अपने स्वार्थ से सच और मूल्य को परिभाषित किया है। पुरुष विज्ञान का इस्तेमाल करके महिलाओं को नीचा और घरेलू काम तक सीमित कर दिया है। समाजशास्त्र को भी इसी तरह पुरुषों द्वारा तोड़–मरोड़कर माना जा रहा है। इसलिए ये कट्टर नारीवादी इस समाजशास्त्र में भाग लेना नहीं चाहतीं, बल्कि इसमें बदलाव कर ज्ञान का उत्पादन इस तरह से हो कि महिलाएं अपनी विश्लेषणात्मक समझ का उपयोग कर सकें, उस पर जोर देना चाहती हैं।

ज्यादातर नारीवादी रिसर्च का संबंध पुरुषों द्वारा महिलाओं पर अत्याचार और पुरुष प्रधान सामाजिक तथा पितृसत्तात्मक मूल्यों द्वारा इनको छिपाने और कम करके आंकने पर केंद्रित है। इनकी चिंता इससे भी है कि कैसे महिलाओं की स्थिति को उजागर करके उनके इतिहास और सांस्कृतिक विरासत को हासिल करें, किस तरह उनके ज्ञान को ऐतिहासिक और सामाजिक तरीके से अवमूल्यित किया गया है इसको प्रत्यक्ष किया जाए।

इन्होंने ये भी दिखाने की कोशिश की है कि किस तरह करीबी–से–करीबी संबंध भी राजनीतिक हैं और शक्ति पर आधारित हैं। साथ ही उन्होंने पितृसत्तात्मक संबंधों के सार्वभौमिकता का दस्तावेज भी बनाया है किंतु ये लोग ये साफ नहीं कर पाए कि किस तरह पुरुष ने महिलाओं को अधीन और शोषित कर रखा है। ये लोग विभिन्न समाज में प्रचलित पितृसत्ता का भी सही से हिसाब नहीं लगा पाए। इसमें वे विभिन्न तबकों की महिलाओं के अनुभवों के अंतर को भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं। इनके जैविक स्पष्टीकरण, जोकि पुरुष प्रधान सिद्धांतकारों से बहुत अलग है और अत्यंत ही न्यूनीकारक है तथा विचारों और संस्कृति का वर्णन नहीं करता है। साथ ही इन्होंने सम–जैविक सिद्धांत को भी, जोकि बाकी नारीवाद के विपरीत है, इसको रखने का

टिप्पणी

मौका दिया है जिसमें महिलाओं की आजकल की गठित भूमिका को प्रकृति प्रदत्त माना है। तथापि, सभी कट्टर नारीवादी जैविक सिद्धांत को नहीं मानते। इनका तर्क है कि इसका निर्माण महिलाओं की अधीनता को उचित ठहराने के लिए किया गया है और जैविक आधारित लिंग के अस्तित्व का पुरजोर विरोध आवश्यक है।

महिलाओं की अधीनता को सार्वभौमिक और प्राथमिक रूप से देखा जा रहा है। काफी समय बीत जाने के बाद भी कई जगह पर यह बदलाव नहीं देखा गया। पुरुषों ने महिलाओं की अधीनता को स्वयं के लाभ के लिए बनाए रखा है। लिंगों के बीच संबंध इस प्रकार राजनीतिक है और किसी भी स्थायी तथा दूरगामी परिवर्तन से महिलाओं के ऊपर पुरुषों के वर्चस्व में बदलाव के लिए यौन संबंधों में परिवर्तन की आवश्यकता होनी चाहिए।

कट्टरपंथी नारीवादियों ने इस बात पर बहस की है कि महिलाओं की संस्कृति, महिलाओं के ज्ञान और महिलाओं की व्यक्तिपरक समझ में वे पुरुषों के बराबर हैं। पुरुषों द्वारा परिभाषित किया गया कोई भी तथ्य सच माना जाता है और उसे मूल्यवान विचार के रूप में देखा जाता है। नर–विज्ञान के आदर्श और विचारों का प्रयोग नारी को हीन और घरेलू मजदूर के रूप में दिखाने के लिए किया गया है। समाजशास्त्र को पुरुष परिभाषित, विकृत पुरुष संस्कृति के हिस्से के रूप में देखा जाता है। कट्टरपंथी नारीवादियों ने यह मत दिया है कि समाजशास्त्र में हम महिलाओं की व्यक्तिपरक समझ का पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं। उनके ज्ञान उत्पादन के तरीकों को एकत्रित किया जा रहा है तथा इसे परिणत करके उन्हें भाग लेने के लिए प्रेरित किया जा रहा हैं। ज्यादातर कट्टरपंथी नारीवादी शोध ने पुरुष हिंसा का विश्लेषण किया है कि सामाजिक विज्ञान और पितृसत्तात्मक मूल्यों ने महिलाओं को दोषी ठहराया है और महिलाएं पुरुष धारणाओं के समक्ष बहुत खराब स्थिति में हैं। कट्टरपंथी नारीवादियों ने भी महिलाओं के लिए अपने इतिहास और अपनी सांस्कृतिक विरासत को ठीक करने के लिए और महिलाओं के ज्ञान के लिए ऐतिहासिक एवं अन्य समाज का आंकलन किया है, जिसमें उनकी शोषण की कहानी को उजागर करने के तरीके बताए गए हैं।

कट्टरपंथी नारीवाद ने यह माना है कि सबसे अंतरंग और व्यक्तिगत संबंधों में भी शक्ति अवस्थाओं के रिश्ते रहे हैं, जिनके राजनीतिक तरीकों का पर्दाफाश किया गया है। इसके अलावा वे पितृसत्तात्मक रिश्तों की सार्वभौमिकता का दस्तावेज भी प्रस्तुत करते हैं। हालांकि, पर्याप्त रूप से महिलाओं का पुरुषों के द्वारा दमन और शोषण के तरीकों को समझाने में वे नाकाम रहे हैं। पितृसत्तात्मक रिश्तों को विभिन्न समाजों में पर्याप्त रूप से मौजूदा हालात को सुधारने में असफल रहे हैं। विभिन्न सामाजिक वर्गों में महिलाओं के प्रति मतभेदों के अनुभव पाए गए हैं। कट्टरपंथी नारीवादी सिद्धांतकारों ने जैविक स्पष्टीकरण द्वारा पुरुष धारणा विकसित की है, जोकि उन लोगों से बहुत अलग है। वे समान रूप से न्यूनीकरण कर रही विचारधारा और संस्कृति को पक्ष में लेने में असफल रहे हैं। इसके अलावा वर्तमान में गठित महिलाओं की भूमिका को स्वाभाविक रूप से निर्धारित किया जाता है और लोगों का तर्क यह है कि नारीवादी लोगों के मुद्दों को विकसित किए जाने के लिए सामाजिक–जैविक सिद्धांतों के द्वारा अवसर प्रदान किए जाएं, लेकिन सभी कट्टरपंथी नारीवादी जैविक सिद्धांतों को स्वीकार

टिप्पणी

करते हैं और वे महिलाओं की अधीनता का औचित्य साबित करने के लिए यह तर्क विकसित कर रहे हैं कि दो जैविक रूप से निर्धारित लिंगों के अस्तित्व के संबंध को चुनौती देने की आवश्यकता है।

समाजवादी नारीवाद

समाजशास्त्र के अनुशासन की स्थापना करने वाले कुछ विचारकों ने महिलाओं से संबंधित मुद्दों के लिए भाग लेने के लिए लोगों को प्रेरित किया है और यह बौद्धिक, राजनीतिक तथा सामाजिक उथल–पुथल माना गया था, जिसकी लहर नारीवादियों के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध आंदोलनों के साथ दिखाई देती थी। इसके बावजूद, इन विचारकों में से ज्यादातर अपनी व्यापक बहस से इस बात में एकीकृत थे कि परिवार, भावना और कामुकता के विषय में महिलाओं के मुद्दों से संबंधित तर्क सीमित हैं। उनके सिद्धांतों के लिए केंद्रीय ढांचे और प्रक्रियाओं को आकार देने के लिए सांस्कृतिक रूप से परिभाषित मर्दानगी का प्रभाव काफी हद तक गैर मान्यता प्राप्त था, जबकि वे तर्क अधिकतर पुरुष प्रधान संरचनाओं के महत्व पर केंद्रित थे। उनके सिद्धांत भी पुरुष प्रधान संरचनाओं के तटस्थ और निहित थे। इस प्रकार, क्या समाजशास्त्र के प्रारंभिक विचारकों के बारे में कहा जा सकता है कि लैंगिक मुद्दों पर विचार की प्रक्रिया परिधीय है कि नहीं? सबसे परे वे कहते हैं कि परोक्ष रूप से उचित लिंग असमानता सिद्धांत तैयार किया गया है।

उत्तर–आधुनिकतावादी नारीवाद

यह भी सामान्य रूप में फ्रेंच नारीवाद है, जो यूरोप में महिलाओं के आंदोलन के लिए पद–संरचनात्मक नारीवाद, नारीवादी के लिए मनोविश्लेषण, भाषा विज्ञान, मार्क्सवादी और मार्क्सवादी सिद्धांत, राजनीतिक सिद्धांत, जाति सिद्धांत, साहित्यिक सिद्धांत और अन्य बौद्धिक धाराओं सहित विभिन्न एपिस्टेमोलॉजिकल आंदोलनों की अंतर्दृष्टि के रूप में प्रयोग किया जाता है। पद–संरचनात्मक नारीवादियों का मानना यह है कि महिलाएं समाज के पारंपरिक पितृसत्तात्मक वर्चस्व के शक्तिशाली उपकरणों के साथ उनके संघर्ष में अधिकारी है।

उत्तर आधुनिक नारीवाद को बाद में आधुनिक संरचनात्मक सिद्धांत के साथ शामिल किया गया, जोकि नारीवादी सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य पर आधारित सिद्धांत है। नारीवादी सिद्धांतों की अन्य शाखाओं में से मुख्य शाखा लिंग का तर्क की भाषा के माध्यम से निर्माण किया गया है। सबसे उल्लेखनीय तर्क जूडिथ बटलर द्वारा उनकी किताब लिंग मुसीबत (1990) में किया गया है। वह सिमोन डी बेऔवोइर, मिशेल फूको और जैक्स लेकन के काम की आलोचना करते हैं। बटलर जैविक सेक्स और सामाजिक रूप से निर्मित लिंग के बीच पिछले नारीवादियों द्वारा किए गए मतभेदों की आलोचना करते हैं। उन्होंने कहा है कि इस समाज में पदार्थवाद की पर्याप्त आलोचना के लिए अनुमति नहीं हैं। बटलर के लिए महिलाओं की जाति, वर्ग, धर्म, कामुकता और सामाजिक स्थितियों के आधार पर पहचान के अन्य पहलुओं से जटिल मनुष्य की एक बहस का मुद्दा श्रेणीगत है। यह तर्क लिंग प्रकृति में क्रियात्मक है। यह तर्क है कि

टिप्पणी

पुरुषों द्वारा महिलाओं की अधीनता और इस मुद्दे का समाधान खोजने तथा उनसे निपटने के लिए कोई भी दृष्टिकोण नहीं है, जो किसी निष्कर्ष की ओर जाता है।

कुछ विद्वानों ने आत्मीयता से, पहचान पर विशेष रूप से जोर देने के लिए नारीवाद की परंपरागत धारणाओं की आलोचना की है। उत्तर आधुनिक नारीवादी सिद्धांत निर्माण करने के क्रम में रूपकों का इस्तेमाल द्वैतवाद और लिंग, नारीवाद और राजनीति की पारंपरिक अवधारणा की सीमाओं से परे बताया है। उत्तर आधुनिक नारीवादी विचारों में एक प्रमुख शाखा समकालीन फ्रेंच नारीवाद से उभरा है। कई अन्य नारीवादियों के बाद आधुनिक नारीवादियों ने कार्यों में भी केवल मूल विश्वासों की हास्यानुकृति के रूप में उन्हें चित्रित करने के लिए टकसाली लिंग भूमिकाओं पर प्रकाश डाला है। नारीवाद के इतिहास में इन लेखों का महत्व नहीं है, बल्कि भविष्य और वर्तमान में अपनायी जाने वाली गतिविधियां महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने इतिहास को खारिज करने और पौराणिक हास्यास्पद विश्वासों को चित्रित करने के लिए इसका इस्तेमाल किया है। विशेष रूप से, पश्चिमी मध्य वर्ग शिक्षा के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। हालांकि आधुनिकतावादी नारीवादी सिद्धांत बड़े पैमाने पर, मुख्य रूप से होने के रूप में उसकी आलोचना की गई है। मैरी जो फ्रूग, एक उत्तर–आधुनिकतावादी नारीवादी थी, जिन्होंने जाति और वर्ग के संबंधित मुद्दों को केंद्रित किया है और असावधान होने के रूप में मुख्यधारा नारीवाद की आलोचना की थी।

उत्तर–आधुनिकतावादी एक तरफ जटिल तरीके से नारीवादी सिद्धांतों के साथ जुड़े उत्तर–संरचनावादी विचार हैं। दूसरी तरफ, नारीवाद बराबर विषयों के पदों के लिए लड़ रहा था और उदार मानवतावादी परंपरा की जड़ों में थी, बल्कि एक दुःखद और सीमांत दृष्टिकोण के रूप में विखंडन के बाद संरचनात्मक सिद्धांतों के साथ हाथ मिलाया गया है।

अश्वेत नारीवाद

यह सिद्धांत पश्चिम में 1980 के दशक के दौरान उभरा। इसमें अश्वेत महिलाओं को उभारा गया, जिन्होंने श्वेत नारीवादियों के बीच दृष्टिकोण और प्रथाओं को चुनौती दी। श्वेत नारीवादियों पर अश्वेत नारीवादियों के जीवन पर नस्लवाद का प्रभाव पहचान करने के लिए और महिलाओं के आंदोलन के भीतर नस्लवाद को चुनौती देने, गंभीर रूप से महिलाओं के बीच मतभेद और असमानताओं को लेने के लिए इसका प्रयोग किया गया। यह महिलाओं के आंदोलन के खिलाफ विभिन्न नारीवादी सिद्धांतों के भीतर अंतर के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अश्वेत नारीवादियों ने अश्वेत महिलाओं पर अनुसंधान और सिद्धांत के अनुभव तथा दृष्टिकोण को केंद्र बनाया है। अश्वेत नारीवादियों ने आमतौर पर महिलाओं के बीच एक आम महिला संघ की मान्यताओं का विरोध किया है और पुरुषों को अत्याचारी के रूप में परिभाषित नहीं किया है। वे अश्वेत पुरुषों और महिलाओं के नस्लवाद के खिलाफ लड़ाई में राजनीतिक रूप से बाहरी बिंदु से एक साथ काम करना चाहते थे। ब्रिटेन और अमेरिका में कई अश्वेत नारीवादियों ने एक अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य पर साम्राज्यवाद का विरोध किया। 1980 के दशक के आखिरी और 1990 के दशक की शुरुआत में ब्रिटेन में उत्तर–संरचनावादी तथा उत्तर–आधुनिकतावादी सिद्धांतों के बढ़ते प्रभाव ने इन नए बौद्धिक दृष्टिकोण से

संबंधित नारीवाद का पता लगाने के लिए पहले से समाजवादी नारीवादियों के रूप में पहचान बनाने को बढ़ावा दिया।

टिप्पणी

समलैंगिक नारीवाद

समलैंगिक नारीवाद कट्टरपंथी नारीवाद के बाहर या भीतर से हुआ एक उप–विभाजन है, जिसे सिद्धांतों के रूप में देखा जा सकता है। इसने कामुकता, पहचान और राजनीति के साथ–साथ महिलाओं के अध्ययन और सांस्कृतिक अध्ययन के भीतर शैक्षणिक सिद्धांत के एक बढ़ते शरीर के बारे में सैद्धांतिकरण का एक बड़ा व्यापार उत्पन्न किया है। कुछ समलैंगिक नारीवादियों ने समलैंगिक सिद्धांत के दृष्टिकोण को आकर्षित किया है। 1990 के दशक में कुछ कट्टरपंथी नारीवादियों का सिद्धांत इस तरह से सुलभ है कि न ही नारीवादी कार्यकर्ताओं के लिए प्रासंगिक है और न तो उनका तर्क है। कुछ और बौद्धिक सार हैं, जो अन्य नारीवादियों के सैद्धांतिक कार्यों पर केंद्रित हैं, जिसकी आलोचना बहुत लोगों ने की है।

बहुसांस्कृतिक और वैश्विक नारीवाद

बहुसांस्कृतिक और वैश्विक नारीवाद वैसे साझा लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए महिलाओं को एक साथ काम करने तथा उनके अनुभवों में समानताएं और अवसरों की पहचान करने का प्रयास करते हैं, भले ही महिलाओं के मतभेद, असहमति और स्थित पहचान हो या न हो। बहुसांस्कृतिक नारीवाद और वैश्विक नारीवाद अक्सर एक–दूसरे के स्थान पर उपयोग में लाए जा सकते हैं। सच पूछिये तो, बहुसांस्कृतिक नारीवाद वैश्विक नारीवाद एक राष्ट्र–राज्य में महिलाओं के बीच जटिल संबंधों पर प्रकाश डाला गया और जबकि एक राष्ट्र–राज्य के भीतर रहने वाली महिलाओं के विभिन्न प्रकार पर केंद्रित अन्य राष्ट्र–राज्यों में महिलाओं को दर्शाया गया है। तथाकथित महिला तात्विकवाद, महिला वर्चस्व बहुसांस्कृतिक नारीवाद और वैश्विक नारीवाद दोनों के लिए आसान है। तथापि, नारीवादियों की पहचान की गयी और बाद में ऐसे नारीवादियों को खारिज कर दिया गया, जिन्होंने दो प्रमुख विचारधाराओं के लिए प्रतिरोध किया था। महिला तात्विकवाद आदर्शवादी रूप है और दुनिया में हर महिला को ठीक उसी तरह से अवतार लेने के लिए प्रयास करना चाहिए, जैसा वहां दृश्य मौजूद है। महिला वर्चस्व अपेक्षाकृत विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए प्रवृत्ति है, जो महिलाओं को कल्पना करने के लिए अच्छी तरह से शिक्षित करता है और श्वेत, पश्चिमी/उत्तरी, मध्य वर्ग, विषमलैंगिक महिलाओं को दुनिया को देखने का तरीका दिखलाता है।

बहुसांस्कृतिक नारीवाद का उदय

हालांकि, दुनिया के राष्ट्र–राज्यों में काफी सजातीय आबादी है। हालांकि, उनमें से बहुत कम आइसलैंड की जनसंख्या में है। अधिकांश राष्ट्र–राज्यों में बहुसंस्कृति हैं। उनकी ऐतिहासिक दृष्टि से निर्माण की सीमाओं के भीतर प्रवास, अप्रवास, मजबूर पुनर्वास, क्षेत्र जब्ती या दासता का एक परिणाम के रूप में अब दुनिया के एक या दूसरे भागों में स्थित है, जो लोगों की एक विस्तृत विविधता है। इन बहुसांस्कृतिक राष्ट्र–राज्यों में बड़ी मात्रा में, बहुसांस्कृतिक नारीवाद की अवधारणा सबसे पहले स्वयं के प्रति सजगता के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका में पैदा हुई।

टिप्पणी

इसीलिए, यह एक संदर्भ के रूप में किसी भी मान्यता और बहुसांस्कृतिक नारीवाद के विकास का विश्लेषण करने के लिए काफी अच्छा है।

अमेरिका में बहुसांस्कृतिक नारीवाद के महत्व की सराहना उद्‌भव और तेज प्रभुत्व के कारणों को समझना आवश्यक है। 1960, 1970 और 1980 के दशक के दौरान, अमेरिकी नारीवादियों ने पुरुषों और महिलाओं के बीच लिंग भेद पर मुख्य रूप से ध्यान केंद्रित किया। पश्चिम में, ऐसे आत्म–अभिकथन, समझदारी, न्याय की भावना, शारीरिक शक्ति और भावनात्मक संयम जैसे गुणों में इस तरह के अन्य लोगों, भावावेश, शारीरिक कमजोरी और देखभाल करने के लिए संयुक्तता के रूप में गुणों को मर्दानगी के साथ जुड़ने पर बल दिया, जोकि नारीत्व के साथ जुड़े थे। ये भी जैविक या सामाजिक निर्माण थे और मर्दाना लक्षण के विपरीत स्त्री लक्षण से बेहतर थे और इस बात पर बहुत बहस हुई।

महिला–पुरुष की बराबरी पर बहस

कुछ नारीवादियों ने बताया कि महिलाओं में पुरुषों के समान, बौद्धिक, शारीरिक एवं नैतिक क्षमता थी और महिलाओं को समान शैक्षिक और व्यावसायिक अवसर दिए जाने चाहिए। महिलाओं की पुरुषों से पूर्ण बराबरी हो सकती है। यह साबित करने की कोशिश की गई कि पुरुषों की तरह महिलाएं भी प्रमुख बड़े निगमों की कार्यकारी अधिकारी, सेना के जनरलों के पद पर न्यूरो सर्जन और फुटबॉल खिलाड़ी हो सकती हैं। अन्य नारीवादियों ने माना कि महिलाओं के साथ किया गया व्यवहार अच्छा नहीं है और यह समझा गया कि पुरुषों की तरह बनने की कोशिश करने के लिए किया गया मुकाबला ठीक नहीं था। वे पुरुषों और महिलाओं की समानता, दोनों की विभिन्न जरूरतों, हितों और मूल्यों को बराबर की मान्यता को आवश्यकता मानते हैं। महिलाओं को पुरुषों की तरह बनने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत, उन्हें पुरुषों से उनके अंतर की मान्यता मिलनी चाहिए।

नारीवादियों ने यह माना है कि पुरुषत्व और नारीत्व के बीच जानना बहुत महत्वपूर्ण था। नारीवादियों के लिए समानता महिलाओं के प्राथमिक लिंगवाद–परिप्रेक्ष्य महिलाओं को पुरुषों से मुकाबला करने में सक्षम नहीं हैं। इसके विपरीत, नारीवादी महिलाओं के लिए आदर्श यह है कि उनका पुरुषों की तरह हो जाना एक प्रकार का पुरुष केंद्रीय दृश्य था।

महत्वपूर्ण बात यह है कि, नारीवादियों के बीच समानता और अंतर पर बहस 1980 के मध्य से दृश्य में आया, क्योंकि उसका समाधान कभी नहीं किया गया था। लिंग के वर्ग पर नारीवादियों द्वारा विशेष ध्यान देने पर ही यह उभर कर आया। समलैंगिक महिलाओं ने और अन्य महिलाओं ने अकादमी में शोरगुल आयोजित किया अर्थात श्वेत, विषमलैंगिक, मध्यम वर्ग और अच्छी तरह से शिक्षित महिलाओं द्वारा एक खास तरह से सभी महिलाओं के लिए नारीवाद के मुद्दों को निर्धारित किया गया। कई महिलाओं के उत्पीड़न का मुख्य कारण लिंग ही होना जरूरी नहीं है। उसकी जाति, धर्म, वर्ग, यौन अभिविन्यास, आयु, स्वास्थ्य की स्थिति या शिक्षा के स्तर पर एक महिला का उत्पीड़न किया जा सकता है और उसकी मुक्ति इन सभी बातों पर निर्भर करती है।

टिप्पणी

सिर्फ इसलिए कि कॉर्पोरेट में रोजगार मिल सकता है, उपनगरों के कॉलेज से शिक्षित गृहिणियां घरेलू कर्तव्यों से आजादी की तलाश में शहरों की ओर जाना चाहती हैं। आमतौर पर, कुछ महिलाओं की अपनी लैंगिकता तथा उनकी प्रजनन क्षमता और जिम्मेदारियों से संबंधित उनके उत्पीड़न में सबसे बड़ी भूमिका रही है और सिर्फ इसलिए वे आगे नहीं बढ़ पाती हैं। कुछ महिलाओं के लिए लैंगिकता, नस्लवाद, जातिकेंद्रीयता, वर्गीयता, विषमलैंगिकता आदि उनकी दयनीय स्थिति में प्रमुख योगदान दे रहे हैं।

परिस्थितिजन्य वैषम्य

महिलाओं के मतभेद उसके रिश्तेदार की उपेक्षा और उसके एजेंडे में सबसे आगे करने के लिए महिलाओं की चिंताओं को बढ़ावा देने के लिए अपनी विफलता के बारे में पछतावा और अमेरिका शैक्षणिक नारीवाद अपनी प्राथमिकताओं को पुनरव्यवस्थित करने के लिए चुना गया। लैंगिकता को पुरुषकेंद्रीयता पर चर्चाएं, उत्पीड़न की अन्तर्ग्रथन प्रणाली (लिंग, जाति और वर्ग) को महिलाओं की दुविधाओं पर विचार–विमर्श के द्वारा बदल दिया गया था। एक विशेषाधिकार प्राप्त श्वेत महिला ने अपने जीवनकाल में एक गिलास में अपना सिर मारा होगा या दीवार में अपना सिर पटका होगा, क्योंकि उसे नौकरी कौशल, गंभीर मधुमेह, नैदानिक अवसाद और एक शराबी पति का सामना करना पड़ता है, परन्तु इसके विपरीत एक मूल निवासी अमेरिकी महिला को इसका सामना नहीं करना पड़ता है।

बहुसांस्कृतिक नारीवादी मानते हैं कि लैंगिकता, नस्लवाद, वर्गवाद, योग्यता, उत्कृष्टता–वास्तव में लोगों को आलिंगन से विभाजित करते हैं और उन्हें अपनी चपेट में जकड़कर गला घोट देते हैं। उत्पीड़न स्थिति के आधार पर स्वयं से किसी का पालन कराने में जानवर भी सक्षम होता है। ऐसे जानवर के आतंक का अंत किया जाना चाहिए, जोकि बहुसांस्कृतिक नारीवादियों के लिए उपयुक्त लक्ष्य है। बहुसांस्कृतिक नारीवादियों ने वंचित महिलाओं को अपनी चिंताओं के बारे में बताकर उन्हें शिक्षित करने का आग्रह किया है, लेकिन किसी रंग की महिलाओं और सीमान्त महिलाओं ने हमेशा इन विचारों का स्वागत नहीं किया है। उनकी जिम्मेदारी यह है कि वे विशेषाधिकार प्राप्त महिलाओं को ले जाकर उस भाषा में समझाएं, जिसमें विशेषाधिकृत महिलाएं समझती हों। इस तरह की विडंबना सामने आई है कि राज्य उस तरह के राज में योगदान दे रहा है, जिसमें अपेक्षाकृत विशेषाधिकार प्राप्त महिलाएं "हम" हैं और वंचित महिलाएं "वे" हैं। एक संबंधित मुद्दे पर कई वंचित महिलाओं का कहना है कि वे नारीवादी समूहों में इसलिए शामिल नहीं होना चाहती हैं, क्योंकि मुख्यरूप से ये समूह उन महिलाओं द्वारा चलाये जा रहे हैं, जो सुविधा प्राप्त करने में सक्षम हैं। वे महिलाएं जिनके हालात और अनुभवों की संभावना कम है, वे अपने संगठनों को शुरू करने के लिए ये काम शुरू करती हैं। अंत में, रंग और अन्य सीमान्त महिलाओं को या तो इसके बारे में गलतफहमी की वजह से या नारीवादियों की बजाय स्वयं की पहचान करने के लिए नारीवादी की पहचान का त्याग करना पसंद करती हैं। एलिस वाकर द्वारा नियोजित, "नारीवादी" एक खास तरह का शब्द है, जो पुरुषों के साथ ही महिलाओं की मदद करने की प्रतिबद्धता को संदर्भित करता है (वाकर, 1983)।

टिप्पणी

अपने सभी गुणों के लिए, बहुसांस्कृतिक नारीवाद के साथ कुछ समस्याएं हैं। सबसे पहले, संस्कृति शब्द का मतलब ठीक तरह से स्पष्ट नहीं है। कभी–कभी महिलाओं को, उनकी जाति या नस्ल के कारण, एक परंपरा या इतिहास के नाम पर सूचित करके उन्हें अन्य समूहों से अलग कर हिस्से के एक समूह को दर्शाया जाता है, लेकिन अन्य समय के, संस्कृति शब्द में उन महिलाओं को शामिल करने के लिए बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है, जो स्वयं के बारे में कुछ महसूस करती हों, जैसे उदाहरण के लिए, महिलाओं के साथ यौन अभिविन्यास या विकलांग शारीरिक स्थिति है और यही वो स्थिति है, जो उन्हें एक साथ बांध के रखती है और पूरे समूह को "हम" बनाती हैं।

संस्कृतिजन्य वैषम्य

किसी संस्कृति के भीतर अन्य संस्कृति की तुलना में महिलाओं के बीच मतभेद उनमें से कुछ महिलाओं के बीच की तुलना में अधिक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अच्छी तरह से शिक्षित एशियाई अमेरिकी महिला, जिसके करोड़पति महान दादा–दादी हांगकांग, सैन फ्रांसिस्को में आकर बस गए। एक एंग्लो अमेरिकन महिला, जिसके करोड़पति महान दादा–दादी ने वॉल स्ट्रीट पर बहुत पैसा बनाया, एशियाई अमेरिकी महिला, नव संयुक्त राज्य अमेरिका की महिलाओं के साथ तुलना में जो एक संघर्षरत लओटीएन गांव की एक महिला की तुलना में जिसमें कि उसने अपना बचपन उस बड़े परिवार में बिताया है, जोकि सूखी मुर्गियों की तरह था।

एक महिला को उसकी संस्कृति प्रमाणिक प्रतिनिधि बनाती है, या तो वह अपनी संस्कृति में औसतन एक ठेठ महिला हो, या इसके बजाय अपनी संस्कृति में सुविधापूर्ण महिला की तुलना में एक वंचित महिला हो। इन मुद्दों को एक भारतीय महिला उमा नारायण ने उठाया, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में आकर बस गयी और अब एक प्रतिष्ठित अमेरिकी विश्वविद्यालय में पढ़ा रही हैं। उन्होंने दावा किया है कि महिलाओं को नुकसान पहुंचाने में भारतीय सांस्कृतिक प्रथाओं के लिए उसके विरोध में अक्सर एक महिला पाश्चात्य संस्कृति के विचारों में सुधार करना चाहती है, जिन्होंने उनकी संस्कृति को धोखा दिया है, जबकि वास्तव में, कई महिलाएं और (पुरुष) जो भारत में रहते हैं और अपनी पैतृक संस्कृति में सुधार चाहते हैं (नारायण, 1997)।

संस्कृति इस हद तक जातीयता की दौड़ के साथ जुड़ी हुई है, जोकि संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुतायत संस्कृति के लोग हैं। 2,000 अमेरिकी जनगणना के अनुसार, 7 लाख लोगों ने एक से अधिक जाति या नस्ल के रूप में स्वयं की पहचान की। अब ज्यादातर लोग, अपनी बहु–नस्लीय और बहु–जातीय पृष्ठभूमि को गर्व से पहनते हैं। नस्ल और राष्ट्रीयता ने एक व्यक्ति के पसंदीदा संगीत, कपड़े, पदार्थ और जीवनशैली के लिए रास्ता बनाया है।

कुछ हद तक उपर्युक्त उठाए गए मुद्दों के एक सारांश के माध्यम से, यदि हम इसको पूरी तरह से सफल बनाना चाहते हैं, तो बहुसांस्कृतिक नारीवाद को श्वेत की अवधारणा पर जांच करने की अधिक जरूरत है। यदि जीवित, सांस, कार्बनिक एक परंपरा है, जोकि रिवाजों, धार्मिक मान्यताओं, संगीत, कलात्मक और साहित्यिक कृ

टिप्पणी

तियों, परिवार कहानियों को एक साथ बुनकर रखती है और आगे के लिए होती है, तो वहां श्वेत संस्कृति में कोई एकात्मकता नहीं है। ऐसा आवश्यक नहीं है कि श्वेत खाल वाले लोग श्वेत संस्कृति से ताल्लुक नहीं रखते, बल्कि वे उसमें भाग लेते हैं। उदाहरण के लिए, इटालवी अमेरिकी, आयरिश अमेरिकी, चेक अमेरिकी, हिस्पैनिक अमेरिकी समुदाय। ज्यादातर एक ही अश्वेत रंग की त्वचा या पीले रंग की त्वचा के लोगों के बारे में कहा जा सकता है, पर एक अश्वेत व्यक्ति का परिवार जो हाल ही में हेती, यूनाइटेड स्टेट्स में आकर बसा है और गुलामी के दिनों के बाद पहली बार यहां आया है, तो उस व्यक्ति के कैरेबियन के बजाय अफ्रीकी, अमेरिकी या ठीक इसके विपरीत रूप में अपनी संस्कृति की पहचान करना किस बात पर निर्भर करेगा। इसके विपरीत, एक अस्तित्वहीन श्वेत संस्कृति से आया एक "श्वेत" व्यक्ति, शासक सत्ता संरचना को बनाए रखने और अपने विशेषाधिकार बढ़ाने के लिए प्रयास करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में श्वेत शासक सत्ता संरचना तथ्यों का परिणाम है, अर्थात उन लोगों की तरह है, जो लगभग दो सदियों के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे अधिक आबादी वाले थे (वे श्वेत चमड़ी के हैं) और उन लोगों की तरह हैं, जो शुरू में अमेरिकी समाज के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थानों के नियंत्रण प्राप्त कर गए थे (वे भी श्वेत चमड़ी के हैं), लेकिन आज (अतीत के रूप में, हालांकि अभी तक एकमात्र कम करने के लिए) श्वेत त्वचा होना न ही पर्याप्त है और न ही अमेरिका के सत्ता कुलीन वर्ग में सदस्यता के लिए एक आवश्यक शर्त है। उदाहरण के लिए, गरीब श्वेत महिलाएं सामाजिक सुरक्षा जांच पाने के लिए अपनी दवाओं के बिल और उनके भोजन की लागत पर निर्भर नहीं हैं। वहां अभी भी "उन्हें" और "हम" जैसे शब्द विद्यमान हैं, लेकिन ऐसी धारणाएं अब अमेरिकी जनसांख्यिकी और व्यवहार के परिवर्तन होने से बदलने लगी हैं।

नारीवाद की वैचारिक समस्याएं एवं सीमाएं

बहुसांस्कृतिक नारीवाद के सामने वैचारिक समस्याएं हैं। इसने अमेरिकी नारीवाद को समृद्ध बनाया है। महिला अध्ययन पाठ्यक्रम को अब जाति और वर्ग के मुद्दों से अमूर्त मौजूद लैंगिक मुद्दों की दृष्टि से देखा जाता है। महिलाओं पर विषयगत पाठ्यक्रम कार्यकर्ताओं के द्वारा मिनेसोटा की किशोर आयु वर्ग की लड़कियों पर लेख लिखे गए हैं, जो अपने घरों से दूर चली गई हैं और अब अटलांटा के जोरदार लिंग उद्योग में अपनी जीविका चला रही हैं। अफ्रीकी, अमेरिकी महिलाओं ने फॉर्च्यून 500 कंपनियों में काम किया और अप्रकाशित मैक्सिकन अमेरिकी महिलाओं तथा टेक्सास विधायकों के लिए वे नौकरानियों के रूप में भी कार्य कर रही हैं। इन मुद्दों पर लेखों में से इस तरीके का पता चलता है कि कैसे एक महिला की उम्र, जाति और वर्ग के आकार में चर्चा की जाएगी? इसी तरह, प्रजनन को नियंत्रित तकनीकों (गर्भनिरोधक, नसबंदी और गर्भपात) और प्रजनन–सहायता तकनीकों (दाता गर्भाधान, इनविट्रो निषेचन और क्लोनिंग) तनाव के बारे में विचार–विमर्श के लिए इन प्रौद्योगिकियों का प्रयोग, विशेष रूप से महिला की जाति, वर्ग, आयु, यौन वरीयता, धर्म, वैवाहिक स्थिति से बहुत आगे है। कुछ महिलाएं या तो बच्चों को नहीं चाहतीं या बच्चों की संख्या पर नियंत्रण करना चाहतीं हैं। अन्य महिलाओं के लिए, हालांकि पुनः पेश करने का अधिकार प्रमुख चिंता का विषय है। नीति निर्माता और स्वास्थ्य देखभाल पेशेवर निष्फल तब तक रहते हैं, जब

टिप्पणी

तक अयोग्य माताओं, गरीब महिलाओं पर लंबी अवधि के गर्भ निरोधकों का उपयोग करने के लिए दबाव बनाया जाता है। इसके अलावा, बांझपन की समस्याओं के साथ गरीब महिलाओं की इच्छा हो सकती है कि वे अमीर महिलाओं की तरह इनविट्रो निषेचन की लागत में तेजी के बावजूद उसे खरीद सकती हैं। वे यह देखती हैं कि उनके बच्चे पैदा करने की इच्छा अमीर महिलाओं की तुलना में कम नहीं बल्कि तीव्र है। आश्वस्त महिलाओं और पुरुष को तरीके से समझ लेना चाहिए कि स्वयं और दूसरों की जाति, वर्ग और लिंग को सशक्त बनाने या वैकल्पिक रूप से उन्हें शक्तिहीन देखकर, बहुसांस्कृतिक नारीवादियों ने इन शैक्षिक कार्यक्रमों के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए महिला अध्ययन, नारीवादी अध्ययन और लिंग के अध्ययन के पाठ्यक्रम को बदलने की मांग की है। तेजी से, सामग्री और इन पाठ्यक्रमों में ग्रंथों का इस्तेमाल अच्छी तरह से हुआ है और तथ्य यह है कि 2030 के बाद, श्वेत के साथ अश्वेत त्वचा से भी अब अमेरिका की आबादी का बहुमत गठन होगा।

लोगों की संख्या के संबंध में कम–से–कम "वे" रंग–इच्छाशक्ति और "हम" बन गए हैं। बहुसांस्कृतिक नारीवादियों ने सामाजिक बदलाव के मामले में पाया है कि महिलाओं के लिए अवसरों में देखने की सभी दृढ़रूपी ढांचे से बाहर निकलने के लिए मानव वर्चस्व और परतंत्रता बाधक है, जिससे उनके विचार और कार्यवाही प्रतिबंधित हुई है।

वैश्विक नारीवाद

वैश्विक नारीवाद राष्ट्रीय सीमाओं से परे आंदोलनों के द्वारा लोगों के बदलाव के लिए काम कर रहे हैं। दुनिया तेजी से अन्योन्याश्रित हो रही है। वैश्विक नारीवाद का कहना है कि कोई महिला मुक्त तब तक नहीं है, जब तक दुनिया भर में महिलाओं पर अंधेरा समाप्त नहीं हो जाता है।

वैश्विक नारीवाद का स्वरूप

वैश्विक नारीवाद बहुसांस्कृतिक नारीवाद से अलग है, क्योंकि यह किसी एक राष्ट्र राज्य में केंद्रित नहीं है, बल्कि दुनिया में हर जगह महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करता है। बहुसांस्कृतिक नारीवादियों के साथ नारीवाद महिलाओं की संस्कृति में हुए मतभेदों को नजरअंदाज नहीं कर सकते। यह सहमति जताते हुए वैश्विक नारीवादियों ने दुनियाभर में महिलाओं के बीच गठजोड़ बनाने के लिए प्रयास किया है। आमतौर पर यह दो लक्ष्यों का हिस्सा है।

सभी के लिए मूलभूत सुविधाओं की व्यवस्था

पहला मुक्त विकल्प यह है कि महिलाओं के अधिकारों का सम्मान करने के लिए सभी राष्ट्रों को समझाने का प्रयास करना चाहिए और उनके प्रजनन, यौन क्षमता और जिम्मेदारियों से संबंधित मामलों के बारे में चर्चा होनी चाहिए। महिलाएं स्वयं के शरीर को नियंत्रित करने की क्षमता और अपने भाग्य के बारे में पूर्ण मनुष्य की तरह महसूस नहीं कर सकती हैं। दूसरा, वैश्विक नारीवादियों का लक्ष्य बराबरी है और एक से अधिक सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के साथ ही राष्ट्रीय स्तर बनाने के लिए महिलाओं और पुरुष को एक साथ लाने का प्रयास करना चाहिए। वैश्विक नारीवादियों के कार्यकर्ताओं

के साथ–साथ कई सिद्धांतकारों ने भी इस बात पर जोर दिया है। उनके हिसाब से एक नई विश्व व्यवस्था, जिसमें सभी लोगों को पर्याप्त भोजन, आवास, वस्त्र, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा और पूर्ण मानव जीवन जीने की आजादी मिलनी चाहिए।

टिप्पणी

महिलाओं की एकजुटता

वैश्विक नारीवादियों को यह एहसास है कि महिलाओं के क्रम में मजबूत वैश्विक समाज बनाने चाहिए तथा असमानताओं को दुनिया के अमीर लोगों और गरीब लोगों के बीच खत्म करने के लिए मौजूदा हालात होने चाहिए। उनके लिए, सार्वभौमिक महिला संघ इन मामलों की एक प्राकृतिक अवस्था है, जो किसी आदर्श को प्राप्त करने के लिए नहीं है। इससे पहले महिलाएं एक–दूसरे को गले लगाकर एक दल के रूप में एक साथ काम कर सकती हैं। उन्हें एक–दूसरे के साथ रहकर कड़ी मेहनत करनी चाहिए। सबसे बड़े अवरोधों के अलावा तथाकथित तीसरी दुनिया/प्रथम विश्व में स्वयं महिलाओं के बीच की दीवार एक बहुत बड़ी समस्या है।

शैक्षिक एवं आर्थिक पक्ष

प्रथम विश्व/तीसरी दुनिया का विपक्ष, जो तेजी से प्रतिस्थापित किया गया है, या तो विकसित देशों, नहीं तो विकासशील देशों के विपरीत उत्तर/दक्षिण विपरीत दुनिया के औपनिवेशिक अतीत की छाप है। उनकी शक्ति की वजह से, विकसित देशों में लोगों के रूप में स्वयं को देखने अन्य–पिछड़े, अनपढ़ और अज्ञानी के विपरीत, स्वयं प्रगतिशील साक्षर और प्रबुद्ध लोगों का विकासशील देशों में बदलाव हो रहा है। सैन्य और राजनीतिक रूप से दुनिया के विकासशील देशों को नियंत्रित करने की आकांक्षाएं अब नहीं रह गईं हैं, जबकि दुनिया के विकसित देश उन्हें आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से नियंत्रित करने पर पहले आमादा रहते थे।

एक विकसित राष्ट्र आर्थिक रूप से विकासशील देशों को नियंत्रित करता है और अब जिसे दक्षिणी ऋण के रूप में जाना जाता है। करीब 30 साल पहले, जब ब्याज दर अपेक्षाकृत कम थी, तब कई विकासशील देशों ने बड़ी मात्रा में पैसे उधार लिए थे। दुर्भाग्य से, ब्याज दरों में तेजी के कारण विकासशील देश अपने ऋण पर ब्याज का भुगतान करने में असमर्थ थे। विश्व की आर्थिक प्रणाली को दुर्घटनाग्रस्त होने से रोकने के लिए, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक ने कई विकासशील देशों के कर्ज में परिवर्तन की योजना के भाग के रूप में, वैश्विक आर्थिक प्रणाली में उनके एकीकरण की सुविधा के लिए उनकी अर्थव्यवस्थाओं की संरचना को समायोजित किया, ताकि उनके समय में बाहरी ऋण के वित्तपोषण के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा अर्जित की जाए। हालांकि, विकासशील देशों में अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के लिए ही यह संभव है। इसके परिणाम के रूप में, सबसे विकासशील देशों ने स्वयं को उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने में सक्षम नहीं किया है और उन्हें विकसित देशों (जग्गर, 2002) से आयात करने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इतना ही नहीं इन वस्तुओं की महंगाई बढ़ाई जा रही है, जिनमें नाइक के जूते, कैमल सिगरेट, कोका–कोला, फोर्ड कारों, लेवी की नीले रंग की जींस और डेल कंप्यूटर आदि शामिल हैं। अभी तक यह उत्तर से दक्षिण (बंच, 1984) की ओर बसने का संकेत कर रहा है।

टिप्पणी

महिलाओं के प्रति विकासशील और विकसित देशों का भिन्न दृष्टिकोण

वैश्विक नारीवादियों को लगता है कि महिलाएं पुरुषों की तुलना में अधिक हीनता की शिकार हैं। पुरुष उन्हें केवल अपनी सेवा के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं, जिससे कि दक्षिण एशिया के देशों में उनकी दुर्दशा अभी भी जारी है। इसके साथ, विकासशील देशों में कई महिलाओं द्वारा अपेक्षाकृत कम मजदूरी दर पर कार्य करने का चलन दिखाई दिया है और बहुतायत मात्र में महिलाएं सेक्स, पर्यटन उद्योग में काम करके परिवार चलाने के लिए संघर्ष कर रही हैं। महिलाओं के दुरुपयोग के पीछे विकासशील देशों के लोगों का बड़ा योगदान होता है, क्योंकि वे यात्राओं के दौरान महिलाओं की यौन सेवाओं के लिए भुगतान करते हैं।

इसी वजह से, विकासशील देशों में महिलाओं को अक्सर ज्यादा अवसर मिल रहे हैं। यदि हम यौन और प्रजनन की तुलना आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों से करें, तब हमारा ध्यान बाद में दिए गए मुद्दों पर ज्यादा जाता है। हम पाते हैं कि विकसित देशों में महिलाओं के हित में कदम उठाने की प्रवृत्ति अधिक है। महिलाओं की प्राथमिकताओं के अलग–अलग रूप तथा परिणाम हैं और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में महिलाओं की बातचीत को कभी–कभी अनदेखा कर दिया जाता है। वास्तव में, तीन में से एक अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन के दौरान संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रायोजित महिला दशक (1975–1985)– मैक्सिको सिटी–इन (1975), कोपेनहेगन (1980) और नैरोबी (1985), फोरम 85, में 157 गैर–सरकारी संगठन समूह उभरकर सामने आये, जो महिलाओं से जुड़ी समस्याओं के लिए बने थे। विकसित दुनिया के रूप में चिह्नित, पश्चिमी, उत्तरी या विकसित देशों से महिलाओं को एक तरफ तो अविकसित देशों या तीसरी दुनिया, पूर्वी, दक्षिणी भागों की महिलाओं को दूसरी तरफ रखा गया।

अन्य विकासशील देशों ने सौभाग्य से, 1995 में बीजिंग में आयोजित महिला सम्मेलन में वैश्विक नारीवादियों ने इस सांस्कृतिक प्रक्रिया का हल ढूंढने में महिलाओं की मदद की थी। वे उनके मतभेद तथा उनकी समानताओं की सराहना करते हैं। वैश्विक नारीवादी महिलाओं को एक साथ आकर्षित करने के लिए और विशिष्ट प्रकार के शैक्षिक उपकरणों का उपयोग करने के लिए अध्ययन कर रहे हैं। ब्राजील, मिस्र, मलेशिया, मेक्सिको, नाइजीरिया, फिलीपींस और संयुक्त राज्य अमेरिका में कम आय वाली शहरी महिलाओं पर यह अध्ययन किया गया है, जो अपने मतभेदों के बावजूद उन्हें उपयोग में लाते हैं। मां के रूप में उनकी प्रजनन पात्रता का औचित्य साबित करने के लिए नारीवादी तर्क देते थे, क्योंकि महिलाएं गर्भावस्था, प्रसव तथा बच्चे की जिम्मेदारियों का पालन कर जीवन का सबसे बड़ा बोझ सहन करती हैं और पुरुषों का इसमें कोई योगदान नहीं होता है। इन क्षेत्रों में (पेटचेस्की और जुड, 1998) नारीवादियों ने महत्वपूर्ण निर्णय लेने के अधिकार को महिलाओं के पक्ष में करने की वकालत की है।

हालांकि वैश्विक नारीवादी इसे महत्वपूर्ण मानते हैं कि राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संदर्भों से दुनियाभर में महिलाओं की विभिन्न स्थितियों का पता

टिप्पणी

लगाना आवश्यक है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि महिलाओं की जैविक विशेषताओं की कुछ स्थितियां दुनियाभर में एक समान हैं। वैश्विक नारीवादियों ने महिलाओं से यह आग्रह किया है कि यदि संभव हो तो, दूसरे देशों की यात्रा करें जहां नए चेहरें दिखे और किताबों, फिल्मों तथा वृत्तचित्रों के द्वारा एक–दूसरे के रोजमर्रा के जीवन के बारे में जानकार उसे अपनाया जाए, एक–दूसरे का साझा दोष और मृत्युदर को पहचानने में, वैश्विक नारीवादियों को लगता है कि महिलाओं के लिए पर्याप्त देखभाल करने के बारे में विश्व स्तर पर वर्चस्व, परतंत्रता, अहंकार, क्रूरता और उनसे जुड़े पुराने ढर्रे को नष्ट करने के उद्देश्य से नीतियों के उत्पादन को प्रेरित किया जाना चाहिए।

पर्यावरण नारीवाद

कुछ नारीवादी महिलाओं को पर्यावरण सक्रियता के क्षेत्र में तैयार किया जा रहा है। पर्यावरण नारीवाद के उत्प्रेरक, नारीवाद की एक नई शाखा है। पर्यावरण नारीवाद गिरावट और पारिस्थितिकी तंत्र की गिरावट के साथ महिलाओं के उत्पीड़न को जोड़ता है।

पृथ्वी–आधारित आध्यात्मिक कल्पना पर आकर्षित, पर्यावरण नारीवाद यह बतलाता है कि दुनिया की कॉर्पोरेट धर्मों की नैतिक जिम्मेदारी पितृसत्तात्मक प्रणाली को चुनौती देने के साथ ही भूमंडलीकरण करने की है, जिससे कि पृथ्वी पर लोगों की दरिद्रता कम हो सके (ट्रेमेने, 2001; रुएथेर, 2005)। यह साफ–साफ कहा जा सकता है कि पारिस्थितिक सद्भाव सभी प्रजातियों की समानता के सिद्धांत पर राजनीतिक कार्रवाई को बल के माध्यम से बहाल किया जा सकता है (बर्बेक, 2001)। अपने समग्र दृष्टिकोण और अपने सभी रूपों में अन्योन्याश्रय पर जोर देने के साथ, पर्यावरण नारीवाद वैश्विक नारीवाद के साथ विशेष रूप से अनुकूल है।

नारीवाद स्वयं से जुड़ी सभी शाखाओं व अन्य प्रासंगिक मुद्दों के साथ लिंग के संबंधों की सामाजिक श्रेणियों को जोड़ता है। प्रत्येक शाखा और समूहों के साथ सदस्यों का निर्माण लिंग की जरूरतों और प्राथमिकताओं के अनुसार किया गया है। इसी संबंध में बातचीत नारीवाद के विभिन्न प्रकार के निर्माणों का परिणाम है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. विवेक, शिक्षा, प्राकृतिक अधिकारों के ज्ञानोदय विश्वासों पर आधारित नारीवाद कौन–सा है?

   (क) उदार नारीवाद (ख) सांस्कृतिक नारीवाद

   (ग) मार्क्सवादी नारीवाद (घ) कट्टरपंथी नारीवाद

10. कट्टर नारीवाद का उदय कब हुआ था?

    (क) 1950 में (ख) 1960 में

    (ग) 1970 में (घ) 1980 में

टिप्पणी

1.7 आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद

आधुनिकतावादी विचारधारा का साहित्य, कला, आलोचना आदि विषयों पर काफी प्रभावपूर्ण रहा है। कुछ आलोचकों की व्याख्यानुसार उत्तर आधुनिकता साहित्य, कला, आलोचना आदि को नये ढंग से देखने का नजरिया है। इसमें किए गए शोध पहले के शोधों से उत्तम हैं। पूंजीवाद के विरोध में मार्क्सवादी दर्शन उभरा। उदारीकरण नीति के कारण राज्य कल्याणकारी भूमिका से दूर होते गए। फलस्वरूप आधुनिकतावाद का विकास हुआ। उत्तर आधुनिकतावाद अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों के कारण उत्पन्न हुआ। इसमें साहित्य को पढ़कर वर्तमानकाल का बोध होता है क्योंकि इसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते, बौखलाते, तड़पते, ठोकर खाते वास्तविक आदमी का वर्णन है। इस वाद में व्यक्ति का विचार निरंतर परिवर्तित होता रहता है।

आधुनिकतावाद

आधुनिकतावाद आलोचकों का एक वर्ग आधुनिकतावाद की व्याख्या करता हुआ कहता है– "आधुनिकता विविध सृजनात्मक विषयों (साहित्य, कला, आलोचना आदि) को नये ढंग से देखने का नजरिया है। इससे प्रभावित शोध अब तक किए जाते रहे शोधों से उत्तम हैं।"

आधुनिकतावाद धीरे–धीरे उत्तर आधुनिकतावाद के रूप में विकसित होकर तीसरी दुनिया के बुद्धिजीवियों को भी प्रभावित करने लगा। इस संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह ने कहा है कि, "कवियों या समीक्षकों की कलम से ऐसी काव्यधारा का जन्म होता दिखाई दे रहा है जिसमें अकविताओं को सम्मिलित करते हुए सन् 2000 तक के काव्य को विचार–कविता, आधुनिक बोध यानी 'आधुनिकतावादी कविता, उत्तर आधुनिकतावादी काव्य या फिर समकालीन बनाम उत्तर आधुनिकतावादी कविता नाम दिए गए हैं।" अस्तु ये सारे नाम एक ही अवस्था के पर्यायवाची हैं। उत्तर आधुनिकतावाद में 'उत्तर' का अर्थ है बाद का अर्थात पिछले दो तीन दशकों में साहित्य जगत में एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई, जो प्रयोगवादी या नई काव्यधारा से सर्वथा अलग है।

आधुनिकतावाद 'आधुनिकता' और 'वाद' दो शब्दों से बना है। इसका अर्थ है– आधुनिकता से संबंधित सामग्री। आधुनिकता अपने आप में भाववाचक संज्ञा है। आधुनिक के लिए अंग्रेजी में शब्द Modern है। अतः इसका मतलब है आज के युग से संबंधित विचारधारा।

आधुनिकतावादी संस्कृति ने अत्यधिक आलोचकों को भी उत्पन्न कर लिया। जो लोग अपने जीवन में संतुष्ट थे, इसने उनके पैरों के तले की जमीन खींच ली। सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था को भी इसने झकझोर दिया। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, मार्क्सवादी दृष्टिकोण तथा आधुनिक जीवन मूल्यों के कारण सामाजिक जीवन में जो एक ठहराव आ गया था उत्तर आधुनिक संस्कृति ने उस व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी।

टिप्पणी

आधुनिक चिंतन राजनीति, कला–साहित्य, समाजशास्त्र, जन आंदोलन आदि बिंदुओं से शुरू होकर परवर्ती पूंजीवाद को जन्म देता है। निष्कर्षतः आधुनिकतावाद को प्रभावित करने में पूंजीवाद का विशेष योगदान है।

उत्तर–आधुनिकतावाद

उत्तर आधुनिकतावाद अर्थात वह विचारधारा जो आधुनिक युग के बाद की है। दूसरे शब्दों में उत्तर आधुनिकतावाद वह विचारधारा है जो आधुनिक युग के भी बाद की उपज है। पाश्चात्य आलोचक टैरी ईगलटन ने इस संदर्भ में कहा है, "उत्तर आधुनिक सिद्धांत की लगभग प्रत्येक केंद्रीय लाक्षणिकता एक प्रमुख राजनीति पराजय की मनोकल्पित स्वीकृति से निकाली जा सकती है, जैसी यह थी, वैसी पढ़ी जा सकती है। यह वैसे ही है, मानो उत्तर आधुनिक संस्कृति के तथ्यों के साथ आमना–सामना होने पर, हम इससे हमारे रास्ते पर उस समय तक वापस लौट सकें जब तक कि सवाल में जो पराजय है हम उस तक न पहुंच जाएं।"

टैरी ईगलटन के मत में यथोचित आधुनिकतावाद, कथित उत्तर औद्योगिकतावाद, सजीव नयी ताकतों का उद्‌भव, सांस्कृतिक अग्रगामिता का पुनः प्रकोप, पण्यरूपों (Commodity Forms) द्वारा सांस्कृतिक जीवन का प्रतिच्छेदन, कला के लिए एक स्वायत्त भूमि क्षीण होते जाना, कुछ निश्चित शास्त्रीय बुर्जुआ विचारधाराओं का निःशेषन आदि सभी उत्तर आधुनिकतावाद के स्रोत हैं।

जब पूंजीवाद के जोरदार विरोध के कारण प्रत्येक राष्ट्र में मार्क्सवादी दर्शन पनपने लगा था तब 'क्रांति' की चर्चाएं होती रहती थीं लेकिन क्रांति यथार्थ रूप में हुई ही नहीं। यूरोपीय पूंजीवाद अपने स्थान से हिला तक नहीं। रूस जैसा राष्ट्र खंड–खंड हो गया। राष्ट्रीयकरण निजीकरण में परिवर्तित होने लगा। उदारीकरण की नीति के कारण राज्य कल्याणकारी भूमिका से परे साधारण जन से दूर हो गए। मानव जाति को छोटे–छोटे समूहों में बांटकर एक विशाल सामाजिक परिवेश का निर्माण हुआ। इसी पृष्ठभूमि में उत्तर आधुनिकतावाद का विकास हुआ। उत्तर आधुनिकतावाद अपने समय (युग) के अंतर्विरोधों, द्वंद्वों की उत्पत्ति है। उत्तर आधुनिक मानस की दिशाहीनता का चरम रूप एम टीवी के गानों के वीडियो के समान है जो इतने जल्दी बदलते हैं कि दर्शक उनको समझ ही नहीं पाता। उत्तर आधुनिकतावाद में हमारी सोच निरंतर परिवर्तनशील रहती है। हम एक क्षण के लिए किसी एक चिंतन धारा पर रुककर सोच ही नहीं पाते।

उत्तर आधुनिकतावादी, दुनिया जैसी है उसे वैसी ही स्वीकार करते हैं जिसमें एकता की जगह बहुलता, एकरूपता की जगह बहुरूपता है।

आधिभौतिक क्रांति के विचार की निंदा हो रही थी तथा सामूहिक विषय की धारणा का तिरस्कार हो रहा था। पूर्वी यूरोप में हुई उथल–पुथल ने पश्चिम की अनेक मान्यताओं को झूठा बना दिया। उसने उत्तर आधुनिकतावाद को पूंजीवाद के प्रति उदार समझकर उसका निराकरण किया। उत्तर आधुनिकतावाद में साम्यवाद की भूमिका कम रही बल्कि

टिप्पणी

यह पूंजीवाद का पक्षधर रहा। आज भी अधिकांश सरकारें पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के गीत गा रही हैं। सत्ता प्राप्त नेता यह बार–बार घोषणा कर रहे हैं कि उदारीकरण की नीति के कारण आज बहुलतावाद है, परिणामशीलता है और खुलापन है।

उत्तर आधुनिकतावाद और आधुनिक पूंजीवाद की सफलता में गहरा संबंध है क्योंकि इसी पूंजीवाद के कारण ही आज समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग गरीबी के स्तर से नीचे जी रहा है। गरीब अब भी जीवन की आवश्यक सुविधाओं से वंचित है। उधर मध्यम वर्ग अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए चालाक तरीकों को अपना रहा है।

उत्तर आधुनिकतावादी सोच व मीडिया

उत्तर आधुनिक मानसिकता ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ के कारण पैदा हुई। उत्तर आधुनिकतावादी मानसिकता इस स्थिति की ओर ध्यान नहीं देती। विचार विमर्श, पुस्तकीय चिंतन, सेमिनार और कांफ्रेंसों द्वारा लोगों की जिंदगी के बारे में चिंतन तो किया जाता है लेकिन उसे क्रियान्वित नहीं किया जाता। पूंजीवाद की जो विशेषताएं 21वीं सदी की जन संस्कृति का निर्माण कर रही हैं, वही उत्तर आधुनिकतावाद की छवि का निर्माण कर रही हैं।

सामाजिक जीवन के फलस्वरूप हम जीवन के मूलभूत मूल्यों को समझते हैं तथा संसार और अपने परिवेश को ढंग से देखते हैं। इसी प्रक्रिया द्वारा हमारी मानसिकता का विकास होता है। मानव द्वारा समाज के विरुद्ध विद्रोह के बाद भी उसकी विशेष मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं आता। यही कारण है कि जहां एक ओर पूंजीवादी ठहराव आ गया है वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जीवन में बिखराव आ गया है। इस स्थिति के पीछे धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। दूसरी तरफ शहरी जीवन काफी व्यस्त है और पूंजीवाद व्यक्ति केंद्रित मानसिकता को पुष्ट कर रहा है। वस्तुतः उत्तर मानसिकता के पीछे आज के पूंजीवाद के क्रियाकलाप ही उत्तरदायी हैं।

संक्षेप में मानव की प्राकृतिक मानसिकता को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था बढ़ावा दे रही है। यही कारण है कि आज प्रगतिशील ताकतें उत्तर आधुनिकता का सामना कर रही हैं। इस उत्तर आधुनिकतावाद के कारण आज यौन विकृतियां, व्यवस्था में टूटन, नैतिकता का हनन, भ्रष्टता, आतंकवाद, अनास्था, निराशा, महानगरीय बोध, धर्मयुद्ध, नारी फूहड़ता, दलित चेतना, शोषण, वर्ग संघर्ष, भूमंडलीकरण, उदारीकरण की नीति आदि प्रवृत्तियां विकसित हो रही हैं।

मीडिया संचार के कोने–कोने में पहुंच चुका है। सूचना और संचार के तकनीकी ज्ञान ने संसार को एक परिवार बना दिया है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्योग होने के नाते अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए (विज्ञापनों के सहारे) उत्तर आधुनिक मानसिकता के पनपने में योगदान कर रहा है। वस्तुतः पिछले कुछ वर्षों में मीडिया और तकनीकी विकास से लोक संस्कृति के लिए खतरा उत्पन्न हो चुका है। इससे पूर्व जन संस्कृति के निर्माण में लोगों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होता था।

टिप्पणी

अब मीडिया के कारण संस्कृति का निर्माण, विनिमय और उपयोग अलग–अलग चरणों में संपन्न हो रहा है। इन प्रयत्नों के पीछे पूंजीवाद काम कर रहा है। मीडिया के पास असीमित आर्थिक साधन व टेक्नोलॉजी है। अपने इन साधनों का प्रयोग संस्कृति उत्पादों को बेचने के लिए मंडी के विस्तार में संलग्न है। उदाहरण के रूप में इंग्लैंड की राजकुमारी डायना का मृत्यु से पूर्व कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं था लेकिन मीडिया ने रातों रात उसे महान बना दिया। उसकी मृत्यु मीडिया के लिए सोने की खान निकली। उसका अंतिम संस्कार संसार के देशों में लाइव दिखाया गया। आज के भारतीय मीडिया चैनल न केवल अंधाधुंध धन कमा रहे हैं, बल्कि राजनेताओं के भविष्य को बना रहे हैं या बिगाड़ रहे हैं। यही नहीं भारतीय संस्कृति पर भी मनमाना प्रभाव डालते हैं।

भूमंडलीकृत पूंजीवाद और उत्तर आधुनिकता

पूंजीवाद द्वारा पूरे विश्व को एक करने की कोशिश हो रही है। आज की आर्थिक स्थिति और उससे उत्पन्न विचारों के बारे में विचार करें तो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवाद ने पूरे समाज को लामबंद करने की कोशिश की। अमेरिका लंबे काल से आर्थिक विकास की ऊंची दर को अर्जित करता आ रहा था तथा साम्यवाद के विरुद्ध युद्ध में अन्य देशों को भी सम्मिलित करना चाहता था। पिछले दो दशकों में काफी परिवर्तन हुआ। संसार के विकासशील देशों में भी पूंजीवाद का लगभग भूमंडलीकरण हो चुका है और यही उत्तर आधुनिकतावाद को सर्वाधिक प्रभावित कर रहा है।

पूंजीवाद का भूमंडलीकरण न केवल उत्तर आधुनिकतावाद को जन्म दे रहा है बल्कि उसके परिणामों को भी बल दे रहा है। भले ही कुछ विद्वान उत्तर आधुनिकतावाद की कटु आलोचना करें और पूंजीवाद के विरोध में कोई आंदोलन भी चलाएं, इसके कारण हमारा समाज बेहतर बन पाएगा। इसी में से कोई न कोई मंगलकारी रास्ता निकलेगा।

अपनी प्रगति जांचिए

11. आधुनिकतावादी विचारधारा का किस विषय पर अधिक प्रभाव रहा?

    (क) साहित्य (ख) कला

    (ग) आलोचना (घ) ये सभी

12. उत्तर आधुनिकतावाद और आधुनिकतावाद की सफलता में किसका योगदान रहा?

    (क) भूमंडलीकरण (ख) उदारीकरण

    (ग) पूंजीवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

टिप्पणी

1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)
3. (ख)
4. (क)
5. (घ)
6. (घ)
7. (ख)
8. (घ)
9. (क)
10. (ख)
11. (घ)
12. (ग)

1.9 सारांश

प्राचीन शिक्षा बालक के मानसिक विकास पर बल देती थी, जिसके अनुसार केवल ज्ञानार्जन को ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य माना जाता था। आधुनिक शिक्षाशास्त्री व्यक्ति की प्रकृति का अध्ययन करते हुए मानसिक विकास के साथ ही उसके शारीरिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास पर भी बल देते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य है– बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा उसमें सामाजिक कुशलता के गुणों का विकास करना।

प्राचीन धारणा के अनुसार, पाठ्यक्रम में केवल उन विषयों को ही सम्मिलित किया जाता था, जिनके अध्ययन से बालक का मानसिक विकास हो जाए। इसका पाठ्यक्रम पूर्व निर्धारित होता था। आधुनिक युग में बालक के सर्वांगीण विकास हेतु पाठ्यक्रम संबंधी तथा सहगामी दोनों प्रकार की क्रियाओं एवं अनुभवों को सम्मिलित करके पाठ्यक्रम को लचीला तथा प्रगतिशील बनाया जा रहा है। संक्षेप में, आधुनिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत ज्ञानार्जन संबंधी विषयों की अपेक्षा सामाजिक अध्ययन पर बल दिया जाता है।

शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जीवन का सच्चा आनंद लिया जा सकता है। अतः यदि बालक को एक सुखी, संपन्न तथा प्रसन्न जीवन का आनंद लेने के योग्य बनाना है तो शिक्षा के संकुचित तथा व्यापक दोनों अर्थों का समन्वय करके शिक्षा प्रदान करनी होगी। दोनों अर्थों का प्रगतिशील समन्वय हो जाने से शिक्षा ऐसी प्रक्रिया के रूप में उपस्थित हो जाती है, जो चेतन अथवा अचेतन रूप से बालक की व्यक्तिगत रुचियों, क्षमताओं, योग्यताओं तथा सामाजिक आदर्शों को ध्यान में रखते हुए

शिक्षा प्रदान करता है। आवश्यकतानुसार स्वतंत्रता प्रदान करते हुए शिक्षा बालक का बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास इस प्रकार करती है ताकि व्यक्ति और समाज दोनों ही उन्नति के शिखर पर चढ़ते रहें।

टिप्पणी

शिक्षा अनवरत चलने वाली एक प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास तथा उसके ज्ञान एवं कला–कौशल में वृद्धि के द्वारा उसके व्यवहार में परिवर्तन करना है ताकि वह एक सभ्य एवं सुसंस्कृत नागरिक बनकर राष्ट्र के चहुंमुखी विकास में अपना योगदान दे सके।

चीन के दार्शनिक मानव को नीतिशास्त्र में दीक्षित कर उसे राज्य का विश्वासपात्र सेवक बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। प्राचीन भारत में सांसारिक अभ्युदय और पारलौकिक कर्मकांड तथा लौकिक विषयों का बोध होता था और परा विद्या से निःश्रेयस की प्राप्ति ही विद्या के उद्देश्य थे। अपरा विद्या से अध्यात्म तत्व का ज्ञान होता था। परा विद्या मानव की विमुक्ति का साधन मानी जाती थी। गुरुकुलों और आचार्यकुलों में अंतःवासियों के लिए ब्रह्मचर्य, तप, सत्य व्रत आदि श्रेयों की प्राप्ति परमाभीष्ट थी और तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालय प्राकृतिक विषयों के सम्यक ज्ञान के अतिरिक्त नैतिक शीलपूर्ण जीवन के महान उपस्तंभ थे। भारतीय शैक्षिक दर्शन का आध्यात्मिक धरातल विनय, नियम, आश्रम, मर्यादा आदि पर सदियों तक अवलंबित रहा।

शिक्षा से जीवन बनता है, संवरता है और नए निर्माण के क्षितिज उन्मुक्त होते हैं. यह सब तभी संभव है जब शिक्षा के उद्देश्य सही हों। दिशाहीन कार्य का कोई परिणाम नहीं निकलता चाहे वह कितना ही आवश्यक तथा श्रेष्ठ हो। यही बात शिक्षा पर भी लागू होती है। शिक्षा जीवन के लिए आवश्यक है लेकिन यदि यह निश्चित न हो कि इससे क्या हासिल करना है तो इसका भी कोई परिणाम नहीं निकलेगा। अतः यह उद्देश्य निश्चित होना आवश्यक है।

शिक्षा का क्षेत्र व्यापक है शिक्षा का संबंध व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से है। इस प्रकार जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो किसी ना किसी रूप में इसके क्षेत्र में नहीं आता हो। एक व्यक्ति के लिए शिक्षा के सभी क्षेत्रों में निपुण होना असंभव है। विभिन्न व्यक्ति शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट शिक्षा ग्रहण करते हैं। शिक्षा की प्रगतिशील बनाने के लिए हमें शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन की आवश्यकता होती है।

प्रकार्य एक ऐसा उपागम है, जिसमें विभिन्न सामजिक संस्थाओं, सांस्कृतिक विषयों आदि का उनके प्रकार्यों का अवलोकन करते हुए अध्ययन किया जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर की रचना विभिन्न अंगों के आपसी सम्बन्ध से होती है तथा इन अंगों का स्वयं का भी अलग–अलग कार्य होता है उसी प्रकार समाज की संरचना विभिन्न संस्थाओं, सदाचारों, रिवाजों आदि के अन्तःसम्बन्धों से होती है। इन सबके अपने कार्य होते हैं तथा समाज के रूप में संयुक्त हो जाने के बाद इनके अपने अलग कार्य हो जाते हैं। संरचनात्मक–कार्यात्मक उपागम से एक ओर तो संरचना को महत्वपूर्ण माना जाता है और दूसरी ओर इसके द्वारा सम्पादित प्रकार्यों का भी महत्व है।

टिप्पणी

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र में उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं समाजशास्त्र। इसकी उत्पत्ति 19वीं सदी के अंतिम दशक से मानी जाती है। इस सिद्धांत में अनेक उतार–चढ़ाव भी हुए हैं। वर्तमान प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इसका संशोधित रूप है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य को यहां तक पहुंचाने में अथवा इसके संशोधित स्वरूप के विकास में विभिन्न सामाजिक चिंतकों ने अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

सभी संस्कृतियों में पायी जाने वाली इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण के अलावा एक अन्य कृत्रिम वातावरण का भी निर्माण कर लेता है, जिसे संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति को समाकलित करने में कुछ सांस्कृतिक तत्व क्रियाशील होते हैं। आर्थिक विनिमय के स्वरूप तथा आनुष्ठानिक विनियमों में निहित पारस्पारिकता संस्कृति के ऐसे पक्ष होते हैं जो संस्कृति की समाकलित आवश्यकताओं को पूरा करता है और उसकी पूर्णता को बनाये रखता है। इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों के अस्तित्व और उनकी सार्थकता को उपर्युक्त आवश्यकताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है। प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न द्वितीयक अथवा व्युत्पन्न आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। व्यक्तियों द्वारा संस्कृति का सृजन होता है और उसको समाकलित स्वरूप प्रदान किया जाता है।

संघर्ष करना मानव समाज की एक प्रमुख प्रक्रिया है। संसार का प्रत्येक जीव, अपने अस्तित्व एवं स्वार्थवश, अन्य जीवों से टकराव की स्थिति में होता है। अपना अधिकार प्राप्त करना हो या अपने जीवनयापन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी हो प्रत्येक स्तर पर प्राणियों को संघर्ष करना ही पड़ता है। संघर्ष, किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की इच्छा के विरुद्ध किया गया प्रयत्न होता है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को दबाने या अपनी बात मनवाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का वर्तमान स्वरूप 'मनुष्य' भी संघर्ष का ही परिणाम है, क्योंकि वानर से मनुष्य बनने तक, हमने, प्रकृति के साथ एक लंबा संघर्ष किया है। "संघर्ष, जानबूझकर किया गया एक ऐसा प्रयास होता है जो किसी की इच्छा के विरोध करने या उसकी इच्छा के आड़े आने पर या उसे दबाने के लिए किया जाता है।" स्पष्टतः यह एक प्रयास है जो दूसरों को अपनी बात मनवाने के लिए विवश करने का काम करता है।

संघर्ष किसी एक निश्चित कारण से नहीं होता वरन् परिस्थितिजन्य होता है। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है एवं अपने स्वार्थों एवं उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए अपने अनुभव एवं अपनी महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप बुद्धि का प्रयोग करता है। जब मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती एवं स्वार्थ सिद्ध नहीं होता मनुष्य स्वयं ही टकराव एवं संघर्ष की स्थिति में आ जाते हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि कोई मनुष्य सीधे–सीधे ही टकराव या संघर्ष का रास्ता चयन करे। संघर्ष प्रारंभ होना भी एक सोपानदार प्रक्रिया होती है। कोई भी मनुष्य, यह प्रयास नहीं करना चाहता कि वह अनावश्यक किसी को हानि पहुंचाये, वरन प्रथमदृष्टया वह यह ही प्रयास करता है कि सरलतापूर्वक एवं बिना किसी को कोई हानि पहुंचाए अपना स्वार्थ पूर्ण हो जाए, परंतु जब वह वस्तु नहीं मिलती या आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य संघर्ष को ही एकमात्र मार्ग समझता है।

संघर्ष के अनेक परिणाम होते हैं परंतु इनमें सबसे प्रमुख है जन–धन की हानि। विश्व इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि उपरोक्त वर्णित पांच प्रकार के संघर्षों

टिप्पणी

के कारण लाखों व्यक्ति अकारण मृत्यु का शिकार हुए हैं तथा अनेक सभ्यताएं, संस्कृतियां भी नष्ट हो गई हैं। इतिहास से सबक लेते हुए यही प्रेरणा मिलती है कि संघर्ष अनिवार्य है परंतु यह अहिंसक होना चाहिए। प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में यदि शांतिपूर्वक विधि से संघर्ष किया जाता है तो संपूर्ण मानव समाज का हित होता है परंतु यदि हिंसक विधियों से असहयोग किया जाये तो यह मानव हित में नहीं है।

सांस्कृतिक प्रजनन की अवधारणा को पहली बार 1970 के दशक की शुरुआत में फ्रांसीसी समाजशास्त्री और सांस्कृतिक सिद्धांतकार पियरे बॉर्डियू द्वारा विकसित किया गया था। प्रारंभ में, बॉर्डियू का कार्य आधुनिक समाज में शिक्षा से संबंधित था, यह विश्वास करते हुए कि शिक्षा प्रणाली का उपयोग केवल प्रमुख वर्ग की संस्कृति को 'पुनः उत्पन्न' करने के लिए किया जाता था ताकि अभिजात वर्ग के लिए सत्ता लगातार बनी रहे।

संस्कृति को समाज का दर्पण एवं आधार के रूप में देखा जाता है। संस्कृति के द्वारा ही व्यक्ति एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति एवं इसकी विशेषताओं तथा चरित्र का सम्यक ज्ञान, समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति की प्रकृति का ज्ञान होने पर हम यह जान सकते हैं कि समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता के क्या कारण हैं अर्थात समाज में सांस्कृतिक विभिन्नता क्यों होती है। अतः हम कह सकते हैं कि विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में विभिन्नता पाई जाती है। संस्कृति का चरित्र यह होता है कि वह समाज में एकजुटता एवं सामूहिक समूह भावना को बनाए रखने में योगदान करती है।

अभौतिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति के सामने आगे बढ़ने का प्रयास सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। जब हम दूसरी संस्कृतियों के तत्वों से परिचित होते हैं तो उनकी नवीनता एवं उपयोगिता से प्रभावित होकर उन्हें अपनाने का प्रयास करते हैं। इसी से सामाजिक परिवर्तन होता है। दूसरी संस्कृति के तत्व अपनाने के प्रयास से हम अपनी मूल संस्कृति के प्रतिमानों को भी बनाए रखना चाहते हैं। यह द्वैधवृत्ति सामाजिक परिवर्तन का कारण मानी जाती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में यह संबंध इतना अधिक है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है उसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक पर्यावरण का सामाजिक पर्यावरण से प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है। प्रत्येक समाज में संस्कृति के दोनों अंग विद्यमान हैं। भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से नियंत्रित करती है।

समाजीकरण व्यक्ति को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाकर समाज की क्रियाओं में भाग लेने में समर्थ बनाता है। समाजीकरण की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की परिस्थिति व सामाजिक भूमिकाएं बदलती रहती हैं और उनके अनुरूप व्यवहार के लिए उसे आचरण

टिप्पणी

तथा व्यवहार के नये प्रतिमान सीखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बचपन में जहां बच्चा सामाजीकरण के माध्यम से माता–पिता, संबंधियों व बुजुर्गों से व्यवहार करना सीखता है, वहीं युवावस्था में उसे नये सिरे से दफ्तर में अपने सहयोगियों, वरिष्ठों, पड़ोसियों आदि से व्यवहार के तौर–तरीकों को सीखना पड़ता है। समाजीकरण को विभिन्न विचारकों और समाजशास्त्रियों ने सिद्धांतों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है जिनमें जी.एच. मीड, चार्ल्स कूले, इमाइल दुर्खीम प्रमुख हैं। मजबूत सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करके शिक्षा से छात्रों को समाज को समझने में मदद मिलेगी और वे विकास के संदर्भ में संस्कृति के महत्व को स्वीकार कर सकेंगे।

किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास उस देश की शिक्षा और संस्कृति पर निर्भर करता है। शिक्षा के अनेक आयाम हैं जो राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हैं। भारत में शिक्षा–व्यवस्था को संचालित करने वाली प्रबंधन इकाई के रूप में प्रशासन नाम की नई चीज जुड़ने से शिक्षा ने व्यावसायिक रूप ले लिया है। शिक्षण को आधुनिक घटना के रूप में देखा जा रहा है। इतिहास में भारत में ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु होते थे, अब शिक्षक हैं। शिक्षक और गुरु में भिन्नता है। गुरु के लिए शिक्षण व्यवसाय नहीं बल्कि आनंद था। शिक्षक अतीत से प्राप्त सूचना या जानकारी को आगे बढ़ाता है, जबकि गुरु ज्ञान प्रदान करता है। सूचना एवं ज्ञान में भिन्नता है। शिक्षा विकास की कुंजी है, विश्वास जैसे आवश्यक गुणों के जरिए लोगों को अनुप्राणित कर सकती है। विकसित एवं विकासशील दोनों वर्ग के देशों में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका समझी गई है। भारत में राष्ट्रीय शिक्षा–नीति को लेकर समय–समय पर बहस होती रही है।

समाजशास्त्र में, परिघटना दृष्टिकोण को अनुशासन के विकास के शुरुआती दौर में देखा जा सकता था, लेकिन इस सदी के तीसरे भाग में यह मुख्य सैद्धांतिक तथा कार्यात्मक विचारधारा बन गया है, भारी मात्रा में इसके प्रमुख अनुयायी देखे जा सकते हैं, जो विज्ञान में योगदान देने हेतु कड़ी मेहनत कर रहे हैं। परिघटना समाजशास्त्र, समाजशास्त्र के अनुभवसिद्ध आधार पर सवालिया निशान लगाता है, जिससे पारम्परिक सामाजिक ज्ञान की पर्याप्तता और सार्थकता चुनौती के दायरे में आ जाती है।

ब्लमर द्वारा 1937 में 'प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया' शब्दों का पहली बार इस्तेमाल किया गया था, इसके अलावा उन्होंने कई निबंध भी लिखे जो इसके विकास में सहायक बने। मीड ने शुरुआती प्रतीकात्मक परस्पर क्रिया को आचरण से अलग करने की कोशिश की, जबकि ब्लमर ने इसे दो पक्षोंके बीच युद्ध के रूप में देखा। ब्लमर के लिए, दोनों, आचरण और संरचनात्मक कार्यात्मकता का झुकाव मनुष्य के व्यवहार की रचना करने वाले कारकों पर केंद्रित था। उदाहरण के लिए, बाहरी उत्तेजनाएं और मानदंड। जहां तक ब्लमर का सोचना था, दोनों उस महत्वपूर्ण प्रक्रिया को अनदेखा करते थे जिससे अभिनेता, खुद को प्रभावित करने वाली ताकतों और अपने व्यवहारों को अर्थ प्रदान करते हैं।

नारीवाद एक सामाजिक आंदोलन है जो महिलाओं के लिए समान अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष को संदर्भित करता है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्य

आंदोलनों के साथ ही शुरू हुआ जैसे कि फ्रांसीसी क्रांति, संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्रता का युद्ध या अन्य उदारवादी क्रांतियां जो पश्चिमी दुनिया में हुए।

टिप्पणी

नारीवाद एक ऐसा विचार है जो कि पुरुष एवं स्त्री के मध्य असमानता को अस्वीकार कर नारी के सबलीकरण की प्रक्रिया को बौद्धिक एवं क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करता है। महिला स्वतंत्रतावादी आन्दोलन के विकास के साथ ही उनमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना बढ़ी है और महिला–विमुक्ति आन्दोलन के समर्थकों ने महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों का विरोध करना शुरू कर दिया है। महिलाओं का शोषण और उनकी राजनीतिक स्थिति महिलाओं की जैविक स्थिति से जुड़ी है। उदारवादी नारीवाद के अंतर्गत सिद्धांत पहले से ही विद्यमान थे। इस विचारधारा ने सरकार एवं कानून के माध्यम से नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने पर बल दिया।

नारीवादी सिद्धांत का उद्देश्य लैंगिक असमानता की प्रकृति एवं कारणों को समझना तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले लैंगिक भेदभाव की राजनीति और शक्ति संतुलन के सिद्धांतों पर इसके प्रभाव की व्याख्या करना है। स्त्री–विमर्श सम्बन्धी राजनीतिक प्रचार का जोर प्रजनन सम्बन्धी अधिकार, घरेलू हिंसा, मातृत्व अवकाश, समान वेतन सम्बन्धी अधिकार, यौन उत्पीड़न, भेदभाव एवं यौन हिंसा पर रहता है। स्त्रीवादी–विमर्श सम्बन्धी आदर्श का मूल कथ्य यही रहता है कि कानूनी अधिकारों का आधार लिंग न बने। नारीवाद के सिद्धांत के अंतर्गत मूलरूप से समानता एवं सबलीकरण के माध्यम से महिलाओं एवं पुरुष के मध्य व्याप्त सामाजिक असमानता को नकारना है। नारीवाद एक विचारधारा भी है और एक आन्दोलन भी।

नारीवाद में मुख्य रूप से तीन परंपराएं हैं– उदारवादी, समाजवादी तथा आमूल। रूढ़वादी तो समाज के पितृतंत्रीय ढांचे को चुनौती ही नहीं देते तथा लिंग के आधार पर सार्वजनिक–पुरुष व निजी–स्त्री के भेद को प्राकृतिक बताते हैं। प्रथम चरण से ही उदारवादी नारीवादी पुरुषों के बराबर महिलाओं को एक समान अधिकारों की मांग करते रहे हैं। उदारवादी नारीवादी के दार्शनिक आधार में यह सिद्धांत निहित है कि सभी व्यक्ति, पुरुष व महिलाएं एक समान हैं तथा इस कारण महिलाओं के लिए सार्वजनिक जीवन के द्वारा खोल दिए जाने चाहिए। उदारवादी नारीवादियों की सुधारवादी सोच के विपरीत समाजवादी नारीवादी महिलाओं के शोषण को पूंजीवादी व्यवस्था का फल मानते हैं।

अधिकतर नारीवादियों ने पितृसत्तात्मक प्रणाली की आलोचना करने पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। महिलाओं की तुलना में पुरुषों के पास समाज के संसाधनों का लाभ उठाने के बेहतर अवसर थे, इसीलिए पुरुष महिलाओं पर शक्ति का प्रयोग करने में सक्षम थे। व्यक्तिगत स्तर के साथ बड़े पैमाने पर भी लिंगों के बीच अंतरंग संबंध हमेशा से ही सत्तात्मक रिश्ते थे। कुछ व्यक्तियों ने बदलाव करके मदद भी की, लेकिन यह महिलाओं की मुक्ति तब तक नहीं ला सकता था, जब तक समाज की क्रियाओं में बदलाव नहीं लाया जाता।

वैश्विक नारीवाद बहुसांस्कृतिक नारीवाद से अलग है, क्योंकि यह किसी एक राष्ट्र राज्य में केंद्रित नहीं है, बल्कि दुनिया में हर जगह महिलाओं की स्थिति को

प्रभावित करता है। बहुसांस्कृतिक नारीवादियों के साथ नारीवाद महिलाओं की संस्कृति में हुए मतभेदों को नजरअंदाज नहीं कर सकते। यह सहमति जताते हुए वैश्विक नारीवादियों ने दुनियाभर में महिलाओं के बीच गठजोड़ बनाने के लिए प्रयास किया है।

टिप्पणी

आधुनिकतावाद 'आधुनिकता' और 'वाद' दो शब्दों से बना है। इसका अर्थ है– आधुनिकता से संबंधित सामग्री। आधुनिकता अपने आप में भाववाचक संज्ञा है। आधुनिक के लिए अंग्रेजी में शब्द Modern है। अतः इसका मतलब है आज के युग से संबंधित विचारधारा।

उत्तर आधुनिकतावाद अर्थात वह विचारधारा जो आधुनिक युग के बाद की है। दूसरे शब्दों में उत्तर आधुनिकतावाद वह विचारधारा है जो आधुनिक युग के भी बाद की उपज है। पाश्चात्य आलोचक टैरी ईगलटन ने इस संदर्भ में कहा है, "उत्तर आधुनिक सिद्धांत की लगभग प्रत्येक केंद्रीय लाक्षणिकता एक प्रमुख राजनीति पराजय की मनोकल्पित स्वीकृति से निकाली जा सकती है, जैसी यह थी, वैसी पढ़ी जा सकती है। यह वैसे ही है, मानो उत्तर आधुनिक संस्कृति के तथ्यों के साथ आमना–सामना होने पर, हम इससे हमारे रास्ते पर उस समय तक वापस लौट सकें जब तक कि सवाल में जो पराजय है हम उस तक न पहुंच जाएं।"

1.10 मुख्य शब्दावली

- **जटिल** : कठिन।
- **परिवेश** : वातावरण, माहौल।
- **दृष्टिकोण** : देखने का ढंग।
- **प्रादुर्भाव** : जन्म, दोबारा शुरुआत।
- **विलुप्त** : गायब, अदृश्य, नष्ट होना।
- **परखना** : जांचना।
- **सामंजस्य** : तालमेल।
- **प्रतिस्पर्धा** : मुकाबला, प्रतियोगिता।
- **अतीत** : भूतकाल, बीता हुआ समय।
- **प्रभुत्व** : सत्ता, अधिकार।
- **रवैया** : व्यवहार।
- **परिप्रेक्ष्य** : देखने या सोचने की दृष्टि।

1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. किन्हीं दो विद्वानों द्वारा प्रदत्त शिक्षा की परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. शिक्षा के दो उद्देश्य बताइए।

टिप्पणी

3. प्रकार्यवाद पर दृष्टिकोण देने वाले किन्हीं चार विद्वानों के नाम बताए।
4. संघर्ष के किन्हीं चार कारणों का उल्लेख कीजिए।
5. 'सांस्कृतिक प्रजनन' की अवधारणा देने वाले विद्वान का नाम बताइए।
6. नारीवादी आंदोलन के इतिहास को कितने कालखंड़ों में बांटा जा सकता है।
7. परिघटनावादी क्रियावाद क्या है? संक्षेप में बताइए।
8. उत्तर आधुनिकतावाद पूंजीवादी व्यवस्था को कैसे प्रोत्साहित करता है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. शिक्षा का अर्थ, प्रकृति एवं उद्देश्यों का विश्लेषण कीजिए।
2. प्रकार्यवाद की अवधारणा, विशेषताओं एवं विभिन्न दृष्टिकोणों का वर्णन कीजिए।
3. संघर्ष के कारण, प्रकार एवं परिणामों की विवेचना कीजिए।
4. 'सांस्कृतिक प्रजनन' अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
5. संस्कृति के सभी पक्षों का विश्लेषण कीजिए।
6. प्रतीकात्मक क्रियावाद एवं अन्योन्यक्रियावाद का व्याख्यात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
7. सामाजिक सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में नारीवादी आंदोलनों एवं सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
8. आधुनिकतावाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जॉनसन, एच. एम., *सोशियोलॉजी : एक सिस्टमैटिक इंट्रोडक्शन*, अलॉइड पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1970।
2. किओनिंग, सैमुअल, *सोशियोलॉजी : एन इंट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ सोसायटी*, बार्न्स एंड नोबल बुम्स, न्यूयॉर्क, 1957।
3. बॉटोमोर, टी. बी., *सोशियोलॉजी : ए गाइड टू प्रॉब्लम्स एंड लिट्रेचर*, ब्लैकी एंड सन पब्लिशर्स प्रा. लि., बॉम्बे, 1983।
4. डेविस, किन्ग्ले, *ह्यूमन सोसायटी*, सुरजीत पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1981।
5. श्रीनिवासन, एम. एन. *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया*, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्फीली, 1966।
6. सिंह, योगेन्द्र, *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन*, थॉमस प्रेस, फरीदाबाद (हरियाणा), 1973।

इकाई 2 समाजीकरण, परिवार और सामाजिक वर्ग

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 समाजीकरण, परिवार एवं सामाजिक वर्ग
2.3 समाजीकरण और शिक्षा
  2.3.1 समाजीकरण
  2.3.2 शिक्षा का समाजीकरण से सम्बन्ध
2.4 राज्य, विचारधारा और शैक्षिक नीति
2.5 राष्ट्रीय शिक्षा नीतियां : अर्थ, पृष्ठभूमि, लक्ष्य एवं मूल्यांकन
  2.5.1 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तथा 1979
  2.5.2 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986
  2.5.3 राममूर्ति समीक्षा समिति, 1990 का प्रतिवेदन
  2.5.4 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020
2.6 शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण
2.7 सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता
  2.7.1 सामाजिक परिवर्तन : कारक, प्रक्रिया एवं प्रतिमान
  2.7.2 सामाजिक गतिशीलता
2.8 एक प्रणाली के रूप में स्कूल और एक प्रक्रिया के रूप में स्कूली शिक्षा
  2.8.1 भाषा एक निर्देशन के रूप में
  2.8.2 पाठ्यचर्या और समझ
  2.8.3 पाठ्यचर्या : अर्थ एवं परिभाषा
  2.8.4 पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत
  2.8.5 आकलन और मूल्यांकन
  2.8.6 परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में शिक्षक
2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.10 सारांश
2.11 मुख्य शब्दावली
2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

समाजीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से लगाया जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अंतःक्रिया करता हुआ सामाजिक आदतों, विश्वासों, रीति–रिवाजों तथा परंपराओं को सीखता है। इस क्रिया के द्वारा वह अपने आपको, अपने परिवार, पड़ोस तथा अन्य सामाजिक वर्गों को जन कल्याण की भावना से प्रेरित होते हुए अनुकूल बनाने का प्रयास करता है, जिससे वह समाज का एक श्रेष्ठ, उपयोगी तथा जिम्मेदार सदस्य बन जाए और सभी उसकी प्रशंसा करें। बच्चे के समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म के कुछ दिन बाद से ही शुरू हो जाती है। उसके समाजीकरण की प्रक्रिया परिवार से आरंभ होती है। अनुकरण के आधार पर वह माता–पिता, भाई–बहन आदि की

टिप्पणी

भूमिका को सीखता है। इस प्रकार वह स्वयं के बारे में भी समझने लगता है। इससे उसके स्वयं का विकास होता है जो समाजीकरण का एक आवश्यक तत्व होता है।

सामाजिक वर्ग समाज में आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं का समूह है। सामाजिक विज्ञान में सामाजिक वर्ग की अकसर सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में चर्चा की जाती है। समाज एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। प्रत्येक समाज में चाहे अनचाहे रूप से परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। विश्व में ऐसा कोई समाज नहीं जो परिवर्तन से अछूता रहा हो। परिवर्तन समाज का एक शाश्वत नियम है। यह समाज के आंतरिक तथा बाहरी या संरचनात्मक दोनों पक्षों में हो सकता है।

किसी भी समाज में तब तक विकास संभव नहीं होता जब तक शिक्षा व्यवस्था ठीक नहीं हो जाती। किसी भी देश की उन्नति में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। देश की शिक्षा व्यवस्था तब तक विकसित नहीं होती जब तक उसे राज्य के द्वारा वित्तीय सहायता या कोई संरक्षण प्राप्त न हो।

प्रस्तुत इकाई में समाजीकरण एवं सामाजिक वर्ग के अंतर्गत राज्य में शैक्षिक नीति, शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक गतिशीलता, स्कूली व्यवस्था एवं प्रक्रिया आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- समाजीकरण परिवार एवं सामाजिक वर्ग के बारे में जान पाएंगे;
- राज्य की विचारधारा और शैक्षिक नीति को समझ पाएंगे;
- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से अवगत हो पाएंगे;
- स्कूली व्यवस्था एवं प्रक्रिया के अंतर्गत भाषा तथा पाठ्यचर्या को समझ पाएंगे;
- परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में शिक्षक की भूमिका को जान पाएंगे।

2.2 समाजीकरण, परिवार एवं सामाजिक वर्ग

समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य समाज के विभिन्न व्यवहार, रीति–रिवाज, गतिविधियां सीखता है। जैविक अस्तित्व से सामाजिक अस्तित्व में मनुष्य का रूपांतरण भी समाजीकरण के माध्यम से ही होता है। समाजीकरण के माध्यम से ही वह संस्कृति को आत्मसात करता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया से सम्बंधित सामाजिक संस्थाएं निम्नांकित हैं – (क) घर – परिवार, विवाह (ख) पड़ोस – समुदाय, विद्यालय (ग) सहकर्मी समूह (घ) सामाजिक वर्ग (च) धर्म (छ) संस्कृति।

यहां हम समाजीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में परिवार एवं सामाजिक वर्ग के महत्त्व का अध्ययन करेंगे।

परिवार

टिप्पणी

हर बच्चा एक परिवार में पैदा होता है। घर या परिवार पहली सामाजिक संस्था है जिसके साथ बच्चा संपर्क में आता है। परिवार के अन्य सदस्यों, माता–पिता, भाई–बहन और अन्य लोगों के साथ बातचीत, बच्चे के व्यक्तित्व और उसके सामाजिक व्यवहार पर एक स्थायी प्रभाव डालती है।

फ्रायड द्वारा पहली बार बच्चे के सामाजिक व्यवहार पैटर्न को आकार देने में परिवार, विशेष रूप से माता–पिता की भूमिका पर प्रकाश डाला गया। इसमें कोई संदेह नहीं, कि माता–पिता और बच्चों के बीच व्यवहार पैटर्न में समानता बहुत पहले से ज्ञात थी। लेकिन अधिकतर यह माना जाता था कि यह समानता आनुवंशिक या वंशानुगत कारकों के कारण थी। फ्रायड ने पहली बार इस घटना का विश्लेषण किया और दिखाया कि इस घटना के लिए आनुवंशिक और वंशानुगत कारक जिम्मेदार नहीं हैं।

मनोविश्लेषण सिद्धांत के योगों का उपयोग करते हुए, फ्रायड ने बच्चे के व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवहार के विकास पर माता–पिता के व्यवहार और बचपन के आरम्भिक अनुभवों के प्रभाव को समझाने का प्रयास किया। "परिवार लघु रूप में समाज है", ऐसा फ्रायड ने माना। उपरोक्त कथन समाजीकरण प्रक्रिया में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालता है।

युवा जानवर की तुलना में एक मानव बच्चा परिवार पर बहुत अधिक और लंबे समय तक निर्भर रहता है। यह तथ्य काफी हद तक समाजीकरण की प्रक्रिया में घर की स्थायी और महत्वपूर्ण भूमिका के लिए जिम्मेदार है। व्यक्तित्व विकास के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत ने इस बात को उजागर करने का प्रयास किया कि कैसे खेल व्यवहार, शौचालय प्रशिक्षण और बच्चे के पालन के अन्य रूप जैसे बुनियादी और स्पष्ट रूप से गैर–सामाजिक संपर्क, बच्चे की शैली और सामाजिक व्यवहार के तरीके को बहुत प्रभावित कर सकते हैं।

इस संबंध में फ्रायड के मूल निष्कर्ष नैदानिक अनुभवों पर आधारित थे। इसके बाद, विभिन्न समुदायों और समाजों में बाल पालन प्रथाओं पर कई अध्ययन किए गए, जिसका उद्देश्य प्रचलित बाल पालन प्रथाओं और वयस्क चरित्र की प्रकृति के बीच संबंधों को समझना था।

विभिन्न प्रणालियों के अनुरूप कई शोध किए गए जिनसे यह सुनिश्चित हुआ कि विभिन्न प्रकार के मानसिक विकार प्रारंभिक बाल्यावस्था और बाल अनुभवों तथा बाल पालन प्रथाओं से संबंधित हो सकते हैं। जैसेकि रेने स्पिट्ज़ द्वारा अति–सुरक्षात्मक विधि द्वारा माताओं द्वारा बच्चों के लालन–पालन एवं परिणामस्वरूप बच्चों के सिजोफ्रिनिक होने के सम्भावना को सम्बद्ध किया जाना उल्लेखनीय है।

सियर्स, बाल्डविन और अन्य लोगों द्वारा सामान्य बच्चों पर किए गए अध्ययनों से यह पता चला है कि माता–पिता की ओर से बच्चे के व्यवहार और व्यवहार के चरम रंगों का बच्चों के सामाजिक व्यवहार को आकार देने में एक निश्चित प्रभाव है। इस दिशा में जांच किए गए कुछ व्यवहार प्रतिमान अधिनायकवाद, आक्रामकता और निर्भरता हैं।

टिप्पणी

यह पता चला है कि कुछ व्यक्तियों के हिस्से पर आक्रामक सामाजिक व्यवहार निश्चित रूप से बच्चे के पालन के कुछ विशिष्ट पैटर्न से जुड़ा हुआ है। इसी तरह, निर्भरता एक अन्य सामाजिक व्यवहार विशेषता है जिसकी बड़े पैमाने पर जांच की गई है।

अक्सर कहा जाता है कि 'एक बीमार बहू एक क्रूर सास बन जाती है।' लोग, जो अत्यधिक असहाय और आश्रित हैं, वे बहुत बार ऐसा करते हैं, क्योंकि वे या तो अतिरंजित और अतिशीत हो चुके होते हैं और परिणामस्वरूप उन्होंने स्वतंत्र होना और जिम्मेदारियों को स्वीकार करना नहीं सीखा है, या क्योंकि; उन्हें खारिज कर दिया गया था, उनकी अच्छी देखभाल नहीं की गई थी, पालन अभ्यास के दौरान कोई ध्यान या संबंधों की ऊष्णता नहीं मिली थी।

इस संदर्भ में किये गए शोध शायद बाल पालन प्रथाओं और अन्य सामाजिक व्यवहार के बीच संबंधों का एक सुसंगत सेट स्थापित करने में सक्षम नहीं हैं फिर भी, उनके परिणाम यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि बचपन के वर्षों के दौरान घर पर समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के वयस्क सामाजिक व्यवहार पर एक अमिट छाप और प्रभाव छोड़ती है।

सामाजिक वर्ग

सामाजिक वर्ग या जिसे हम 'सामाजिक–आर्थिक वर्ग' कह सकते हैं, एक अन्य कारक है जो समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह स्वाभाविक है क्योंकि माता–पिता द्वारा अपनाई गई बाल पालन की आदतें, सामाजिक वर्ग के अनुसार बदलती हैं।

इसके अलावा, घर पर जीवन की प्रकृति भी सामाजिक वर्ग के अनुसार भिन्न होती है। उच्च सामाजिक वर्ग के घर के एक बच्चे को समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और टेलीविजन जैसे मीडिया की अधिक सुविधा मिलती है इसलिए ऐसे बच्चे की द्वितीयक समाजीकरण की प्रक्रिया होने की अधिक सम्भावना होती है।

निम्न आय वर्ग के परिवारों से आने वाले बच्चों के साथ ऐसा नहीं है। इसके अलावा, परिवार के सदस्य जिस प्रकार के लोगों के साथ बातचीत करते हैं, वह भी सामाजिक वर्ग पर निर्भर करता है। उच्च वर्ग के घरों के बच्चे अधिक यात्रा करते हैं, अधिक पढ़ते हैं, अपने माता–पिता के साथ पार्टियों में भाग लेते हैं तथा क्लबों की यात्रा करते हैं जबकि निम्न आय वर्ग के बच्चों को यह सब सुलभ नहीं होता।

ये सभी कारक समाजीकरण की प्रक्रिया में अंतर लाने हेतु योगदान करते हैं और अंततः विभिन्न प्रकार के सामाजिक व्यवहार को सामने लाते हैं। थोरस्टेन वेबलन ने एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है जिसे वे "अवकाश वर्ग" का सिद्धांत कहते हैं।

उनके अनुसार, "आज की दुनिया में, उच्च आय वर्ग के लोग 'विशिष्ट उपभोग और विशिष्ट अवकाश को काफी महत्व देते हैं।" उच्च आय वर्ग के लोग न केवल अधिक उपभोग करते हैं, वे इसे दूसरों द्वारा देखा जाना भी पसंद करते हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने 'मिडिल क्लास सिंड्रोम' पर भी चर्चा की है। यह देखा गया है कि मध्यम वर्ग की संस्कृति नैतिकता के पारंपरिक सिद्धांतों के कठोर पालन पर

टिप्पणी

जोर देने के साथ बहुत अधिक शुद्धतावादी है। उन्हें अधिक महत्वाकांक्षी, उद्यमशील और विकासोन्मुखी भी बताया गया है।

अध्ययनों से यह भी पता चला है कि निम्न वर्ग के बच्चे उच्च आय वर्ग के बच्चों की तुलना में बहुत तेजी से स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की भावना प्राप्त करते हैं। उच्च आय वर्ग के बच्चे अक्सर अधिक आश्रित पाए जाते हैं। इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि जिस सामाजिक वर्ग का बच्चा होता है उसका समाजीकरण और अंततः व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार को निर्देशित करने में बहुत प्रभाव पड़ता है। वहीं, यह भी देखा जा सकता है कि मध्यम वर्ग आसानी से मूल्यों का त्याग करता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. समाजीकरण की प्रक्रिया से संबंधित सामाजिक संस्था निम्न में से कौन है?
   (क) परिवार, विवाह (ख) पड़ौस, समुदाय, विद्यालय
   (ग) सहकमी समूह, सामाजिक वर्ग (घ) उपर्युक्त सभी
2. निम्न में से कौन सा गुण 'मिडिल क्लास सिंड्रोम' से संबद्ध है?
   (क) नैतिकता (ख) महत्वाकांक्षा, उद्यमशीलता
   (ग) विकासोन्मुखता (घ) उपर्युक्त सभी

2.3 समाजीकरण और शिक्षा

मानव का जन्म समाज में होता है और समाज में रहकर ही उसे अपना जीवन व्यतीत करना होता है। समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव उसके ऊपर पड़ते हैं और वह भी समाज के ऊपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालता है। व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं और प्रभाव डालते हैं। शिक्षा का समाजशास्त्र, शिक्षा पर सामाजिक प्रतिक्रिया का प्रभाव और सामाजिक प्रतिक्रिया पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करता है।

समाजीकरण के सम्बन्ध में एक बात याद रखनी चाहिए कि वह केवल ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसमें बालक पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं, उसके व्यवहार में रुकावटें डाली जाती हैं, वरन् यह एक सक्रिय एवं रचनात्मक प्रक्रिया भी है। यह प्रक्रिया वृद्धि एवं विकास को प्रोत्साहित करती है यह व्यक्ति की प्रेरणा प्रदान करती है, उसकी इच्छाशक्ति को जागृत करती है और उसे अनेक प्रकार से स्वयं को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रोत्साहित करती है। अतएव हम कह सकते हैं कि समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति की सम्भावनाओं को उभारती भी है और उनमें से कुछ का दमन भी करती है।

सामाजिक व्यवस्था की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा

एक व्यक्ति अपने आप बहुत ही कम सीख सकता है। उसके सीखने में दूसरों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी पुस्तक या बिना दूसरे व्यक्तियों के साथ के बिल्कुल अकेला छोड़ दिया जाए, तो उसकी शिक्षा बिल्कुल ही

टिप्पणी

नहीं हो पाएगी। अतएव शिक्षा के लिए दूसरे व्यक्तियों उपस्थित का होना और पुस्तकों के रूप में उनके ज्ञान का संचित होना परमावश्यक है। शिक्षा इस रूप में ही एक सामाजिक क्रिया कही जाती है। वस्तुतः शिक्षा और ज्ञान, दोनों ही समाज सापेक्ष वस्तुएं है, जो उनके अभाव में अर्जित नहीं की जा सकतीं। शिक्षा प्रदान करना एवं ज्ञान में वृद्धि करना, बिना समाज की प्रकृति, इसकी रचना, इसके सदस्यों के जीवन के आदर्श एवं मूल्यों को समझे, सम्भव नहीं है।

समाज की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप व्यक्ति में आए परिवर्तनों को व्यक्ति का समाजीकरण कहते हैं। शिक्षा वह व्यवस्थित एवं समयबद्ध प्रक्रिया है जिसके द्वारा देश-काल एवं आवश्यकतानुसार एक समाज अपने व्यक्तियों के एक निश्चित प्रकार के समाजीकरण को सुनिश्चित करता है।

व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते और प्रभाव डालते हैं। वस्तुतः इन दोनों का आपस में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

भारत में शिक्षा का संगठन प्राचीन काल से ही सामाजिकता की भावना से पूर्ण रहा है। सामाजिक भावना का प्रभाव शिक्षा पर पड़ा, और शिक्षा ने समाज की उन्नति के ध्येय को सामने रखा। शिक्षा के उद्देश्यों में व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्थान एक परम उद्देश्य माना गया है। कर्तव्य को महान् महत्ता प्रदान करके भारत के ऋषियों ने समाज सेवा की भावना को भारतवासियों की नस-नस में भर दिया था अतः उस काल की शिक्षा ने भारतीयों का समाजीकरण विशेष प्रकार से किया। परन्तु मध्यकाल में मुस्लिम आतताइयों तथा आधुनिक काल में ब्रिटिशकालीन भारत में भारतीय समाज की पूर्ण अवहेलना की गई। यहां के नागरिकों पर एक ऐसी शिक्षा प्रणाली थोपी गई जिसका आधार पाश्चात्य सामाजिक जीवन था। फलस्वरूप, शिक्षा प्रणाली दोषों से परिपूर्ण हो गई। स्वतंत्रता के पश्चात अब इस बात की चेष्टाएं की जा रही हैं कि शिक्षा-प्रणाली में सुधार हो, और यह सामाजिक सुधार की भावना से युक्त हो तथा इसकी जड़ें भारतीय समाज के सुन्दर आदर्श, नियम, परंपराओं इत्यादि पर ही रखी हों।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का ध्येय न केवल व्यक्तित्व का विकास है और न केवल ज्ञान का अर्जन, वरन् व्यक्ति में ऐसे गुणों का प्रादुर्भाव करना है कि वह सामाजिक उत्तरदायित्व को समझ ले और समाज में अपना व्यवस्थापन एवं अनुकूलन करके उसकी प्रगति की चेष्टा करे। एक जनतंत्र में शिक्षा द्वारा व्यक्तियों को जनतंत्रीय जीवन-यापन के लिए तैयार किया जाता है।

अतएव श्रेष्ठ नागरिकता की शिक्षा देना ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को जीविकोपार्जन हेतु तैयार करना भी शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। अवकाश का उपयोग एक औद्योगिक समाज में उचित रूप में होना आवश्यक है, अतएव शिक्षा का ध्येय अवकाश का उपयोग भी होना चाहिए।

टिप्पणी

शिक्षा के विविध प्रकार्य

शिक्षा के प्रमुख तीन प्रकार्य हैं, जो निम्नांकित हैं–

(क) परंपराओं का समायोजन

शिक्षा का जैविक प्रारूप वंशानुक्रम है और इसका सामाजिक रूप है– सामाजिक क्रिया। सामाजिक क्रिया से तात्पर्य उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा लोक–जीवन को भी प्रभावित करने वाली परंपराएं, सामाजिक संगठन और संस्थाओं के साथ हर नई पीढ़ी को हस्तान्तरित हो जाती हैं। समाज के बहुत सारे साधन शिक्षा के इस ध्येय में सहायता पहुंचाते हैं कि परंपराओं का समायोजन किस प्रकार हो। परंपराओं का समायोजन परिवार से ही आरम्भ हो जाता है और विद्यालय तथा चर्च के साधनों द्वारा, और समाज तथा राज्य के प्राविधिक साधनों के द्वारा बराबर होता रहता है।

परंपराओं को संक्रमित करना शिक्षा का एक आवश्यक कार्य है। परन्तु संस्कृति का संक्रमण किसके द्वारा हो तथा किस प्रकार हो, इसका निर्णय समाज की भलाई की दृष्टि से बहुत महत्व रखता हैं यदि एक राष्ट्र, देश या समाज की संस्कृति दूसरी संस्कृतियों से विलग है, तो शिक्षा का कार्य सरल हो जाएगा, क्योंकि तब परंपराओं पर विदेशी परंपराओं का प्रभाव नहीं पड़ेगा और उनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बहुत कुछ उसी रूप में संक्रमण होता रहेगा। परन्तु आज के संसार में आवागमन के नए–नए साधनों द्वारा एक देश अथवा एक राष्ट्र दूसरे के बहुत निकट आ गया है, अतः संस्कृति की पूर्ण विलगता सम्भव नहीं है।

एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता, और इस प्रकार नई विचारधारा का जन्म हो जाता है जो संस्कृति में अनेक परिवर्तन उत्पन्न कर देता है, अतएव शिक्षा का कार्य अत्यन्त गौण हो जाता है। विशेषकर जनतंत्र में, जहां विचारों की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता, शिक्षा का कार्य संस्कृति के संक्रमण में अत्यन्त जटिल हो जाता है। समाज के स्थायित्व तथा सुरक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षा के साधनों पर कड़ी नजर रखी जाए, जिससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के रूप में संस्कृति का विलय न हो जाए।

(ख) नए सामाजिक ढांचे का विकास

केवल संस्कृति का संक्रमण ही शिक्षा का कार्य नहीं है, नये सामाजिक ढांचों का विकास भी शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। शिक्षा का यह कार्य आज हमारे देश में विशेष रूप से आवश्यक है। स्वतंत्रता के पश्चात देश के सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन आ गए हैं। सामाजिक जीवन में स्वतंत्र नागरिक के निर्माण की गंध घुल–मिल रही हैं। ये नये प्रकार का सामाजिक जीवन दोषों से बचा रहे तथा उचित सामाजिक प्रारूपों को अपनाए, यही देश की शिक्षा का परम कार्य है। देश सामाजिक प्रारूपों को अपनाए, यही देश की शिक्षा का परम कार्य है। यदि देश का सामाजिक जीवन पुरानी रूढ़ियों को ही पीटता रहे और इसमें नये जीवन का संचार न हो सके, तो देश का पतन हो जाएगा। इसके

टिप्पणी

अतिरिक्त देश उस समय भी पतन के गर्त में चला जाता है, जब नया जीवन दूषित हो। अतएवं शिक्षा को इन दोनों घातक अतिवादों से सावधान रहकर अपना कार्य करना चाहिए।

(ग) रचनात्मक तथा सृजनात्मक कार्य

शिक्षा का एक अन्य प्रमुख प्रकार्य यह भी है कि यह रचनात्मक तथा सृजनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करे। इस कार्य में शिक्षा द्वारा व्यक्ति में विचार स्वातन्त्र्य, सम्यक् दर्शन और सत्य के ग्रहण के प्रति आग्रह उत्पन्न करना चाहिए। संसार गतिशील है, इसमें परिवर्तन होते ही रहते हैं। जो व्यक्ति इन परिवर्तनों पर स्वतंत्र रूप से विचार करते हैं और प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण करते हैं, वे अनुकूलन प्राप्त कर लेते हैं।

परन्तु जो संकीर्ण विचारों वाले होते हैं और पुरानी लकीर के फकीर बने रहना ही गर्व की बात समझते हैं, उनका अनुकूलन सम्भव नहीं होता। यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा के ये तीनों प्रकार्य एक-दूसरे से अलग हैं। परंपराओं का समायोजन, सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्य या नवीन सामाजिक ढांचे का निर्माण, एक-दूसरे से अलग प्रतीत होते हैं।

यदि परंपराओं के समायोजन को अधिक महत्व दिया जाए तो सृजनात्मक कार्यों में अवश्य ही ढील आ जाएगी। इसी प्रकार, यदि सृजनात्मक कार्यों पर बल दिया जाए तो परंपराओं का समायोजन उचित रूप से नहीं होगा। परन्तु यदि शिक्षा को ठीक प्रकार से संगठित किया जाए तो इन तीनों प्रकार्यों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वस्तुतः शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह इन प्रमुख प्रकार्यों में एकरूपता स्थापित करे।

भारतीय समाज में बालक का विकास

भारतीय समाज अनोखी विशेषताओं से भरा हुआ है जो बालक के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। भारतीय समाज में जो विरोधाभास है, वह बालक के व्यक्तित्व को कुछ ऐसे गुणों से भर देता है, जो समाज के लिए तथा व्यक्ति के लिए किसी संदर्भ में तो अच्छे होते हैं और किसी में बुरे।

बालक जब ऐसे समाज में विकसित होता है तो वह इन गुणों को अपनाता चलता है। ये गुण उसके व्यक्तित्व का दोमुखी विकास कर देते हैं। एक ओर तो वह समाज की परंपरा इत्यादि सीख लेता है और सामाजिक दाय से अपने अनुभवों को धनी बनाता है, दूसरी ओर वह रूढ़िवाद, जातिवाद, धर्मवाद इत्यादि से प्रभावित हो जाता है और उसका जीवन इन दोषों से भर जाता है। यह शिक्षा का ही कार्य है कि वह बालक के व्यक्तित्व के विकास को एक ऐसा मोड़ दे कि वह सामाजिक दाय में जो कुछ अच्छा है, उसे ग्रहण कर ले, किन्तु जो वर्तमान सामाजिक ढांचे के नव-निर्माण में बाधक तत्व है, उन्हें अपने जीवन में कोई स्थान न दे।

भारतीय समाज एवं शिक्षा

शिक्षा की व्याख्या बहुत सरल ढंग से लाभदायक अनुभवों के प्रदान करने के रूप में दी जा सकती है। जब हम शिक्षा देने को कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि बालकों को ऐसे अुनभव प्रदान किए जाएं जो उनका शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करने में सहायक हो। किन्तु व्यक्तित्व विकास अर्थहीन है जब तक कि उसके चारों ओर

टिप्पणी

उपस्थित व्यक्तियों से उसके सम्बन्धों में प्रेम तथा सद्भावना न हो। मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह क्रिया-प्रतिक्रिया उनके साथ करना सीखता है जो उसके सम्पर्क में आते हैं। अतएव उसको लाभदायक अनुभव उसी समय मिल सकते हैं जबकि उसे न केवल व्यक्तिगत रूप से देखा जाए, वरन् दूसरे सामाजिक प्राणियों से उसके संबंधों के संदर्भ में भी ध्यान केन्द्रित किया जाए। शिक्षा को इसी रूप में एक सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं जिससे व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

एक व्यक्ति का जीवन उस समाज से बहुत प्रभावित होता है, जिसमें वह रहता है। समाज की संस्थाएं उसके मस्तिष्क का विकास करती हैं, उसके जीवन में सन्तुलन लाती हैं और उसके व्यक्तित्व का विकास करती हैं। किन्तु इन संस्थाओं का प्रभाव उस सीमा तक सीमित है जिस तक कि उसकी प्रकृति मूल रूप से परिवर्तित हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है। प्रत्येक का विकसित होने का अपना स्वयं का मार्ग एवं गति होती है। प्रत्येक की अपनी मनोवृत्ति, रुचि एवं योग्यता होती है जो दूसरों से भिन्न होती है। शिक्षा इस विभिन्नता में समन्वय लाने की चेष्टा करती है और ऐसी व्यवस्था से परिचित कराती है, जिसमें आशा की जाती है कि व्यक्ति उसके अन्तर्गत ही अपना जीवन व्यतीत करेगा।

दूसरी ओर व्यक्ति भी सामाजिक संगठन को प्रभावित करता है और अपनी व्यक्तिगत योग्यताओं द्वारा उसमें सुधार लाने की चेष्टा करता है। यह क्रिया सामाजिक संगठन को लागू करना और व्यक्तिगत प्रभाव से उसमें सुधार लाना एक सक्रिय रूप से होती रहती है। शिक्षा इस चक्र को सक्रिय रखती है।

2.3.1 समाजीकरण

समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रतिक्रिया से है, जिसके द्वारा बालक समाज की विधियां सीखते हैं और उन विधियों को अपने व्यक्तित्व का अंग बना लेते हैं। एक शिशु धीरे-धीरे परिवर्तित होकर समाज का सदस्य बन जाता है। इस प्रक्रिया को हम समाजीकरण कहते हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया जीवन-पर्यन्त चलती है। जब बालक विद्यालय में लिखना-पढ़ना सीखता है, जब एक किशोर मित्रों के साथ खेलना सीखता है, जब एक प्रौढ़ अपने व्यवसाय में प्रगति करना सीखता है एवं जब एक वृद्ध अवकाश ग्रहण करने पर सुन्दर जीवन व्यतीत करना सीखता है, तब उनका समाजीकरण ही हो रहा होता है। जीवन-पर्यन्त व्यक्ति विभिन्न सामाजिक समूहों के सम्पर्क में आता है और वे उससे कुछ आशा रखते हैं। जब वह उन आशाओं की पूर्ति करना सीखता है, तब उसका समाजीकरण हो रहा होता है।

समाजीकरण एक सृजनात्मक तथा साथ ही अवरोधक प्रक्रिया है भारतीय समाज की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि बालक का समाजीकरण उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि अवरोधक प्रक्रिया समाज के दोषों पर दृढ़ रूप से कार्य करे और नव-समाज के निर्माण हेतु पूर्ण रूप से सृजनात्मक तत्वों को प्रोत्साहित करे।

बालक के समाजीकरण में बहुत-से साधन सहयोग देते हैं। ये औपचारिक (जैसे–विद्यालय) हो सकते हैं अथवा अनौपचारिक (जैसे–धर्म) हो सकते हैं।

समाजीकरण के प्रशिक्षण में प्रयुक्त विधियां

टिप्पणी

समाजीकरण के प्रशिक्षण में अनेक विधियां प्रयोग की जाती हैं। इनका हम समाजीकरण सीखने के कारण के रूप में भी वर्णन कर सकते हैं। ये अग्रांकित हैं–

1. **दंड एवं पुरस्कार–** जब एक बालक को दंड दिया जाता है जबकि वह दूसरे बालक से लड़ता है या वस्त्र उतार फेंकता है, अथवा उद्दंडता करता है तो उसका समाजीकरण दंड के द्वारा होता है। जब एक बालक को अच्छे व्यवहार के लिए पुरस्कार दिया जाता है, तब उसका समाजीकरण पुरस्कार के द्वारा होता है। इसी प्रकार प्रशंसा एवं आरोप भी बालक को समाजीकरण सिखाने के महत्वपूर्ण कारक हैं।

   दंड एवं पुरस्कार का रूप बालक की आयु के साथ बदलता रहता है। पुरस्कार के रूप में कभी एक छोटे बालक को चॉकलेट दी जाती है, बड़े को पुस्तक अथवा साइकिल, और एक प्रौढ़ को वेतन में वृद्धि आदि। पुरस्कार सामाजिक स्वीकृति स्पष्ट करते हैं और इस कारण वे समाजीकरण सिखाने में महत्वपूर्ण हैं। दंड भी अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। मारना-पीटना एवं बालक की पसन्द की वस्तु को छीन लेना इत्यादि इसके रूप हैं। हमारे साधारण जीवन में इनका प्रयोग होता ही रहता है और समाजीकरण की प्रक्रिया चलती ही रहती है।

2. **उपदेशात्मक शिक्षण–** बालक को सूचना दी जाती है और उससे कहा जाता है कि 'यह करो', 'वह न करो', इत्यादि। यह सब उसे उपदेशात्मक रूप से सिखाया जाता है। इस प्रकार के सिखाने में बालक का समाजीकरण हो जाता है। बालक सीख लेता है कि समाज की स्वीकृति के लिए उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

3. **अनुकरण–** बालक के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं और उससे आशा की जाती है कि वह अनुकरण द्वारा सीखेगा। शिक्षक बोर्ड पर लिखता है और बालक अनुकरण करता है अथवा पिता कोई कार्य करता है और बालक उसका अनुकरण करता है।

   अनुकरण चेतन रूप से या अचेतन रूप से किया जा सकता है। जब बालक बिना बताए स्वयं ही अनुकरण करके सीखता है, तब अनुकरण अचेतन होता है। जब उससे कहकर अनुकरण कराया जाता है, तब वह चेतन होता है। समाजीकरण में दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। बालक जीवन के प्रारम्भ में ही यह सीख लेता है कि अनुकरण उसके लिए उपयोगी है और अनुकरण करने से उसका स्थान समाज में बन जाता है, अतएव वह अनुकरण करने की आदत-सी बना लेता है। यह आदत कभी-कभी इतना गम्भीर रूप ले लेती है कि व्यक्ति चिन्तन-शक्ति खो

देता है तथा समाज की रीति एवं परंपराएं इसी कारण से संक्रमित होती रहती हैं।

टिप्पणी

4. **तादात्म्य–** अुनकरण से सम्बन्धित तादात्म्य प्रक्रिया भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण है तादात्म्य से यहां तात्पर्य यह है कि बालक दूसरे व्यक्ति को अपने में प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। बालक चेतन या अचेतन रूप से उस व्यक्ति के व्यवहार का अनुकरण करता है जिससे वह अपना तादात्म्य स्थापित करता है। वह उस व्यक्ति का व्यवहार, आदर्श, मनोवृत्ति इत्यादि सबका अनुकरण करता है।

   बहुधा तादात्म्य का प्रारम्भ परिवार के सदस्यों से होता है। वह माता-पिता को अपना आदर्श बनाता है। इसके पश्चात जो भी व्यक्ति उसे आकर्षित करता है वह उसके तादात्म्य के लिए आदर्श बन जाता है। इन व्यक्तियों में अध्यापक नेता, नायक कोई भी हो सकता है। बालक बहुत कुछ तादात्म्य तथा अनुकरण से ही सीखता है। समाजीकरण में उपर्युक्त इन तीनों तत्वों को महत्व देना आवश्यक है।

5. **सामाजिक भूमिका–** सामाजिकता सीखने से प्रत्येक व्यक्ति का समाजीकरण कुछ सामाजिक भूमिकाओं को सीखने से हो जाता है। हैविघर्स्ट के अनुसार, "सामाजिक भूमिका की परिभाषा एक समुचित व्यवहार के प्रतिमान के रूप में दी जा सकती है जो उन सब व्यक्तियों में समान होते हैं जो वह स्थिति समाज में रखते हैं, जिसकी वह भूमिका में है और एक ऐसा व्यवहार का प्रतिमान प्रदर्शित करते हैं जिसकी समाज के अन्य सदस्यों द्वारा उनसे आशा होती है।"

प्रतिमान का वर्णन बिना उन विशिष्ट व्यक्तियों की ओर ध्यान दिए हुए किया जा सकता है जो उस स्थिति में होते हैं। उदाहरण के लिए, सब स्त्रियां विशिष्ट व्यवहार के प्रतिमान के रूप में व्यवहार करती है, जैसे– जब वे माता की सामाजिक भूमिका में होती हैं। अतएव सामाजिक भूमिका में कुछ व्यवहार के प्रतिमान निहित होते हैं और जब बालक उनको करना सीख लेता है तो उसका समाजीकरण हो जाता है और वह सामाजिक भूमिका में जिस व्यवहार की आशा की जाती है, उसे करने लगता है।

बालक अनेक सामाजिक भूमिकाएं निभाना सीख जाता है। पहले वह बालक की भूमिका सीखता है। फिर वह भाई-बहिन आदि जो वह है, उस भूमिका को सीख लेता है। इसी तरह से वह मित्र, खेल के साथी, शिष्य इत्यादि की भूमिका सीख लेता है। हम एक व्यक्ति के समाजीकरण को अच्छा उसी समय कहते हैं जब वह सफलतापूर्वक अपनी विभिन्न सामाजिक भूमिकाएं निभा सकता है। एक व्यक्ति की अनेक सामाजिक भूमिकाएं होती हैं; जैसे– बेटे की, बालक की, मित्र की, भाई की, शिष्य की, पिता की, सहयोगी की, नागरिक की, इत्यादि। प्रत्येक भूमिका में जिन व्यवहार के प्रतिमानों की आशा है, जब वे अच्छे ढंग से किए जाते हैं तब हम कहते हैं कि व्यक्ति का समाजीकरण सफलतापूर्वक हो गया है।

टिप्पणी

2.3.2 शिक्षा का समाजीकरण से सम्बन्ध

बालक के विकास में समाजीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही बालक को समाज की सदस्यता प्रदान की जाती है। दूसरे शब्दों में जैविकीय बालक को सामाजिक बनाने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है।

बालक के जन्म से प्रौढ़ावस्था के विकास तक दो भिन्न प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती हैं– एक तो जैविक है, और दूसरी सामाजिक। जैविक वह है जिसमें बालक का शरीर विकसित होता है। आयु के साथ-साथ उसका शरीर सन्तुलन प्राप्त करता है। इस प्रकार के विकास के महत्वपूर्ण तत्व हैं– सन्तुलित भोजन, स्वस्थ वातावरण इत्यादि।

बालक की वृद्धि का दूसरा रूप व्यक्तिगत सामाजिक है। बालक के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक अनुभवों पर होता है, जबकि व्यक्तित्व एवं मस्तिष्क के विकास के लिए शारीरिक आधार (जैसे शरीर, स्नायुमण्डल इत्यादि) की आवश्यकता है। व्यक्तित्व एवं सामाजिक गुणों का जो प्रकार विकसित होता है, वह मुख्यत: बालक के सीखने पर एवं उस प्रतिक्रिया पर निर्भर रहता है जो बालक अपने चारों ओर के व्यक्तियों के साथ करता है। बालक के अनुभव ही सामाजिक प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं।

बालक के विकास पर वंशानुक्रम के तत्व एवं सामाजिक तत्व किस प्रकार प्रभाव डालते हैं, यह समझने के लिए आवश्यक है कि बालक का पालन-पोषण सब व्यक्तियों से अलग करके किया जाए। किन्तु ऐसा होना असम्भव प्रतीत होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि किसका प्रभाव अधिक है, और किस सीमा तक। कुछ भेड़ियों द्वारा उठाए हुए बालकों के अध्ययन हमें प्राप्त हैं। वे बालक शैशव काल में ही उठा लिए गए और भेड़ियों के साथ पले। ऐसे बालकों के साथ यह पाया गया कि उनमें मानव-रुचि एवं भावों का सर्वथा अभाव था। दूसरे व्यक्तियों के साथ जब उन्हें रखा गया तो उनमें बहुत कम परिवर्तन आया। इससे यही सिद्ध होता है कि सामाजिक एकाकीपन में पले बालक में मानव गुण में विकसित नहीं हो पाते हैं और यदि अधिक समय तक एकाकीपन में रहते हैं तो उनमें स्थाई दोष घर कर जाते हैं और उनका मानवीकरण अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतएव मानव-समाज से दूर रहने में व्यक्ति की मानवीय सम्भावनाएं दमित ही रह जाती हैं।

सामाजिक विकास के दो रूप शिक्षा में महत्वपूर्ण हैं। पहले रूप को हम बालक के समाजीकरण का रूप कह सकते हैं। बालक वह सब सीखता है जो उसे करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, ताकि वह समाज का स्वीकृत सदस्य बन जाए। यह स्वीकृति ही उसके समाजीकरण का मापदंड है। बालक सीखने के द्वारा समाज की सदस्यता प्राप्त कर लेता है और समाज की विधियों को अपना लेता है। इस समाजीकरण की प्रक्रिया में अभिभावक, अध्यापक एवं समाज के अन्य सदस्य महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

सामाजिक विकास का दूसरा रूप है, समाज के प्रति वफादारी। यदि बालक के अन्दर यह भावना घर कर जाए कि वह जिन समाजों का सदस्य है, उनके प्रति वफादार रहना उसका कर्तव्य है। उसे सहयोग से कार्य करना है तो वह समाज के हित के आगे अपने हित को बढ़ावा नहीं देगा।

सामाजिक विकास के दोनों रूप समाजीकरण एवं सामाजिक वफादारी एक साथ चलने वाली, एक-दूसरे से गुथी-बंधी क्रियाएं हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका

टिप्पणी

शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह उन व्यवहार के प्रतिमानों को प्रदर्शित करेगा, जिनकी आशा समाज, शिक्षक की स्थिति वाले व्यक्तियों से करता है। शिक्षक की भूमिका में शिक्षक का व्यवहार शिष्यों तथा समाज हेतु महत्वपूर्ण समझा जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि शिक्षक शिष्यों में उन व्यवहार के प्रतिमानों को प्रोत्साहित करेगा जो उनका समाजीकरण कर देंगे। इनके अतिरिक्त शिक्षक से समाज यह भी आशा करता है कि वह उसकी परंपराओं, रीति-रिवाज इत्यादि द्वारा नई पीढ़ी का संक्रमण करने में सहयोग देकर समाज में स्थयित्व लाएगा। यह भी आशा की जाती है कि वह समाज को कुछ अपनी ओर से देकर उसे प्रगति की ओर ले जाएगा। जब वह इन सब आशाओं की पूर्ति अपने व्यवहार के प्रतिमानों द्वारा करेगा, तभी यह समझा जाएगा कि वह शिक्षक की भूमिका में सफल है और उसका समाजीकरण हो गया है। अतएव हम कह सकते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक का सम्बन्ध दो प्रकार से है–

1. बालक का समाजीकरण प्राप्त करने के रूप में, तथा
2. स्वयं शिक्षक का समाजीकरण अर्थात शिक्षण की सफलता के रूप में।

शिक्षक के दो प्रकार के सम्बन्ध, जिनका ऊपर उल्लेख किया है, एक-दूसरे से विलग नहीं हैं, वरन् वे अतिवादी हैं। जब शिक्षक बालक का समाजीकरण प्राप्त करने में सफल होता है तब वह शिक्षक की भूमिका में भी सफल होता है। वह बालक का समाजीकरण भी तभी करा सकता है जबकि वह स्वयं समाज के दाय को समझे तथा उसके संक्रमण में विश्वास रखे। इसके अतिरिक्त, वह समाज के दोषों से अवगत हो और बालक को उनसे बचाए रखने के लिए सक्रिय हो। इस रूप में वह समाज-सुधारक की भूमिका भी अपना सकता है। समाज में इसी कारण शिक्षक की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

बालक का समाजीकरण प्राप्त करने में शिक्षक एक आदर्श प्रस्तुत करता है जिसका अनुकरण बालक करते हैं तथा उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं। शिष्यों के प्रति अपनी भूमिका निभाने के लिए शिक्षक तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करेगा। इसके अतिरिक्त वह बालकों को नेतृत्व प्रदान करेगा। नेतृत्व द्वारा वह उन्हें समाज में अपना स्थान बनाना सिखाएगा। वह उन्हें समाज की विशेषताओं से परिचित कराएगा और सामाजिकता की भावना को प्रोत्साहित करेगा।

शिक्षक बालकों के सामूहिक व्यवहार का भी अध्ययन करेगा। वह भिन्न समूह की रुचियों इत्यादि का पता लगाएगा और उनके अनुसार ही बालकों में अच्छी समाजीकरण भावनाएं जागृत करेगा। शिक्षक देखेगा कि कौन-सा बालक बहुत अधिक मिलनसार है और कौन-सा बालक अलग-अलग रहता है। जो बालक समूह से अलग रहने वाला होगा, उसको मनोवैज्ञानिक ढंग से समूह में मिलना सिखाएगा और चेष्टा करेगा कि वह सामाजिक जीवन को दूसरे बालकों की भांति ही अपनाए।

सामूहिक जीवन में यदि कुछ दोष होंगे तो उसका अध्ययन भी शिक्षक करेगा और उनको दूर करने की चेष्टा करेगा। वह बालक के समाजीकरण को उसी रूप में लेगा जिसमें वह समाज के लिए उपयोगी है तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रगति की ओर केन्द्रित है।

टिप्पणी

अन्त में, हम कह सकते हैं कि बालक का समाजीकरण बहुत कुछ शिक्षक के सीखने पर निर्भर होता है और शिक्षक का सीखना स्वयं उसके समाजीकरण पर निर्भर होता है। अतएव एक शिक्षक जो अपनी भूमिका निभाना जानता है, समाजीकरण के उचित प्रेरकों को अपनाकर अपने शिष्यों का समाजीकरण प्राप्त कर सकता है।

समाजीकरण में शिक्षा के प्रमुख साधन

समाज ने सैकड़ों वर्षों की लम्बी अवधि में समय-समय पर शिक्षा के बहुत से विभिन्न विशिष्ट साधनों को अपनाया है। इन साधनों और शिक्षण-संस्थाओं का कार्य निम्नांकित तीन प्रकार का है–

1. परंपराओं को एकीभूत करना,
2. नए प्रकार के सामाजिक ढांचों का विकास करना,
3. शिक्षा का सृजनात्मक या रचनात्मक कार्य।

इन साधनों और संस्थाओं को हम मूलत: निम्नांकित दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं–

(क) **औपचारिक साधन–** ये वे साधन हैं, जो समाज द्वारा विशिष्ट रूप से शिक्षण-संस्थाओं के रूप में रखे जाते हैं। इस प्रकार के साधनों के उदाहरण हैं– विद्यालय, पुस्तकालय और मनोरंजन के केन्द्र, इत्यादि।

(ख) **अनौपचारिक साधन–** वे सब साधन हैं, जो अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्रदान करते हैं, तथा संस्कारों में रूपान्तर लाते हैं, जैसे– परिवार, धर्म और समाज इत्यादि।

अनौपचारिक साधन जीवन की सत्यता के अधिक निकट होने के कारण अधिक प्रभावशाली होते हैं, परन्तु वे असंगठित होते हैं और उनका प्रभाव केवल उस समय की क्रियाओं पर ही निर्भर रहता है।

औपचारिक साधनों में 'विद्यालय' सबसे महत्वपूर्ण साधन है। विद्यालय के अतिरिक्त चर्च, पुस्तकालय, संगठित क्रीड़ा-केन्द्र इत्यादि भी साविधिक साधनों की कोटि में आते हैं।

शिक्षा के साधनों का विभाजन एक और प्रकार से भी किया जाता है। यह विभाजन क्रियाशील और निष्क्रिय साधनों के रूप में माना जा सकता है। ये साधन **क्रियाशील** इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि ये शिक्षा के भाग लेने वाले व्यक्तियों की व्यक्तिगत प्रक्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान करते हैं। ये साधन सामाजिक क्रिया पर नियंत्रण रखते हैं तथा उसका पथ-प्रदर्शन एक सक्रिय साधन के रूप में करते हैं। परिवार, विद्यालय, चर्च, समाज-कल्याण केन्द्र, पुस्तकालय इत्यादि इस प्रकार के साधनों के उदाहरण हैं।

निष्क्रिय साधन वे कहलाते हैं, जो एक ओर की प्रक्रिया से ही सम्बन्धित हैं, परन्तु ये साधन भी पूर्णत: निष्क्रिय नहीं है। उनके ऊपर जनमत का प्रभाव पड़ता है। वे हैं– प्रेस, रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन। इन सब साधनों को हम एकमार्गीय कह सकते

टिप्पणी

हैं। सक्रिय साधनों में अध्यापक तथा बालक, दोनों एक-दूसरे के साथ प्रतिक्रिया करते हैं। ये द्वि-मार्गीय हैं।

निष्क्रिय साधनों का व्यक्ति पर तो प्रभाव पड़ता है किंतु स्वयं इन साधनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रेस, टेलीविजन, रेडियो इत्यादि द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादित किया जाता है, वह सुनने वालों के व्यवहार आदि पर प्रभाव डालते हैं। परन्तु सुनने या देखने वाले उनको प्रभावित नहीं कर सकते, हालांकि यह ठीक है कि जनता के मत का या जनता के विचारों का इन पर प्रभाव पड़ता है। प्रेस के सम्पादक पर या रेडियो के कलाकार पर व्यक्तिगत प्रभाव तो नहीं पड़ता, परन्तु उनके मत का, यदि और व्यक्ति भी उनसे सहमत हो जाएं और एक आवाज उठाकर कुछ कहें तो इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है।

विद्यालय : शिक्षा का औपचारिक स्थान

विद्यालय का संगठन समाज अपने सदस्यों की शिक्षा का आयोजन करने के लिए करता है। पहले जब समाज साधारण था और ज्ञान में वृद्धि बहुत कम थी, तब शिक्षा, परिवार तथा धार्मिक संस्थाओं द्वारा ही दी जाती थी। परन्तु जैसे-जैसे समाज जटिल होता गया और उसका ज्ञान-भण्डार बढ़ता गया, वैसे ही विद्यालय जैसे औपचारिक साधन की आवश्कता प्रतीत हुई। लिखित लिपि के विकास तथा संख्याक्रम के निर्माण के साथ विद्यालयों का संगठन चीन, मिस्र, भारत, यूनान, रोम तथा बेबीलोन में हो गया। परन्तु फिर भी प्राचीन काल में शिक्षा के मुख्य साधन जन-साधारण के लिए अनौपचारिक ही थे। शिक्षा परिवार, धार्मिक संस्थाओं या इसी प्रकार के दूसरे साधनों द्वारा दी जाती थी। विद्यालय द्वारा शिक्षा केवल समाज के गणमान्य व्यक्तियों को तथा धार्मिक नेताओं की सन्तानों को दी जाती थी। आजकल वह दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं माना जाता है। अब तो विद्यालय द्वारा सबके लिए शिक्षा आवश्यक समझी जाती है और उसे प्राप्त करना उनका संवैधानिक अधिकार भी है।

आजकल 'विद्यालय' शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। ज्ञान की अत्यधिक वृद्धि तथा संस्कृति का संगठन इतना अधिक बढ़ गया है कि विद्यालय के बिना उचित शिक्षा प्रदान करना न केवल कठिन है, अपितु असम्भव लगता है। आज के समाज में औद्योगिक उन्नति हो रही है, विज्ञान की उत्कृष्टता है। इतिहास तथा दूसरे सामाजिक विज्ञान भी अत्यन्त समृद्ध है। इसका फल यही है कि विद्यालय का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। सामाजिक शिक्षा-शास्त्रियों के दृष्टिकोण से विद्यालय संस्कृति को एकत्रित करने तथा उसे दूसरे में संक्रमित करने के लिए महत्वपूर्ण साधन है। जब सांस्कृतिक वंशानुक्रम इतना अधिक एकत्र हो गया कि यह प्राथमिक साधनों द्वारा संक्रमित नहीं हो सकता था, तब विद्यालयों की स्थापना चीन, मिश्र, बेबीलोन, भारत आदि देशों में की गई।

विद्यालय के कार्य

विद्यालय एक सामाजिक संस्था होने के कारण उसके बहुत से उत्तरदायित्व हैं। विद्यालय को सामाजिक विकास में सहायता प्रदान करनी चाहिए। समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और न्याय आदि के आदर्श को उपयोगी मानकर विद्यालय को शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।

टिप्पणी

विद्यालय का यह पावन कर्तव्य है कि वह सामाजिक उत्थान के लिए चेष्टा करे। एक जनतंत्रीय व्यवस्था में पाठशाला का यह उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है। जनतंत्र में विद्यालयों को सामाजिक आदर्शों की नवीन परिभाषा तथा नवीन अर्थ प्रदान करने का कार्य करना चाहिए। जनतंत्र की प्रकृति स्थिर नहीं, वरन् गत्यात्मक है। अतएव समाज में समय के साथ नवीन दृष्टिकोण का विकास करना भी आवश्यक है। यह कार्य विद्यालय द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है।

अत: शिक्षा न केवल समाज के उत्थान से ही सम्बन्धित है, अपितु इसमें व्यक्तिगत विकास का भी उचित स्थान होना चाहिए। अत: शिक्षा द्वारा व्यक्तियों को एक प्रसन्न, पूर्ण और समृद्ध जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना चाहिए। प्रत्येक बालक की योग्यताओं को पहचान कर उन्हें पूर्ण रूप से विकसित करना बालक की कार्य-कुशलता को बढ़ाना चाहिए, तथा उसको व्यावसायिक शिक्षा भी प्रदान करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि शिक्षा तथा समाज, दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। शिक्षा समाज तथा इसके समाजीकरण पर प्रभाव डालती है और समाज शिक्षा पर।

अपनी प्रगति जांचिए

3. समाजीकरण के संदर्भ में शिक्षा का प्रकार्य है–
   (क) परंपराओं का संयोजन
   (ख) सामाजिक ढांचे का विकास
   (ग) रचनात्मक तथा सृजनात्मक कार्य
   (घ) उपर्युक्त सभी
4. निम्न में से कौन समाजीकरण के प्रशिक्षण में प्रयुक्त एक विधि है?
   (क) दंड एवं पुरस्कार
   (ख) उपदेशात्मक शिक्षण
   (ग) अनुकरण, तादात्म्य एवं सामाजिक भूमिका
   (घ) उपर्युक्त सभी

2.4 राज्य, विचारधारा और शैक्षिक नीति

किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था तब तक विकास की ओर अग्रसर नहीं होती जब तक उसे राज्य के द्वारा वित्तीय सहायता या कोई संरक्षण हासिल न हो। अगर हम भारतीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर नज़र डालें तो शुरुआती दौर में वैदिक शिक्षा में किसी भी तरह की सतत एवं निर्धारित वित्तीय व्यवस्था का प्रावधान नहीं था। राजा या राज्य के द्वारा गुरुकुलों को वित्तीय सहायता तो दी जाती थी चाहे वह धनराशि के रूप में हो या भूमि के रूप में, लेकिन ये सहायता स्थाई, सतत एवं निर्धारित नहीं थी। शिक्षा का प्रबंध अधिकतर निजी समितियों द्वारा ही किया जाता था जिन्हें समाज के कुछ प्रतिष्ठित एवं धनी वर्ग चलाते थे। कुछ मदद जनता की ओर

टिप्पणी

से भी हो जाती थी और कुछ संपन्न परिवारों के बच्चे शिक्षा पूरी करने के पश्चात गुरुदक्षिणा के रूप में कुछ सहायता उपहार स्वरूप देते थे। चाहे राज्य के द्वारा शैक्षिक वित्त व्यवस्था का प्रबंध नहीं था लेकिन इतिहास में कुछ साक्ष्य जरूर हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि शिक्षा को कहीं–कहीं राज्य का संरक्षण हासिल था। उदाहरण के तौर पर इतिहास में ये प्रमाण मिलता है कि बीजापुर जिले के सिलोटगी गांव में एक शिक्षण संस्थान था जो तराई पुरुसा नामक मंदिर से सम्बद्ध था। इसका निर्माण राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के मंत्री नारायण ने दसवीं शताब्दी में कराया था। शिक्षण संस्थान मंदिर परिसर में था जिसके लिए उन्हें 500 नवरत्न इमारत बनवाने के लिए और 12 नवरत्न प्रकाश की व्यवस्था करने के लिए दिए गए थे। इसके अलावा एक उदाहरण दक्षिण में इनाइरम नामक स्थान का है जहां स्थानीय राजा राजेंदर चोल ने ग्यारहवीं शताब्दी में एक कॉलेज का निर्माण करवाया जिसके लिए उन्होंने 300 एकड़ जमीन दान में दी।

इस प्रकार ऐसे कुछ साक्ष्य इतिहास में वर्णित हैं जो राज्य के द्वारा शिक्षा को संरक्षण का प्रमाण देते हैं। अगर हम इस संरक्षण को राजनीतिक दृष्टि से देखें तो कहीं न कहीं इसमें निजी हित या स्वार्थ भी थे जिसमें राजा गुरुकुलों या शिक्षण संस्थानों को वित्तीय सहायता देते थे और ये संस्थान उनके शासन को सुदृढ़ करने में सहायता करते थे।

वैदिक धर्म एवं शिक्षा में व्याप्त बुराइयों के परिणामस्वरूप बौद्ध शिक्षा का आगमन हुआ। इसकी शुरुआत तो काफी अच्छी थी लेकिन धीरे–धीरे यह भी ब्राह्मण शिक्षा की तरह दिखने लगी। गुरुकुलों की जगह मठों और विहारों ने ले ली। राजा या राज्य के द्वारा मंदिरों को दिया जाने वाला संरक्षण अब मठों और विहारों को मिलने लगा। लेकिन वैदिक काल की अपेक्षा बौद्ध काल में शिक्षण संस्थानों में राज्य का दखल कम था। बौद्ध काल में भी किसी भी प्रकार की स्थाई एवं निरंतर वित्तीय व्यवस्था का अभाव ही रहा लेकिन बौद्ध काल में भी ऐसे कुछ उदाहरण हैं जो राज्य के द्वारा संरक्षण का प्रमाण देते हैं। जैसे एक ऐतिहासिक ताम्रपत्र से यह पता चलता है कि 1154 ईसवी में राजा समुन्दरपाल ने एक विहार को जमीन दी ताकि योगाहली नामक स्थान पर एक शिक्षण संस्थान खोला जा सके। पश्चिम बंगाल के मालवा क्षेत्र के राजा वज्रदेव (840–846 ईसवी) के परिवार ने एक विहार बनवाया जिसे करमुक्त जमीन दान में दी। विहार स्थापित करवाने के पीछे राजाओं का एक और हित भी था, वो यह था कि इन विहारों को वह जमीन दी जाती थी जो ज्यादा पैदावार नहीं देती थी या बंजर होती थी। विहारों में रहकर बौद्ध भिक्षु शिक्षा ग्रहण करते थे और उनकी दिनचर्या का काफी समय खेतों में काम तथा मेहनत करने में गुजरता था। वह इस कम उपजाऊ जमीन को अधिक पैदावार वाली जमीन में बदल देते थे जिससे राज्य की आर्थिक स्थिति मजबूत होती थी और सत्ता स्थापित करने में सहायता मिलती थी। पहले बौद्धों को वित्तीय व्यवस्था के रूप में ज्यादा भूमि प्राप्त होती थी लेकिन धीरे–धीरे ब्राह्मण उनसे आगे निकल गए क्योंकि उनको खेती की अधिक जानकारी थी। इसलिए राज्य के द्वारा भी एक बार फिर से ब्राह्मणों की वित्तीय सहायता बढ़ा दी गयी।

बौद्ध काल में नालंदा, विक्रमशिला, सोमपुरा और रत्नागिरी नामक महाविहारों की स्थापना हुई। इतिहास में ये वर्णित है कि इन महाविहारों को स्थापित करने के

पीछे एक बहुत बड़ी परियोजना थी जो समकालीन राजाओं के द्वारा प्रायोजित थी। इस प्रकार बौद्ध काल में भी शिक्षा के संरक्षण के अनेक उदाहरण मिलते हैं चाहे उनके कोई राजनीतिक कारण ही क्यों न रहे हों।

टिप्पणी

इसके पश्चात मध्य काल में मुस्लिम शिक्षा की शुरुआत भारत में हुई जो पूर्ण रूप से यहां की संस्कृति एवं आचार–विचार से भिन्न थी जिसमें प्राथमिक शिक्षा के लिए मकतब और उच्च शिक्षा के लिए मदरसों का प्रावधान था। तुलनात्मक दृष्टि से अगर देखा जाये तो मुस्लिम काल में शिक्षा को अपेक्षाकृत अधिक संरक्षण प्राप्त था। इसका कारण शायद यह भी था कि मुस्लिम आक्रमणकारी विदेशी थे। वो भारत में अपनी सत्ता को स्थायी बनाना चाहते थे। अपनी संस्कृति, धर्म एवं आचार–विचारों का यहां के लोगों में प्रसार करना चाहते थे जिसका माध्यम वह शिक्षा को बनाना चाहते थे। फिरोजशाह तुगलक़ ने शिक्षा को काफी ज्यादा संरक्षण दिया। 1351 से 1388 ईसवी तक उन्होंने कम से कम 50 मदरसे खुलवाये और देश के विभिन्न हिस्सों से शिक्षा के विशेषज्ञों को इन मदरसों में बुलवाया। उन्होंने फिरोजाबाद में फ़िरोज़ शाही मदरसा स्थापित किया जिसमें ख्याति प्राप्त शिक्षाविदों को लगाया गया। सिकंदर लोदी (1458 –1518 ईसवी) के काल में पहली बार हिन्दुओं ने फारसी पढ़ने का आवेदन दिया। इसी काल में आयुर्वेद के अनेक ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया।

शिक्षा को राजकीय संरक्षण मिलने की सबसे बड़ी कामयाबी अकबर के समय में प्राप्त हुई। अकबर के काल में शिक्षा काफी आगे बढ़ी। सभी धर्मों एवं जातियों को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा ग्रहण करने का मौका दिया गया। बहुत बड़ी संख्या में मदरसे स्थापित किये गए। इसी दौरान फतेहपुर सीकरी में एक बहुत बड़े कॉलेज की स्थापना हुई। मुगल काल के अनेक शासकों ने शिक्षा को संरक्षण दिया। मुस्लिम काल में एक जन कार्य विभाग (Public Works Department) बनाया गया था जिसका काम कार्यशालाओं का आयोजन करना था जिसमें लोगों को व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता था। फिरोजशाह के समय में राज्य के द्वारा तकनीकी शिक्षा पर काफी खर्च किया गया जिसका लाभ आगे चलकर बाबर को मिला।

अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक उथल–पुथल तथा विघटन के समय शिक्षा बहुत प्रभावित हुई। उसे मिलने वाले राजकीय संरक्षण के अभाव में शिक्षा काफी पीछे चली गयी। इसके पश्चात एक लम्बे अंतराल के बाद ब्रिटिश काल में चार्टर एक्ट की धारा 43 में शिक्षा का उत्तरदायित्व कंपनी को सौंप दिया गया और शिक्षा के लिए एक निर्धारित वित्तीय सहायता घोषित की गयी जो स्थाई एवं सतत थी।

15 अगस्त, 1947 को भारत ब्रिटिश आधिपत्य से स्वतंत्र हो गया। अब भारतीय जनमानस स्वतंत्र नागरिक होने के नाते अपनी सरकार का निर्माण स्वयं ही करते हैं। चूंकि राज्य की प्रगति नागरिकों पर और नागरिकों की उन्नति शिक्षा पर निर्भर करती है, इसलिए शिक्षा को सुदृढ़ बनाने हेतु राज्य अब यथासंभव प्रयत्न कर रहा है।

प्रत्येक राज्य की राजनीतिक व्यवस्था तथा रहन–सहन, संस्कृति तथा सभ्यता, व्यवसाय तथा उद्योग, आवश्यकताएं तथा समस्याएं एक–दूसरे से पृथक–पृथक होती हैं। जिस राज्य में जैसी राजनीतिक व्यवस्था, रहन–सहन, संस्कृति, सभ्यता, व्यवसाय, उद्योग, आवश्यकताएं तथा समस्याएं होती हैं, वैसे ही वे वहां की शिक्षा को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करती हैं। शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण होने से

कई लाभ हो सकते हैं। रेमान्ट ने राज्य के शिक्षा संबंधी कार्यों का वर्णन करते हुए बड़े सुंदर ढंग से लिखा है– "राज्य का कार्य व्यक्ति अथवा परिवार का स्थान ले लेना अथवा उनका शोषण करना नहीं है अपितु उनकी रक्षा करना है। शिक्षा के क्षेत्र में परिवार तथा धर्म संस्था के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। इसी तरह माता–पिता की योग्यता, शक्तिहीनता अथवा अन्य किसी कारणवश जो शिक्षा की कमियां आ जाती हैं उनको ठीक करना तथा तर्क एवं विश्वासों के अनुकूल समस्त सामाजिक बाधाओं को दूर करके उनकी नैतिकता एवं धार्मिक शिक्षा का संज्ञान करना भी राज्य का ही कार्य है। ये देखना तथा इस बात की मांग करना प्रत्येक व्यक्ति अपने नागरिक व राष्ट्रीय कर्तव्यों को भली–भांति समझने तथा बौद्धिक व नैतिक संस्कृति के मिश्रित स्तर को प्राप्त करे, राज्य का कर्तव्य है।"

अपनी प्रगति जांचिए

5. राजा/राज्य द्वारा शिक्षण संस्थाओं को दी गई सहायता का एक उदाहरण है–

   (क) नारायण (ख) राजेन्द्र चोला

   (ग) राजा सुंदरपाल (घ) उपर्युक्त सभी

6. बौद्ध काल में किस स्थान पर महाविहार की स्थापना हुई?

   (क) नालंदा एवं विक्रमशिला (ख) सोमपुरा

   (ग) रत्नागिरी (घ) उपर्युक्त सभी

2.5 राष्ट्रीय शिक्षा नीतियां : अर्थ, पृष्ठभूमि, लक्ष्य एवं मूल्यांकन

शिक्षा प्रणाली को नियंत्रित करने वाले सभी सिद्धांतों एवं नियम–कानूनों के समुच्चय को शिक्षा नीति कहते हैं।

भारत सरकार ने राष्ट्र की समृद्धि में शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए इसके विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। शिक्षा की ज्वलंत समस्याओं एवं उनके समाधान खोजने के लिए सरकार ने समितियों व आयोगों का गठन किया। इनमें विश्वविद्यालयी शिक्षा हेतु विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, राधाकृष्णन आयोग और माध्यमिक शिक्षा के लिए माध्यमिक शिक्षा आयोग 1952–53 प्रमुख थे। ये दोनों आयोग एकांगी थे। अतः सरकार ने शिक्षा के सभी पहलुओं पर व्यापक विचार करने हेतु 1964 में शिक्षा आयोग का गठन किया। आयोग ने 1966 में अपना प्रतिवेदन सरकार के समक्ष प्रस्तुत करते हुए **राष्ट्रीय शिक्षा नीति** की आवश्यकता पर बल दिया था। आयोग के प्रतिवेदन में दी गई संस्तुतियों के आधार पर 1967 में, भारत सरकार ने, राष्ट्रीय शिक्षा नीति की रूपरेखा तैयार करने का कार्य एक संसदीय समिति को सौंप दिया, इस समिति के प्रतिवेदन के आधार पर भारत सरकार ने देश की राष्ट्रीय शिक्षा नीति निर्धारित कर उसकी घोषणा कर दी थी।

टिप्पणी

वह नीति जिसके आधार पर पूरे राष्ट्र की शैक्षिक गतिविधियों का संचालन होता है, **राष्ट्रीय शिक्षा नीति** कहलाती है। मानव रूपी बहुमूल्य राष्ट्रीय संसाधन के विकास पर ही राष्ट्र की प्रगति अवलंबित है। प्रत्येक व्यक्ति के विकास से अनेक अपेक्षाएं जुड़ी हुई हैं तथा विकास की इस जटिल प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका एक उत्प्रेरक की तरह व गत्यात्मक होती है, जिसे सुनियोजित करना व संवेदनशील तथा क्रियाशील बनाना जरूरी होता है। जीवन की लगातार जटिलतर होती जा रही तनावपूर्ण परिस्थितियों में व्यक्ति को नए वातावरण में लाभान्वित करने के प्रयास हेतु मानव संसाधन के विकास की रूपरेखा बनानी आवश्यक है। इन्हीं चुनौतियों का सामना करने हेतु तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों एवं आदर्शों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक राष्ट्र अपने विभिन्न क्षेत्रों के विकास हेतु नीतियों का निर्धारण करता है। राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन होने के कारण हमें शिक्षा की निश्चित नीति का निर्धारण करने की आवश्यकता है।

अतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति का तात्पर्य शिक्षा के उन सिद्धांतों तथा नीतियों के निर्धारण से है जिनके आधार पर पूरे राष्ट्र की शैक्षिक गतिविधियों का संचालन होता है। शिक्षा आयोग का यह कथन भी शिक्षा नीति की आवश्यकता का अनुभव कराता है– शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक सुधार यह है कि इसको परिवर्तित करके व्यक्तियों के जीवन, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से इसका संबंध स्थापित करने का प्रयास किया जाय और इस प्रकार इसको सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक परिवर्तन का शक्तिशाली साधन बनाया जाय, जो राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक है।

2.5.1 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तथा 1979

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968– भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) की घोषणा, गठन एवं मूलभूत तत्वों के बारे में यहां पर विशेष रूप से वर्णन किया गया है जिसके बाद भारत की नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 का मार्ग प्रशस्त हुआ।

प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) की घोषणा

कोठारी आयोग की रिपोर्ट के लगभग दो वर्ष पश्चात भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा 1968 में की गई। इस प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 के गठन का वर्णन यहां विस्तार से किया जा रहा है।

प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968 के निर्धारण हेतु समिति का गठन

कोठारी आयोग (1964–66) ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को 29 जून, 1966 को प्रस्तुत की। इसके लगभग 9 माह बाद 5 अप्रैल, 1967 को भारत सरकार ने संसद सदस्यों की एक समिति का गठन किया गया और इस समिति को तीन कार्य सौंपे– पहला, कोठारी आयोग के सुझावों पर गंभीरता से विचार करना, दूसरा, राष्ट्रीय शिक्षा नीति का ड्राफ्ट तैयार करना और तीसरा, प्राथमिकता के आधार पर उसके क्रियान्वयन की रूपरेखा तैयार करना। इस संसद समिति ने कोठारी आयोग के सुझावों का गंभीरता से अध्ययन किया और उसके बाद उसके सुझावों के बारे में अपना अभिमत सरकार को प्रस्तुत किया। समिति ने सर्वप्रथम शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने पर बल दिया। इसके बाद सामाजिक समानता की प्राप्ति के लिए आयोग द्वारा प्रस्तावित

टिप्पणी

सामान्य विद्यालय (Common School) को पड़ोस में विद्यालय (Neighbourhood School) के रूप में स्थापित किया। समिति ने भाषा नीति, कार्यानुभव, चरित्र निर्माण, विज्ञान शिक्षा एवं शोध और शैक्षिक अवसरों की समानता पर विस्तार से विचार प्रकट किये और शिक्षा के सभी स्तरों में गुणात्मक सुधार (Qualitative Improvement) पर बल दिया। उसने केंद्र और राज्य सरकारों के शैक्षिक उत्तरदायित्व निश्चित किये और अंत में प्राथमिकताओं के आधार पर भावी कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की। समिति की यह रिपोर्ट 1968 में संसद के शीतकालीन अधिवेशन में प्रस्तुत की गई। संसद में इस पर लंबी चर्चा हुई और राष्ट्रीय शिक्षा नीति को अंतिम रूप दिया गया। 1968 में सरकार ने प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति की विधिवत घोषणा की।

प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968 के मूलभूत तत्व

कोठारी आयोग की रिपोर्ट पर आधारित प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 को पूर्ण आकार के रूप में केवल 9 पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया। इसके मूलभूत तत्वों को निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध किया जा सकता है–

1. **शिक्षा राष्ट्रीय महत्व का विषय** – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व का विषय माना गया है और यह स्वीकार किया गया है कि शिक्षा द्वारा ही लोकतंत्र को सुदृढ़ किया जा सकता है। स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, न्याय, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों का विकास किया जा सकता है। राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ किया जा सकता है। उत्पादन में वृद्धि और राष्ट्र का आर्थिक विकास किया जा सकता है और राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में इसका आधुनिकीकरण किया जा सकता है।
2. **शिक्षा की व्यवस्था केंद्र एवं राज्य सरकारों का संयुक्त उत्तरदायित्व**– भारत एक स्वतंत्र राज्य है। इसमें कुछ विषय केवल केंद्र के अधीन हैं और कुछ विषय केवल राज्य सरकारों के अधीन हैं और कुछ विषय ऐसे हैं जो केंद्र एवं राज्य सरकारों दोनों के अधीन हैं। इस शिक्षा नीति में शिक्षा की व्यवस्था करना केंद्र और राज्य सरकारों का संयुक्त उत्तरदायित्व घोषित किया गया है। केंद्र के शैक्षिक उत्तरदायित्व हैं– राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्माण करना, केंद्रीय महाविद्यालयों और राष्ट्रीय महत्व की शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध करना, उच्च स्तर की विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा और अनुसंधान का स्तर मान निश्चित करना, विदेशों में शैक्षिक एवं सांस्कृतिक समझौते करना, राज्यों को शैक्षिक नेतृत्व प्रदान करना ओर उनके शैक्षिक कार्यक्रमों के संपादन हेतु आर्थिक सहायता देना। और प्रांतीय सरकारों के शैक्षिक उत्तरदायित्व हैं– केंद्रीय शिक्षा नीति के अनुसार राज्य स्तर पर शिक्षा को नियोजित करना, उसके लिए वित्त व्यवस्था करना, शैक्षिक प्रशासनिक क्षेत्र पर नियंत्रण रखना और शिक्षा के विभिन्न स्तरों की गुणवत्ता बनाए रखना।
3. **शिक्षा पर केंद्रीय बजट का 6 प्रतिशत व्यय** – इस शिक्षा नीति में शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व का विषय माना गया है इसलिए केंद्रीय बजट में 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करने का प्रस्ताव रखा गया है। दृष्टव्य है कि उस समय शिक्षा पर केंद्रीय बजट का केवल 2.9 प्रतिशत ही व्यय किया जा रहा था।

टिप्पणी

4. **सम्पूर्ण देश के लिए 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना**– पूरे देश में 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना लागू की जाएगी। प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा के लिए एक आधारभूत पाठ्यचर्या (Core Curriculum) तैयार की जाएगी, +2 पर स्थान विशेष की आवश्यकतानुसार पाठ्यचर्या निश्चित की जाएगी और इस स्तर पर 50 प्रतिशत छात्रों को व्यावसायिक शिक्षा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया जाएगा। प्रथम स्नातक पाठ्यक्रम 3 वर्ष का होगा। प्रत्येक विश्वविद्यालय को अपने पाठ्यक्रम निश्चित करने की स्वतंत्रता होगी परंतु ये पाठ्यक्रम अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों के आधार पर विकसित किये जाएंगे।
5. **अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था**– भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 के अनुसार 6 से 14 आयुवर्ग के बच्चों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। यह प्रयत्न किया जाएगा कि प्रथम 5 वर्षों के अंदर 6 से 11 आयुवर्ग के बच्चों की निम्न प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क हो जाए और अगले पांच वर्षों में 11 से 14 आयुवर्ग के बच्चों की उच्च प्राथमिक शिक्षा भी अनिवार्य एवं निःशुल्क हो जाए। इस प्रकार 10 वर्षों के अंदर अर्थात 1978 तक इस लक्ष्य की प्राप्ति की जाएगी।
6. **माध्यमिक शिक्षा का विस्तार एवं उन्नयन**– जहां माध्यमिक शिक्षा की मांग है वहां यह उपलब्ध कराई जाएगी। निकट भविष्य में 10 वर्षीय शिक्षा को अनिवार्य एवं निःशुल्क किया जाएगा। इस स्तर पर बच्चों को राष्ट्र का इतिहास और संविधान के मूल तत्वों का सामान्य ज्ञान कराया जाएगा और व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। इसमें गुणात्मक सुधार किया जाएगा।
7. **माध्यमिक स्तर पर त्रिभाषा सूत्र लागू करना**– प्राथमिक स्तर पर केवल मातृभाषा का अध्ययन अनिवार्य होगा, उच्च प्राथमिक (निम्न माध्यमिक) स्तर पर मातृभाषा तथा अन्य किसी भारतीय भाषा अथवा अंग्रेजी का अध्ययन अनिवार्य होगा और माध्यमिक स्तर पर इनके साथ किसी एक और राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय महत्व की भाषा का अध्ययन करना होगा।
8. **भारतीय भाषाओं का विकास**– राष्ट्रीय महत्व की सभी भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था की जाएगी और उनका विकास किया जाएगा। राष्ट्र भाषा हिंदी का प्रचार किया जाएगा और संस्कृत की शिक्षा के लिए उचित कदम उठाए जाएंगे।
9. **प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा में कार्यानुभव एवं राष्ट्रीय सेवा की अनिवार्यता**– शिक्षा का उत्पादन से संबंध स्थापित करने के लिए प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा में कार्यानुभव अनिवार्य किया जाएगा और स्वावलंबन पर बल दिया जाएगा। बच्चों में सामाजिकता की भावना विकसित करने और उनके उनका चरित्र निर्माण करने के लिए समाज सेवा कार्य भी अनिवार्य किया जाएगा।
10. **प्रतिभावान छात्रों की पहचान करना**– अल्पायु (प्राथमिक स्तर के बाद) में भी प्रतिभावान छात्रों की पहचान की जाएगी, उनको अपने विकास के उचित अवसर दिए जाएंगे, निर्धन को आर्थिक सहायता दी जाएगी।

टिप्पणी

11. **विश्वविद्यालयी शिक्षा का प्रसार एवं उन्नयन**– उच्च स्तर पर छात्रों की बढ़ती हुई संख्या के आधार पर महाविद्यालयों में सायंकालीन कक्षाओं की व्यवस्था की जाएगी और विश्वविद्यालयों में अंशकालीन और पत्राचार पाठ्यक्रम चलाए जाएंगे। विश्वविद्यालयी शिक्षा के उन्नयन के लिए विश्वविद्यालयों को स्वायत्तता प्रदान की जाएगी, कुलपति पद पर प्रशासनिक अनुभव प्राप्त शिक्षाविदों को नियुक्त किया जाएगा, प्रथम स्नातक पाठ्यक्रमों में इंटर पास छात्रों को प्रवेश दिया जाएगा और स्नातकोत्तर स्तर पर केवल योग्य छात्रों को ही प्रवेश दिया जाएगा।

12. **कृषि, व्यावसायिक, तकनीकी एवं इंजीनियरिंग शिक्षा की विशेष व्यवस्था**– कृषि विज्ञान के सामान्य ज्ञान के लिए पॉलीटेक्निक विद्यालय खोले जाएंगे और उसके उचित ज्ञान के लिए कुछ विश्वविद्यालयों में कृषि संकायों की स्थापना की जाएगी और प्रत्येक राज्य में कम से कम एक कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किया जाएगा जो कृषि के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी होगा। व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा के स्तर को ऊंचा किया जाएगा और उन्हें औद्योगिक संस्थानों की मांगों के अनुसार विकसित किया जाएगा।

13. **विज्ञान शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान पर विशेष ध्यान**– आर्थिक विकास की गति तीव्र करने और भारतीय समाज का आधुनिकीकरण करने के लिए प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा में विज्ञान और गणित की शिक्षा अनिवार्य की जाएगी और विश्वविद्यालयी शिक्षा में विज्ञान की उच्च शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में शोध कार्य को प्राथमिकता दी जाएगी। साथ ही राष्ट्र के वैज्ञानिक शोध संस्थानों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी जाएगी।

14. **उच्च स्तर की पाठ्य पुस्तकों का निर्माण**– किसी भी स्तर पर शिक्षा के लिए उच्च स्तरीय पुस्तकों का निर्माण किया जाएगा। इसके लिए विद्वान लेखकों को प्रोत्साहित किया जाएगा, उन्हें आर्थिक सहायता दी जाएगी। साथ ही योग्य लेखकों को पारिश्रमिक देकर उनसे अच्छी पुस्तकें तैयार कराई जाएंगी।

15. **परीक्षा प्रणाली में सुधार**– बाह्य परीक्षाओं के महत्व को कम किया जाएगा और आंतरिक एवं सतत् मूल्यांकन की योजना बनाई जाएगी। माध्यमिक स्तर पर कक्षा आठ के बाद पहली सार्वजनिक परीक्षा होगी। किसी भी स्तर की परीक्षा को विश्वसनीय एवं वैध माना जाएगा। परीक्षा परिणामों में बाह्य और आंतरिक मूल्यांकन के प्राप्तांक अलग–अलग दिखाए जाएंगे और श्रेणी के स्थान पर ग्रेड दिए जाएंगे।

16. **शिक्षकों के स्तर और शिक्षण में सुधार**– शिक्षा व्यवसाय की ओर योग्य युवकों को आकर्षित करने के लिए शिक्षकों के वेतनमान बढ़ाए जाएंगे और उनकी सेवा शर्तों को आकर्षक बनाया जाएगा। प्रत्येक स्तर के सरकारी एवं गैरसरकारी शिक्षकों के लिए राष्ट्रीय सम्मान निश्चित किये जाएंगे और समान सेवा शर्तें निश्चित की जाएंगी। सभी शिक्षकों के लिए सामूहिक लाभ योजना (जी.पी.एफ., बीमा और पेंशन) तुरंत लागू की जाएगी। शिक्षकों के संगठनों को मान्यता दी जाएगी, शिक्षकों को राजनीति में भाग लेने की स्वतंत्रता होगी, वे

टिप्पणी

चुनाव लड़ सकेंगे। साथ ही शिक्षण को प्रभावशाली बनाने हेतु शिक्षण प्रशिक्षण में सुधार किया जाएगा, उसके स्तर को उठया जाएगा। इसके लिए विश्वविद्यालयों में 'शिक्षक शिक्षा विद्यालय' (School of Education) स्थापित किये जाएंगे और शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्य को बढ़ावा दिया जाएगा। पूर्णकालीन शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में पूर्णकालीन शिक्षक प्रशिक्षण के साथ–साथ अंतर्सेवा प्रशिक्षण (Inservice Training) की व्यवस्था की जाएगी, शिक्षकों को निरंतर अद्यतन रूप से परिचित कराया जाएगा और अद्यतन कौशलों में प्रशिक्षित किया जाएगा।

17. **छात्र कल्याण योजनाओं का निर्माण एवं क्रियान्वयन**– विद्यालयों में निःशुल्क मध्याह्न भोजन की व्यवस्था की जाएगी और महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में सस्ते जलपान गृहों की व्यवस्था की जाएगी। छात्रों के लिए छात्रावास का निर्माण किया जाएगा और प्रत्येक स्तर पर छात्रवृत्ति की संख्या बढ़ाई जाएगी। छात्रों को छात्र संघ बनाने की स्वीकृति दी जाएगी।

18. **छात्रों के लिए खेल–कूद की उत्तम व्यवस्था**– शिक्षा के सभी स्तरों पर स्वास्थ्य लाभ हेतु खेल–कूदों की उत्तम व्यवस्था की जाएगी और खिलाड़ियों को प्रोत्साहन दिया जाएगा।

19. **प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को प्रोत्साहन**– शतप्रतिशत साक्षरता की प्राप्ति और उत्पादन में वृद्धि हेतु प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को और अधिक गति दी जाएगी। व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थानों में कार्यरत व्यक्तियों की प्रौढ़ शिक्षा का उत्तरदायित्व इन संस्थाओं पर होगा। शिक्षक और छात्र राष्ट्रीय सेवा कार्य के अंतर्गत साक्षरता आंदोलन में भाग लेंगे। विश्वविद्यालयों में विस्तार सेवा केंद्रों की स्थापना की जाएगी और इनके द्वारा प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों को गति दी जाएगी। स्थान–स्थान पर सार्वजनिक पुस्तकालयों की व्यवस्था की जाएगी तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का विस्तार किया जाएगा।

20. **संपूर्ण शिक्षा द्वारा भारतीय समाज का आधुनिकीकरण**– प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के द्वारा भारतीय समाज का आधुनिकीकरण किया जाएगा अर्थात भारतीय जनता में अपनी संस्कृति की सुरक्षा के साथ–साथ वैज्ञानिक सोच उत्पन्न की जाएगी, उन्हें विज्ञान एवं तकनीकी के प्रयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि करने की ओर अग्रसर किया जाएगा और किसी भी विचार अथवा क्रिया के निरंतर मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त किया जाएगा।

21. **शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति**– राष्ट्र के सभी बच्चों को जाति, लिंग, धर्म, स्थान आदि किसी भी आधार पर भेद–भाव किये बिना शिक्षा का समान अवसर प्रदान करना लोकतंत्र की मांग है। इसकी पूर्ति के लिए समस्त बच्चों की पहुंच के अंदर (कम दूरी पर) प्राथमिक स्कूल स्थापित किये जाएंगे। बालिकाओं तथा पिछड़े, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अल्पसंख्यक वर्ग के बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। पहाड़ी क्षेत्रों और कबीलों के बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। शारीरिक दृष्टि से विकलांग एवं

टिप्पणी

मानसिक दृष्टि से पिछड़े बच्चों के लिए अलग से विद्यालय स्थापित किये जाएंगे। प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क की जाएगी, माध्यमिक और उच्च शिक्षा स्तर पर निर्धन छात्रों को शुल्क मुक्ति दी जाएगी और छात्रवृत्तियां दी जाएंगी। पिछड़ी, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के बच्चों को भी छात्रवृत्तियां दी जाएंगी।

भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) का मूल्यांकन

हमारा राष्ट्र एक लोकतंत्रीय राष्ट्र है, इसकी अपनी कुछ मूलभूत आवश्यकताएं हैं। साथ ही यह एक विकासशील राष्ट्र है इस दृष्टि से इसके अपने कुछ लक्ष्य हैं। यदि हम इन सब आधारों पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 का मूल्यांकन करें तो उसमें निम्नलिखित गुण–दोष स्पष्ट होते हैं–

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 के गुण

1. शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व का विषय माना गया है और उस पर केंद्रीय बजट का 6 प्रतिशत व्यय करने का प्रस्ताव किया गया है। भारत की नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इसे स्वीकार किया गया है।
2. संपूर्ण देश में समान शिक्षा संरचना 10 + 2 + 3 लागू करना स्वीकार किया गया है और प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा के लिए आधारभूत पाठ्यचर्या बनाने की बात कही गई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इसे स्वीकार किया गया है। यह संरचना आरंभ हो गई है, इससे लाभ होने सुनिश्चित हैं।
3. अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने पर बल दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इस पर बल दिया गया है। इस लक्ष्य की ओर हम निरंतर अग्रसर भी रहे हैं।
4. माध्यमिक शिक्षा के विस्तार के साथ–साथ उसके गुणात्मक सुधार पर बल दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इस पर बल दिया गया है और इन दोनों ही दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।
5. भारतीय भाषाओं के विकास पर बल दिया गया है। विचार तो उत्तम है, यह बात दूसरी है कि इसके लिए प्रयत्न बहुत कम किया जा रहा है।
6. प्रतिभावान छात्रों की पहचान कर उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था करना केंद्रीय सरकार का उत्तरदायित्व माना गया है। इस दिशा में हमारे कदम उठ चुके हैं, परिणाम अच्छे हैं।
7. विश्वविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ उसके गुणात्मक सुधार पर बल दिया गया है। यह बात दूसरी है कि इन दोनों ही क्षेत्रों में हमें कम सफलता मिली है।
8. कृषि, व्यावसायिक, तकनीकी एवं इंजीनियरिंग की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इस पर बल दिया गया है। इसी के द्वारा देश का आर्थिक विकास किया जा सकता है। इस बीच इसके लिए कुछ प्रयास किये गए हैं।

टिप्पणी

9. विज्ञान शिक्षा और वैज्ञानिक शोधों पर विशेष ध्यान देने की बात कही गई है। इस युग में किसी भी विकासशील देश के लिए इसकी अत्यधिक आवश्यकता है, यह एक अनिवार्यता है।
10. किसी भी स्तर की परीक्षा प्रणाली में सुधार की बात कही गई है। सच बात यह है कि परीक्षा प्रणाली पर ही शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया केंद्रित होती है, यदि इसमें सुधार कर दिया जाता है तो शेष ढांचे में अपने आप सुधार हो जाता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी मूल्यांकन में सुधार पर बल दिया गया है।
11. शिक्षकों के स्तर को उठाने, उनके वेतनमान बढ़ाने और सेवाशर्तों में सुधार करने पर बल दिया गया है। साथ ही शिक्षण प्रशिक्षण को प्रभावी बनाने पर बल दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इस पर बल दिया गया है। शिक्षकों के वेतनमान बढ़े हैं, उनकी सेवाशर्तों में सुधार हुआ है और शिक्षण प्रशिक्षण के क्षेत्र में सुधार की प्रक्रिया शुरू हो गई है।
12. छात्रों के कल्याण के लिए अनेक योजनाएं प्रस्तुत की गई हैं, उनके लिए खेल–कूद की उचित व्यवस्था करने पर बल दिया गया है और खिलाड़ियों को प्रोत्साहन देने की बात कही गई है। इस दिशा में कुछ कार्य भी किये गए हैं।
13. शत प्रतिशत साक्षरता की प्राप्ति और देश के आर्थिक विकास के लिए प्रौढ़ शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया है तथा इसकी व्यवस्था करने पर बल दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इस कार्य पर बल दिया गया है पर इस दिशा में हमें सफलता बहुत कम मिली है।
14. संपूर्ण शिक्षा द्वारा भारतीय समाज के आधुनिकीकरण पर बल दिया गया है। छात्रों में वैज्ञानिक सोच उत्पन्न करने और नागरिकों के जीवन स्तर को उठाने के लिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान एवं तकनीकी के प्रयोग पर बल दिया गया है। इसे स्वीकार करने से देश का आर्थिक विकास हुआ है।
15. और सबसे बड़ी और अंतिम विशेषता यह है कि सभी को शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर प्रदान करने की पूरी योजना तैयार की गई है, पिछड़े, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अल्पसंख्यकों की शिक्षा की व्यवस्था करने पर विशेष बल दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी इस पर बल दिया गया है। इस दिशा में कुछ प्रयास भी किये गए हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 के दोष

1. इस नीति में केंद्र और राज्य सरकारों के शैक्षिक उत्तरदायित्व तो निश्चित किये गए हैं पर ऐसे किसी अधिनियम की बात नहीं कही गई है जिससे उन्हें अपने उत्तरदायित्व निर्वाह के लिए बाध्य किया जा सके। परिणाम यह है कि अपनी–अपनी ढपली अपना–अपना राग चल रहा है।
2. प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा के लिए जिस आधारभूत पाठ्यचर्या के निर्माण की बात की गई है वह अति विस्तृत है और ऊपर से कार्यानुभव एवं राष्ट्र सेवा कार्यों की अनिवार्यता ने उसे बहुत बोझिल बना दिया है। जहां यह लागू कर दी गई है, छात्र इसके बोझ से दबे जा रहे हैं।

टिप्पणी

3. माध्यमिक स्तर पर जिस त्रिभाषा सूत्र को लागू करना निश्चित किया गया है वह भी दोषयुक्त है। आरंभ में त्रिभाषा सूत्र का निर्माण पूरे देश में राष्ट्र भाषा हिंदी की शिक्षा अनिवार्य करने के उद्देश्य से किया गया था। कोठारी आयोग द्वारा प्रस्तावित त्रिभाषा सूत्र में अहिंदी क्षेत्र के बच्चों को हिंदी अथवा अंग्रेजी में से एक भाषा लेने की छूट है। यह त्रिभाषा सूत्र की मूल भावना अर्थात मूल उद्देश्य के प्रतिकूल है। क्या हम रूस, जापान और चीन की भांति अपनी राष्ट्रभाषा पर निर्भर नहीं कर सकते।
4. कार्यानुभवों के लिए जिन व्यवसायों की सूची तैयार की गई है, पहली बात तो यह है कि उसके लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता होगी जिसे सरकार बजट बढ़ाने के बाद भी नहीं जुटा सकती और दूसरी बात यह है कि उन्हें सरलता से सुलभ भी नहीं कराया जा सकता। इसे जहां आरंभ भी किया गया है वहां कच्चे माल की बर्बादी के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगा है।
5. इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के द्वार किसी भी इंटर पास छात्र के लिए खोल दिए गए। परिणाम यह हुआ कि महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में छात्रों का प्रवेश दबाव बढ़ा, छात्र अनुशासनहीनता बढ़ी, छात्र आक्रोश बढ़ा, शिक्षित बेरोजगारी बढ़ी और कुल मिलाकर समय, शक्ति और धन का अपव्यय हुआ।

   कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में वायदे तो बहुत किये गए थे, परंतु उन वायदों को पूरा करने के लिए न तो पूरी योजना तैयार की गई थी और न ही उसके लिए पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था की गई थी। संसाधनों के अभाव में इस नीति का ईमानदारी से पालन नहीं किया जा सका। एक–दूसरे पर दोषारोपण अधिक और उपलब्धियां अपेक्षाकृत बहुत कम हुई। पर यह नीति थी देश के अनुकूल। यही कारण है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इसी नीति का समर्थन किया गया है, प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 और नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में थोड़ा–बहुत अंतर दिखाई देता है, वह केवल भाषाई अंतर है और डिग्री का अंतर है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति प्रारूप 1979

राष्ट्रीय शिक्षा नीति प्रारूप – 1979 ने एक ऐसी शैक्षिक प्रणाली के विकास का प्रस्ताव दिया जिससे लोगों को न केवल अपने ज्ञान को बढ़ाने में बल्कि अकादमिक कौशल को भी बढ़ाने में मदद मिले। इसने छात्रों के बीच नैतिकता और नैतिकता के बारे में जागरूकता पैदा करने का भी आह्वान किया ताकि वे एक अच्छे व्यक्तित्व का विकास कर सकें और योग्य नागरिक बन सकें। शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति प्रारूप ने सुझाव दिया कि संवैधानिक मूल्यों को मजबूत करने वाली एक अच्छी शिक्षा प्रणाली को लागू किया जाना चाहिए। शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करने पर जोर दिया गया था।

शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति के प्रारूप में परिकल्पना की गई थी कि वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली को भारतीय लोगों की समकालीन जरूरतों के आलोक में बदलना होगा। इसने यह भी निर्धारित किया कि शिक्षा प्रणाली लचीली और सभी परिस्थितियों

टिप्पणी

के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए। इसके अलावा, भारतीय शिक्षा प्रणाली को श्रेष्ठता, हीनता और अलगाव की भावनाओं को दूर करने हेतु शिक्षित वर्गों और जनता के बीच की खाई को कम करने का प्रयास करना चाहिए। नीति ने यह भी सुझाव दिया कि शैक्षणिक संस्थानों और समुदायों को एक साथ काम करना चाहिए और एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए।

2.5.2 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 बारह भागों में विभाजित है। इसके प्रथम भाग 'भूमिका' में यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 का व्यापक प्रभाव पड़ा है, सभी प्रांतों में 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना स्वीकार कर ली गई है, प्राथमिक शिक्षा 90 प्रतिशत बच्चों को उपलब्ध है, माध्यमिक स्तर पर विज्ञान और गणित की शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया है, उच्च शिक्षा के स्तर पर विज्ञान और गणित की शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया है, उच्च शिक्षा के स्तर को उठाने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है और देश की आवश्यकतानुसार जन शक्ति की पूर्ति हो रही है, पर साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि इस नीति के अधिकांश सुझाव कार्य रूप में परिणति नहीं हो सके हैं। फिर इस बीच देश की परिस्थितियों में भारी परिवर्तन हुआ है। देश की जनसंख्या तेजी से बढ़ी है, परंपरागत मूल्यों में ह्रास हुआ है और लोकतंत्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में अनेक अड़चनें आ रही हैं। इनके अतिरिक्त हमें भविष्य में अनेक समस्याओं का सामना करना होगा, अतः आवश्यक है कि वर्तमान और भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए सरकार शिक्षा की नई नीति तैयार करे और उसे क्रियान्वित करे।

इस शिक्षा नीति के द्वितीय भाग 'शिक्षा का सार और उसकी भूमिका' (The Essence and Role of Education) में यह स्वीकार किया गया है कि सबके लिए शिक्षा हमारे भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता है। शिक्षा मनुष्य को सुसंस्कृत बनाती है और संवेदनशील बनाती है जिससे राष्ट्रीय एकता विकसित होती है। यह मनुष्य में स्वतंत्र चिंतन एवं सोच–समझ की क्षमता उत्पन्न करती है जिससे हम लोकतंत्रीय लक्ष्य– समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, न्याय, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता की प्राप्ति कर सकते हैं, आर्थिक विकास कर सकते हैं और अपने वर्तमान एवं भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। शिक्षा वास्तव में एक उत्तम निवेश (Investment) है।

इसके तीसरे भाग 'राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली' (National System of Education) में यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में संविधान की मूल धारणा 'एक निश्चित स्तर तक बिना किसी भेदभाव के सभी को समान शिक्षा उपलब्ध हो' को सर्वप्रथम वरीयता दी जानी चाहिए। साथ ही पूरे देश में समान शिक्षा संरचना 10 + 2 + 3 लागू होने चाहिए। इसमें प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा की ऐसी आधारभूत पाठ्यचर्या तैयार होनी चाहिए जिसके द्वारा राष्ट्रीय मूल्यों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो सके। साथ ही प्रत्येक स्तर की शिक्षा का न्यूनतम अधिगम मानक (Minimum Learning Standard) निश्चित होना चाहिए और उसमें गुणात्मक सुधार होना चाहिए।

टिप्पणी

चौथे भाग 'समानता के लिए शिक्षा' (Education for Equality) में इस बात पर बल दिया गया है कि शिक्षा क्षेत्र की विषमताओं को दूर किया जाना चाहिए और महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यकों, विकलांगों और प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए विशेष प्रयत्न किये जाने चाहिए।

पांचवें भाग 'विभिन्न स्तरों पर शिक्षा का पुनर्गठन – शिशुओं की देख–भाल और शिक्षा' (Reorganization of Education at Different Stages - Early Childhood Care and Education) में पूर्व प्राथमिक स्तर पर शिशुओं के पोषण, प्राथमिक स्तर पर बच्चों की संपूर्ण क्रियाओं, माध्यमिक स्तर पर गति निर्धारक विद्यालयों की स्थापना और उच्च स्तर पर खुले विश्वविद्यालयों की स्थापना पर बल दिया गया है।

छठे भाग 'तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा' (Technical and Management Education) में तकनीकी और प्रबंध शिक्षा के महत्व को स्पष्ट किया गया है और इसकी समुचित व्यवस्था पर बल दिया गया है।

सातवें भाग 'शिक्षा व्यवस्था को कारगर बनाना' (Making the System Work) में शिक्षा के प्रशासनिक तंत्र को सक्रिय बनाने, शिक्षकों की जवाबदेही निश्चित करने और शिक्षार्थियों को कर्तव्य बोध कराने पर बल दिया गया है।

आठवें भाग 'शिक्षा की विषय वस्तु और प्रक्रिया को नया मोड़ देना' (Reorienting the content and Process of Education) में सांस्कृतिक मूल्यों और वैज्ञानिक सोच में समन्वय करने पर बल दिया गया है। मूल्यों की शिक्षा और भारतीय भाषाओं के विकास के साथ–साथ गणित एवं विज्ञान की शिक्षा पर बल दिया गया है और स्वास्थ्यवर्द्धक क्रियाओं– खेल–कूद आदि पर बल दिया गया है, अंत में परीक्षा प्रणाली एवं मूल्यांकन प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव दिए हैं।

नौवें भाग 'शिक्षक' (The Teacher) में शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया है। उसके वेतनमान बढ़ाने और सेवाशर्तों को आकर्षक बनाने की बात कही गई है और शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार के सुझाव दिए गए हैं।

दसवें भाग 'शिक्षा का प्रबंध' (The Management of Education) में प्रशासन के विकेंद्रीकरण पर बल दिया गया है, राष्ट्रीय स्तर पर 'भारतीय शिक्षा सेवा', राज्य स्तर पर 'प्रांतीय शिक्षा सेवा' और जिले स्तर पर 'जिला शिक्षा परिषद' के गठन की बात कही गई है। साथ ही शिक्षा प्रशासन को चुस्त करने की बात कही गई है।

ग्यारहवें भाग 'संसाधन तथा समीक्षा' (Resources and Review) में यह स्वीकार किया गया है कि इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 को लागू करने के लिए एक बड़ी धनराशि की आवश्यकता होगी। अतः प्रत्येक प्रस्तावित कार्य के लिए अनुमानित धनराशि आवंटित करने की व्यवस्था की जाएगी। इस भाग में इस बात पर भी बल दिया गया है कि प्रत्येक पांच वर्ष बाद नई शिक्षा नीति के क्रियान्वयन और उसके परिणामों की समीक्षा की जाए।

टिप्पणी

इसके बारहवें और अंतिम भाग 'भविष्य' (The Future) में यह विश्वास प्रकट किया गया है कि हम निकट भविष्य में शतप्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे और हमारे देश के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति सर्वोत्तम स्तर के होंगे।

मई, 1986 में नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति का दस्तावेज प्रकाशित किया गया और नवंबर में इसकी कार्य योजना प्रकाशित की गई। प्राथमिक शिक्षा क्षेत्र में सुधार हेतु जो योजना तैयार की गई उसे 'ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड' (Operation Black Board) की संज्ञा दी गई। यह प्राथमिक विद्यालयों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति का संकेत है। यह प्राथमिक विद्यालयों में केवल ब्लैक बोर्ड उपलब्ध कराने तक सीमित नहीं है, यह उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योजना है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के आधारभूत लक्ष्य

इस योजना का लक्ष्य स्थानीय निकाय एवं अन्य मान्यता प्राप्त संस्थाओं द्वारा संचालित सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों की दशा सुधारना है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की कार्य योजना में माध्यमिक शिक्षा में सुधार हेतु भी अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें गतिनिर्धारक विद्यालयों (Pace Setting Schools), 'नवोदय विद्यालयों' की स्थापना प्रमुख हैं। इसमें इन नवोदय विद्यालयों के स्वरूप, उनकी स्थापना और उनके संचालन की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। उच्च शिक्षा के अवसर सर्वसुलभ कराने के लिए खुले विश्वविद्यालयों (Open Universities) की स्थापना एवं कार्य पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार के लिए 'जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान' (DIE), 'शिक्षक शिक्षा कॉलेज' (CTE) और 'शिक्षा उच्च अध्ययन केंद्र' (CASE) के स्वरूप एवं कार्य पद्धति की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा, प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा और शैक्षिक अवसरों की समानता आदि के संबंध में भी पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इन दोनों दस्तावेजों से शिक्षा नीति एवं रीति संबंधी जो लक्ष्य उजागर होते हैं उन्हें निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध किया जा सकता है–

1. **शिक्षा प्रशासन का विकेंद्रीकरण** – इस शिक्षा नीति के दसवें भाग में शिक्षा शासन के विकेंद्रीकरण पर बल दिया गया है और राष्ट्रीय स्तर पर 'भारतीय शिक्षा सेवा', प्रांतीय स्तर पर 'प्रांतीय शिक्षा सेवा' और जिला स्तर पर 'जिला शिक्षा परिषद' के गठन की घोषणा की गई है।
2. **शिक्षा की व्यवस्था हेतु पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था** – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के तृतीय भाग में यह स्वीकार किया गया है कि शिक्षा मनुष्य का भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास करती है और यह हमारे सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास, लोकतंत्रीय मूल्यों (स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, न्याय, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता) की प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है। शिक्षा के अभाव में इन सबकी प्राप्ति नहीं की जा सकती। शिक्षा एक उत्तम निवेश है। इस शिक्षा नीति

टिप्पणी

के ग्यारहवें भाग में इसे क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध कराना स्वीकार किया गया है और यह घोषणा की गई कि केंद्र अपने बजट में शिक्षा पर 6 प्रतिशत का प्रावधान करेगा। साथ ही प्रत्येक स्तर पर जन सहयोग को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जाएगा।

3. **संपूर्ण देश में 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना लागू** – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के तृतीय भाग में संपूर्ण देश के लिए 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना स्वीकार की गई है। प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा पूरे देश के लिए समान होगी, इसके लिए एक आधारभूत पाठ्यचर्या होगी। + 2 पर प्रतिभाशाली छात्र–छात्राओं को विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए प्रेरित किया जाएगा और सामान्य छात्र–छात्राओं को क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं तथा छात्र–छात्राओं को रुचि एवं योग्यतानुसार व्यावसायिक शिक्षा प्रदान की जाएगी। + 3 पर छात्रों को उच्च ज्ञान प्रदान किया जाएगा जो देश की सांस्कृतिक सुरक्षा और उसके आधुनिकीकरण में सहायक होगा, साथ ही चिकित्सा, न्याय, कृषि, विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी जिसके द्वारा व्यापार की मांगों की पूर्ति होगी।

4. **विभिन्न स्तरों पर शिक्षा का पुनर्गठन** – इस शिक्षा नीति के पांचवें भाग में शिक्षा के सभी स्तरों का पुनर्गठन करने पर बल दिया गया है। पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या में सुधार करने और उनके स्तर को उठाने पर बल दिया गया है। शिक्षा के सभी स्तरों पर एक तरफ सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा और दूसरी तरफ गणित, विज्ञान एवं कम्प्यूटर प्रयोग आदि की शिक्षा पर बल दिया गया है; संस्कृति संरक्षण और आधुनिकीकरण में समन्वय पर बल दिया गया है।

5. **पूर्व प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था** – इस स्तर पर शिशुओं के शारीरिक एवं मानसिक विकास पर ध्यान दिया जाएगा, उनके भोजन, वस्त्र, सफाई और पर्यावरण पर ध्यान दिया जाएगा और उनके लिए खेल–कूद एवं व्यायाम की उचित व्यवस्था की जाएगी।

6. **अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करना** – प्राथमिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाया जाएगा। अभी 90 प्रतिशत बच्चों को 1 किमी की दूरी पर प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध हैं, शेष 10 प्रतिशत को 1990 तक उपलब्ध करा दिए जाएंगे। 1995 तक 11 से 14 आयु वर्ग के शत प्रतिशत बच्चों को उच्च प्राथमिक शिक्षा भी सुलभ करा दी जाएगी। प्राथमिक विद्यालयों की दशा में सुधार किया जाएगा। ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड योजना के अनुसार कम से कम दो कमरों, एक बरामदे और दो शौचालयों के पक्के भवन, दो शिक्षक (जिनमें यथा संभव एक महिला शिक्षक होगी), ब्लैक बोर्ड, चॉक, डस्टर, नक्शे, विज्ञान किट, टाट–पट्टी, खेल के मैदान और खेल सामग्री

टिप्पणी

उपलब्ध कराई जाएगी। ऐसे बच्चे जो किसी कारण औपचारिक शिक्षा केंद्रों पर नहीं जा पाते हैं उनके लिए अनौपचारिक शिक्षा केंद्र खोले जाएंगे।

7. **माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन** – इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति के पांचवें भाग में यह घोषणा की गई है कि माध्यमिक शिक्षा सभी इच्छुक लड़के–लड़कियों को सुलभ कराई जाएगी। इस स्तर पर त्रिभाषा सूत्र लागू होगा और गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, मानविकी, इतिहास, राष्ट्रीयता, संवैधानिक दायित्व, नागरिक अधिकार एवं कर्तव्य, सांस्कृतिक संस्कार और कार्यानुभव को अनिवार्य किया जाएगा। प्रत्येक जिले में एक नवोदय विद्यालय स्थापित किया जाएगा जो अन्य विद्यालयों के लिए आदर्श विद्यालय होगा। + 2 पर सामान्य शिक्षा के साथ–साथ क्षेत्र विशेष की आवश्यकतानुसार व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी और यह प्रयत्न किया जाएगा कि 1995 तक इस व्यावसायिक वर्ग में 25 प्रतिशत छात्र शिक्षा ग्रहण करें।

8. **उच्च शिक्षा का प्रसार एवं उन्नयन** – इस शिक्षा नीति के पांचवें भाग में यह स्पष्ट किया गया है कि उच्च शिक्षा द्वारा छात्रों में विशिष्ट ज्ञान एवं कुशलता का विकास किया जाएगा जिससे राष्ट्र का विकास होगा। इसके मौजूदा पाठ्यक्रमों में सुधार किया जाएगा और शिक्षण को चिंतन परक बनाया जाएगा। साथ ही शिक्षकों के कार्यों का मूल्यांकन किया जाएगा और उनकी पदोन्नति योग्यता के आधार पर की जाएगी। उच्च शिक्षा का स्तर मान बनाए रखने का उत्तरदायित्व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) का होगा। उच्च शिक्षा को सर्वसुलभ करने के लिए खुले विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाएगी।

9. **तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा में सुधार** – इस शिक्षा नीति के छठे भाग में तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए उसकी उचित व्यवस्था करने पर बल दिया गया है। यह घोषणा की गई है कि तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा को भविष्य की आवश्यकतानुसार नियोजित किया जाएगा और महिलाओं तथा समाज के कमजोर वर्ग के बच्चों को तकनीकी शिक्षा की पूरी–पूरी सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएंगी। इस शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए इनके पाठ्यक्रमों को अद्यतन बनाया जाएगा और सैद्धांतिक ज्ञान की अपेक्षा प्रायोगिक दक्षता पर अधिक बल दिया जाएगा और साथ ही शोध कार्य पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। शिक्षा का स्तरमान निश्चित करने और इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं पर नियंत्रण करने के लिए 'अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद' (All India Council for Technical Education) को कानूनी अधिकार दिए जाएंगे। निम्न स्तर की तकनीकी संस्थाओं को बंद किया जाएगा और इस क्षेत्र में उच्च स्तरीय कार्य करने वालों को प्रोत्साहन दिया जाएगा।

टिप्पणी

10. **परीक्षा प्रणाली और मूल्यांकन प्रक्रिया में सुधार** – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के आठवें भाग के अंत में तत्कालीन परीक्षा प्रणाली और मूल्यांकन प्रक्रिया में सुधार की चर्चा की गई है। यह घोषणा की गई है कि मूल्यांकन को एक सतत् प्रक्रिया बनाया जाएगा, बाह्य मूल्यांकन के स्थान पर आंतरिक मूल्यांकन को अधिक महत्व दिया जाएगा, परीक्षाओं को वैध और विश्वसनीय बनाया जाएगा, प्रश्नपत्रों की रचना और उत्तर पुस्तकों के मूल्यांकन को वस्तुनिष्ठ बनाया जाएगा और श्रेणी के स्थान पर ग्रेड सिस्टम लागू किया जाएगा।

11. **शिक्षकों के स्तर और शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार** – शिक्षकों का चयन उनकी योग्यता के आधार पर किया जाएगा। उनके स्तर को उठाने के लिए उनके वेतनमान बढ़ाए जाएंगे और सेवाशर्तों को आकर्षक बनाया जाएगा। पूरे देश में समान कार्य के लिए समान वेतनमान के सिद्धांत को लागू किया जाएगा, साथ ही सेवापूर्व और सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार किया जाएगा। प्रत्येक जिले में 'जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान' की स्थापना की जाएगी जिनमें प्राथमिक शिक्षकों और अनौपचारिक शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण की व्यवस्था होगी और साथ ही अल्पकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाएंगे तथा इस क्षेत्र में शोध कार्य किये जाएंगे। घटिया किस्म के प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों को बंद कर दिया जाएगा। कुछ चुने हुए उच्च स्तर के माध्यमिक शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों का दर्जा बढ़ाया जाएगा, उन्हें 'शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय' में समोन्नत किया जाएगा जिससे माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण और इस क्षेत्र में शोध कार्य की व्यवस्था होगी। इसके साथ ही कुछ और उत्तम श्रेणी के शिक्षक शिक्षा महाविद्यालयों को 'उच्च शिक्षा अध्ययन केंद्र' (Centre of Advance Studies in Education, CASE) में समोन्नत किया जाएगा। इन सब शिक्षा संस्थाओं के मार्गदर्शन करने और उन पर नियंत्रण रखने के लिए 'राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद' (NCTE) को और अधिक अधिकार दिए जाएंगे।

12. **प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का विस्तार** – प्रौढ़ शिक्षा को राष्ट्रीयता में जोड़ा जाएगा और 15–35 आयु वर्ग के प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के लिए सरकारी और गैरसरकारी संगठनों का उपयोग किया जाएगा। औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों को उनमें कार्यरत निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर बनाने का उत्तरदायित्व सौंपा जाएगा। प्रौढ़ शिक्षा के दूसरे पक्ष– अद्यतन जानकारी हेतु सतत् शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। ग्रामीण क्षेत्रों में सतत् शिक्षा केंद्र खोले जाएंगे और पुस्तकालयों तथा वाचनालयों की व्यवस्था की जाएगी। प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में जनसंचार के साधनों का प्रयोग किया जाएगा।

13. **सतत् शिक्षा की व्यवस्था** – युवा वर्ग, गृहिणियों, किसानों, व्यापारियों और विभिन्न उद्योगों में कार्यरत व्यक्तियों को उनके क्षेत्र की अद्यतन जानकारी देने

हेतु सतत् शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी और इसके लिए खुली शिक्षा एवं दूर शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी और जनसंचार के माध्यमों का प्रयोग किया जाएगा।

टिप्पणी

14. **शैक्षिक तकनीकी का प्रयोग** – किसी भी स्तर की किसी भी प्रकार की शिक्षा के लिए शैक्षिक तकनीकी का प्रयोग किया जाएगा। जन संचार के माध्यमों से शिक्षा को सर्वसुलभ बनाया जाएगा।

15. **शिक्षा व्यवस्था को कारगर बनाना** – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के सातवें भाग में शिक्षा को कारगर बनाने के लिए शिक्षकों की जवाबदेही निश्चित करने और छात्रों को कर्तव्य बोध कराने पर बल दिया गया है। इसके तीसरे भाग में शिक्षा के प्रत्येक स्तर के लिए न्यूनतम अधिगम मानक निश्चित करने की बात कही गई है और उसमें गुणात्मक सुधार करने की बात कही गई है। इस दस्तावेज के दसवें भाग में प्रशासन तंत्र को चुस्त करने पर बल दिया गया है।

16. **शैक्षिक अवसरों की समानता के लिए ठोस प्रयास** – इस शिक्षा नीति के चौथे भाग में स्पष्ट घोषणा की गई है कि शैक्षिक विषमताओं को दूर किया जाएगा और महिलाओं, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक और विकलांगों की शिक्षा की विशेष व्यवस्था की जाएगी तथा सभी को शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर सुलभ कराए जाएंगे।

17. **अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था** – एक निश्चित योजना के तहत सर्वप्रथम निम्न प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य, निःशुल्क और सर्वसुलभ कराई जाएगी, इसके बाद उच्च प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य, निःशुल्क एवं सर्वसुलभ कराई जाएगी और इसके बाद प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा अनिवार्य, निःशुल्क और सर्वसुलभ कराई जाएगी।

18. **महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान** – इस हेतु निम्नलिखित कदम उठाए जाएंगे–

    (क) स्त्री–पुरुषों की शिक्षा में भेद नहीं किया जाएगा, लिंग मूलक अंतर को समाप्त किया जाएगा।

    (ख) महिलाओं की शिक्षा के विकास हेतु प्रारंभ से ही प्रयत्न किए जाएंगे।

    (ग) महिलाओं को विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।

    (घ) महिलाओं को व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधाएं दी जाएंगी।

19. **अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के बच्चों की शिक्षा की उचित व्यवस्था** – इस क्षेत्र में निम्नलिखित कदम उठाए जाएंगे–

टिप्पणी

(क) नगरों, गांवों और पहाड़ी तथा आदिवासी क्षेत्रों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के बच्चों के लिए विद्यालयों की व्यवस्था की जाएगी।

(ख) इन विद्यालयों में यथासंभव इन्हीं वर्गों और इन्हीं क्षेत्रों के शिक्षकों की नियुक्ति की जाएगी।

(ग) दूर–दराज से आने वाले बच्चों के लिए छात्रावासों का निर्माण कराया जाएगा।

(घ) इन वर्गों के बच्चों को आर्थिक सहायता की धनराशि बढ़ाई जाएगी।

(ङ) आदिवासी क्षेत्रों में पहले उनकी अपनी भाषा सिखाई जाएगी और उसके बाद क्षेत्रीय भाषा सिखाई जाएगी।

20. **पिछड़े वर्ग एवं पिछड़े क्षेत्रों के बच्चों की शिक्षा की उचित व्यवस्था** – इस हेतु निम्नलिखित कदम उठाए जाएंगे–

(क) पिछड़े वर्ग एवं पिछड़े क्षेत्रों के बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

(ख) देश के रेगिस्तानी, पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में और अधिक स्कूल खोले जाएंगे।

(ग) इन क्षेत्रों के स्कूलों में इन्हीं क्षेत्रों के शिक्षित युवकों को प्रशिक्षित कर शिक्षक नियुक्त करने का प्रयास किया जाएगा।

(घ) पिछड़े वर्ग के बच्चों को आर्थिक सहायता जारी रहेगी, साथ ही उन्हें छात्रवृत्तियां दी जाएंगी।

21. **अल्पसंख्यकों के बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान** – संविधान में अल्पसंख्यकों (मुसलमान एवं ईसाई आदि) को अपनी भाषा, संस्कृति एवं धर्म की रक्षा करने का अधिकार दिया गया है। अतः–

(क) इन्हें अपनी शिक्षा संस्थाएं चलाने का अधिकार होगा, परंतु इनका पाठ्यक्रम प्रांतीय सरकार द्वारा निश्चित पाठ्यक्रम ही होगा।

(ख) इनके क्षेत्रों में स्कूलों की स्थापना की जाएगी।

22. **विकलांग और मंदबुद्धि बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था** – इनकी शिक्षा की व्यवस्था हेतु निम्नलिखित कदम उठाए जाएंगे–

(क) विकलांग और मंदमुद्धि बालकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाएगा और इनकी शिक्षा व्यवस्था हेतु स्वैच्छिक प्रयासों को प्रोत्साहित किया जाएगा।

(ख) मामूली विकलांग बच्चे सामान्य बच्चों के साथ पढ़ेंगे। गूंगे, बहरे, अंधे और मंदबुद्धि बालकों के लिए अलग–अलग स्कूल खोले जाएंगे।

(ग) विकलांग बच्चों को कुटीर उद्योग–धंधों की शिक्षा दी जाएगी और उन्हें आत्मनिर्भर बनाया जाएगा।

(घ) विकलांग और मंदबुद्धि बालकों की शिक्षा हेतु विशेष प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की नियुक्ति की जाएगी।

टिप्पणी

2.5.3 राममूर्ति समीक्षा समिति, 1990 का प्रतिवेदन

1986 में नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की गई, उसी वर्ष इसकी कार्ययोजना प्रकाशित की गई और 1987 से इसका क्रियान्वयन करना शुरू कर दिया गया। इस शिक्षा नीति में यह स्पष्ट किया गया था कि प्रत्येक 5 वर्ष बाद इसके क्रियान्वयन का मूल्यांकन किया जाएगा, पर केंद्र सरकार ने 3 वर्ष बाद ही मई 1990 में इसकी समीक्षा हेतु श्री राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति का गठन कर दिया। इसे राममूर्ति समीक्षा समिति 1990 कहा जाता है।

समिति ने अपनी समीक्षा रिपोर्ट दिसंबर, 1990 में प्रस्तुत की। इस समिति की रिपोर्ट के प्रारंभ में ही यह स्वीकार किया गया है कि 1986 के बाद देश की स्थिति और अधिक खराब हुई है। सांस्कृतिक मूल्यों में और अधिक ह्रास हुआ है, सामाजिक समता के स्थान पर वर्ग भेद बढ़ा है, धार्मिक सहिष्णुता के स्थान पर धार्मिक उन्माद बढ़ा है और शैक्षिक अवसरों की समानता के स्थान पर शैक्षिक अवसरों की असमानता बढ़ी है। इसके बाद समिति ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के क्रियान्वयन की समीक्षा की और फिर अपने सुझाव दिए जिन्हें निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध किया जा सकता है–

(1) **शिक्षा के प्रशासन एवं वित्त संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इसके क्रियान्वयन हेतु पर्याप्त धनराशि देने का आश्वासन दिया गया था। सरकार ने अपने वायदे के अनुसार विभिन्न कार्यों के लिए धनराशि देना शुरू भी किया था परंतु जहां प्रथम योजना (1951–55) में शिक्षा के लिए 7.86 प्रतिशत की व्यवस्था की गई थी, वहां सातवीं योजना (1985–90) में उसे घटाकर 3.55 प्रतिशत कर दिया गया। संसाधनों की कमी के कारण इस शिक्षा नीति का क्रियान्वयन नहीं हो सका है। समिति ने सुझाव दिया कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति के सही क्रियान्वयन हेतु राज्य को आवश्यक धनराशि जुटानी चाहिए।

(2) **पूर्व प्राथमिक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने देखा कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के तहत शिशुओं की देखभाल एवं शिक्षा की व्यवस्था की गति बहुत मंद है। उसने सुझाव दिया कि समाज के सुविधाविहीन शिशुओं की देखभाल एवं शिक्षा के लिए आंगनबाड़ी व्यवस्था को विस्तार दिए जाएं और साथ ही आंगनबाड़ियों के कार्यों को समुन्नत किया जाए।

(3) **प्राथमिक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने स्पष्ट किया कि प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के कार्य को गंभीरता से नहीं लिया जा रहा है। उसने यह भी स्पष्ट किया कि ब्लैक बोर्ड योजना के अंतर्गत 1990–91

टिप्पणी

तक 50 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों को इसका लाभ पहुंचाया जाना था परंतु अब तक केवल 30 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों को ही इसका लाभ पहुंचाया जा सका है और इन 30 प्रतिशत के भी जो भवन बनाए गए हैं वे एकदम घटिया किस्म के हैं तथा इनमें जो सामग्री भेजी गई है वह भी घटिया किस्म की है। उसने सुझाव दिया कि प्राथमिक स्तर पर शत प्रतिशत नामांकन, शत प्रतिशत सुझाव और शत प्रतिशत सफलता के लिए ठोस कदम उठाए जाएं और ब्लैकबोर्ड योजना का क्रियान्वयन सही ढंग एवं सही गति से किया जाए। उसने प्रारंभ से ही शिक्षा को मूल्य परक बनाने पर बल दिया।

(4) **माध्यमिक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अनुसार पूरे देश में 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना लागू होनी थी लेकिन अभी तक नहीं हो पाई है। देश में अभी तक जो 261 नवोदय विद्यालय खोले गए हैं, उनसे कोई लाभ नहीं हुआ है। + 2 पर 1995 तक 25 प्रतिशत छात्र–छात्राओं को व्यावसायिक धारा में लाने का लक्ष्य है परंतु अभी (1990) तक केवल 2.5 प्रतिशत छात्रों को ही इस धारा में लाया जा सका है। इस संदर्भ में समिति ने पहला सुझाव तो यही दिया कि इस स्तर पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति का ईमानदारी से क्रियान्वयन किया जाए और दूसरा सुझाव यह दिया कि सार्वजनिक स्कूल प्रणाली को ईमानदारी से लागू किया जाए। उसने यह भी सुझाव दिया कि शिक्षा मूल्य परक होनी चाहिए।

(5) **उच्च शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– उच्च शिक्षा सर्व सुलभ बनाने हेतु खुले विश्वविद्यालयों की स्थापना की बात कही गई है और 1986 में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना भी की गई है। इसमें अनेक पाठ्यक्रम भी शुरू किये गए हैं परंतु इससे उच्च शिक्षा का स्तर गिरा है। उच्च शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए प्रवेश पर नियंत्रण की बात कही गई थी, वह नहीं किया गया। शिक्षकों के शिक्षण का मूल्यांकन करने की बात कही गई थी, वह भी केवल औपचारिकताओं की पूर्ति तक सीमित रही। अधिक आर्थिक सहायता देने का वायदा किया गया था, वह भी झूठा साबित हुआ। परिणाम यह है कि उच्च शिक्षा का प्रसार अनियोजित ढंग से हुआ है और उसका स्तर गिरा है। इससे अधिक चिंता का विषय यह है कि उच्च शिक्षा में अंग्रेजी का वर्चस्व अभी तक बना है। समिति ने उच्च शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों पर कठोर नियम तथा प्रवेश हेतु चयन प्रणाली के पालन का सुझाव दिया।

(6) **व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की बात कही गई थी, कम्प्यूटर शिक्षा पर बल दिया गया था और घटिया किस्म

टिप्पणी

के तकनीकी शिक्षा संस्थानों को बंद करने की बात की गई थी। इस बीच कम्प्यूटर शिक्षा का तो काफी प्रचार हुआ है, शेष सब यथावत चल रहा है, कोई सुधार नहीं हुआ है। इस संदर्भ में समिति ने शिक्षा को रोजगार परक बनाने पर बल दिया और साथ ही रोजगार परक शिक्षा के व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा संस्थानों के स्तर को उठाने की बात कही। उसने सुझाव दिया कि अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद को संवैधानिक दर्जा दिया जाए और उसके क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किये जाएं जो तकनीकी शिक्षा के उन्नयन के लिए उत्तरदायी हों।

(7) **शिक्षक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने देखा कि शिक्षक शिक्षा सैद्धांतिक अधिक है। उसने सुझाव दिया कि यह दक्षता पर आधारित होनी चाहिए।

(8) **प्रौढ़ शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने स्पष्ट किया कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम उचित ढंग से नहीं चलाए जा रहे हैं। इसके लिए सुझाव दिया कि प्रौढ़ शिक्षा का उत्तरदायित्व मानव संसाधन मंत्रालय के शिक्षा विभाग, ग्रामीण विकास मंत्रालय और श्रम मंत्रालय, तीनों के ऊपर होना चाहिए।

(9) **निम्न वर्ग की शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यकों और ग्रामीणों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की बात कही गई पर इसका अमल नहीं हो रहा है। सरकार को अपनी घोषित नीति के अनुसार इनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(10) **त्रिभाषा शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने देखा कि देश के अधिकतर प्रांतों में त्रिभाषा सूत्र का पालन नहीं किया जा रहा है। उसने सुझाव दिया कि त्रिभाषा सूत्र को लागू किया जाए। उसने यह भी सुझाव दिया कि इन भाषाओं को प्रोत्साहित किया जाए और अंग्रेजी के वर्चस्व को समाप्त किया जाए।

(11) **शैक्षिक अवसरों की समानता संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में शैक्षिक अवसरों की समानता पर बहुत अधिक बल दिया गया और इसके लिए अनेक कार्यक्रमों की घोषणा की गई परंतु हम देख रहे हैं कि इस संदर्भ में कदम नहीं उठाए गए हैं। समिति ने सुझाव दिया कि इस दिशा में राज्य को ठोस कदम उठाने चाहिए।

राममूर्ति समीक्षा समिति 1990 का मूल्यांकन

इस समिति ने भी खानापूर्ति की है– यह होना चाहिए था, नहीं हुआ, ऐसा होना चाहिए आदि। समिति की सम्मति में अंग्रेजी का वर्चस्व कम होना चाहिए, वह और

टिप्पणी

बढ़ रहा है। समिति ने कहा कि नवोदय विद्यालयों से कोई लाभ नहीं हो रहा है, यह योजना बंद कर देनी चाहिए। समिति की अपनी सम्मति में इनसे उतना लाभ नहीं हो रहा जितनी अपेक्षा की गई थी, अतः इनकी छात्र शिक्षा प्रणाली और कार्यप्रणाली में सुधार होना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति : जनार्दन रेड्डी समिति, 1992 की रिपोर्ट

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के क्रियान्वयन के संबंध में राममूर्ति समीक्षा समिति ने अपनी रिपोर्ट 1990 में प्रस्तुत की। 1992 में सरकार ने इस नीति के क्रियान्वयन की समीक्षा करने हेतु जनार्दन रेड्डी की अध्यक्षता में एक नई समिति का गठन किया। इस समिति की समीक्षा एवं नीतियों को हम निम्नांकित क्रम में देख सकते हैं–

(1) **प्रशासन एवं वित्त संबंधी समीक्षा एवं मूल्यांकन**– समिति ने देखा कि सरकार न तो शिक्षा का प्रशासन उचित ढंग से कर पा रही है और न ही व्यवस्था सही ढंग से कर पा रही है। उसने सुझाव दिया कि जिला शिक्षा परिषदों की स्थापना की जाए। वित्त के संबंध में उसने पहला सुझाव यह दिया कि राज्य प्राथमिक शिक्षा को प्रथम वरीयता दे और अपने संसाधनों का सर्वाधिक प्रयोग इसकी व्यवस्था पर करे और माध्यमिक तकनीकी शिक्षा को धीरे–धीरे स्ववित्तपोषित बनाए।

(2) **पूर्व प्राथमिक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुधार**– समिति ने देखा कि शिशु कल्याण योजनाओं को पूरे जोश के साथ नहीं चलाया जा रहा है। उसने सुझाव दिया कि शिशुओं की देखभाल, परिवार कल्याण, पोषण एवं स्वास्थ्य संबंधी योजनाओं में गति लाई जाए, आंगनबाड़ियों में कार्यरत व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र व्यापक किया जाए और इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

(3) **प्राथमिक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने देखा कि प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लिए किये जा रहे प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। उसने 20वीं शताब्दी के अंत तक 14 वर्ष तक के बच्चों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था हेतु पहला सुझाव यह दिया कि 8वीं योजना के दौरान सभी बच्चों को 1 किमी के अंदर प्राथमिक स्कूल उपलब्ध कराए जाएं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के बच्चों की शिक्षा के लिए विशेष प्रबंध किये जाएं। जो बच्चे किसी कारण स्कूलों में शिक्षा प्राप्त न कर पा रहे हैं उनके लिए निरौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की जाए, पर यह निरौपचारिक शिक्षा औपचारिक शिक्षा के स्तर की ही होनी चाहिए। समिति ने देखा कि उस समय प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक विद्यालयों का अनुपात 4 : 1 था, उसने इसे 2 : 1 अनुपात में लाने का सुझाव दिया। उसने यह भी सुझाव दिया कि ब्लैकबोर्ड योजना उच्च प्राथमिक स्कूलों में भी लागू की जाए। उसने प्राथमिक स्तर के लिए न्यूनतम अधिगम स्तर की प्राप्ति पर भी बल दिया।

टिप्पणी

(4) **माध्यमिक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने देखा कि उस समय माध्यमिक शिक्षा परिषदें अपने कार्य का संपादन सही ढंग से नहीं कर पा रही थीं। उसने सुझाव दिया कि इनको पुनर्गठित किया जाए और इन्हें स्वायत्तशासी बनाया जाए। उसने प्रधानाचार्यों को प्रशासनिक एवं वित्तीय अधिकार देने का सुझाव भी दिया। उसने माध्यमिक स्तर पर खुली शिक्षा के विस्तार की बात कही। माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की शुरुआत करने और इस स्तर पर कम्प्यूटर शिक्षा की व्यवस्था करने पर इसने विशेष बल दिया। + 2 पर व्यावसायिक धारा को सुदृढ़ किया जाए, इसके लिए उच्च माध्यमिक विद्यालयों को साधन संपन्न किया जाए। समिति ने नवोदय विद्यालय योजना को चालू रखने का सुझाव दिया और शेष जिलों में उन्हें शीघ्रातिशीघ्र स्थापित करने की बात कही, पर साथ ही इनकी प्रवेश परीक्षा एवं कार्य प्रणाली में सुधार का सुझाव दिया। समिति की सम्मति में इस स्तर पर भी न्यूनतम अधिगम स्तर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न आवश्यक है।

(5) **उच्च शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने अनुभव किया कि उच्च शिक्षा का स्तर ठीक नहीं है। इस संबंध में उसने पहला सुझाव दिया कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के क्षेत्रीय कार्यालय यथा शीघ्र स्थापित किये जाएं। दूसरा सुझाव यह दिया कि पाठ्यक्रम विकास केंद्र योजना जारी रखी जाए। तीसरा सुझाव यह दिया कि नये–नये पाठ्यक्रम शुरू किये जाएं। चौथा सुझाव यह दिया कि उच्च शिक्षा शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए एकेडेमिक स्टाफ कॉलेज योजना को विस्तार दिया जाए, और पांचवां सुझाव यह दिया कि निम्न स्तर की उच्च शिक्षा संस्थाएं बंद कर दी जाएं।

(6) **व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने देखा कि उस समय तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था ठीक नहीं थी। उसने सुझाव दिया कि अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद की क्षेत्रीय समितियां गठित की जाएं जो नये तकनीकी शिक्षा संस्थान खोलने, नए पाठ्यक्रम शुरू करने और तकनीकी शिक्षा का स्तर मान बनाए रखने के लिए उत्तरदायी हों।

(7) **शिक्षक शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– शिक्षक शिक्षा के संबंध में समिति ने पहला सुझाव यह दिया कि किसी भी स्तर के शिक्षक शिक्षा पाठ्यक्रम में प्रवेश की प्रणाली में सुधार किया जाए। दूसरा सुझाव यह दिया कि प्राथमिक शिक्षकों के प्रशक्षिण की व्यवस्था जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में की जाए।

(8) **प्रौढ़ शिक्षा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने सुझाव दिया कि केंद्र और प्रांतीय सरकारें प्रौढ़ साक्षरता को प्राथमिकता दें तथा उसकी उचित

टिप्पणी

व्यवस्था हेतु वित्त व्यवस्था करें। उसने यह भी सुझाव दिया कि नव साक्षरों के लिए उत्तर साक्षरता कार्यक्रम व सतत् शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

(9) **भाषा संबंधी समीक्षा एवं सुझाव**– समिति ने इस संदर्भ में पहला सुझाव यह दिया कि केंद्रीय भाषा संस्थान को स्वायत्तशासी निगम का दर्जा दिया जाए जिससे वह भारतीय भाषाओं के विकास के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके। दूसरा सुझाव यह दिया कि माध्यमिक शिक्षा स्तर पर पूरे देश में त्रिभाषा सूत्र को समान रूप से लागू किया जाए और तीसरा सुझाव यह दिया कि उच्च शिक्षा पर भारतीय भाषाओं के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाए।

2.5.4 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020

नई शिक्षा नीति 2020 भारत की नवीनतम शिक्षा नीति है जिसे भारत सरकार द्वारा 29 जुलाई 2020 को घोषित किया गया। सन 1986 में जारी हुई नई शिक्षा नीति के बाद भारत की शिक्षा नीति में यह पहला नया परिवर्तन है। यह नीति अंतरिक्ष वैज्ञानिक के. कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता वाली समिति की रिपोर्ट पर आधारित है।

प्रमुख बातें

(क) नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020 के अंतर्गत वर्ष 2030 तक सकल नामांकन अनुपात (Gross Enrolment Ratio – GER) को 100% लाने का लक्ष्य रखा गया है।

(ख) नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत शिक्षा क्षेत्र पर सकल घरेलू उत्पाद के 6% हिस्से के सार्वजनिक व्यय का लक्ष्य रखा गया है।

(ग) 'मानव संसाधन प्रबंधन मंत्रालय' का नाम परिवर्तित कर 'शिक्षा मंत्रालय' कर दिया गया है।

(घ) पाँचवीं कक्षा तक की शिक्षा में मातृभाषा/स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने पर बल दिया गया है। साथ ही मातृभाषा को कक्षा–8 और आगे की शिक्षा के लिये प्राथमिकता देने का सुझाव दिया गया है।

(च) देश भर के उच्च शिक्षा संस्थानों के लिये "भारतीय उच्च शिक्षा परिषद" नामक एक एकल नियामक की परिकल्पना की गई है।

(छ) शिक्षा नीति में यह पहला परिवर्तन बहुत पहले लिया गया था लेकिन अबकी बार 2020 में जारी किया गया।

पृष्ठभूमि

भारतीय संविधान के नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिये अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाए। 1948 में डॉ॰ राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन हुआ था। तभी से राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्माण होना भी शुरू हुआ था। कोठारी आयोग (1964–1966)

टिप्पणी

की सिफारिशों पर आधारित 1968 में पहली बार महत्त्वपूर्ण बदलाव वाला प्रस्ताव पारित हुआ था।

अगस्त 1985 में 'शिक्षा की चुनौतियां' नामक एक दस्तावेज तैयार किया गया जिसमें भारत के विभिन्न वर्गों (बौद्धिक, सामाजिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, प्रशासकीय आदि) ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणियाँ दीं और 1986 में भारत सरकार ने 'नई शिक्षा नीति 1986' का प्रारूप तैयार किया। इस नीति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें सारे देश के लिए एक समान शैक्षिक ढाँचे को स्वीकार किया गया और अधिकांश राज्यों ने 10 + 2 + 3 की संरचना को अपनाया।

इस नीति में 1992 में संशोधन किया गया था। 2019 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने नई शिक्षा नीति के लिये जनता से सलाह मांगना शुरू किया था। गहन विचार–मंथन के बाद नई 'शिक्षा नीति 2020' को भारत सरकार द्वारा 29 जुलाई 2020 को घोषित किया गया।

प्रमुख परिवर्तन

इस नई नीति में मानव संसाधन मंत्रालय का नाम पुनः "शिक्षा मंत्रालय" करने का फैसला लिया गया है। इसमें समस्त उच्च शिक्षा (कानूनी एवं चिकित्सीय शिक्षा को छोड़कर) के लिए एक एकल निकाय के रूप में भारत उच्च शिक्षा आयोग का गठन करने का प्रावधान है। संगीत, खेल, योग आदि को सहायक पाठ्यक्रम या अतिरिक्त पाठ्यक्रम की बजाय मुख्य पाठ्यक्रम में ही जोड़ा जाएगा। शिक्षा तंत्र पर सकल घरेलू उत्पाद का कुल 6 प्रतिशत खर्च करने का लक्ष्य है जो इस समय 4.43% है। एम॰ फिल॰ को समाप्त किया जायेगा। अब अनुसंधान क्षेत्र में जाने के लिये तीन साल की स्नातक डिग्री के बाद एक साल स्नातकोत्तर करके पीएचडी में प्रवेश लिया जा सकता है।

2020 की इस नई शिक्षा नीति में शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया गया है। व्यापक सुधार के लिए शिक्षक प्रशिक्षण और सभी शिक्षा कार्यक्रमों को विश्वविद्यालयों या कॉलेजों के स्तर पर शामिल करने की सिफारिश की गई है। प्राइवेट स्कूलों में मनमाने ढंग से फीस रखने और बढ़ाने को भी रोकने का प्रयास किया जाएगा। पहले 'समूह' के अनुसार विषय चुने जाते थे, किन्तु अब उसमें भी बदलाव किया गया है। जो छात्र इंजीनियरिंग कर रहे हैं वह संगीत को भी अपने विषय के साथ पढ़ सकते हैं। नेशनल साइंस फाउंडेशन की तर्ज पर नेशनल रिसर्च फाउंडेशन बनाया जायेगा जिससे पाठ्यक्रम में विज्ञान के साथ सामाजिक विज्ञान को भी शामिल किया जाएगा। नीति में पहली और दूसरी कक्षा में गणित और भाषा एवं चौथी और पांचवीं कक्षा के बालकों के लेखन पर जोर देने की बात कही गई है।

स्कूलों में 10+2 फार्मेट के स्थान पर 5+3+3+4 फार्मेट को शामिल किया जाएगा। इसके अंतर्गत पहले पांच साल में प्री–प्राइमरी स्कूल के तीन साल और कक्षा एक और कक्षा दो सहित फाउंडेशन स्टेज शामिल होंगे। पहले जहां सरकारी स्कूल कक्षा एक से शुरू होता था वहीं अब तीन साल के प्री–प्राइमरी के बाद कक्षा एक शुरू होगी। इसके बाद कक्षा 3–5 के तीन साल शामिल हैं। इसके बाद 3 साल का मिडिल स्टेज आएगा यानी कक्षा 6 से 8 तक की कक्षा। चौथा स्टेज (कक्षा 9 से 12वीं

तक का) 4 साल का होगा। पहले जहां 11वीं कक्षा से विषय चुनने की स्वतंत्रता थी वह अब 9वीं कक्षा से रहेगी।

टिप्पणी

शिक्षण के माध्यम के रूप में पहली से पांचवीं तक मातृभाषा का प्रयोग किया जायेगा। इसमें रटंत विद्या को खत्म करने की भी कोशिश की गई है जिसको मौजूदा व्यवस्था की बड़ी खामी माना जाता है। किसी कारणवश विद्यार्थी उच्च शिक्षा के बीच में ही कोर्स छोड़ कर चले जाते हैं तो वर्तमान में ऐसा करने पर उन्हें कुछ नहीं मिलता एवं उन्हें डिग्री के लिये दोबारा से नई शुरुआत करनी पड़ती है। नई नीति में पहले वर्ष में कोर्स को छोड़ने पर प्रमाण पत्र, दूसरे वर्ष में छोड़ने पर डिप्लोमा एवं अंतिम वर्ष में छोड़ने पर डिग्री देने का प्रावधान है।

आशा है हमारी यह शिक्षा नीति हम भारतीयों को 21वीं सदी की चुनौतियों का बेहतर ढंग से सामना करने में सक्षम बनाएगी।

अपनी प्रगति जांचिए

7. निम्न में से किस वर्ष राष्ट्रीय शिक्षा नीति में महती परिवर्तन हुआ?

(क) 1968 (ख) 1986

(ग) 2020 (घ) उपर्युक्त सभी

8. 10+2+3 शिक्षा संरचना की संस्तुति किस वर्ष की गई?

(क) 1968 (ख) 1986

(ग) 2020 (घ) 2005

2.6 शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण

मनुष्य के सामाजिक जीवन को सुचारू रूप से क्रियान्वित करने के लिए व उसके दिन प्रतिदिन के विभिन्न कार्यों के संतोषजनक प्रतिपादन हेतु प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित भूमिका दे दी जाती है व इस आधार पर उसे कुछ समूहों एवं उपसमूहों में विभक्त कर दिया जाता है। समाज के अंतर्गत कुछ समूहों के विभिन्न स्तरों को उपसमूहों में बांट देने की प्रक्रिया को सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) कहते हैं। भारतीय समाज में इस स्तरीकरण का मूल आधार जाति व वर्ग है। परंपरागत समाजों में यह स्तरीकरण की व्यवस्था जन्म से निर्धारित होने वाली जाति व्यवस्था पर आधारित होती है तो विकसित औद्योगिक समाजों में इसका आधार सामाजिक वर्ग होते हैं। प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) जाति के आधार पर होने वाला विभेद सामाजिक स्तरीकरण का ही उदाहरण है, जिसमें जन्म लेते ही व्यक्ति का समाज में एक स्थान, उसके कर्तव्य तथा अधिकार निर्धारित हो जाते थे परंतु आधुनिक समाजों में स्तरीकरण का आधार व्यक्ति की सामाजिक स्थिति होती है। एक ही सामाजिक प्रस्थिति के व्यक्ति एक ही वर्ग के माने जाते हैं चाहे वे किसी

भी जाति के क्यों न हों। इन सामाजिक वर्गों का निर्माण उसी समय शुरू हो जाता है जब समाज के अंतर्गत पाये जाने वाले समूह एक–दूसरे से उच्च तथा निम्न माने जाने लगते हैं। सामाजिक वर्गों के निर्माण की यह प्रक्रिया स्तरीकरण कहलाती है।

टिप्पणी

स्तरीकरण की यह व्यवस्था विभिन्न समाजों में विभिन्न होती है। कुछ में यह बहुत दृढ़ होती है जबकि दूसरों में नगण्य होती है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में जाति एक बहुत कठोर स्तरण है। समाज का प्रत्येक सदस्य एक वर्ग में उत्पन्न होता है जिसे जाति कहते हैं। वह अपनी जाति को कभी भी बदल नहीं सकता। उसका विवाह जाति के बंधनों के अंदर ही होता है और एक बड़ी सीमा तक उसकी आजीविका का निर्णय भी जाति के अनुसार लिया जाता है। परंतु कुछ समाजों में स्तरण की संरचना अस्पष्ट व परिवर्तनशील होने के कारण व्यक्ति की आजीविका या उसका सामाजिक स्तर या उसके जीवन साथी का चुनाव उसके किसी विशेष वर्ग या समाज के स्तरण पर निर्भर नहीं करता। इस प्रकार समाज में व्याप्त इन दो प्रकार की व्यवस्थाओं में सामाजिक स्तरण या तो आरोपित (Ascrited) होता है या प्राप्त (Achieved) होता है स्पष्टतः जब सामाजिक स्थान या स्तरण **आरोपित** होता है तो स्तरीकरण का विभाजन अटूट होता है। जब यह सामाजिक स्थान **प्राप्त** होता है तो यह व्यवस्था कुछ लचीली होने के कारण विभिन्न स्तरों के बीच सामाजिक गतिशीलता संभव होती है। उदाहरणार्थ– अमेरिका की वर्ग व्यवस्था प्राप्त स्तरण (Achieved stratification) व भारत की जाति प्रणाली आरोपित स्तरण (Ascribed stratification) कहलाती है। सामाजिक स्तरीकरण को निम्न रूप से परिभाषित किया जा सकता है–

गिस्बर्ट के अनुसार, "सामाजिक स्तरण उच्च और निम्न संबंध से एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए समाज के स्थायी समूहों या श्रेणियों का विभाजन है।"

मुरे के अनुसार, "समाज का उच्च और निम्न इकाइयों में शैक्षिक विभाजन स्तरीकरण है।"

सदरलैण्ड और वुडवार्ड के अनुसार, "स्तरीकरण विभेदीकरण की एक सरल प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुछ लोग अन्य की तुलना में ऊंची श्रेणी के होते हैं।"

यंग व अन्य के अनुसार, "अधिकांश समाजों में व्यक्ति स्वयं को कुछ वर्गों में वर्गीकृत कर लेते हैं। ऐसे वर्गों को परिभाषित करने की प्रक्रिया को सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं।"

सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता (Need of Social Stratification)– प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तर या वर्गीकरण पाया जाता है। ऐसे प्रत्येक वर्ग को strata या class कहा जाता है। यह वर्ग समाज में असमानता उत्पन्न करते हैं और यही सामाजिक असमानता सामाजिक स्तरीकरण का आधार है। सभी समाज कम या अधिक रूप में सामाजिक असमानता को सदस्यों के स्तरीकरण द्वारा प्रोत्साहित करते हैं व इसे समाज की व्यावहारिक आवश्यकता बताते हैं। उनके विचार में समाज में उच्चस्तरीय कार्यों का आबंटन उच्च वर्ग को किया जाता है तथा निम्न स्तर का कार्य निम्न वर्ग के लोगों को आवंटित किया

टिप्पणी

जाता है क्योंकि वे बौद्धिक दृष्टि से अधिक क्षमता वाले माने जाते हैं। किंतु जब यह वर्गीकरण जन्मजात हो जाता है तो उसमें कठोरता (rigidity) आ जाती है तथा निम्न वर्ग के लोगों का सामाजिक विकास रुक जाता है तथा ऐसे समाज 'बन्द समाज' की श्रेणी में आ जाते हैं। इसके विपरीत वे समाज जिनमें वर्गीकरण की कठोरता नहीं होती व योग्यता के आधार पर व्यक्ति का सामाजिक विकास सम्भव होता है, उन्मुक्त या खुले समाज कहलाते हैं। भारत में भी ऐसे समाज के निर्माण में शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण होती जा रही हैं।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार

सामाजिक स्तरीकरण के कई आधार हैं जैसे– जाति, आयु, लिंग, व्यवसाय, कुशलता, योग्यता, पद एवं आर्थिक स्थिति आदि। प्रत्येक समाज में इन्हीं में से कुछ आधारों पर स्तरों का निर्धारण होता है। सामाजिक स्तरीकरण के ये प्रमुख आधार निम्न हैं–

1. प्रायः बन्द समाजों में आयु को सामाजिक स्तरीकरण का मुख्य आधार माना जाता है तथा इसी कारण युवकों की अपेक्षा प्रौढ़ व वृद्ध व्यक्तियों को उच्च स्थान दिया जाता है।
2. लिंग के आधार पर भी सामाजिक स्तरीकरण प्राय पितृसत्तात्मक व मातृसत्तात्मक परिवारों में 'पुरुष' व 'स्त्री' वर्ग की प्रधानता के रूप में देखा जाता है।
3. जाति के आधार पर भी सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण प्रायः जन्म से ही निश्चित हो जाता है। भारतीय समाज पहले चार वर्णों में बंटा था। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र। समाज में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान तथा शूद्रों को निम्नतम स्थान प्राप्त था।
4. व्यक्ति की शारीरिक तथा बौद्धिक योग्यता भी उसके सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण करती है। यह योग्यता व्यक्ति को उपयुक्त व्यवसाय के चयन में भी सहायता देती है।
5. समाज में भिन्न–भिन्न व्यवसायों की भिन्न–भिन्न प्रतिष्ठा होती है तथा प्रत्येक व्यवसाय के लिए आवश्यक योग्यता भी भिन्न–भिन्न होती है। खुले समाजों में प्रायः सामाजिक स्तरीकरण व सामाजिक गतिशीलता का प्रमुख कारक व्यवसाय ही है। इसी कारण व्यक्ति अपनी योग्यता व कुशलता में वृद्धि करके समाज में ऊंचा स्तर पाने की कोशिश करता है।
6. व्यक्ति की आर्थिक स्थिति भी उसके सामाजिक स्तरीकरण की निर्धारक है। यदि व्यक्ति बहुत शिक्षित व योग्य है तथा प्रतिष्ठित पद पर भी आसीन है परन्तु वह आर्थिक रूप से सम्पन्न नहीं है तो उसका सामाजिक स्तरीकरण निम्न ही रहता है।
7. संसार में जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक शक्तियां निहित होती हैं वह उतना ही प्रतिष्ठित समझा जाता है। कुछ पद स्वयं में इतने शक्तिशाली होते

हैं कि उन पर बैठते ही व्यक्ति उच्च स्तर प्राप्त कर लेता है फिर उसकी जाति, आयु, लिंग, धन सम्पत्ति, शिक्षा तथा कुशलता निम्न स्तर की ही क्यों न हो।

टिप्पणी

8. सामाजिक स्तरीकरण का सबसे मुख्य कारक है– शिक्षा। प्रत्येक समाज में, शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों की अपेक्षा ऊंचा स्तर प्रदान किया जाता है उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति निम्नवर्गीय परिवार से संबंधित होने पर भी समाज में उच्च स्तर का माना जाता है। अतः शिक्षा को सामाजिक स्तरीकरण का मुख्य आधार माना गया है जिसे प्राप्त कर व्यक्ति स्वयं को किसी भी ऊंचाई तक ले जा सकता है।

शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण

प्रायः भारतीय समाज में सामाजिक स्तरण उपरोक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त लिंग भेद के आधार पर भी देखते को मिलता है। चारों प्रकार के स्तरीकरण समाज में व्यक्ति की आरोपित स्थिति (Ascribed status) के कारण हैं। व्यक्ति अपनी ही जाति तथा धर्म में उत्पन्न होता है। उसका लिंग भी उसके जन्म के साथ ही निर्धारित हो जाता है। भारतीय समाज में आर्थिक वर्ग विभेद भी बहुत कुछ उसके किस जाति या परिवार में उसने जन्म लिया है इस पर ही निर्भर हो जाता है। परंतु इस स्तरीकरण में अब परिवर्तन आ रहा है। पहले जाति के अनुसार ही व्यवसाय का चुनाव होता था। एक शूद्र के पुत्र को वही व्यवसाय अपनाना होता था जो उसके पूर्वज करते चले आते थे। इसी प्रकार वैश्य का पुत्र वाणिज्य व्यापार में ही लग जाता था। शूद्रों को ऊपर उठने के कम अवसर मिलते थे। आज संविधान के प्रावधानों के अनुसार सभी व्यक्तियों को जाति, लिंग, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के भेदभाव के बिना शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध हो जाने से कोई भी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता व क्षमता के आधार पर समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है। अतः यह शिक्षा ही है जो व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन ला रही हैं तथा जाति पॉति के बंधनों को काटकर स्तरीकरण के दुष्प्रभावों को भी कम कर रही हैं। परंतु इस संदर्भ में भी यदि शिक्षा का आधार जनतांत्रिक होता है जहां प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता एवं विकास के समान अवसर मिलते हैं तभी यह शिक्षा स्तरीकरण को कम कर पाती है अन्यथा जहां यह आधार पूर्ववत है वहां तो स्तरीकरण को और अधिक बढ़ावा ही मिलता है क्योंकि उच्च वर्ग के बच्चे शिक्षा कितनी भी महंगी होने पर भी अपने कार्य के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं परंतु निम्न वर्ग के बच्चे वही शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं जिनकी फीस वह वहन कर सकते हैं फिर चाहे वह उसकी रुचि की हो या नहीं। इसी प्रकार उच्च वर्ग का बालक कम बौद्धिक योग्यता रखते हुए भी निम्न वर्ग के उच्च बौद्धिक क्षमता वाले बालक से अधिक शिक्षा प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार निम्न वर्ग का बालक शैक्षिक सुविधाओं की कमी के कारण अपनी योग्यता का पूरा विकास नहीं कर पाता है।

अतः यदि समाज में व्याप्त जातीय, धार्मिक आर्थिक एवं लिंग भेद संबंधी स्तरीकरण को कम करना है तो शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर सबको मिलने चाहिए और शिक्षा प्रणाली संगठित करनी चाहिए जो स्तरीकरण में कमी लाने की क्षमता प्रदान करने की ओर सक्रिय हो। इस दिशा में शिक्षा का सार्वभौमीकरण, शैक्षिक अवसरों की

समानता व सर्वशिक्षा अभियान जैसे उपाय कारगर सिद्ध हो सकते हैं। संक्षेप में, शिक्षा का प्रसार इस प्रकार हो कि समाज में व्यक्ति को उसकी जाति व धर्म के नाम पर नहीं वरन् उसकी योग्यता एवं कुशलता के आधार पर शिक्षा, प्रतिष्ठा व सम्मान मिले तभी सामाजिक स्तरीकरण के दुष्प्रभाव में कमी लाई जा सकती है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

9. निम्न में से सामाजिक स्तरीकरण का आधार क्या है?
   (क) जाति, आयु (ख) लिंग, व्यवसाय, कुशलता
   (ग) योग्यता, पद, आर्थिक स्थिति (घ) उपर्युक्त सभी
10. शिक्षा द्वारा स्तरण में परिवर्तन निम्न में से किसका उदाहरण है?
   (क) आरोपित स्तरण का (ख) प्राप्त स्तरण का
   (ग) उपर्युक्त दोनों का (घ) इनमें से कोई नहीं

2.7 सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता

इन विषयों का अध्ययन निम्नानुसार किया जा सकता है–

2.7.1 सामाजिक परिवर्तन : कारक, प्रक्रिया एवं प्रतिमान

भारत में सामाजिक परिवर्तन घटित करने वाली जिन दशाओं का योगदान सबसे अधिक है, उसमें पश्चिमी प्रौद्योगिकी और सामाजिक नियोजन प्रमुख है। जबकि वास्तविकता यह है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन के लिए ये दो दशाएं महत्वपूर्ण अवश्य हैं लेकिन इनके अलावा भी अनेक महत्वपूर्ण कारक हैं, जिनकी सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) प्रौद्योगिक विकास

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात बहुत तीव्र गति से प्रौद्योगिकी के विकास की प्रक्रिया शुरू हुई। नवीन प्रौद्योगिकी की सहायता से देश में बड़े–बड़े उद्योग–धंधों की स्थापना हुई तो दूसरी ओर कृषि उत्पादन के क्षेत्र में भी नवीन उपकरणों का प्रयोग किया जाने लगा। कृषि उत्पादन में वृद्धि होने से जब ग्रामीणों की दशा में सुधार हुआ तो उनके व्यवहारों, विचारों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन होने लगा। नवीन उद्योगों में कार्य करने हेतु बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता बढ़ने से रोजगार के अवसर बढ़े। उसके कारण स्थान परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई तथा एक बड़ी संख्या में संयुक्त परिवारों के सदस्य अपने लिए किसी नवीन एकाकी परिवार में रहने लगे।

टिप्पणी

(2) सामाजिक नियोजन

भारत में स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात सन् 1950 में तत्कालीन प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय योजना आयोग' की स्थापना की गयी। इसके द्वारा संपूर्ण राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक विकास की प्रथम पंचवर्षीय योजना अप्रैल, 1951 से लागू की गयी। आज तक 11 पंचवर्षीय योजनाएं पूरी हो चुकी हैं, जबकि अप्रैल 2012 से 12वीं पंचवर्षीय योजना के द्वारा विकास कार्यक्रमों को लागू किया जा रहा है। सामाजिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य समाज के दुर्बल और शोषित वर्गों की दशाओं मे सुधार करना एवं उन सामाजिक समस्याओं का समाधान करना है, जिनके माध्यम से सामाजिक जीवन को अधिक स्वस्थ बनाया जा सके। इस हेतु बहुत सारे नवीन सामाजिक कानून बनाए गये।

(3) पश्चिमीकरण तथा लौकिकीकरण

पश्चिमीकरण का तात्पर्य पश्चिमी देशों की उन विशेषताओं को ग्रहण करने से है, जिसके माध्यम से सामाजिक जीवन को अधिक प्रगतिशील बनाया जा सकता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता, तर्क पर आधारित विचार, वैज्ञानिक विकास और सामाजिक समानता पश्चिमीकरण की मुख्य विशेषताएं हैं। इन्हीं विशेषताओं के प्रभाव स्वरूप हमारी सामाजिक संरचना एवं सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन घटित होने लगा है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया वह है, जो धार्मिक मनोवृत्तियों में होने वाले परिवर्तन को स्पष्ट करती है। इसके कारण अंधविश्वासों की जगह धार्मिक मान्यताओं को एक तार्किक स्वरूप मिलने लगा।

(4) जनसंख्या में भारी वृद्धि

आज सभी समाज वैज्ञानिक यह मानने लगे हैं कि जनसंख्या के आकार तथा जनसंख्या संबंधी विशेषताओं का सामाजिक परिवर्तन से घनिष्ठ संबंध हैं। स्वतंत्रता के समय जहां भारत की जनसंख्या लगभग 36 करोड़ थी, वहीं सन् 2011 की जनगणना के समय तक वह बढ़कर 121 करोड़ से भी अधिक हो गयी। उत्तम स्वास्थ्य सुविधा के फलस्वरूप जन्म दर और मृत्यु दर दोनों में कमी हुई है। सन् 1951 में गांवों में रहने वाले लोग 82 प्रतिशत से अधिक थे, वहीं 2011 में यह प्रतिशत कम होकर 68.80 हो गया। समाज में जीवन अवधि बढ़ने से लोगों की संख्या में भी वृद्धि हो गयी। जनसंख्या संबंधी इन नवीन विशेषताओं के परिणामस्वरूप समाज में जहां अनेक नयी समस्याएं पैदा हुईं, वहीं समाज को नये सिरे से पुनगर्ठित करने के कारण सामाजिक परिवर्तन में वृद्धि होने लगी।

(5) लोकतांत्रिक संरचना

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात एक नवीन राजनैतिक संगठन के परिणामस्वरूप समाज कल्याण, धर्मनिरपेक्षता और सभी क्षेत्रों के संतुलित विकास के विशेष प्रयत्न आरंभ होने का परिणाम यह हुआ कि परंपरागत सामाजिक व्यवस्था का रहना संभव नहीं रहा। लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रशासन एवं न्याय की शैली में बदलाव से सामाजिक परिवर्तन को गति मिली।

टिप्पणी

(6) सामाजिक गतिशीलता

गतिशीलता का संबंध मुख्य रूप से दो चीजों से है–लोगों द्वारा स्थान परिवर्तन की प्रवृति का बढ़ना तथा उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में बदलाव। स्थान–परिवर्तन के परिणामस्वरूप विवाह एवं परिवार संबंधित व्यवहार के नियमों में परिवर्तन घटित हुआ है। दूसरी ओर सामाजिक–आर्थिक स्थिति का निर्धारण जन्म, आयु और वंश की जगह अर्जित योग्यता और कुशलता के कारण समाज में एक नवीन जागरूकता का अभ्युदय हुआ एवं विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा बढ़ने के कारण व्यवहार के नवीन प्रतिमान विकसित होने लगे।

(7) व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली

परंपरागत शिक्षा के स्थान पर विभिन्न व्यवसायों से जुड़े हुए विशिष्ट ज्ञान में वृद्धि होने से तर्क पर आधारित व्यवहारों का प्रभाव बढ़ने लगा। ऐसी शिक्षा प्रणाली पूरी तौर पर औपचारिक होने से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता में सुधार करने की प्रेरणा मिली। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के प्रति लोगों के विचारों में व्यापक परिवर्तन परिलक्षित होने लगे।

(8) समाजीकरण के नवीन प्रतिमान

समाजीकरण, भूमिका ग्रहण की प्रक्रिया है। इसके माध्यम से व्यक्ति विभिन्न समूहों का सक्रिय सदस्य बनकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। परंपरागत दृष्टि से समाजीकरण का कार्य परिवार द्वारा किया जाता था। आज यह कार्य बड़े–बड़े शिक्षा–संस्थाओं, सरकारी कानून और नीतियों, नवीन स्थानों पर विभिन्न समूहों में बढ़ते संपर्क तथा नई राजनीतिक चेतना द्वारा किया जा रहा है। इसी का फल है कि अधिकांश व्यक्ति नवीन दशाओं से अनूकूलन करके ही जीवन में आगे बढ़ सकते हैं। समाजीकरण के इन नवीन प्रतिमानों के कारण व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों में व्यापक रूप से परिवर्तन घटित हो रहे हैं।

(9) उदारीकरण तथा वैश्वीकरण

इन दोनों प्रक्रियाओं का मुख्यतया संबंध आर्थिक व्यवस्था से है। आर्थिक जीवन में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन समाज की संरचना एवं विभिन्न समूहों के पारस्परिक संबंधों को प्रभावित करता है। उदारीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला तथा उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन हो गया। नवीन उत्पादन प्रणाली के कारण एक–दूसरे से अलग सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं वाले समूह एक–दूसरे से निकट संपर्क में आने लगे। वैश्वीकरण के प्रभाव स्वरूप व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करने वाले लोगों के बीच संबंधों का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया। इसके कारण एक ऐसी संस्कृति का विकास हुआ, जिसे हम मिश्रित संस्कृति कह सकते हैं।

(10) सामाजिक आंदोलन

विशिष्ट दशाओं के प्रभाव से किसी समाज में जब जागरूकता बढ़ती है, तभी समुदाय और वर्ग अपने–अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरुक हो जाते हैं। इनका परिणाम यह हुआ कि कुछ समय पहले तक एक सरल जीवन बिताने वाले कृषकों एवं श्रमिकों

टिप्पणी

ने अपने अधिकारों की मांग करने के लिए व्यापक आंदोलन आरंभ कर दिये। दूसरी ओर महिलाओं की चेतना से भारत में नारी सक्रियता का आरंभ हुआ तथा सरकार द्वारा महिलाओं की सुरक्षा और अधिकारों के लिए विशेष कानूनी प्रावधान किये गए। दलित और पिछड़े वर्गों द्वारा आंदोलन करने के परिणामस्वरूप उनकी स्थिति में व्यापक सुधार हो गये। जन जातियों द्वारा किये जाने वाले आंदोलन से उनकी समस्याओं को पहली बार समझने का प्रयत्न आरंभ हुआ तो दूसरी तरफ इन आंदोलनों ने झारखंड, छत्तीसगढ़, नागालैंड और मिजोरम जैसे राज्यों को जन्म दिया। इस प्रकार के सभी आंदोलन सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करते हैं।

(11) जनसंचार के साधनों का विकास

सामाजिक परिवर्तन लाने में जनसंचार के नवीन साधनों ने सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र में एक नई क्रांति को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण विश्व एक वैश्विक गांव में बदल गया है। भारत में सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पक्षों तथा परिवर्तन के कारकों को समझने के क्रम में उन स्थितियों की तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है, जिनके फलस्वरूप यहां पर नियोजित परिवर्तन में अनेक बाधाएं आ रही हैं। ऐसी प्रमुख बाधाएं निम्नलिखित हैं–

1. जनसंख्या की विशालता,
2. अशिक्षा, अज्ञानता एवं अंधविश्वासों की उच्च दर,
3. सरकार के पास साधनों की कमी,
4. समाज व संस्कृति की जटिलता,
5. सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की तीव्र गति एवं बढ़ती हुई दूरी, एवं
6. जनता की नियोजित परिवर्तन के प्रति उदासीनता इत्यादि।

इन रुकावटों या कठिनाइयों को दूर करके ही हम नियोजन द्वारा समाज में रचनात्मक कार्य कर सकते हैं। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक नियोजन–परिवर्तन केवल आयोजकों द्वारा लागू की जाने वाली कार्यविधि मात्र नहीं है। आधुनिक युग में सामाजिक नियोजित परिवर्तन का बोध व इसमें सतत सहयोगिता जनसामान्य के लिए आवश्यक है।

सामाजिक नियोजन के औचित्यपूर्ण और सार्थक होने के लिए आवश्यक है कि यह दैनिक जीवन पर लागू हो। इसके लागू व सफल होने के लिए इसके पीछे अनेक पढ़े–लिखे व्यक्तियों का सहयोग होना चाहिए, जो सामाजिक प्रघटनाओं को समझने और उनकी सही व्याख्या करने में प्रशिक्षित हो चुके हैं। दुर्भाग्यवश अधिकारी व्यक्ति सामाजिक समस्याओं के बारे में सामान्य बुद्धि, अव्यवस्थित अवलोकन व व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अपनी धारणा बना लेते हैं। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति एक ही गलती इतनी बार दोहराते हैं कि वे उसे स्वाभाविक ही समझने लगते हैं। संसार को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो स्वयं की आलोचना करके, निरी काल्पनिक धारणाओं को अस्वीकार कर दें और वैज्ञानिक ज्ञान को एक ज्ञानशील समाज की आधारशिला मान सकें। समाज वैज्ञानिक, आर्थिक नियोजन में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं, किंतु अधिकांश समाज वैज्ञानिकों ने अभी तक वृहद अध्ययन करने अथवा

विस्तृत पैमाने पर भारत में योजना के उद्देश्यों व कठिनाइयों का निरीक्षण करने के अवसरों का उपयोग नहीं किया है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

टिप्पणी

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। सामाजिक परिवर्तन के निम्नलिखित सिद्धांत अधिक लोकप्रिय हैं–

1. **आर्थिक भौतिकवाद का सिद्धांत** : इसे मार्क्स के सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है।
2. **सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धांत** : इसे वेबलन का सिद्धांत कहकर भी पुकारा जाता है।
3. **श्रम–विभाजन का सिद्धांत** : इसे दुर्खीम के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है।
4. **सामाजिक विभेदीकरण का सिद्धांत** : इसका प्रतिपादन मैकाइवर एवं पेज ने किया है।
5. **सामाजिक सांस्कृतिक सिद्धांत** : इसे आगबर्न का सिद्धांत भी कहते हैं।
6. **विकासवादी सिद्धांत या क्रमबद्ध स्तरीय सिद्धांत** : कॉम्टे, मार्गन, मयफोर्ड और मार्क्स का मत।
7. **सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत** : स्पेंगलर, परेटो, टायनकी तथा सोरोकिन के विचार।

इन सिद्धांतों के मूल स्रोतों का विवरण इस प्रकार है–

1. अपने आर्थिक भौतिकवाद के सिद्धांत में मार्क्स ने आर्थिक कारक को ही प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना है। उनके अनुसार, उत्पादन के तरीके में सर्वप्रथम परिवर्तन होता है, जो हमारे राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को प्रभावित कर संपूर्ण सामाजिक संबंधों में परिवर्तन लाता है। यह उत्पादन के संबंधों को प्रभावित करता है और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन होता है।
2. वेबलन सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिकी को आवश्यक मानते हैं। प्रौद्योगिकी तथा आर्थिक संस्थाएं, व्यक्तियों की आदतों तथा मनोवृत्तियों को सर्वप्रथम प्रभावित करती हैं। चूंकि सामाजिक संबंधों के विचारों का योगदान अधिक महत्वपूर्ण है अतः विचारों में परिवर्तन के कारण सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन शुरू हो जाता है, जिसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।

   उद्विकास के पश्चात किसी भी वस्तु के अंतर्निहित गुण और अंग प्रस्फुटित होकर अलग–अलग स्वरूपों में सामने आते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्विकास वह परिवर्तन है, जिसमें एक स्थिति या स्तर का रूपांतर इस प्रकार होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसके अंग–प्रत्यंग, गुण तथा कार्य अपनी–अपनी विशिष्ट दिशा में जाते हुए दिखाई देते हैं। एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि उद्विकास में मूल्यांकन नहीं होता।

टिप्पणी

प्रगति : प्रगति उस प्रकार का परिवर्तन है, जिसमें अच्छे या बुरे का बोध होता है। प्रगति के लिए एक निश्चित उद्देश्य पहले से निश्चित होता है। जैसे स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने अपने सामने उद्देश्य रखा कि हम एक 'समाजवादी समाज' की स्थापना करेंगे। यदि इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है तो हम कहेंगे कि सामाजिक प्रगति हुई है। प्रगति का निर्धारण सामाजिक मूल्यों से होता है। यह आवश्यक नहीं कि एक समाज में जो प्रगति की सूचक है, वहीं दूसरे समाज की भी प्रगति की सूचक हो। हमने प्रगति की है अथवा नहीं, यह हम अपने सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक आदर्शों से तय करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगति से तात्पर्य उस प्रकार के परिवर्तन से है, जिसमें हम किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं। ये लक्ष्य उस समाज के सामाजिक मूल्यों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

अनुकूलन : अनुकूलन का तात्पर्य विभिन्न वस्तुओं में हुए परिवर्तन से होता है, जिसके द्वारा वे एक–दूसरे से सामंजस्य स्थापित करते हैं। जब हम किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार अपने को बनाना चाहते हैं तो हमारे सामने दो रास्ते हैं–पहला, हम अपने व्यवहार को उस विशेष परिस्थिति के अनुसार करें; दूसरा, उस परिस्थिति विशेष या पर्यावरण को अपने अनुसार संशोधित करें।

मैकाइवर तथा पेज ने परिवर्तन से मिलते–जुलते शब्दों को नीचे दी गई तालिका द्वारा प्रदर्शित किया है–

क्रम संख्या	उपयुक्त गुण	शब्दावली
1.	निरंतर निश्चित परिवर्तन।	प्रक्रिया
2.	आकार के संदर्भ में परिवर्तन जिसमें दिशा का ज्ञान आवश्यक नहीं है।	उद्विकास
3.	सामाजिक मूल्यों के अनुरूप किन्हीं निश्चित दिशाओं में परिवर्तन।	प्रगति
4.	अन्य वस्तुओं के अनुरूप परिवर्तन ताकि एक सामान्य प्रक्रिया का निर्माण हो सके।	अनुकूलन

3. दुर्खीम सामाजिक परिवर्तन के लिए श्रम–विभाजन को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार, जिस समाज में श्रम–विभाजन जितना ही अधिक होगा वह समाज उतनी ही तीव्र गति से परिवर्तित होगा। जैसे–आदिम समाजों में चूंकि श्रम–विभाजन की तीव्रता कम थी, यही कारण था कि वह समाज कम परिवर्तित होता था।

   अपने इस सिद्धांत में उसने दो तत्वों पर विशेष बल दिया हैः प्रथम, समाज का यह नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वह श्रम–विभाजन करके अपने सदस्यों को रोजगार दे। दूसरे, जैसे–जैसे जनसंख्या का घनत्व बढ़ता जाएगा यही श्रम–विभाजन सामाजिक संबंधों को प्रभावित करता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं।

टिप्पणी

4. मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक विभिन्नीकरण को उत्तरदायी माना है। समाज की प्रगति भी इसी विभिन्नीकरण पर आधारित है। इस विभिन्नीकरण के कारण लोगों के कार्य अलग–अलग हो जाते हैं, लोगों के आपसी संबध कार्यात्मक हो जाते हैं, यहां तक कि सामाजिक संस्थाओं का रूप ही बदल जाता है, जिसके कारण साामाजिक परिवर्तन अवश्यवंभावी हो जाता है।
5. ऑगबर्न संस्कृति में भिन्नता को ही सामाजिक परिवर्तन का कारण बताते हैं। उनके अनुसार संस्कृति के दो प्रमुख भाग, भौतिक संस्कृति तथा अभौतिक संस्कृति साथ–साथ नहीं चलते। उनमें विकास की गति एक जैसी नहीं होती। इसी दूरी के कारण, जिसे वे 'सांस्कृतिक विडंबना' कहते हैं, समाज परिवर्तित होता रहता है।
6. विकासवादी विचारकों का मत है कि सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण समाज के विकास के विभिन्न स्तर हैं। जैसे कॉम्टे का मत है कि समाज के विकास के तीन स्तर क्रमशः धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक सामाजिक परिवर्तन, के लिए उत्तरदायी हैं। इसी प्रकार मार्गन समाज के तीन स्तर–जंगली अवस्था, बर्बरता की अवस्था तथा सभ्यता की अवस्था को सामाजिक परिवर्तन का कारण स्वीकारते हैं। इसी प्रकार ममफोर्ड सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। इन सभी विचारकों का मत है कि इन विभिन्न स्तरों पर पहुंचते–पहुंचते समाज का रूप जटिल होता जाता है, जिसके कारण परिवर्तन अवश्यवंभावी हो जाता है।
7. स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक 'The Decline of the West' में यह सिद्ध किया है कि सामाजिक परिवर्तन एक दिशा में न होकर चक्रवात रूप में होता है। जिस प्रकार मौसमों का परिवर्तन है, रात–दिन का क्रम है, एक व्यक्ति के उद्‌विकास का क्रम है, उसी प्रकार समाज की भी प्रगति तथा अवनति करने की दिशा होती है। सोरोकिन ने भी विचारात्मक, आदर्शात्मक तथा भौतिक संस्कृतियों द्वारा प्रभावित समाज के परिवर्तन को चक्रीय रूप से दर्शाया है। परेटो ने भी विशिष्ट वर्ग और निम्न वर्ग के लोगों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की दिशा को चक्रीय रूप में नापा है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान

सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान इस प्रकार हैं–

प्रथम प्रतिमान– यह प्रगति अथवा विकास के रूप में होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करता है। प्रौद्योगिकी तथा आविष्कार के क्षेत्र में कुछ समय पहले की सरल प्रौद्योगिकी आज इतनी उन्नत अवस्था में पहुंच गयी। वैज्ञानिक ज्ञान के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन भी एक निश्चित दिशा में आगे की ओर बढ़ते रहते हैं, इसीलिए ऐसे परिवर्तनों को **रेखीय प्रतिमान** कहा जाता है।

द्वितीय प्रतिमान– वह प्रतिमान जिसकी दिशा आरंभ में कुछ समय तक ऊपर की ओर उठती हुई दिखाई देती है लेकिन बाद में यह नीचे की ओर आकर पुनः ऊपर की ओर उठने लगती है। इसका अर्थ है कि ऐसे परिवर्तनों की कोई निश्चित दिशा

टिप्पणी

नहीं होती। इन्हें उतार–चढ़ाव के रूप में होने वाला परिवर्तन कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए जनसंख्या–वृद्धि की दर।

तृतीय प्रतिमान– वह प्रतिमान जो किसी तत्व में होने वाले विकास या ह्रास को स्पष्ट करता है! तीसरा प्रतिमान ऐसे परिवर्तनों से संबंधित है जिसकी रेखा एक लहर अथवा तरंग की तरह होती है। इसीलिए इसे परिवर्तन का **तरंगीय प्रतिमान** कहा जाता है। आंदोलनों, सांस्कृतिक विशेषताओं, फैशन के तरीकों तथा सामाजिक मूल्यों में इसी तरह के परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

2.7.2 सामाजिक गतिशीलता

व्यक्ति आमतौर पर अपने स्तर और अपने कार्य या भूमिका से पहचाने जाते हैं। केवल समाज ही गतिशील नहीं होता, बल्कि व्यक्ति भी गतिशील होते हैं। लोग निरंतर समाज में अपनी स्थिति सुधारने के लिए प्रयासरत रहते हैं, उच्च स्थिति की ओर बढ़ने के लिए, अधिक अच्छी नौकरी के लिए प्रयासरत रहते हैं। कई बार, उच्चतर स्तर तथा स्थिति के लोग भी निचले स्तर तथा स्थिति में आने को मजबूर हो सकते हैं। इस प्रकार, समाज में स्तर के पैमाने पर निरंतर गति होती रहती है। यही हलचल सामाजिक गतिशीलता कहलाती है जिसका परिणाम सामाजिक परिवर्तन होता है।

'सामाजिक गतिशीलता' व्यक्तियों या समूहों के एक सामाजिक स्तर या स्थिति से दूसरे स्तर या स्थिति में जाने को कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, गरीब व्यक्ति बन जाए, बड़ा उद्योगपति बन जाए आदि। इसी तरह ही बड़ा उद्योगपति दिवालिया भी हो सकता है और शासकवर्ग सत्ता से बाहर हो सकता है।

सामाजिक गतिशीलता के प्रकार

सामाजिक गतिशीलता तीन तरह की होती हैं–

1. ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता,
2. क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता,
3. आकाशीय सामाजिक गतिशीलता

1. **ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता**– ऊर्ध्व गतिशीलता से आशय समूहों के लोगों का एक स्तर से दूसरे स्तर में पहुंचना है। इसमें वर्ग, व्यवसाय या प्रभाव में परिवर्तन शामिल होता है। उदाहरणार्थ, गरीब वर्ग के लोगों का मध्यम वर्ग में पहुंचना, मजदूरी के काम से बैंक क्लर्क बन जाना, प्रतिपक्ष से सत्तापक्ष बन जाना। ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता से हमारा आशय व्यक्तियों का एक सामाजिक परत से दूसरी सामाजिक परत में पारगमन से होता है। इस प्रत्यक्ष पारगमन या संक्रमण के अनुसार, दो तरह की ऊर्ध्व गतिशीलता होती है– आरोही और अवरोही अथवा सामाजिक उतार या सामाजिक चढ़ाव। आरोही प्रकार दो मुख्य रूपों में होता है– व्यक्तियों का निचले स्तर से उच्च स्तर में प्रवेश, स्तर के वर्तमान समूहों के साथ चलने के बजाय इस तरह के

टिप्पणी

समूह का उच्च स्तर में समाहन। अवरोही प्रकार के भी दो मुख्य रूप होते हैं– पहले में व्यक्तियों का उच्च स्तर से निचले स्तर में पतन शामिल होता है, जिसमें उस उच्चतर समूह का किसी तरह का अवमूल्यन या विघटन नहीं होता। दूसरे में समूचे सामाजिक समूह का ही पतन झलकता है। ऊर्ध्व गतिशीलता का उदाहरण– अनुसूचित जातियां शिक्षा, नई तकनीक, कौशल, उच्च स्तरीय जाति समूहों के तौर–तरीके और रीतिरिवाज अपनाकर, अपना जाति नाम, घरेलू संस्कृति और पेशा बदल लेती हैं, और उच्च स्थिति कायम रखती हैं। पदानुक्रम और व्यवसाय, दोनों के क्षेत्र में इस तरह की गतिशीलता को समझने के लिए संदर्भ समूहों के ढांचे के तहत 'परिवेष्टन अनुकरण का प्रयोग किया जाता है। हालांकि इस तरह की गतिशीलता निचले स्तर से उच्च स्तर की ओर होती है।

2. **क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता**– क्षैतिज गतिशीलता से आशय किसी व्यक्ति या सामाजिक वस्तु का किसी अन्य सामाजिक समूह में उसी स्तर पर पहुंचने से है। क्षैतिज स्थानांतरण अक्सर बिना किसी उल्लेखनीय परिवर्तन के होता है। अगर हम व्यवसाय की बात करें, तो एक नौकरी छोड़कर किसी दूसरी जगह वही नौकरी उसी स्तर पर करना क्षैतिज गतिशीलता कहलाएगा। क्षैतिज गतिशीलता का एक उदाहरण नागरिकता का स्थानांतरण या किसी एक राज्य से निकलकर किसी दूसरे राज्य में रहने लगना है। इसका मतलब नागरिकता परिवर्तन नहीं बल्कि नागरिकता का स्थानांतरण है। इसका तात्पर्य स्तर की रेंज के अंदर स्थिति का परिवर्तन है। उदाहरण के लिए, किसी कारखाने में काम करने वाला कोई इंजीनियर नौकरी छोड़कर किसी दूसरे कारखाने में इंजीनियर ही बन जाता है और कमोबेश उसी क्षमता का काम करता है। इसी तरह कोई शिक्षक एक स्कूल छोड़कर दूसरे स्कूल में पढ़ाने लगता है।

3. **आकाशीय सामाजिक गतिशीलता**– आकाशीय गतिशीलता से आशय अंतरपीढ़ीय गतिशीलता से है जो स्थानों से पलायन या स्थानांतरण होता है। उदाहरण के लिए, ग्रामीण समुदाय से शहरी समुदाय की ओर पलायन, या परिवार के अंदर व्यक्तियों का सामाजिक सुधार। इस तरह से इसमें संस्कृति के परिवर्तन का अवसर मिलता है। इस संदर्भ में, बदलाव और गतिशीलता के कुछ विद्वानों ने गतिशीलता की इकाइयों की व्यक्तिगत वित्तीय समूहों या कॉरपोरेट गतिशीलता के रूप में चर्चा की है। गतिशीलता का अध्ययन उपरोक्त पैटर्न में सम्मिलित किया जा सकता है। इस तरह से, हम कह सकते हैं कि सामाजिक गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन की व्यापक अवधारणा का अंश है। संक्रमणकालीन समाज में, आधुनिक शिक्षा, औद्योगिकीकरण, शहरों, कारखानों, नौकरशाही की वृद्धि और व्यवसायगत पैटर्न में परिवर्तन इस सामाजिक गतिशीलता के मुख्य रूप हैं।

टिप्पणी

सामाजिक गतिशीलता पर असर डालने वाले कारक

सामाजिक गतिशीलता के लिए कई कारक उत्तरदायी हैं। इन कारकों का वर्णन निम्न प्रकार से है–

1. **रिक्त स्तर (हैसियत) की आपूर्ति**– किसी स्तर में हैसियतों की संख्या हमेशा या अक्सर स्थिर नहीं होती। उदाहरण के लिए, व्यावसायिक, आधिकारिक, मामूली और सफेदपोश स्थितियों का विस्तार और अकुशल मजदूरों की संख्या में कमी के लिए ऊपर की ओर गतिशीलता की जरूरत है। ये स्थितियां अपने तुलनात्मक सामाजिक पद कायम रखते हैं। जब उच्चतर वर्ग अपने आपको पुनरूत्पादित नहीं करते और इस तरह जनसांख्यिकीय शून्य पैदा हो जाता है और इस तरह से जनसांख्यिकीय कारक भी गतिशीलता के कारण बनते हैं (सोरोकिन, 1959)।
2. **रैंक में अंतर्परिवर्तन**– किसी सामाजिक व्यवस्था में होने वाली कोई भी गतिशीलता जो कि पदों और कर्ताओं की आपूर्ति में बदलाव का नतीजा न हो, आवश्यक रूप से किसी अंतर्परिवर्तन का नतीजा होते हैं। परिणामस्वरूप, अगर हम हर बढ़त के लिए आसान मॉडल के बारे में सोचें, तो उसी अनुपात में कमी भी होगी। अंतर्परिवर्तनीय गतिशीलता व्यापक रूप से उस हद तक निर्धारित होगी जो कोई समाज निम्न स्तर की संख्याएं देता है, जिसका मतलब सामाजिक संरचना में उच्चतर स्तर पर प्रवेश करने वाले लोगों से पूर्ति करना है। इस प्रकार शादी के मापदंड जैसे पारिवारिक पृष्ठभूमि पर संस्कृति जितना कम असर रखती है, वर्ग गतिशीलता ऊपर और नीचे की ओर, उतनी ही ज्यादा होती है। व्यावसायिक सफलता शैक्षणिक उपलब्धियों से जुड़ी होती है, जो कि सबके लिए खुली होती है और इसलिए, व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ती है (लिपसेट और जेटरबर्ग, 1966)।
3. **आधुनिक शिक्षा**– शिक्षा ने खासतौर पर उच्चतर जातियों के आदर्श, तरीके, व्यवहार संबंधी ढंग और जीवनशैली अपनाने के लिए प्रेरित किया है और नए लाभ पैदा किए हैं, जिन्हें एम एन. श्रीनिवास (1965) सांस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के रूप में समझाते हैं। सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया वह है जिसमें निचली जातियां उच्च जातियों के तौर तरीके और सांस्कृतिक रंग–ढंग अपनाते हैं, और कई बार समाज में उच्च स्तर पाने के लिए उनकी ही तरह के नामकरण भी कर लेते हैं। ऐसे कई उदाहरण है जहां निचली जातियों ने ऊपर की ओर गतिशीलती के क्रम में उच्च जातियों के तौर तरीके अपना लिए जोकि अन्यथा परंपरागत हिंदू समाज में संभव नहीं हो पाता। जीवन में पश्चिमी आदर्श अपनाने के संदर्भ में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया भी सामाजिक गतिशीलता में सर्वाधिक क्षमतावान शक्ति है, जो कि खासतौर पर शहरी और औद्योगिक केंद्रों में होती है। नए मूल्यों की ओर रुझान, प्रेरणा, व्यावहारिक तौर तरीके, औपचारिक संबंध, व्यक्तिवाद, सामाजिक स्तर की

टिप्पणी

ओर भौतिकवादी रुझान तथा पश्चिमी प्रौद्योगिकी लोगों के बीच लोकप्रिय हैं। स्तर उत्थान की यह लोकप्रियता ऐसे स्थानों की ओर पलायन को बढ़ावा देती है, जहां शहरी कारोबार, औद्योगिक व्यवसाय और विभिन्न सरकारों में नौकरियां उपलब्ध होती हैं।

4. **पलायन**– शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन भी सामाजिक गतिशील व्यक्तियों और समूहों के सामाजिक स्तर में बदलाव में योगदान करता है। परंपरागत व्यवसाय धीरे–धीरे गायब होते हैं और आधुनिक औद्योगिक व्यवसाय उनकी जगह लेते हैं। ये सारे कारक लोगों की सामाजिक हैसियत सुधारने में मदद करते हैं। सामान्य तौर पर, किसी खास व्यवसाय में जितनी ज्यादा आमदनी होती है, उतनी ही ज्यादा शिक्षा की अहमियत होती है। हालांकि, धन ही जीवन का आधार बनाता है, लेकिन शिक्षा जीवन और जीवनशैली की गुणवत्ता और तरीके निर्धारित करती है। परिणामस्वरूप आधुनिक समाजों में लोगों के जीवन जीने के तरीकों में भारी परिवर्तन आया है। ये बदलाव लोगों के व्यवहार और तौर तरीके में भी दिखते हैं, जो कि सामाजिक गतिशीलता का परिणाम होते होंगे।

शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता

जैसा कि पूर्व में चर्चा की जा चुकी है, आज के संदर्भ में शिक्षा व्यक्ति के जीवन में सबसे अहम और गतिशील ताकत है, जो कि सामाजिक विकास को प्रभावित करती है। यह सामाजिक बदलाव और सामाजिक संरचना में गतिशीलता के कारक के रूप में बहुत ज्यादा भूमिका निभाती है। जीवन शैली सुधारने के तरीके और साधन मुहैया कराकर यह आर्थिक विकास की ओर ले जाती है। शिक्षा के प्रति सकारात्मक रुझान व्यक्तियों और समूहों के बीच सामाजिक–आर्थिक गतिशीलता की ओर ले जाता है। इसका अर्थ है कि किसी किसान परिवार में जन्मा कोई व्यक्ति शिक्षा के जरिए प्रशासनिक अधिकारी या उच्च सरकारी अधिकारी बन सकता है। दूसरी बात, शिक्षा लोगों की जीवनशैली में परिवर्तन लाती है। यह हमारे दृष्टिकोण, आदतों, रंग–ढंग और सामाजिक जीवन के तौर तरीकों में सुधार करती है। तीसरी बात, शिक्षा व्यक्तियों और समूहों के बीच अंतरपीढ़ीय गतिशीलता के लिए जिम्मेदार होती है। अंतरपीढ़ीय गतिशीलता, के जरिए सामाजिक समूह अपना स्तर और अपने परिवार का स्तर कायम रखने में सफल होते हैं। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि शिक्षा व्यक्तियों और समूहों की सामाजिक स्थिति, व्यवसायगत संरचना, जीवन शैली, आदतों और रंग–ढंग के संदर्भ में गतिशीलता में अहम भूमिका निभाती है।

सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक गतिशीलता की प्रकृति, स्वरूप, तीव्रता और मात्रा सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति और प्रकार पर निर्भर करती है। वर्ग और जाति स्तरीकरण के दो मुख्य प्रकार

टिप्पणी

हैं। दोनों की तरह की व्यवस्थाओं में सामाजिक गतिशीलता के समान अवसर नहीं दिए जाते। दोनों ही समाजों में व्यक्तियों के स्तरों का निर्धारण करने वाले कारक मूल रूप से भिन्न होते हैं। व्यक्तियों के उनके स्तर हासिल करने तथा सामाजिक गतिशीलता के बीच निकट संबंध होता है। जाति व्यवस्था में स्तर जन्म से तय होता है। जन्म तो बदला नहीं जा सकता, इसलिए जन्म से तय हुआ स्तर भी नहीं बदला जा सकता। उदाहरण, कोई हरिजन कभी वोक्कालिंगा या लिंगायत या ब्राह्मण नहीं बन सकता। इसी तरह ब्राह्मण भी ब्राह्मण के रूप में ही जन्म लेता है और ब्राह्मण के रूप में ही मरता है। जाति के स्तर नहीं बदल सकते। ऐसे में सामाजिक स्तरीकरण के रूप में जाति ऊर्ध्व समाज की सुविधा नहीं देती।

वर्ग व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता के अवसर रहते हैं। इसमें स्तर व्यक्ति की प्रतिभा, बुद्धि, धन से तय होता है। स्तर जन्माधारित नहीं बल्कि व्यक्ति की उपलब्धियों पर आधारित होता है, उसके प्रयासों से तय होता है। जैसे कि, अपार मेहनत और संघर्ष से कोई मजदूर किसी कारखाने का मालिक बन सकता है, कोई सेल्समैन व्यापारिक घराने का मालिक बन सकता है, आदि। वर्ग व्यवस्था में सामाजिक स्तर में सुधार की संभावना रहती है। यही कारण है कि वर्ग व्यवस्था को खुली व्यवस्था, खुला वर्ग समाज और गतिशील समाज कहते हैं।

जब और जैसे–जैसे समाज अधिक और अधिक जटिल होता जाता है, और इसके सदस्यों का जीवन सुधरता जाता है, व्यक्ति अपनी योग्यताओं और प्रतिभा की अभिव्यक्ति के और बेहतर अवसर पाने लगता है। हालांकि किसी भी समाज में सभी सुपात्र व्यक्तियों को उनकी अपेक्षा, पसंद और रुचि का स्तर नहीं मिल पाता। जैसा कि सोरोकिन ने अपनी 'सोशल मोबिलिटी' में कहा है कि केवल किसी आदर्श समाज में ही सारे व्यक्तियों को उनकी क्षमता के अनुरूप रोजगार और स्तर मिल सकता है। साथ ही, जब व्यक्ति बिना किसी बदलाव के किसी पेशे को अपना लेते हैं तो उनके स्तर को सीमित कर पाना संभव नहीं होता। जैसे कि, भारत जैसे कथित गतिहीन समाज में भी हरिजन अपनी जाति के स्तर को नहीं बदल सकता, चाहे वह अपना शैक्षणिक, आर्थिक, व्यावसायिक और राजनीतिक स्तर बदल भी ले। इस अर्थ में, कोई भी समाज पूरी तरह से खुला या गतिशील नहीं होता, कोई भी समाज पूरी तरह से बंद या गतिहीन नहीं होता।

सामाजिक स्तरीकरण के कार्य

विश्व की संस्कृतियों की झलकियां स्पष्ट करती हैं कि कोई भी समाज वर्गहीन नहीं है, जो कि अप्रमाणित है। सभी ज्ञात स्थापित समाज किसी न किसी रूप में स्तरीकृत हैं। विल्बर्ट मूर और किंग्सले डेविस के अनुसार, स्तरीकरण व्यवस्था कार्य की आवश्यकता के कारण सभी समाजों में विकसित होती है। जैसा कि उन्होंने बताया है कि व्यवस्था की मुख्य कार्य संबंधी आवश्यकता है– 'किसी समाज में व्यक्तियों को सामाजिक संरचना में रखने और प्रेरित करने की जरूरत। सामाजिक विषमता इस प्रकार, अपने आप विकसित होने वाली युक्ति है जिसके द्वारा समाज सबसे अधिक

टिप्पणी

योग्यतम व्यक्तियों को सबसे महत्वपूर्ण स्थानों पर रखना सुनिश्चित करते हैं।' एच. एम. जॉनसन के विश्लेषण के अनुसार यहां कुछ निश्चित चीजें वर्ग स्तरीकरण व्यवस्था के बारे में ध्यान रखने लायक है।

कड़ी मेहनत को प्रोत्साहन

वर्ग स्तरीकरण का एक मुख्य कार्य लोगों को मूल्यों के अनुसार जीवन जीने के लिए कड़ी मेहनत करने के लिए प्रेरित करना है। जो लोग किसी समाज के मूल्यों को सबसे अच्छी तरह से पूरा करते हैं, उन्हें आमतौर पर व्यापक प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता दूसरों के द्वारा मिलती है। यह ज्ञात तथ्य है कि जो कार्य महत्वपूर्ण है, उसका पेशा उच्च स्थान पर रखा जाता है, और उसके लिए जरूरी कार्मिक बहुत कम होते हैं। कड़ी मेहनत, लंबा प्रशिक्षण और उत्तरदायित्व का भारी बोझ ऐसी पेशेगत स्थितियों से जुड़े होते हैं। ऐसे काम अपनाने वाले लोगों को धन, प्रतिष्ठा, सुविधाओं आदि से पुरस्कृत किया जाता है। हालांकि हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि जिन कार्यों को महत्वपूर्ण माना जाता है, उनके बदले पर्याप्त पारिश्रमिक मिलता है या नहीं।

संभ्रांत वर्ग का संचरण सुनिश्चित करना

कुछ हद तक वर्ग स्तरीकरण जिसे सुनिश्चित करने में मदद करता है, उसे अक्सर 'संभ्रांत वर्ग का संचरण' कहा जाता है। जब कुछ कार्यों या स्थितियों के बदले उच्च प्रतिष्ठा, सुविधाएं और अन्य पुरस्कार दिए जाते हैं, तो उनके लिए स्पर्धा होने लगती है। स्पर्धा की यह प्रक्रिया यह सुनिश्चित करने में सहायता करती है कि अधिक सक्षम लोग ऊपर आएं जहां उनकी योग्यता का श्रेष्ठ उपयोग हो सके।

आर्थिक कार्य पूरा करना

स्पर्धात्मक पहलू एक तरह का आर्थिक कार्य है जो उपलब्ध प्रतिभा का तार्किक इस्तेमाल सुनिश्चित करने में सहायता करता है। जाति व्यवस्था की तरह, अगर कोई स्थिति आरोपित है, तो उसके लिए अलग–अलग पारतोषिक देने के लिए भी यह कार्यात्मक रूप से आवश्यक है। यहां तक कि जाति व्यवस्था में भी शीर्ष पर बैठे लोग कुछ निश्चित मानदंड पूरे न करें तो वो भी अपनी प्रतिष्ठा खो बैठते हैं। ऐसे में, उच्च वर्ग को अपनी स्थितियां बरकरार रखने के लिए भी अलग–अलग पारतोषिक दिए जाते हैं।

संसाधनों की बरबादी रोकना

स्तरीकरण की व्यवस्था दुर्लभ संसाधनों की बरबादी रोकती है। संभ्रांत वर्ग के लोग दरअसल, दुर्लभ और सामाजिक रूप से मूल्यवान योग्यताएं और गुण रखते हैं, भले ही वे आनुवंशिक हों या अर्जित। इन गुणों पर अधिकार के कारण वो अतिरिक्त सुविधाओं के हकदार होते हैं, तथा सेवा कार्य से बचे रहते हैं। इस तरह से उनकी प्रतिभा का उपयोग बिना किसी बरबादी के समाज में किया जा सकता है। जैसे कि, समाज के संसाधनों को डॉक्टरों और इंजीनियरों के प्रशिक्षण में लगाने किंतु उन्हें चपरासी और

टिप्पणी

परिचारक के काम में लगाने से संसाधनों की बरबादी होती है। जब एक बार कुछ विशिष्ट लोग चुन लिए जाते हैं और कुछ कठिन कार्यों के लिए उन्हें प्रशिक्षित किया जाता है, तो उनको ऐसी जगह में लगाना समय और ऊर्जा की बरबादी हो जाती है, जहां जनशक्ति पर्याप्त होती है।

अभिरुचि और कौशल का स्थिरीकरण

किसी वर्ग के सदस्य आमतौर पर अपने संबंध अपने ही वर्ग में सीमित रखने की कोशिश करते हैं। अधिक अंतरंग संबंध आमतौर पर एक ही वर्ग के सदस्यों के बीच पाए जाते हैं। यहां तक कि इस प्रवृत्ति का अपना कार्य होता है। यह अभिरुचियों और कौशलों को स्थिर करने और लागू करने में मददगार होती है, जो कि उच्च वर्गीय स्थिति के कारण होते हैं। समान मूल्यों और हितों वाले लोग एक दूसरे के साथ आसानी से जुड़ जाते हैं। उनका बार–बार जुड़ाव अपने आप ही समान मूल्यों और हितों की पुष्टि करता है।

विभिन्न व्यवसाय या नौकरी अपनाने में सहायता करना

विभिन्न वर्गों के मूल्य, दृष्टिकोण और गुण अलग–अलग होते हैं। यह अंतर भी समाज के लिए कुछ हद तक कार्योपयोगी होता है क्योंकि समाज को दस्तकारों के साथ गैर दस्तकार कार्मिक भी चाहिए होते हैं। कई नौकरियां उच्च प्रशिक्षित या परिष्कृत लोगों के लिए आकर्षक नहीं होतीं क्योंकि वे कुछ विशिष्ट कार्यों की अपेक्षा रखने के हिसाब से समाजीकृत होते हैं। परिवार तथा समाजीकरण के शुरुआती प्रभाव ऐसे व्यक्तियों में कुछ विशिष्ट मूल्य, दृष्टिकोण और गुण बैठा देते हैं जो कि उनके सामाजिक वर्ग के लिए प्रासंगिक होते हैं। यह उनकी नौकरी या व्यवसाय के चयन को प्रभावित करता है।

सामाजिक नियंत्रण

निचले वर्ग के सांस्कृतिक लक्षण समाज के लिए आवश्यक होते हैं, इसलिए वर्ग कार्योपयोगी होते हैं। वास्तव में, सामाजिक वर्गों के बीच आपसी बैर भी कार्योपयोगी होता है। कुछ हद तक, उच्च वर्ग और निम्न वर्ग समूह एक दूसरे के प्रति नकारात्मक सोच रखते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक नियंत्रण का साधन भी होते हैं।

अपराध जगत के प्रभावों पर नियंत्रण

सामाजिक नियंत्रण वर्ग स्तरीकरण का एक और कार्य है। जुआरियों, छोटे अपराधियों, कालाबाजारियों, गिरोहबाजों, तस्करों आदि में भी वैधानिक वर्ग संरचना को आदर दिया जाता है। वे जानते हैं कि प्रतिष्ठा की जगह धन नहीं ले सकता बल्कि उसे त्यागने की क्षतिपूर्ति मात्र होता है। ऐसे में, आर्थिक रूप से फायदेमंद अपराधी जीवन को जारी रखने के बजाय, ऐसे लोग अपने धन के बदले, अपने और अपने बच्चों के लिए प्रतिष्ठा चाहते हैं, और विधि सम्मत क्षेत्रों में घुसने की कोशिश करते हैं और

परोपकारी तथा कला संरक्षक बनने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार, विधि सम्मत वर्ग संरचना अपराधी वर्गों और माफिया को अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। यह आकर्षण उन पर सामाजिक नियंत्रण का कार्य करता है।

टिप्पणी

विषय का उपरोक्त विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि सामाजिक गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन की जननी है।

अपनी प्रगति जांचिए

11. सामाजिक गतिशीलता का प्रकार है–
    (क) ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता
    (ख) क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता
    (ग) आकाशीय सामाजिक गतिशीलता
    (घ) उपर्युक्त सभी
12. सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाला कारक है–
    (क) रैंक में परिवर्तन (ख) आधुनिक शिक्षा
    (ग) पलायन (घ) उपर्युक्त सभी

2.8 एक प्रणाली के रूप में स्कूल और एक प्रक्रिया के रूप में स्कूली शिक्षा

मनुष्य समाज का एक अभिन्न हिस्सा है, जिसके बिना समाज की कल्पना संभव नहीं है। समाज में रहते हुए प्रत्येक मनुष्य को अपने अंदर कुछ ऐसे गुणों का समावेश करना आवश्यक होता है, जिनके आधार पर वह समाज में एक–दूसरे के साथ मिलकर जीवन जीने की कला को सीखता है। जीवन जीने की कला को सीखने की प्रक्रिया में स्कूल अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। स्कूल शिक्षा का औपचारिक साधन ही नहीं बल्कि छात्र के सामाजिक विकास की प्रक्रिया में अहम योगदान निभाने वाली एक महत्वपूर्ण कड़ी है। किसी भी व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया दीर्घ एवं जटिल मानी जाती है तथा इस प्रक्रिया को पूरा करने हेतु समाज की कई संस्थाओं का योगदान वांछनीय होता है। ऐसे में परिवार के पश्चात जिस महत्वपूर्ण कड़ी को समाजीकरण का अभिन्न अंग माना जाता है, वह एक विद्यालय ही होता है। विद्यालय के द्वारा ही छात्र को सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों व मान्यताओं की शिक्षा दी जाती है। सामाजिक ढांचे को सही रूप व इसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कई सामाजिक संस्थाएं मिलकर काम करती हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से है–

टिप्पणी

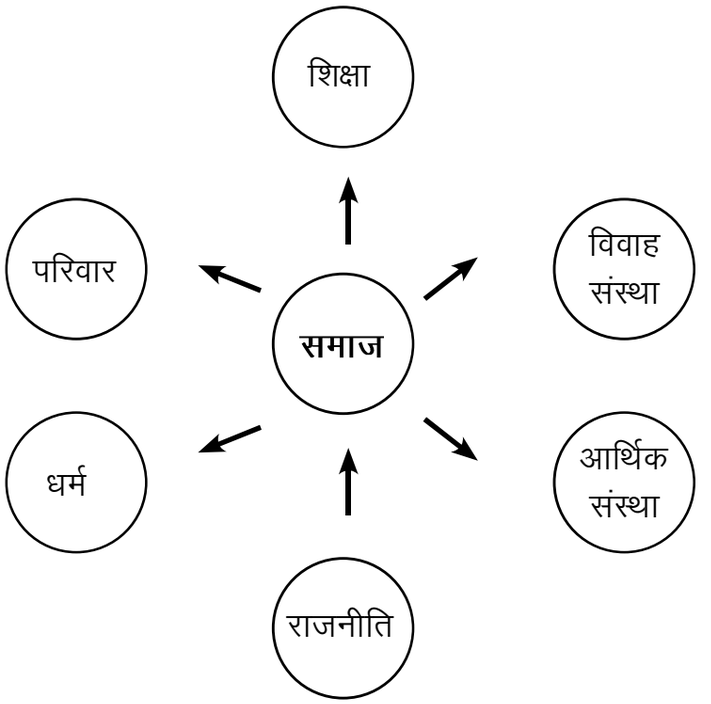

ये सभी सामाजिक संस्थाएं मिलकर एक संपूर्ण क्रियाशील समाज का निर्माण करती हैं। उपर्युक्त बताई गई सामाजिक संस्थाओं में शिक्षा एक ऐसी संस्था है, जिसका हमारे जीवन में सबसे अधिक महत्व है। शिक्षा रूपी संस्था के सही तरीके से काम करने तथा शिक्षा के द्वारा मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से विद्यालय अथवा स्कूल को ऐसी प्रणाली माना गया है, जिसके द्वारा संपूर्ण मानव जाति का विकास संभव है। यह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसका निर्माण समाज के द्वारा लोगों की शिक्षा संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए किया गया। समाज के अनुसार निर्धारित नियमों और मानकों का सही ढंग से पालन करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में कुछ नैतिक मूल्यों का होना आवश्यक माना गया है तथा इन मूल्यों के संवर्धन हेतु विद्यालय की भूमिका अहम मानी जाती है। समाज और विद्यालय का संबंध आपस में इतना गहरा है कि किसी एक की परिकल्पना दूसरे के बिना संभव नहीं है। सामाजिक विकास के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्कूल प्रणाली एक उत्तम साधन मानी गई है, इस प्रणाली की कार्य पद्धति को समझने से पूर्व इस प्रणाली से अपेक्षित उद्देश्यों को समझना आवश्यक है। विद्यालय के द्वारा ज्ञान कौशल एवं मूल्यों के संचार के माध्यम से समाज में सामंजस्य स्थापित करने में मदद मिलती है और संस्कृति का संचालन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संभव होता है। परिवार के बाद विद्यालय ही एक ऐसी संस्था है जहां पर बालक अपना सबसे अधिक समय बिताता है, इस कारण बच्चे के सामाजिक विकास में विद्यालय की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। विद्यालय एक सामाजिक संस्था के रूप में औपचारिक तथा अनौपचारिक ढांचे पर खड़ा है, औपचारिक ढांचा जहां एक ओर शासकीय प्रबंध के कार्य और भूमिका से संबंधित है वहीं दूसरी ओर अनौपचारिक इस प्रणाली के सही तरीके से काम करने के लिए सामाजिक संबंध व सहयोग से जुड़ा हुआ है।

टिप्पणी

जॉन डीवी के द्वारा रचित पुस्तक "द स्कूल एंड सोसाइटी" में भी समाज के विकास एवं परिवर्तन के लिए शिक्षा के महत्व को उजागर किया गया है और शिक्षा द्वारा समाज में अपेक्षित बदलाव व अनुभवों की रचना के लिए विद्यालय रूपी संस्था के संदर्भ में बात कही गई है। विद्यालय प्रणाली में कोई एक व्यक्ति विशेष कार्य नहीं करता है अपितु इस प्रणाली में कई हितकारक अहम भूमिका निभाते हैं, जैसे– प्रशासन, माता–पिता, छात्र, शिक्षक तथा जन समुदाय के प्रतिनिधि। एक सशक्त प्रणाली को खड़ा करने के पीछे उससे जुड़े विभिन्न अवयव सही दिशा में कार्य करें यह सुनिश्चित करना अत्यंत आवश्यक होता है। इस बारे में बात करने से पूर्व आइए स्कूली शिक्षा की एक प्रक्रिया के रूप में उद्देश्यों पर चर्चा करें।

स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया के सामाजिक उद्देश्य

स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया के सामाजिक उद्देश्य इस प्रकार हैं–

- विद्यार्थी की मूल प्रवृत्तियों व व्यक्तिगत क्षमताओं का विकास करना तथा विद्यार्थी को केंद्र में रखकर शैक्षिक गतिविधियों का आयोजन करना।
- विद्यार्थियों में समाज व पर्यावरण के प्रति मानवीय प्रवृत्तियों का विकास करना तथा सामाजिक कल्याण के उद्देश्य की पूर्ति हेतु वांछित गुणों का विकास करना।
- विद्यार्थियों की शिक्षा को जीविकोपार्जन के लिए व्यावसायिक उद्देश्य के साथ जोड़ना।
- विद्यार्थियों में राष्ट्र के प्रति प्रेम व त्याग की भावना उत्पन्न करना।
- समाज में व्याप्त कुरीतियों से अवगत कराकर उनके समाधान हेतु छात्रों को प्रोत्साहित करना।
- सामाजिक सौहार्द एवं राष्ट्रीय एकता को बनाए रखना तथा धर्मनिरपेक्षता की भावना को बढ़ावा देना।
- सभी छात्रों को बिना किसी भेदभाव के सर्वांगीण विकास के समान अवसर प्रदान करना।
- चरित्र निर्माण एवं व्यक्तित्व के विकास के उद्देश्य से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान प्रदान करना ताकि छात्रों के विचारों, रुचियों एवं कलात्मक शक्तियों का विकास संभव हो सके।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एवं विद्यालय प्रणाली को सशक्त बनाने की अवधारणा को मूर्त रूप देने के लिए स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया को बेहतर तरीके से समझना जरूरी है तथा इससे जुड़े विभिन्न हितकारकों के कार्यों को भी जानना आवश्यक है।

स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया में प्रबंधन की भूमिका

स्कूल प्रणाली को एक सशक्त रूप देने के लिए ऐसी प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जो बेहतर परिणामों के लिए बुनियादी स्तर पर कार्य कर सके। ऐसे में किसी भी स्कूल के प्रबंधन की भूमिका अहम मानी जाती है। स्कूल प्रबंधन का कार्य स्कूली शिक्षा को सही दिशा प्रदान करने का होता है, जिसमें निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है–

टिप्पणी

- प्रबंधन द्वारा प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति।
- शिक्षा बोर्ड द्वारा माननीय पाठ्यक्रम को लागू करना।
- स्कूल परिसर, कक्षाएं एवं मूलभूत संरचनात्मक सुविधाओं की गुणवत्ता का ध्यान रखना।
- हर वर्ग के विद्यार्थियों तक शिक्षा के लाभ को पहुंचाना।
- स्कूल शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार हेतु नवाचार को बढ़ावा देना।
- स्थानीय निकायों, विद्यार्थियों के माता–पिता तथा सरकारी अथवा गैर सरकारी संस्थानों से संपर्क।
- स्कूल की वित्त व्यवस्था का संचालन।
- स्कूल के विकास के लिए निर्धारित दूरदर्शी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयास करना।

स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका

आदर्श मानव समाज की स्थापना में विद्यालय अहम भूमिका निभाते हैं, किंतु इसे मूर्त रूप देने में जिस इकाई का योगदान सबसे महत्वपूर्ण होता है वह है एक शिक्षक। स्कूली शिक्षा में शिक्षक की भूमिका किताबी ज्ञान तक सीमित नहीं होती है, अपितु शिक्षक अपने छात्रों को जीवन जीने की कला भी सिखाता है। ऐसे में निम्नलिखित कारणों से शिक्षक की भूमिका अहम हो जाती है–

- शिक्षक द्वारा स्वयं को समाज में आदर्श रूप में प्रस्तुत करना जिससे कि छात्र स्वतः ही अच्छे गुणों को आत्मसात कर सकें।
- समाज में व्याप्त समस्याओं के प्रति छात्रों को रचनात्मक समाधान के लिए प्रेरित करना।
- नवाचार तथा सृजनात्मकता को कक्षा में पाठ्यचर्या का अभिन्न हिस्सा बनाना।
- छात्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास तथा अपने कार्यों द्वारा सामाजिक कल्याण में योगदान देना।
- ऐसी अधिगम शिक्षण प्रणाली का विकास करना जिसमें प्रत्येक छात्र बिना किसी भेदभाव जैसे– लिंग, जाति, धर्म के आधार के बिना अपनी सहभागिता सुनिश्चित कर सके।
- किताबी ज्ञान की अवधारणा को दैनिक जीवन से जोड़ना।
- छात्रों से संबंधित समस्याओं के समाधान के लिए लगातार माता–पिता के संपर्क में रहना।
- प्रत्येक छात्र को उसकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार आगे बढ़ने के एक समान अवसर प्रदान करना।
- छात्रों में राष्ट्रीय एकता की भावना, राष्ट्रीय धरोहरों के प्रति सम्मान तथा सामाजिक कार्यों से जुड़े लोगों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करना।

टिप्पणी

स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया में परिवार एवं समाज की भूमिका

एक छात्र के सर्वांगीण विकास में कोई एक घटक ही कार्य नहीं करता है, अपितु कई घटक व अभिकरण परस्पर योगदान से छात्र के सामाजिक विकास में योगदान देते हैं। ऐसा माना जाता है कि किसी भी बालक का प्रथम विद्यालय उसका परिवार होता है। अतः जिन मूलभूत गुणों का विकास परिवार द्वारा आरंभ के वर्षों में किया जाता है, वह उस छात्र के उज्ज्वल भविष्य के लिए नींव के पत्थर का कार्य करता है। परिवार द्वारा किए गए निम्नलिखित कार्य स्कूली शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक होते हैं–

- पारिवारिक सदस्यों द्वारा बच्चे के समक्ष आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करना।
- परिवार से छात्र को आपसी भाईचारे व सद्भाव की शिक्षा देना।
- विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश करना।
- परिवार में बिना किसी भेदभाव के सभी सदस्यों के प्रति प्यार व सम्मान की भावना रखना।
- अपने सांस्कृतिक त्योहारों को हर्षोल्लास से मनाना तथा अन्य धर्मों के प्रति आदर भाव रखना।
- बुरी आदतों व व्यसनों से दूर रहना तथा बच्चों को इसके दुष्प्रभावों की जानकारी देना।
- बच्चों की दिनचर्या की जानकारी रखना और उनकी रूचि के अनुसार विभिन्न विषयों पर बातचीत कर उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना।
- समय के अनुरूप विद्यालय से संबंधित गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभाना।
- छात्र से संबंधित समस्याओं के समाधान हेतु समय–समय पर विद्यालय में शिक्षकों से मिलना।
- सामाजिक योगदान हेतु विद्यालय की भूमिका के लिए विद्यालय को सुझाव देना।

उपर्युक्त बिंदुओं के आधार पर यह निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति के समाजीकरण में विभिन्न संस्थानों का योगदान महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार शिक्षा रूपी संस्थान के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विद्यालय की समाज में अहम भूमिका है। विद्यालय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से छात्र को समाज व समुदाय के साथ जोड़ने की प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाते हैं, अतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह दायित्व बनता है कि वह विद्यालय के कार्य तथा उसकी प्रक्रिया के सफल आयोजन हेतु अपना अहम योगदान दें। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि विद्यालय के लिए एक सजग सदस्य के रूप में काम करेगा, तो न केवल विद्यालय अपने सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सफल हो पाएंगे अपितु बच्चों के सर्वांगीण विकास में भी समाज का यह कदम सराहनीय होगा।

टिप्पणी

2.8.1 भाषा एक निर्देशन के रूप में

भाषा बातचीत का मूल माध्यम है, जिसके बिना मनुष्य के सामाजिक जीवन की उत्पत्ति नहीं हो सकती थी और जिसके बिना एक जीवविज्ञानी स्तर से ऊपर सामाजिक भागीदारी संभव नहीं थी। इस प्रकार, भाषा संस्कृति की उपज है। यह अभिव्यक्ति का एक माध्यम है।

अंग्रेजी भाषा के ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में भाषा की व्याख्या विचारों और अनुभूतियों के संप्रेषण तथा सूचना एवं जानकारी के आदान–प्रदान के लिए मनुष्य द्वारा प्रयोग की जाने वाली ध्वनियों, शब्दों, संरचना आदि की एक प्रणाली के रूप में की गई है। इसमें भाषा को एक राष्ट्र, समुदाय आदि के रूप में लोगों के किसी तबके अथवा समूह द्वारा प्रयुक्त शब्दों तथा शब्दों के संयोजन की विधियों के एक संपूर्ण कार्य के रूप में भी निरूपित किया गया है। स्टर्टइवांट भाषा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं, 'स्वैच्छिक वाचिक प्रतीकों की एक पद्धति जिसकी सहायता से किसी सामाजिक समूह के लोग एक–दूसरे का सहयोग करते हैं, एक–दूसरे से बातचीत करते हैं।'

पाठशाला की शिक्षा अथवा अध्ययन–अध्यापन प्रक्रिया के संदर्भ में 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते समय, इसे दो रूपों में देखा जाता है–

1. एक विषय के रूप में भाषा
2. शिक्षा के माध्यम के रूप में भाषा।

1. एक विषय के रूप में भाषा

एक विषय के रूप में भाषा एक विशेषक है जिसका प्रयोग किसी राष्ट्र/राज भाषा (और उससे संबद्ध साहित्य) के शिक्षण, जैसे– भारत में हिंदी, फ्रांस में फ्रांसीसी, यूनान में यूनानी आदि के शिक्षण में सहायता के लिए किया जाता है। हाल के वर्षों में विषय के रूप में भाषा उत्तरोत्तर बहुआयामी हुई है। जन संचार के नए माध्यमों, नई तकनीकियों और नई–नई मांगों के आविर्भाव के कारण इसका लक्ष्यों व विषय पर, युवाओं पर प्रभाव पड़ा है, किंतु परंपरागत ढंग से इस विषय को जिस रूप में ग्रहण किया गया है, उस रूप में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। विषय के रूप में भाषा की परंपरानिष्ठ अवधारणा इसे अलग से देखने की रही है, भाषा के अनिवार्य कौशलों के विकास से संबद्ध पाठ्यक्रम के एकमात्र क्षेत्र के रूप में और इसके लक्ष्यों की कल्पना कभी–कभी संकुचित दृष्टि से की गई है, जिसमें शिक्षा के विस्तृत लक्ष्यों और संदर्भों से अलग संक्रियात्मक कौशलों पर ध्यान रखा गया है।

उन देशों में, जहां एक से अधिक राजभाषाएं हों, विषय के रूप में भाषा की अवधारणा कभी सरल नहीं रही है, किंतु मुख्यतः एकभाषावादी संदर्भों में, भाषा को अन्य भाषाएं सीखने से अलग और अन्य भाषाएं सीखने वालों की आवश्यकताओं की मान्यता के बिना एक विषय के रूप में देखा जाता रहा है।

टिप्पणी

पाठ्यक्रम में एक विषय के रूप में भाषा का समावेश

स्कूल के पाठ्यक्रम में भाषा को एक विषय के रूप में शामिल करते समय, पाठ्यक्रम तैयार करने वालों को उसमें निम्नलिखित विषय शामिल करने चाहिए–

- मल्टीमीडिया समेत भाषा का ज्ञान, पाठ्य सामग्री, साहित्य और संस्कृति।
- विषय सामग्री के ज्ञान और समाविष्ट विषय सामग्री के उद्देश्यों के लिए कार्य पद्धति से संबद्ध मार्गों का चयन करना।
- सभी छात्रों के लिए शिक्षा के एक सामान्य विषय और छात्रों के अलग–अलग समूहों के लिए अतिरिक्त शिक्षा की एक अलग व्यवस्था का पता लगाना।
- विषय कौशल : विषय के रूप में भाषा के कौशलों का विकास करना, ग्रहणात्मक (श्रवण–पठन) कौशलों और अभिव्यक्ति (वाचन–लेखन) कौशलों तथा मौखिक एवं लिखित संप्रेषण के बीच एक संतुलन कायम करना। सभी कौशल समान रूप से महत्वपूर्ण हैं और वे परस्पर संबद्ध हैं। जब छात्र कोई पाठ्य सामग्री पढ़ते हैं, तब अकसर वे जो पढ़ते हैं, या उस पाठ्य सामग्री के प्रति अपने साथियों के विचारों को सुनते हैं, तो उन्हें बोलते अथवा लिखते भी हैं।
- समाज के सांस्कृतिक मूल्य की चर्चा करते समय भाषा कौशलों और साहित्य के बीच संबंध स्थापित करना।

विषय के रूप में कुछ विद्यार्थी अपनी मातृभाषा का या फिर कुछ अन्य विद्यार्थी किसी दूसरी भाषा अथवा विदेशी भाषा का चयन कर सकते हैं – वे चाहे अप्रवासी हों अथवा स्वदेशी अल्पसंख्यक। नीति निर्धारकों को निर्णय करना है कि पाठ्यक्रम में इन विभिन्न स्थितियों को कहां स्थान दिया जाए। अलग–अलग छात्रों के लिए विषय के रूप में समान अथवा किसी भिन्न भाषा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए या नहीं इसका निर्णय राजनीतिक स्तर पर लिया जाएगा।

2. शिक्षा के माध्यम के रूप में भाषा

माध्यम के रूप में भाषा का अर्थ वह भाषा है जिसके माध्यम से शिक्षा प्रणाली के विभिन्न स्तरों पर बच्चों को शिक्षा दी जाती है। शिक्षा और उसके माध्यम के बीच संबंध एक अटूट संबंध होता है। छात्रों को शिक्षा देने में शिक्षा के माध्यम की भूमिका अहम होती है। ऐसा माना जाता है कि छात्रों को उनकी मातृभाषा अथवा एक सामान्य भाषा के माध्यम से शिक्षा देना अपेक्षाकृत आसान होता है। वर्ष 2016 में यूनेस्को द्वारा संचालित शोध से पता चला है कि यदि घर और स्कूल की भाषाएं अलग–अलग हों, तो परीक्षा के परिणामों पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। विशेष रूप से पठन में, शिक्षा की भाषा को बोलने और छात्रों की उपलब्धि के बीच एक सकारात्मक परस्पर संबंध है (ट्रुडेल, 2016)। कक्षा में मातृभाषा के प्रयोग से कक्षा में भागीदारी में वृद्धि, उत्पीड़न में कमी होने के साथ–साथ बच्चों के सीखने में परिवार और समाज की सहभागिता की संभावना बढ़ती है। अपनी सीखने की क्षमता में वृद्धि के लिए, छात्र जिस भाषा को जानते हों, उसमें उन्हें समावेशी और सांस्कृतिक दृष्टि से उपयुक्त पाठ्यक्रम तथा शिक्षा सामग्री सुलभ होनी चाहिए।

टिप्पणी

शिक्षा की भाषा के चयन की चुनौतियां

बहुभाषाभाषी आबादी वाले भारत जैसे किसी देश में, शिक्षा संस्थानों के लिए शिक्षा के माध्यम के चयन की समस्या एक ज्वलंत समस्या रही है। इसका कोई समाधान निकालने के लिए स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात देश में कई आयोगों का गठन किया गया है। स्वतंत्रता के बाद 26 नवंबर, 1950 को अंगीकृत भारतीय संविधान में शिक्षा के माध्यम का एक विशेष निर्देश दिया गया है। भारत जैसे एक विशाल देश में बहुभाषिकता स्वाभाविक है किंतु वहीं देश में उसकी शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली के लिए शिक्षण का एक माध्यम होना चाहिए। प्राचीन भारत में उच्च स्तर पर शिक्षण का माध्यम संस्कृत थी। मध्य काल में इसके स्थान पर फारसी को माध्यम बनाया गया। आगे चलकर आधुनिक युग में अंग्रेजी ने इसका स्थान ले लिया और देश के प्रत्येक भाग में, विशेष रूप से पूर्वी, दक्षिणी व पश्चिमी भारत में इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

कई देशों की एक राष्ट्रीय भाषा नीति है जो स्थानीय भाषाओं के प्रयोग में सहायता करती है, ये नीतियां हमेशा कक्षा में लागू नहीं होतीं। इस विषमता के कई कारण हो सकते हैं–

1. **मातृभाषा की स्वीकृति** : भारत जैसे समाजों में, जहां कई भाषाएं बोली जाती हों, किस भाषा की शिक्षा 'प्रमुख भाषा' के रूप में दी जाए इसके प्रति एक मतभेद हो सकता है। समाज में किसी अल्प भाषा की स्थिति गौण हो सकती है, जिसके फलस्वरूप मातृभाषा की शिक्षा को स्वीकृति देना कठिन होता है और मातृभाषा सीखने वाले अपनी भाषा के प्रयोग के प्रति उदासीन होते हैं।
2. **प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों का अभाव** : शिक्षा की कई प्रणालियों में मातृभाषा को हाशिए पर रखा जाता है, फलतः किसी बच्चे की मातृभाषा को समझने, बोलने और उसमें पढ़ाने वाले योग्य शिक्षकों की अकसर कमी होती है।
3. **अलिखित और अमानक भाषाएं** : स्थानीय भाषाओं के लिखित विकास का स्तर उनकी शिक्षा की उपयुक्तता के प्रति समस्याएं खड़ी कर सकता है। किसी भाषा की लेखन पद्धति का सृजन करने अथवा उसमें सुधार लाने, वर्तनी और उपयोग को आदर्श के अनुरूप बनाने और यदि आवश्यक हो, तो किसी लुप्त शब्दावली को शामिल करने के लिए शब्दकोश का विस्तार करने हेतु भाषा योजना आवश्यक हो सकती है।

2.8.2 पाठ्यचर्या और समझ

विद्यार्थी ज्ञान का सृजन करता है, इसका निहितार्थ है कि पाठ्यचर्या उसे इस बात के लिए सक्षम बनाए कि सभी बच्चों को समान रूप से प्रकृति एवं वातावरण के अनुरूप कक्षायी अनुभव प्राप्त हो सके। शिक्षण का उद्देश्य बच्चों की सीखने की सहज इच्छा और युक्तियों को समृद्ध करना होना चाहिए। ज्ञान को सूचना से अलग करने की जरूरत है और शिक्षण को एक पेशेवर गतिविधि के तौर पर अपनाने की जरूरत है न कि तथ्यों को रटने और उनका प्रसार करने के तौर पर। पाठ्यचर्या में उन सभी साधनों एवं गतिविधियों को सम्मिलित करने की आवश्यकता होती है ताकि बच्चे खुद

को अभिव्यक्त करने, अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश को जानने एवं विकास करने में सक्षम हो सकें। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या की जीवन के लिए बहुत अधिक प्रासंगिकता है।

टिप्पणी

पाठ्यचर्या और शिक्षा के लक्ष्यों से इसका संबंध

किसी विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में प्रदान की जाने वाली औपचारिक शिक्षा के अंतर्गत पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रमों या पाठ्यचर्या की सामग्री, पाठ्यचर्या (Curriculum) कहलाती है। पाठ्यचर्या द्वारा यह निर्दिष्ट किया जाता है कि पाठ्यक्रम (सिलेबस) के आधार पर किन विषयों के स्तर पर ग्रेड अथवा मानक प्राप्त किए जा सकते हैं। प्रसिद्ध शिक्षाविद् जॉन फ्रैंकलिन बौबिट ने 1918 में अपनी पुस्तक 'द करिकुलम' में पाठ्यचर्या को ऐसे कार्यों व अनुभवों के रूप में परिभाषित किया जिसके द्वारा बच्चों का विकास संभावित वयस्क के रूप में होता है और वयस्क समाज में बच्चे इसी के द्वारा सफलता प्राप्त कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त पाठ्यचर्या में केवल विद्यालय के शैक्षिक अनुभव ही शामिल नहीं होते अपितु विद्यालय के बाहर के कार्यानुभव एवं वयस्क समाज के उद्देश्यपूर्ण अनुभवों को इसमें समाहित किया जाता है। बौबिट ने अपने सांस्कृतिक एवं सामाजिक पाठ्यचर्या निर्माण के दो लक्षणों का उल्लेख किया है– (क) वैज्ञानिक विशेषज्ञों द्वारा अपने ज्ञान के आधार पर तय करना कि समाज के वयस्क सदस्यों में क्या गुण हों तथा (ख) किन अनुभवों के आधार पर उन गुणों की रचना हो जो पाठ्यचर्या की परिभाषा, कार्य व अनुभवों के आधार पर हों, जिनसे छात्र अपेक्षित वयस्क होने के योग्य हों।

बौबिट ने पाठ्यचर्या को समाज के चरित्र निर्माण के कार्यानुभवों की वास्तविकता के स्थान पर एक आदर्श के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया। पाठ्यचर्या द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्तर (सांस्कृतिक व सामाजिक स्तर) पर वैयक्तिक गठन का अध्ययन होता है। बौबिट ने औपचारिक रूप से इसे परिभाषित किया, जबकि एक अन्य विचारक जॉन डेवी ने रचनात्मक अनुभव के आधार पर इसकी व्याख्या की।

2.8.3 पाठ्यचर्या : अर्थ एवं परिभाषा

अर्थ : पाठ्यचर्या या पाठ्यक्रम दो शब्दों के मेल से बना है पहला शब्द है : पाठ्य और दूसरा है : क्रम अर्थात जो पढाया जाना है उसको सुचारू रूप से क्रमबद्ध करना। पाठ्यक्रम शब्द एक व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत पढ़ाई जाने वाली विषय वस्तु पढाने के तरीके शिक्षण अधिगम के दौरान मिलने वाले अनुभव सभी कारकों को छात्रों की जरूरतों और रुचियों को ध्यान में रखते हुए सुव्यवस्थित तरीके से विकसित किया जाता है। पाठ्यक्रम शब्द अंग्रेजी में करिकुलम शब्द से जुड़ा हुआ है करिकुलम शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द (Currere) से लिया गया है जिसका अर्थ दौड़ने अथवा गतिशील होने से संबंधित है इस विषय में दौड़ना या गतिशील होना किसी उद्देश्य की प्राप्ति के संदर्भ में कहा गया है इस प्रकार शैक्षिक प्रणाली के संदर्भ में पाठ्यक्रम को शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण कारक के तौर पर देखा जाता है। पाठ्यक्रम छात्रों को समग्र मानकों को पूरा करने में मदद करने के लिए सिखाई जाने वाली अवधारणाओं की रूपरेखा है। पाठ्यक्रम वह है जो किसी

दिए गए पाठ्यक्रम या विषय में पढाया जाता है। पाठ्यक्रम विशिष्ट लक्ष्यों, सामग्री, रणनीतियों, माप और संसाधनों के साथ अनुदेश और सीखने संवाद की प्रणाली को संदर्भित करता है।

टिप्पणी

यदि हम पाठ्यक्रम के संकुचित अर्थ को लें तो हम पाठ्यक्रम के अंतर्गत क्या पढ़ाया जाना हैं इस बात की चर्चा करते हैं किंतु यदि पाठ्यक्रम के व्यापक अर्थ को लिया जाए तो इसके अंतर्गत पढाए जाने वाले विषय, उन विषयों को पढाए जाने के तरीके, अपेक्षित संसाधन और शैक्षिक वातावरण में छात्रों को मिलने वाले अनुभव तथा सह–शैक्षिक गतिविधियां भी शामिल हैं। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से यदि हम देखें तो पाठ्यक्रम विद्यालय में पढ़ने वाले छात्र के जीवन का वह अभिन्न हिस्सा है जो न केवल उसके मानसिक विकास बल्कि शारीरिक सामाजिक और आध्यात्मिक विकास में भी सहायता करता है।

परिभाषाएं : पाठ्यचर्या या पाठ्यक्रम के व्यापक अर्थ को समझने के लिए पाठ्यक्रम की कुछ परिभाषाओं को समझने का प्रयास करते हैं–

Hilda Taba (1962) के अनुसार, ''एक पाठ्यक्रम में आमतौर पर लक्ष्यों और विशिष्ट उद्देश्यों का विवरण होता है। यह सामग्री के चयन और संगठन को इंगित करता है। यह उद्देश्य की मांग के अनुसार अथवा संगठन की आवश्यकता के कारण सीखने और शिक्षण के प्रतिरूप का उल्लेख करता है। इसमें परिणामों के मूल्यांकन का कार्य भी शामिल रहता है।''

Wiles & Bondi (1989) के अनुसार, ''पाठ्यक्रम मूल्यों के समावेश का एक ऐसा लक्ष्य है जो कक्षा में अधिगम प्रक्रिया के माध्यम से विकसित होता है पाठ्यक्रम के विकास से संबंधित प्रयासों की प्रभावशीलता का आकलन इस बात से लगाया जा सकता है कि लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किस प्रकार के अनुभव छात्र कक्षा में ग्रहण कर रहा है। यदि अनुभव अंततः लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है तो ऐसे पाठ्यक्रम को प्रभावशाली पाठ्यक्रम माना जाता है।''

कनिंघम के अनुसार, ''पाठ्यक्रम कलाकार (शिक्षक) के हाथ में एक यंत्र के समान है जिससे वह अपनी सामग्री (शिष्य) को अपने आदर्श (लक्ष्य)के अनुसार अपने कलागृह (विद्यालय) में ढालता है।''

क्रो एवं क्रो के अनुसार ''पाठ्यक्रम में सीखने के लिए सभी अनुभव सम्मिलित हैं जिन्हें वह विद्यालय तथा विद्यालय के बाहर उस कार्यक्रम के अंतर्गत प्राप्त करता है जो उसके मानसिक शारीरिक सामाजिक संवेगात्मक आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास में सहायक होता है।''

माध्यमिक शिक्षा आयोग की रिपोर्ट के अनुसार, ''यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि शैक्षिक पाठ्यक्रम केवल अकादमिक विषयों को पारंपरिक रूप से स्कूल में पढ़ाया जाना ही नहीं है, बल्कि इसमें विद्यालय में होने वाली सभी गतिविधियों से प्राप्त अनुभव भी शामिल है जिसे छात्र प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करता है जैसे– कक्षा में, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, कार्यशाला, खेलने का मैदान और शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच कई अनौपचारिक संपर्क। इस अर्थ में, स्कूल का पूरा जीवन

टिप्पणी

पाठ्यक्रम बन जाता है जो सभी बिंदुओं पर छात्रों के जीवन को छू सकता है और संतुलित व्यक्तित्व के विकास में मदद कर सकता है।''

नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क 2005 (NCF 2005) ने पाठ्यक्रम के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए, पाठ्यक्रम विकास के लिए पांच मार्गदर्शक सिद्धांतों का प्रस्ताव रखा था :

(i) स्कूल के बाहर के ज्ञान को जीवन से जोड़ना;

(ii) यह सुनिश्चित करना कि रटने के तरीकों की बजाय सीखने के तरीकों में बदलाव हो;

(iii) पाठ्यक्रम को समृद्ध करना ताकि इसमें पाठ्यपुस्तकों से बाहर का ज्ञान भी समाविष्ट हो;

(iv) परीक्षाओं को अधिक लचीला बनाना और उन्हें कक्षा एवं जीवन दोनों के साथ एकीकृत करना;

(v) देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनुरूप राष्ट्र की पहचान का पोषण करना;

2.8.4 पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत

पाठ्यचर्या-निर्माण के सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

उपयोगिता का सिद्धांत : पाठ्यचर्या-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि उनमें जिन विषयों को स्थान दिया जाय, वे बालक के भावी जीवन के लिए उपयोगी होने चाहिए। इस संबंध में नन (Nunn) ने लिखा है—''साधारण मनुष्य सामान्यत: यह चाहता है कि उसके बच्चे केवल ज्ञान के प्रदर्शन के लिए कुछ व्यर्थ की बातों को ही न सीखें, परन्तु समग्र रूप से वह यह चाहता है कि उनको वे बातें सिखाई जायें जो भावी जीवन के लिए उपयोगी हों।''

रचनात्मक कार्य का सिद्धांत : प्रत्येक बालक में किसी-न-किसी क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने की कुछ-न-कुछ योग्यता अवश्य होती है। अत: पाठ्यचर्या को ऐसे अवसर अवश्य देने चाहिए जिनसे रचनात्मक कार्य की यह योग्यता व्यक्त हो सके। बालक को अपनी रचनात्मक शक्तियों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। सम्भव है कि प्रारम्भ में उसे अधिक सफलता न मिले, पर यदि उसे उचित निर्देशन दिया जायेगा, तो उसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास अवश्य होगा। रेमॉन्ट (Raymont) का कथन है—''जो पाठ्यचर्या, वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त है, उसमें निश्चित रूप से रचनात्मक विषयों के प्रति निश्चित सुझाव होना चाहिए।''

विविधता और लचीलेपन का सिद्धांत : माध्यमिक शिक्षा-आयोग का विचार है— ''पाठ्यचर्या में काफी विविधता और लचीलापन होना चाहिए, जिससे कि वैयक्तिक विभिन्नताओं और वैयक्तिक आवश्यकताओं एवं रुचियों का अनुकूलन किया जा सके।''

पाठ्यचर्या में विविधता और लचीलेपन की आवश्यकता का कारण यह है कि उसे छात्रों की रुचियों, विभिन्नताओं, दृष्टिकोणों, मनोवृत्तियों और आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सके। बालकों पर अनुपयुक्त विषयों को लादने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। इससे उनमें निराशा की भावना उत्पन्न होती है। साथ ही उनके सामान्य विकास में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत, ज्ञान, कुशलता और मूल्यांकन के कुछ ऐसे विस्तृत क्षेत्र हैं, जिनके सम्पर्क में बालकों को लाया जाना चाहिए। अत: पाठ्यचर्या में इनको प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए, पर इसको ऐसी मात्रा में रखा जाय कि वे छात्रों में शक्तियों और क्षमताओं से परे न हो जायें।

टिप्पणी

सामुदायिक जीवन से सम्बन्ध का सिद्धांत : 'माध्यमिक शिक्षा-आयोग' के अनुसार— ''पाठ्यचर्या सामुदायिक जीवन से सजीव की ओर आंगिक रूप में सम्बन्धित होना चाहिए।''

पाठ्यचर्या का सामुदायिक जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध होना चाहिए। पाठ्यचर्या को इस जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की व्यवस्था करनी चाहिए और बालकों को इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण क्रियाओं के सम्पर्क में लाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पाठ्यचर्या में उत्पादक कार्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह कार्य व्यवस्थित मानव-जीवन का आधार है। इसके अतिरिक्त, पाठ्यचर्या स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिए।

आवश्यकता का सिद्धांत : पाठ्यचर्या का निर्माण बालक की आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिये। बालक की आवश्यकताएं सभ्यता एवं संस्कृति तथा विकास की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न होंगी। साथ ही उसकी आवश्यकताएं सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक पर्यावरण तथा क्षमताओं के अनुसार भी निश्चित होती है। अत: प्रभावी पाठ्यचर्या के निर्माण के लिये बालक की आवश्यकताओं को आधार बनाया जाये। इलिक्कर (Elicker) एवं उसके सहयोगियों ने छात्रों की आवश्यकताओं का अध्ययन किया और उन्होंने इन मुख्य आवश्यकताओं की एक सूची तैयार की, जो इस प्रकार है—

- आर्थिक सफलता हेतु विक्रय कौशलों (salable skills) तथा अवबोध (understanding) व अभिवृत्ति (attitude) का विकास करना।
- स्वास्थ्य तथा शारीरिक उपयुक्तता को विकसित करना और उन्हें स्थायी बनाये रखने के लिये ज्ञान तथा विभिन्न आदतों का निर्माण करना।
- योग्य नागरिकता के लिये आवश्यक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करना तथा अभिवृत्तियों को समझना।
- पारिवारिक जीवन की सफलता हेतु आवश्यक स्थितियों को समझना।
- एक बुद्धिमान उपभोक्ता बनने के लिये उपयुक्त स्थितियों एवं ढंगों को जानना।
- आधुनिक जीवन से सम्बन्धित ज्ञान एवं विज्ञान को समझना। साथ ही उन विधियों को जानना जिनसे आधुनिक जीवन को सफलीभूत किया जा सकता है।
- नैतिक सूझ-बूझ का विकास करना।
- तार्किक चिन्तन का विकास करना।
- सौन्दर्यानुभूति का विकास करना।
- वैयक्तिक तथा सामाजिक उत्थान के लिये अवकाश का उपयोग करना।

रुचि का सिद्धांत : अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि छात्र की रुचि का शैक्षिक उपलब्धि से गहन सम्बन्ध होता है। उनका कारण है—रुचि और ध्यान का सम्बन्ध। बच्चे जिस बात में रुचि लेते हैं, उस पर उनका ध्यान बिना किसी प्रयास के केन्द्रित हो जाता है जबकि अरोचक विषय-वस्तु की ओर बच्चों का ध्यान आकर्षित करना एक अत्यन्त जटिल कार्य है। अत: पाठ्यचर्या में बालक की रुचियों से सम्बन्धित विषय-वस्तु का समावेश किया जाना चाहिये। इसके लिये बच्चों की रुचियों का सर्वेक्षण किया जाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में

टिप्पणी

जिमर (Zimmer), बोयटन (Boynton) आदि के कार्य महत्त्वपूर्ण हैं। उनके कार्यों से जो तथ्य उभर कर सामने आये हैं, वे इस प्रकार हैं—

- लड़के व लड़कियों की रुचियों में भिन्नता होती है।
- रुचियां आयु तथा कक्षा के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

छोटी कक्षाओं में विज्ञान की ओर रुचि अधिक होती है और बड़ी कक्षाओं में छात्र वैयक्तिक व सामाजिक सम्बन्धों में रुचि रखते हैं।

रुचि निम्न तत्वों द्वारा प्रभावित होती है—

- योग्यता व कौशल,
- शिक्षण-विधि,
- मान्यताएं एवं मूल्य।

अत: पाठ्यचर्या का निर्माण करते समय उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिये। जॉन डीवी (John Dewey) ने शिकागो विश्वविद्यालय में एक 'एलीमेण्टरी स्कूल' की स्थापना की। उसने इस विद्यालय की पाठ्यचर्या का निर्धारण अधोलिखित चार प्रकार की रुचियों के आधार पर किया—

- वार्तालाप एवं विचार-विनियम में रुचि (Interest in Conversation and Communication)
- खोज में रुचि (Interest in inquiry),
- रचना में रुचि (Interest in Construction),
- कलात्मक अभिव्यक्ति में रुचि (Interest in artistic expression)

डीवी ने उपर्युक्त रुचियों के अधार पर पाठ्यचर्या में भाषा, गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, सिलाई, बागवानी, ड्राइंग, कला, संगीत आदि को प्रमुख स्थान प्रदान किया।

पाठ्यचर्या की भूमिका एवं महत्व

पाठ्यचर्या एक व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण उद्देश्यों का संग्रह होती है जिसके अंतर्गत ज्ञान, कौशल तथा व्यवहार के सम्मिश्रण द्वारा मूल्यों की स्थापना की जाती है। शिक्षार्थी इसमें सुसंबद्ध तरीकों से ज्ञानार्जन का अनुभव प्राप्त करते हैं। एक उत्तम पाठ्यचर्या द्वारा जीवन पर्यंत विकास का मार्ग तैयार होता है। सामाजिक व्यवहार तथा कौशल द्वारा सहिष्णुता एवं आदर की भावना का विकास होता है। रचनात्मक प्रबंधन, शांतिप्रिय सद्भावना, मानवाधिकारों का सम्मान, लैंगिक समानता, न्याय आदि गुणों की पहचान एक अच्छी पाठ्यचर्या द्वारा ही संभव है। साथ ही पाठ्यचर्या द्वारा कौशल–विकास की अवधारणा तथा संबंधित विषयों की ज्ञान प्राप्ति उत्पन्न होती है। दैनिक जीवन के अध्ययन हेतु तथा शिक्षार्थी के व्यक्तिगत विकास के लिए पाठ्यचर्या का महत्व स्पष्ट एवं सापेक्ष है।

शिक्षा के क्षेत्रों में नित नवीन प्रयोगों एवं आयामों के कारण पाठ्यचर्या की भूमिका का विस्तार हुआ है। सूचना एवं प्रसारण तकनीक, बौद्धिक ज्ञान, सतत विकास जीवन कौशल, जीवन सामर्थ्य आदि विषयों के ज्ञान की प्राप्ति पाठ्यचर्या में हो रहे निरंतर

टिप्पणी

परिवर्तनों का ही परिणाम है। शिक्षा की गुणवत्ता में निरंतर हो रहे सुधारों का श्रेय भी पाठ्यक्रमों को जाता है। शिक्षकों द्वारा कार्यान्वित पाठ्यचर्याओं की गुणवत्ता व शिक्षा तथा अधिगम रणनीतियां, अधिगम सामग्री तथा मूल्यांकन एक सफल पाठ्यचर्या के अंतर्गत शामिल होते हैं। पाठ्यचर्या कार्यान्वयन की प्रक्रिया तथा इससे संबद्ध विषयों हेतु अनेक विश्लेषणात्मक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। यूनेस्को की सामान्य शिक्षा गुणवत्ता विश्लेषण पद्धति इसी का एक उदाहरण है। यह विश्लेषणात्मक उपकरण राष्ट्रीय शिक्षा नीति निर्माताओं को पाठ्यचर्या निर्माण में सहायता प्रदान करते हैं। इन उपकरणों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में कमियों तथा आने वाली बाधाओं में सुधार कर शिक्षा की गुणवत्ता का विस्तार किया जाता है।

यह विश्लेषणात्मक उपकरण क्या पाठ्यचर्या द्वारा शिक्षार्थियों को ज्ञान, कौशल तथा व्यवहार में दक्ष कर पाता है, यह प्रश्न आज भी उठ सकता है। जिस प्रकार के समाज निर्माण में इन मूल्यों की आवश्यकता है, हमें एक ऐसी पाठ्यचर्या की आवश्यकता है जो राष्ट्र निर्माण तथा विकास की नीतियों के अनुसार हो। पाठ्यचर्या का मूल्यांकन तथा इसे लागू करने की जांच परख एक महत्वपूर्ण तथ्य है जो आज के परिप्रेक्ष्य में नितांत आवश्यक है।

2.8.5 आकलन और मूल्यांकन

आकलन और मूल्यांकन की प्रक्रिया को क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है।

आकलन का अर्थ एवं परिभाषा

किसी के बारे में निर्णय लेना आकलन कहलाता है। बालक क्या जानते हैं? क्या उन्होंने पाठ्यक्रम को पूरा कर लिया है? यह देखने के लिए अथवा अपने व्यक्तिगत कार्यक्रमों के लक्ष्यों को या दक्षता को स्पष्ट करने व कार्यक्रम की पुष्टि करने के लिए अधिगम का आकलन किया जाता है। आकलन, शिक्षण अवधि के अन्त में यह निर्धारित करने के लिए किया जाता है कि शैक्षिक लक्ष्य को किस सीमा तक प्राप्त कर लिया गया है। यह बालकों की उपलब्धि के लिए ग्रेड या प्रमाण पत्र प्रदान करने के लिए भी किया जाता है।

आकलन सीखने की प्रक्रिया का एक अंग है जो अध्यापक को यह समझने में सहायता प्रदान करता है कि उसका शिक्षण कैसा होना चाहिए? जब शिक्षक कक्षा में बालकों का आकलन करते हैं तो वे स्वयं का भी आकलन कर रहे होते हैं। यदि कक्षा में अधिकतर बालक सीख रहे हैं और सीखने में रूचि ले रहें है तो इसका अर्थ हुआ कि शिक्षक की शिक्षण तकनीकियां/विधियां प्रभावी हैं। यदि बालक नहीं सीख पा रहे हैं तो शिक्षक को निर्णय लेना होता है कि बालकों को सिखाने के तरीकों को और प्रभावी कैसे बनाया जाए। इस प्रकार आकलन गुणात्मक सुधार प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। आकलन के आधार पर शिक्षक यह जान पाते हैं कि बालक किस हद तक सीख पा रहे हैं और अभी कितना और प्रयत्न करना है ताकि वह अधिगम के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

प्रो. इरविन के अनुसार, ''आकलन छात्रों के अधिगम एवं विकास के व्यवस्थित आधार का अनुमान है। यह किसी भी वस्तु को परिभाषित कर चयन, रचना, संग्रहण,

विश्लेषण व्याख्या एवं सूचनाओं का उपयुक्त प्रयोग कर छात्र–विकास तथा अधिगम को बढ़ाने की प्रक्रिया है।"

टिप्पणी

हुबा एवं फ्रीड के अनुसार, ''आकलन सूचना संग्रहण तथा उस पर विचार विमर्श की प्रक्रिया है जिन्हें हम विभिन्न माध्यमों से प्राप्त करके यह जानते हैं कि बालक क्या जानता है, समझता है तथा अपने शैक्षिक अनुभवों के द्वारा प्राप्त ज्ञान को परिणाम के रूप में कितना व्यक्त कर सकता है। इसके द्वारा छात्र–अधिगम में वृद्धि होती है।"

आकलन की विशेषताएं

आकलन के द्वारा यह ज्ञात किया जाता है कि वास्तव में बालक ने शिक्षण के अन्त में क्या–क्या सीखा है। एक अच्छे आकलन में निम्न पांच गुणों का होना अनिवार्य है और शिक्षक को आकलन करने से पूर्व यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि, वह आकलन के अहम गुणों को पूरा कर रहें हों। आकलन की विशेषताएं निम्न हैं–

1. **वैधता**– वही आकलन वैध कहलाता है जो वास्तव में उन्हीं उद्देश्यों का आकलन करे जिस उद्देश्य के लिए उसका निर्माण किया गया है।
2. **विश्वसनीयता**– आकलन का सबसे महत्वपूर्ण गुण विश्वसनीयता है। आकलन किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में किया जाए उसका परिणाम सदैव एक समान होना चाहिए। एक आकलन तब ही विश्वसनीय कहलाएगा जब बालक पुनः पुनः परीक्षा में लगभग एक समान उत्तर दे। यदि शिक्षक द्वारा एक ही आकलन के लिए अलग–अलग अंक प्रदान किए जाते हैं तो ऐसा आकलन विश्वसनीय नहीं कहलाएगा।
3. **मानकीकरण–** विद्यालयों में जो परीक्षण किए जाते हैं वे राष्ट्र एवं राज्य के लिए किए जाते हैं लेकिन मानकीकृत आकलन वह होता है जो कक्षा स्तर को शामिल करता है। मानकीकृत आकलन में कई गुण होते हैं जो उसे अद्वितीय एवं मानक बनाते हैं। एक मानकीकृत आकलन वही होता है जो बालकों को एक समय सीमा, समान प्रकार के प्रश्न, समान निर्देशों को दिया जाए और जिनमें बालक समान अंक अर्जित करें। मानकीकरण प्राप्तांक में होने वाली त्रुटियों को समाप्त करता है।
4. **व्यावहारिकता–** आकलन लागत, समय और सरलता की दृष्टि से वास्तविक एवं कुशल होना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि आकलन का कोई तरीका आदर्श हो किन्तु उसे व्यवहार में न लाया जा सके तो ऐसे तरीकों को नहीं अपनाना चाहिए।
5. **उपयोगिता**– आकलन बालकों के लिए उपयोगी भी होना चाहिए। आकलन से प्राप्त परिणामों को बालकों के साथ साझा अवश्य करना चाहिए ताकि कमियों में सुधार लाया जा सके। आकलन बालकों एवं शिक्षकों की कमियों को जानने एवं उन्हें दूर करने में बहुत लाभदायक सिद्ध होता है।

टिप्पणी

आकलन के उद्देश्य

आकलन का मुख्य उद्देश्य बालकों को सीखने के लिए प्रेरित करना और बालकों की क्षमता उम्र तथा स्तर को ध्यान में रखते हुए उसे एक निश्चित स्तर तक पहुंचाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आकलन को सीखने के साधन के रूप में देखा जाता है। आकलन की प्रक्रिया में प्रत्येक बालक की तुलना उसकी स्थिति से ही करनी चाहिए दूसरे बच्चों की प्रगति से नहीं क्योंकि सभी बालकों के सीखने की गति एवं समझ विकसित करने का समय एक सा नहीं होता है। अत: शिक्षकों को बालकों की विभिन्नताओं को ध्यान में रखकर सीखने के अवसर प्रदान करने चाहिए। आकलन का मुख्य उद्देश्य यह ज्ञात करना होता है कि बालक ने एक निश्चित अवधि में शैक्षिक लक्ष्य को किस सीमा तक प्राप्त कर लिया है। आकलन का उद्देश्य प्राय: योगात्मक होता है और अधिकांशत: इसका प्रयोग पाठन की इकाई की अवधि के अंत में किया जाता है। आकलन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. बच्चों के संदर्भ में
   - बच्चे क्या जानते हैं?
   - बच्चों की विशिष्ट आवश्यकताएं क्या हैं?
   - बच्चों की आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम का चयन करना।
   - बच्चों के लिए कौन से कार्यक्रम उपयुक्त हैं कौन से नहीं इस प्रयोजन के लिए योजना बनाने के लिए।
   - यह ज्ञात करने के लिए कि निर्धारित कार्यक्रम किस सीमा तक बच्चों के लिए लाभकारी है।
   - बालकों के कौशल, योग्यता एवं आवश्यकताओं की पहचान करने के लिए।
   - बालकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को जानने के लिए।
2. परिवार व अन्य लोगों के संदर्भ में–
   - माता–पिता को बच्चे की प्रगति एवं अधिगम के बारे में जानकारी प्रदान करने के लिए।
   - घर की गतिविधियों एवं अनुभवों से संबंधित स्कूल की गतिविधियां।
   - बालकों की उपलब्धि के विषय में सभी को सूचित करने के लिए। विद्यालय से संबंधित जानकारी प्रदान करने के लिए।

मूल्यांकन प्रक्रिया

अधिगम एक सोद्देश्य जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति जाने अनजाने में अनेक तथ्यों को सीखता है तथा उनका अपने जीवन में प्रयोग करता है जिसके कारण व्यक्ति का जीवन पहले जैसी अवस्था में नहीं रहता अर्थात व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आता है। इस निरंतर चलने वाली प्रक्रिया से वांछित लक्ष्यों की पूर्ति हो रही है अथवा नहीं इसकी जानकारी मूल्यांकन द्वारा होती है। इस प्रकार मूल्यांकन शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह शिक्षकों को पढ़ाने में तथा विद्यार्थियों को सीखने में सहायता प्रदान

टिप्पणी

करता है। हम जीवनपर्यंत किसी न किसी रूप में मूल्यांकन करते रहते हैं। यदि मानव जीवन से मूल्यांकन को हटा दिया जाए तो जीवन का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा।

मूल्यांकन सदैव उद्देश्यों के अनुरूप किया जाता है। अत: मूल्यांकन और उद्देश्यों में घनिष्ठ संबंध होता है। शिक्षा के क्षेत्र में किसी बालक ने किन उद्देश्यों को किस सीमा तक प्राप्त कर लिया है इसका ज्ञान हमें मूल्यांकन द्वारा प्राप्त होता है।

मूल्यांकन का शाब्दिक अर्थ मूल्य का अंकन करना होता है। मूल्यांकन के द्वारा किसी वस्तु, विचार, प्राणी अथवा क्रिया के मूल्य को अथवा किसी विशेषता को मानक शब्दों, चिह्नों अथवा अंकों के माध्यम से आंकने की प्रक्रिया का बोध होता है, किंतु शिक्षा के क्षेत्र में इसे एक तकनीकी शब्द के रूप प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भ में शिक्षा का स्वरूप केवल लिखने, पढ़ने और गणित अर्थात (3Rs) तक ही सीमित था किंतु आजकल इसके द्वारा व्यक्ति के संपूर्ण विकास की अपेक्षा की जाने लगी है। अत: आजकल शिक्षाविद् मूल्यांकन की प्रक्रिया के द्वारा न केवल विद्यार्थियों के विषय-ज्ञान के संबंध में सूचनाएं एकत्र करते हैं अपितु उनके व्यक्तित्व के विकास के संबंध में भी आवश्यक जानकारी प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं इसके माध्यम से तो विभिन्न शैक्षिक प्रक्रियाओं, शिक्षण विधियों, पाठय सामग्री एवं पाठयक्रमों में भी सुधार लाने के प्रयास किए जाते हैं। समाज के विकास का पूरा चक्र मूल्यांकन पर ही निर्भर करता है।

मूल्यांकन की परिभाषा

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों ने मूल्यांकन की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं उनमें से कुछ निम्न हैं-

कोठारी कमीशन (1966)- "अब यह माना जाने लगा है कि मूल्यांकन एक अनवरत प्रक्रिया है, यह सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का एक अभिन्न अंग है और यह शिक्षण लक्ष्यों से घनिष्ठ रूप से संबंधित है।"

मैकनील- "मूल्यांकन शब्द को, मैं इसे पसंद करता हूं, अथवा मैं इसे नापसंद करता हूं इन्हीं दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाने लगा है, यह किसी भी व्यक्ति द्वारा किन्हीं कार्यक्रमों, क्रियाओं, प्रक्रियाओं के दौरान प्राप्त अनुभवों के प्रतिक्रिया स्वरूप एक संवेगात्मक उद्गार है।"

शिक्षण अनुसंधान विषय कोष- "मूल्यांकन अपेक्षाकृत नवीन तकनीकी शब्द है, जिसका प्रयोग मापन की पारस्परिक परीक्षा एवं परीक्षण को अधिक विस्तृत अर्थ देने के लिए किया गया है।"

रेमर्स एवं गेज- ''मूल्यांकन के अंदर व्यक्ति व समाज अथवा दोनों की दृष्टि में जो उत्तम है अथवा अवांछनीय है, उसको मानकर चला जाता है।"

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (1963) ''मूल्यांकन एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा यह ज्ञात किया जाता है कि उद्देश्य किस सीमा तक प्राप्त किए गये हैं, कक्षाओं में दिए गये अधिगम अनुभव कहां तक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं और किस हद तक शिक्षा के उद्देश्य पूर्ण किए गए हैं।''

टिप्पणी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान दिल्ली की मूल्यांकन की अवधारणा नामक पुस्तक के अनुसार मूल्यांकन प्रक्रिया द्वारा हमें अग्रलिखित बातों का ज्ञान होता है–

- विद्यार्थी ने अपने शिक्षा के उद्देश्य को किस सीमा तक प्राप्त किया है?
- कक्षा में दिये जाने वाले शैक्षिक निर्देश (शिक्षा एवं प्रविधि) कितने प्रभावकारी हैं?
- अधिगम–अनुभव कितने प्रभावी उत्पादक रहें?

उपर्युक्त सभी तथ्य मिलकर मूल्यांकन चक्र को पूरा करते हैं। इन तीनों के आपसी संबंध को त्रिभुजाकार आकृति से निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है–

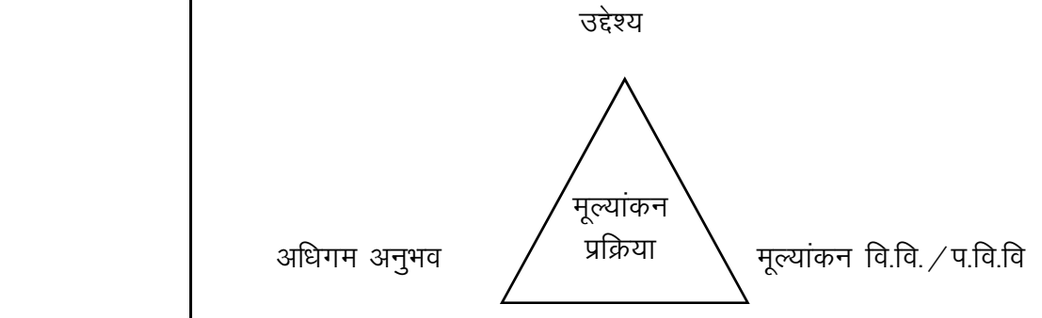

शिक्षण उद्देश्य, अधिगम अनुभव तथा मूल्यांकन दोनों को प्रभावित करते हैं अर्थात उद्देश्यों के आधार पर अधिगम अनुभव योजना बनाई जाती है और वांछित उद्देश्य प्राप्त हुए या नहीं इसकी जांच मूल्यांकन द्वारा की जाती है। मूल्यांकन से प्राप्त परिणामों का विश्लेषण करके यह ज्ञात किया जाता है कि अधिगम अनुभव से बालक के व्यवहार में वांछित परिवर्तन हो रहा है या नहीं।

मूल्यांकन की विशेषताएं

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने के पश्चात इसकी निम्न विशेषताएं सामने आई हैं–

- मूल्यांकन एक व्यापक प्रत्यय है।
- यह एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें बालक की प्रगति के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयास किए जाते हैं।
- मूल्यांकन द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षक, बालक एवं शिक्षण विधियों व प्रविधियों तथा शैक्षिक व्यवस्था की गुणवत्ता की जांच सम्भव होती है।
- यह शिक्षण अधिगम परिणामों को परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार से प्रस्तुत करता है।
- यह अधिगम के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

आकलन और मूल्यांकन के सिद्धांत

आकलन एक महत्वपूर्ण कार्य है। आकलन निम्न सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए–

टिप्पणी

1. **पारदर्शिता**– आकलन कार्यों तथा प्रक्रियाओं के बारे में सूचना स्पष्ट होनी चाहिए तथा यह सूचना विद्यार्थियों, स्टॉफ सदस्यों तथा जांचकर्ता सभी को उपलब्ध होनी चाहिए।
2. **समावेशी तथा निष्पक्षता**– आंकलन समावेशी तथा निष्पक्ष होना चाहिए। आकलन में सभी बच्चों को शामिल किया जाना चाहिए तथा उनमें किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।
3. **विश्वसनीयता**– आकलन विश्वसनीय होना चाहिए। इसके लिए अंक–ग्रेड और दत्त कार्यों की अवस्थिति के लिए स्पष्ट तथा सतत प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है।
4. **वैधता**– आकलन वैध होना चाहिए। वैधता यह सुनिश्चित करती है कि आकलन कार्य पर्याप्त स्तर पर अधिगम परिणाम प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों का आकलन किया गया है।
5. **आकलन विषय से सम्बन्धित होना चाहिए**– आकलन को कार्य के विषय की प्रकृति को प्रदर्शित करने वाला होना चाहिए तथा विद्यार्थियों को अपने कौशल और सामर्थ्य को विकसित करने का अवसर प्रदान करना चाहिए।
6. **आकलन प्रक्रिया में सम्मिलित सभी कर्मचारी समर्थ होने चाहिए**– आकलन प्रक्रिया में शामिल प्रत्येक कर्मचारी समर्थ होना चाहिए अर्थात आकलन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आकलन के नियम, सिद्धांत एवं उद्देश्यों का पता होना चाहिए और वे इस कार्य में सक्षम होने चाहिए। उन्हें अपनी भूमिकाओं तथा जिम्मेदारियों का अच्छे से ज्ञान होना चाहिए।
7. **निर्माणात्मक एवं रचनात्मक**– आकलन से संबंधित सभी कार्यक्रमों में निर्माणात्मक तथा संकलनात्मक आकलन को शामिल किया जाना चाहिए। निर्माणात्मक मूल्यांकन तथा संकलनात्मक मूल्यांकन दोनों साथ–साथ चलते हैं।
8. **प्रतिपुष्टि**– प्रतिपुष्टि जिससे शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में सुधार होता है, आकलन प्रक्रिया का अभिन्न अंग होना चाहिए। प्रत्येक आकलन कार्य के लिए प्रतिपुष्टि विद्यार्थियों के लिए स्पष्ट होनी चाहिए।

मूल्यांकन के सिद्धांत

मूल्यांकन शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग तथा निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है, शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यांकन अत्यंत महत्वपूर्ण है। शिक्षण के क्षेत्र में मूल्यांकन के सिद्धांत को निम्न आधार पर समझाया गया है–

1. शिक्षाशास्त्री, अध्यापक, बालक, अभिभावक और प्रशासक सभी संयुक्त रूप से शिक्षण के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं। मूल्यांकन से शिक्षण के क्षेत्र में सफलता की सम्भावना बढ़ जाती है। मूल्यांकन के आधार पर ही अपने द्वारा निर्धारित किए गए लक्ष्यों की प्राप्ति के बारे में जान सकते हैं। शिक्षक अपने द्वारा अपनाई गई विधि की उपादेयता के आधार पर उसमें यथासम्भव

टिप्पणी

परिवर्तन कर सकते हैं। पाठ्य सामग्री, शिक्षण विधियों में तथा सहायक सामग्री का निर्धारण कर सकते है।

2. मूल्यांकन ही एक मात्र साधन है जो यह निर्धारित करता है कि बालक की जन्मजात एवं अर्जित योग्यताएं तथा क्षमताएं कितनी एवं क्या-क्या हैं मूल्यांकन द्वारा बालकों की उन्नति एवं प्रगति के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है और इसी के आधार पर उन्हें उनके भावी जीवन के लिए निर्देशित किया जाता है।

3. पाठ्यक्रम में परिवर्तन एवं परिमार्जन के लिए भी मूल्यांकन अति उपयोगी है। पाठ्यक्रम वह साधन है जिसको शिक्षक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग करता है। इस प्रकार मूल्यांकन पाठ्यक्रम से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित होता है।

4. मूल्यांकन के आधार पर ही यह निर्धारित किया जाता है कि शिक्षक द्वारा चयनित शिक्षण विधियां निर्धारित पाठ्यक्रम के शिक्षण के लिए लाभदायक हैं अथवा नहीं। मूल्यांकन के आधार पर शिक्षण की कमियों को दूर करके शिक्षण के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।

5. मूल्यांकन का आधार उद्देश्य है, जिसके ऊपर ही शिक्षक की सफलता एवं असफलता निर्भर करती है। मूल्यांकन वह मानदंड प्रदान करता है जिससे शिक्षक के सामने उद्देश्य स्पष्ट होते हैं तथा मूल्यांकन के द्वारा ही विशिष्ट उद्देश्य प्राप्ति ज्ञात होती है, यदि विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं होती है तो उपचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था की जाती है।

6. प्रेरणा के दृष्टिकोण से भी मूल्यांकन उपयोगी है। मूल्यांकन द्वारा ही शिक्षक अपने पाठ को सुनियोजित ढ़ंग से प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित होता है, ताकि बालक को अधिक प्रभावी ढ़ंग से पाठ्यवस्तु को समझा सके। मूल्यांकन शिक्षण की प्रभावशीलता को बताता है।

7. छात्रों को व्यावसायिक एवं शैक्षिक निर्देशन देने के लिए मूल्यांकन का प्रयोग करना बहुत महत्वपूर्ण होता है।

8. मूल्यांकन द्वारा विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों की उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

9. मूल्यांकन द्वारा बालकों की बुद्धि, रुचियों, अभिक्षमताओं, कुशलताओं, योग्यताओं, दृष्टिकोण एवं व्यवहारों की जांच का ज्ञान सम्भव है।

2.8.6 परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में शिक्षक

शिक्षक की भूमिका विद्यार्थियों के लिए वह सुरक्षित स्थान उपलब्ध कराने की है, जिसमें बच्चे अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित कर सकें। जॉन डीवी (1915) इस संदर्भ में कहते हैं, "शिक्षा के अनुक्रम में शिक्षक के हिस्से में प्रमुख काम यह होता है कि वह ऐसा पर्यावरण तैयार करे जिससे अनुक्रियाओं का उद्दीपन हो और शिक्षार्थी को मार्गदर्शन

टिप्पणी

मिले।" वह अंतःक्रिया द्वारा विद्यार्थियों को अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करता है। वह विद्यार्थियों के लिए ऐसा धरातल तैयार करता है जहां बच्चे अपने अनुभव दूसरों के साथ बांट सकें। मुख्यतः लड़कियां स्कूल और कक्षा में निर्णय प्रक्रिया के विवेचन के लिए तैयार हो सकें।

शिक्षाशास्त्र और पाठ्यक्रम परिवर्तन वास्तविक रूप नहीं ले सकता जब तक कि शिक्षक की उसमें सशक्त भूमिका न हो। एनसीएफ परिवर्तन में शैक्षिक कारकों की भूमिका को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में और भी महत्ता प्राप्त है, क्योंकि शिक्षा के द्वारा समाज, संस्कृति विचार, तकनीकी तथा विज्ञान ज्ञान, मनोरंजन के साधनों, राष्ट्रीय एकता, आर्थिक गत्यात्मकता, उदार तथा व्यापक धर्म इत्यादि का विकास होता है। अन्य शब्दों में, हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि शिक्षा के द्वारा परिवर्तन के सभी कारक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं। शैक्षिक कारकों के अंतर्गत शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, पाठ्य–सहगामी क्रियाएं, शिक्षण विधियां, नवाचार, अनुशासन की प्रणाली, मापन एवं मूल्यांकन, विद्यालय प्रशासन एवं प्रबंधन, बालक तथा अध्यापक आते हैं। सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया के आधार स्तम्भ शिक्षक हैं। शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को प्रमुख मानते हुए एडम्स ने इसे 'द्विमुखी प्रक्रिया' नाम दिया है जिसको निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है–

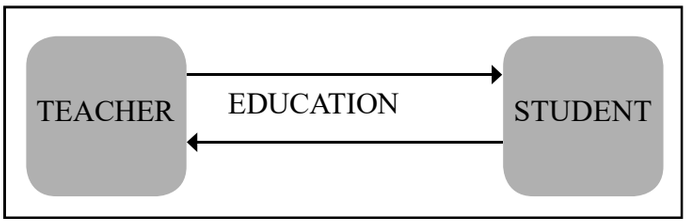

जॉन डीवी ने पाठ्यक्रम को महत्वपूर्ण मानते हुए इसमें जोड़कर इसे 'त्रिमुखी प्रक्रिया' माना जो इस प्रकार है–

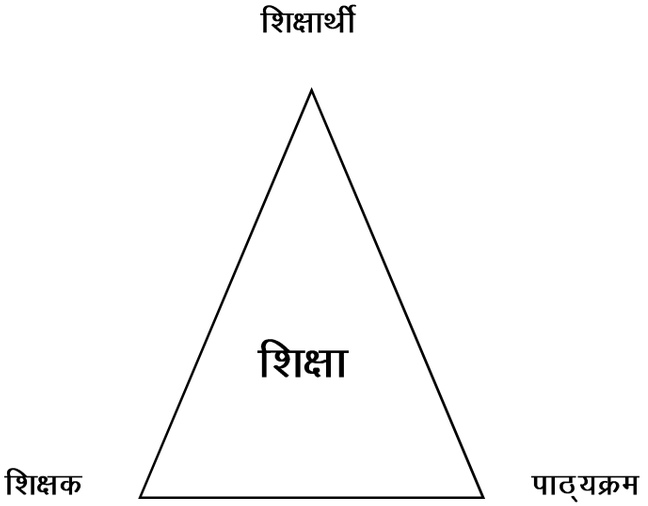

टिप्पणी

इस प्रक्रिया से इतना तो निश्चित हो जाता है कि परिवर्तन के शैक्षिक कारक में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण है। शिक्षक परिवर्तन में अपनी भूमिका शिक्षण विधियों, पाठ्यक्रम शिक्षण उद्देश्यों तथा पाठ्य–सहगामी क्रियाओं आदि के द्वारा सम्पन्न करता है। शिक्षक परिवर्तन अभिकर्ता के रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन निम्न प्रकार से करता है–

- शिक्षक अपने प्रभावी व्यक्तित्व तथा उदारता के द्वारा परिवर्तन लाता है।
- शिक्षक पाठ्यक्रम के विषयों और प्रकरणों को समुचित तथा संतुलित ढंग से प्रस्तुत करके शिक्षार्थियों के मन–मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालता है, जिससे परिवर्तन आता है।
- शिक्षक का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण परिवर्तन में सहायक बनता है।
- शिक्षक समाज और विद्यालय के मध्य संबंध स्थापित कर परिवर्तन का साधन बनता है।
- शिक्षक लिंग, धर्म, जाति, ऊंच–नीच, गरीब–अमीर इत्यादि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता है जिसके कारण धीरे–धीरे इन विषयों के प्रति सकारात्मक संदेश और परिवर्तन आता है।
- शिक्षक पाठ्य–सहगामी क्रियाओं के आयोजन द्वारा सामाजिक कुरीतियों, समसामयिक मुद्दों आदि पर कार्यक्रमों का आयोजन करके परिवर्तन लाने का कार्य करते हैं।
- शिक्षक विज्ञान तथा तकनीकी के प्रयोग द्वारा परिवर्तन लाने का कार्य संपन्न करते हैं।
- शिक्षक शिक्षार्थियों को स्वानुशासन हेतु प्रशिक्षित कर परिवर्तन में भूमिका निभाता है।
- शिक्षक राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय पर्वों, दिवसों का आयोजन करके परिवर्तन लाने में सहायता करते हैं।
- गतिशील तथा क्रिया–केन्द्रित शिक्षण विधियों के प्रयोग द्वारा शिक्षक परिवर्तन हेतु भूमिका तैयार करते हैं।
- शिक्षक अपनी कर्तव्यनिष्ठा तथा ईमानदारी के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावात्मक वातावरण सृजित करते हैं जिससे परिवर्तन को गति प्राप्त होती है।
- शिक्षक लोकतंत्रीय आस्थाओं में आस्था रखने के कारण परिवर्तन का अग्रदूत बनते हैं।
- शिक्षकों द्वारा पक्षपातरहित, त्याग, प्रेम, सहिष्णुता तथा परोपकार के नवीन प्रतिमानों की स्थापना द्वारा परिवर्तन में भूमिका निभाई जाती है।
- शिक्षक अपने चरित्र, आदर्श और जीवन मूल्यों के द्वारा शिक्षार्थियों में परिवर्तन की नींव रखता है।

टिप्पणी

- शिक्षक राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय विषयों का ज्ञाता तथा सामाजिक सरोकारों में रुचि लेकर परिवर्तन की गति को बढ़ाता है।
- शिक्षक को बाल मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए। इस प्रकार वह परिवर्तन की गति को बढ़ाता है।
- शिक्षक को बाल केन्द्रित दृष्टिकोण से परिपूर्ण तथा व्यक्तिगत निर्देशन एवं परामर्श का ज्ञाता होना चाहिए।
- शिक्षक को अपने देश की संस्कृति के साथ–साथ अन्य देशों की संस्कृति के प्रति उदार होना चाहिए, जिससे सांस्कृतिक परिवर्तन में सहायता प्राप्त होगी।
- शिक्षक को विश्व शांति हेतु तत्पर होना चाहिए, जिससे वैश्विक स्तर पर परिवर्तन आएगा।
- शिक्षक को ज्ञान का जिज्ञासु, नवीन ज्ञान को आत्मसात करने, शिक्षार्थियों में जिज्ञासा उत्पन्न करने वाला होना चाहिए जिससे सामाजिक सहयोग की प्राप्ति द्वारा परिवर्तन में योगदान प्राप्त होगा।

बाधक कारक

शिक्षक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, परंतु इसमें कुछ बाधक तत्व हैं जो शिक्षक के परिवर्तन लाने के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। ये बाधक तत्व तथा इनको समाप्त करने हेतु सुझाव निम्नलिखित हैं–

- **अशिक्षा** : भारतीय समाज में अशिक्षितों की संख्या अत्यधिक है। अतः वे शिक्षक को परिवर्तन की प्रक्रिया में सहयोग प्रदान नहीं कर पाते हैं। अशिक्षा के कारण व्यक्ति परिवर्तन का महत्व नहीं समझते हैं और शिक्षक या जो भी परिवर्तन लाना चाहते हैं, उनको इनका कोई सहयोग प्राप्त नहीं होता है, अपितु विरोध भी यदा–कदा झेलना पड़ता है।
- **रूढ़िबद्ध समाज** : हमारा समाज रूढ़िवादी समाज है जहां हम अपने पुराने विचारों, आदर्शों और मान्यताओं से इस प्रकार जकड़े हुए हैं कि नए विचारों, आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं को सरलता से स्थान प्रदान नहीं कर पाते हैं तथा शिक्षकों को ऐसा करने पर दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता है।
- **धार्मिक तथा राजनैतिक कारक** : शिक्षकों के परिवर्तन लाने के कार्य में धार्मिक तथा राजनैतिक अड़चने आती हैं। धर्म तथा राजनीति के द्वारा धार्मिक उन्माद, जाति आदि को बढ़ावा दिया जा रहा है। ऐसे में शिक्षक के प्रयास धरे रह जाते हैं।
- **संकीर्ण सोच** : हमारे समाज में फैली संकीर्ण सोच के कारण बहुत से लोग अपनी जाति, धर्म, भाषा एवं संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं और अन्य को हीन समझते हैं। इस कारण विनिमय और अंतःक्रिया का सर्वथा अभाव हो जाता है, जिसके कारण शिक्षक चाहकर भी परिवर्तन के विषय में अपनी प्रभाविता का निर्वहन नहीं कर पाते।

टिप्पणी

- **स्वार्थपरकता** : समाज वर्गों, जातियों, संप्रदायों इत्यादि में विभक्त है, जहां इनके अपने–अपने कुछ स्वार्थ होते हैं और इस कारण वे परिवर्तन के प्रति समुचित दृष्टिकोण नहीं रखते हैं जिससे परिवर्तन में बाधा उत्पन्न होती है।
- **अंधविश्वास** : अंधविश्वासों के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन प्रभावित होता है। पुत्र विषयी, तकनीकी तथा विज्ञान विषयी, जाति, धर्म विषयी तमाम अंधविश्वास व्याप्त हैं, जिनके कारण जब शिक्षक परिवर्तनों से अवगत कराते हैं तो लोग समझ बैठते हैं कि वे समाज तथा बच्चों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार शिक्षक की भूमिका प्रभावित होती है।
- **सांस्कृतिक अलगाव** : संस्कृति में पृथकता होती है और भारतीय संस्कृति में बहुलता है, जिसके कारण शिक्षकों को इन बहुल सांस्कृतिक तत्त्वों के मध्य समन्वय और सामंजस्य बिठाने में विरोध का सामना करना पड़ता है।
- **इच्छा–शक्ति की कमी** : शिक्षक तथा समाज दोनों में ही परिवर्तन के प्रति इच्छा–शक्ति का अभाव है। लोग सब कुछ सरकार के भरोसे छोड़ देते हैं। इच्छा–शक्ति के अभाव में शिक्षक केवल कार्य के घंटे पूर्ण करना मात्र ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है, जिससे परिवर्तन में उसकी भूमिका पर प्रभाव पड़ता है।

अध्यापन या शिक्षा–विषयक तथा पाठ्यक्रम–स्तरीय परिवर्तन बिना अध्यापक के संभव नहीं है। अध्यापन समस्त शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया में सबसे अग्रगामी भूमिका एवं महत्व रखता है। इस प्रक्रिया में एक उत्प्रेरक की भूमिका में होने के बावजूद वह सूचना को संचारित करने वाला एक उपकरण मात्र बन कर रह गया है। सभी शिक्षा नीतियों एवं राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2000) में भी इसकी भूमिका को ध्यान में रखते हुए बार–बार दोहराया गया है कि "पूर्व–शिक्षक प्रशिक्षण के कार्यक्रमों में विभिन्न विषय क्षेत्रों के विषयवस्तु ज्ञान पर बल देना चाहिए। साथ ही स्कूली विषयों के साथ शिक्षण पद्धतियों को सही प्रकार से एकीकृत किया जाए तथा 'मूल्यांकन' के एक सुदृढ़ अंग को सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है।" इसमें ऐसे प्रशिक्षण का सुझाव दिया गया है जो कि अध्यापकों को 'नई पीढ़ी के पैकेज' को संभालने हेतु मदद करे। इसलिए जब बच्चों की रूपान्तरणकारी, रचनात्मक तथा अधिगम आवश्यकताओं को पहचान लिया जाता है तब अध्यापक सामान्यतः सर्वप्रमुख स्थान पर नहीं रहता, बल्कि अध्यापक तब केवल ज्ञान का सम्पादन या प्रबंधन के कार्य करने वाला रह पाता है न कि ज्ञान का निर्माण करने वाला।

परिवर्तन का अभिकर्ता माने जाने वाले शिक्षक के सामने अपनी कक्षा एवं विद्यालयों में लैंगिक समानता को स्थापित करना एक बड़ी चुनौती है। जब बच्चा विद्यालय पढ़ने आता है तो वह अपने साथ बहुत सारे विश्वास, आदतें, भूमिकाएं एवं रूढ़िबद्धताएं भी लेकर आता है। बच्चा विद्यालय में बहुत कुछ सीखता है परंतु घर पर उन सभी बातों का दोहराव होता है जो उसने पहले से ही घर में सीखी हुई हैं। ऐसे में शिक्षा में एक अंतर्विरोध पैदा हो जाता है। इसको दूर करना भी शिक्षक का ही कार्य है। कृष्ण कुमार (2014) के अनुसार, "ऐसे शिक्षक विरले होंगे जो समाज द्वारा तय किए गए लड़की के जीवन के उद्देश्य और शिक्षा के उद्देश्य के बीच मौजूद

अंतर्विरोध को लेकर सचेत हैं और अपने शैक्षणिक प्रयास से शिक्षा के उद्देश्य का संवर्धन करने में संलग्न हैं।"

टिप्पणी

दरअसल शिक्षा को परिवर्तन का हथियार मानने में हम बहुत जल्दबाजी कर देते हैं। हमें लगता है कि शिक्षा जादू की छड़ी है और शिक्षा में बढ़ोतरी का मतलब है समाज की सभी रूढ़िवादी मान्यताओं की समाप्ति, जबकि ऐसा नहीं है। हमने समाजीकरण के बारे में पढ़ा है और उसकी प्रभावशाली प्रवृत्ति के बारे में भी समझा है, तो मात्र शिक्षा से समाजीकरण के प्रभावों एवं उसके कारण बनी मान्यताओं को इतनी आसानी से खत्म नहीं किया जा सकता। हाल ही में हुए शोध यह बताते हैं कि लैंगिक भेदभाव एवं उससे जुड़े कारक पढे–लिखे परिवारों में भी खूब होता है। वहां भी महिलाओं की स्थिति कम पढ़े–लिखे परिवार की महिलाओं जैसी ही है। उदाहरण के लिए पढ़े–लिखे परिवारों में दहेज लेने की प्रथा खूब प्रचलित है। कन्या भ्रूण हत्या की दर भी शिक्षित परिवारों में ही अधिक है। कृष्ण कुमार (2014) लिखते हैं कि, "शिक्षा के जरिए लड़कियों की सामाजिक नियति बदल देने के इच्छुक लोग प्रायः स्त्री की परिस्थिति को और पराधीनता को गहराई में जाकर समझने का प्रयास नहीं करते। वे जल्दी से अपना लक्ष्य पा लेना चाहते हैं और इस चाह की अभिव्यक्ति नारीवादी सक्रियता को हाल के दशकों में मिली गिनी–चुनी सफलताओं में पाते हैं। ये सफलताएं अवश्य महत्वपूर्ण हैं पर नारी की पराधीनता के लंबे इतिहास को देखते हुए इन सफलताओं पर इतराना एक नादानी होगी।"

परिवर्तन सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक आदि सभी क्षेत्रों के लिए आवश्यक है, परंतु परिवर्तन समाज के लिए हितकारी एवं सकारात्मक होने चाहिए। जो परिवर्तन समाज में नकारात्मकता फैलाते हैं उनके दुष्परिणाम समाज को झेलने पड़ते हैं। शिक्षक जो भविष्य का निर्माता है यह उसका दायित्व बनता है कि वह सकारात्मक परिवर्तन को सशक्त करने में अपनी भूमिका निभाए। लैंगिकता के दृष्टिकोण से समाज को बदलने में एक शिक्षक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। शिक्षक, जो स्वयं बहुत सारी मान्यताओं एवं रूढ़ियों से ग्रस्त होते हैं उनको अपनी मान्यताओं के खिलाफ जाकर, उनका प्रतिरोध करते हुए अपने विद्यार्थियों को समाज की मान्यताओं एवं बाधाओं का सामना करते हुए चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करना है।

अपनी प्रगति जांचिए

13. सामाजिक ढ़ांचे को सही रूप व इसके अस्तित्व को बनाए रखने में किस सामाजिक संस्था का योगदान होता है–

    (क) परिवार (ख) विद्यालय

    (ग) धर्म (घ) उपर्युक्त सभी

14. पाठ्यचर्या निर्माण का सिद्धांत है–

    (क) उपयोगिता एवं रचनात्मकता का सिद्धांत

    (ख) विविधता और लचीलेपन का सिद्धांत

    (ग) आवश्यकता एवं रुचि का सिद्धांत

    (घ) उपर्युक्त सभी

टिप्पणी

2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (घ)
3. (घ)
4. (घ)
5. (घ)
6. (घ)
7. (घ)
8. (क)
9. (घ)
10. (ख)
11. (घ)
12. (घ)
13. (घ)
14. (घ)

2.10 सारांश

हर बच्चा एक परिवार में पैदा होता है। घर या परिवार पहली सामाजिक संस्था है जिसके साथ बच्चा संपर्क में आता है। परिवार के अन्य सदस्यों, माता–पिता, भाई–बहन और अन्य लोगों के साथ बातचीत, बच्चे के व्यक्तित्व और उसके सामाजिक व्यवहार पर एक स्थायी प्रभाव डालती है।

युवा जानवर की तुलना में एक मानव बच्चा परिवार पर बहुत अधिक और लंबे समय तक निर्भर रहता है। यह तथ्य काफी हद तक समाजीकरण की प्रक्रिया में घर की स्थायी और महत्वपूर्ण भूमिका के लिए जिम्मेदार है। व्यक्तित्व विकास के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत ने इस बात को उजागर करने का प्रयास किया कि कैसे खेल व्यवहार, शौचालय प्रशिक्षण और बच्चे के पालन के अन्य रूप जैसे बुनियादी और स्पष्ट रूप से गैर–सामाजिक संपर्क, बच्चे की शैली और सामाजिक व्यवहार के तरीके को बहुत प्रभावित कर सकते हैं।

सामाजिक वर्ग या जिसे हम 'सामाजिक–आर्थिक वर्ग' कह सकते हैं, एक अन्य कारक है जो समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह स्वाभाविक है क्योंकि माता–पिता द्वारा अपनाई गई बाल पालन की आदतें, सामाजिक वर्ग के अनुसार बदलती हैं।

अध्ययनों से यह भी पता चला है कि निम्न वर्ग के बच्चे उच्च आय वर्ग के बच्चों की तुलना में बहुत तेजी से स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की भावना प्राप्त करते

टिप्पणी

हैं। उच्च आय वर्ग के बच्चे अक्सर अधिक आश्रित पाए जाते हैं। इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि जिस सामाजिक वर्ग का बच्चा होता है उसका समाजीकरण और अंततः व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार को निर्देशित करने में बहुत प्रभाव पड़ता है। वहीं, यह भी देखा जा सकता है कि मध्यम वर्ग आसानी से मूल्यों का त्याग करता है।

मानव का जन्म समाज में होता है और समाज में रहकर ही उसे अपना जीवन व्यतीत करना होता है। समाज में भिन्न–भिन्न प्रकार के प्रभाव उसके ऊपर पड़ते हैं और वह भी समाज के ऊपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालता है। व्यक्ति और समाज दोनों ही एक–दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं और प्रभाव डालते हैं। शिक्षा का समाजशास्त्र, शिक्षा पर सामाजिक प्रतिक्रिया का प्रभाव और सामाजिक प्रतिक्रिया पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करता है।

समाजीकरण के सम्बन्ध में एक बात याद रखनी चाहिए कि वह केवल ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसमें बालक पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं, उसके व्यवहार में रुकावटें डाली जाती हैं, वरन् यह एक सक्रिय एवं रचनात्मक प्रक्रिया भी है। यह प्रक्रिया वृद्धि एवं विकास को प्रोत्साहित करती है यह व्यक्ति की प्रेरणा प्रदान करती है, उसकी इच्छाशक्ति को जागृत करती है और उसे अनेक प्रकार से स्वयं को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रोत्साहित करती है। अतएव हम कह सकते हैं कि समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति की सम्भावनाओं को उभारती भी है और उनमें से कुछ का दमन भी करती है।

एक व्यक्ति अपने आप बहुत ही कम सीख सकता है। उसके सीखने में दूसरों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी पुस्तक या बिना दूसरे व्यक्तियों के साथ के बिल्कुल अकेला छोड़ दिया जाए, तो उसकी शिक्षा बिल्कुल ही नहीं हो पाएगी। अतएव शिक्षा के लिए दूसरे व्यक्तियों उपस्थित का होना और पुस्तकों के रूप में उनके ज्ञान का संचित होना परमावश्यक है। शिक्षा इस रूप में ही एक सामाजिक क्रिया कही जाती है। वस्तुतः शिक्षा और ज्ञान, दोनों ही समाज सापेक्ष वस्तुएं है, जो उनके अभाव में अर्जित नहीं की जा सकतीं। शिक्षा प्रदान करना एवं ज्ञान में वृद्धि करना, बिना समाज की प्रकृति, इसकी रचना, इसके सदस्यों के जीवन के आदर्श एवं मूल्यों को समझे, सम्भव नहीं है।

किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था तब तक विकास की ओर अग्रसर नहीं होती जब तक उसे राज्य के द्वारा वित्तीय सहायता या कोई संरक्षण हासिल न हो। अगर हम भारतीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर नज़र डालें तो शुरुआती दौर में वैदिक शिक्षा में किसी भी तरह की सतत एवं निर्धारित वित्तीय व्यवस्था का प्रावधान नहीं था। राजा या राज्य के द्वारा गुरुकुलों को वित्तीय सहायता तो दी जाती थी चाहे वह धनराशि के रूप में हो या भूमि के रूप में, लेकिन ये सहायता स्थाई, सतत एवं निर्धारित नहीं थी। शिक्षा का प्रबंध अधिकतर निजी समितियों द्वारा ही किया जाता था जिन्हें समाज के कुछ प्रतिष्ठित एवं धनी वर्ग चलाते थे। कुछ मदद जनता की ओर से भी हो जाती थी और कुछ संपन्न परिवारों के बच्चे शिक्षा पूरी करने के पश्चात गुरुदक्षिणा के रूप में कुछ सहायता उपहार स्वरूप देते थे। चाहे राज्य के द्वारा शैक्षिक वित्त व्यवस्था का प्रबंध नहीं था लेकिन इतिहास में कुछ साक्ष्य जरूर हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि शिक्षा को कहीं–कहीं राज्य का संरक्षण हासिल था।

टिप्पणी

कोठारी आयोग की रिपोर्ट पर आधारित प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 को पूर्ण आकार के रूप में केवल 9 पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया। इसके मूलभूत तत्वों में शामिल थे– शिक्षा राष्ट्रीय महत्व का विषय, शिक्षा की व्यवस्था केंद्र एवं राज्य सरकारों का संयुक्त उत्तरदायित्व, शिक्षा पर केंद्रीय बजट का 6 प्रतिशत व्यय, सम्पूर्ण देश के लिए 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना, अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था, माध्यमिक शिक्षा का विस्तार एवं उन्नयन, भारतीय भाषाओं का विकास, प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा में कार्यानुभव एवं राष्ट्रीय सेवा की अनिवार्यता, विश्वविद्यालयी शिक्षा का प्रसार एवं उन्नयन, कृषि, व्यावसायिक, तकनीकी एवं इंजीनियरिंग शिक्षा की विशेष व्यवस्था, विज्ञान शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान पर विशेष ध्यान, परीक्षा प्रणाली में सुधार, शिक्षकों के स्तर और शिक्षण में सुधार, छात्रों के लिए खेल–कूद की उत्तम व्यवस्था

राष्ट्रीय शिक्षा नीति प्रारूप – 1979 ने एक ऐसी शैक्षिक प्रणाली के विकास का प्रस्ताव दिया जिससे लोगों को न केवल अपने ज्ञान को बढ़ाने में बल्कि अकादमिक कौशल को भी बढ़ाने में मदद मिले। इसने छात्रों के बीच नैतिकता और नैतिकता के बारे में जागरूकता पैदा करने का भी आह्वान किया ताकि वे एक अच्छे व्यक्तित्व का विकास कर सकें और योग्य नागरिक बन सकें। शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति प्रारूप ने सुझाव दिया कि संवैधानिक मूल्यों को मजबूत करने वाली एक अच्छी शिक्षा प्रणाली को लागू किया जाना चाहिए। शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करने पर जोर दिया गया था।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के आधारभूत लक्ष्यों में स्थानीय निकाय एवं अन्य मान्यता प्राप्त संस्थाओं द्वारा संचालित सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों की दशा सुधारना तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की कार्य योजना में माध्यमिक शिक्षा में सुधार हेतु भी अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गए, जिनमें गतिनिर्धारक विद्यालयों (Pace Setting Schools), 'नवोदय विद्यालयों' की स्थापना प्रमुख था। इसमें इन नवोदय विद्यालयों के स्वरूप, उनकी स्थापना और उनके संचालन की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। उच्च शिक्षा के अवसर सर्वसुलभ कराने के लिए खुले विश्वविद्यालयों (Open Universities) की स्थापना एवं कार्य पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार के लिए 'जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान' (DIE), 'शिक्षक शिक्षा कॉलेज' (CTE) और 'शिक्षा उच्च अध्ययन केंद्र' (CASE) के स्वरूप एवं कार्य पद्धति की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा, प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा और शैक्षिक अवसरों की समानता आदि के संबंध में भी पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी।

1986 में नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की गई, उसी वर्ष इसकी कार्ययोजना प्रकाशित की गई और 1987 से इसका क्रियान्वयन करना शुरू कर दिया गया। इस शिक्षा नीति में यह स्पष्ट किया गया था कि प्रत्येक 5 वर्ष बाद इसके क्रियान्वयन का मूल्यांकन किया जाएगा, पर केंद्र सरकार ने 3 वर्ष बाद ही मई 1990 में इसकी समीक्षा हेतु श्री राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति का गठन कर दिया। इसे राममूर्ति समीक्षा समिति 1990 कहा जाता है।

टिप्पणी

नई शिक्षा नीति 2020 भारत की नवीनतम शिक्षा नीति है जिसे भारत सरकार द्वारा 29 जुलाई 2020 को घोषित किया गया। सन 1986 में जारी हुई नई शिक्षा नीति के बाद भारत की शिक्षा नीति में यह पहला नया परिवर्तन है। यह नीति अंतरिक्ष वैज्ञानिक के. कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता वाली समिति की रिपोर्ट पर आधारित है।

आज संविधान के प्रावधानों के अनुसार सभी व्यक्तियों को जाति, लिंग, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के भेदभाव के बिना शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध हो जाने से कोई भी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता व क्षमता के आधार पर समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है। अतः यह शिक्षा ही है जो व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन ला रही हैं तथा जाति पॉति के बंधनों को काटकर स्तरीकरण के दुष्प्रभावों को भी कम कर रही हैं। परंतु इस संदर्भ में भी यदि शिक्षा का आधार जनतांत्रिक होता है जहां प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता एवं विकास के समान अवसर मिलते हैं तभी यह शिक्षा स्तरीकरण को कम कर पाती है।

अतः यदि समाज में व्याप्त जातीय, धार्मिक आर्थिक एवं लिंग भेद संबंधी स्तरीकरण को कम करना है तो शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर सबको मिलने चाहिए और शिक्षा प्रणाली संगठित करनी चाहिए जो स्तरीकरण में कमी लाने की क्षमता प्रदान करने की ओर सक्रिय हो। इस दिशा में शिक्षा का सार्वभौमीकरण, शैक्षिक अवसरों की समानता व सर्वशिक्षा अभियान जैसे उपाय कारगर सिद्ध हो सकते हैं। संक्षेप में, शिक्षा का प्रसार इस प्रकार हो कि समाज में व्यक्ति को उसकी जाति व धर्म के नाम पर नहीं वरन् उसकी योग्यता एवं कुशलता के आधार पर शिक्षा, प्रतिष्ठा व सम्मान मिले तभी सामाजिक स्तरीकरण के दुष्प्रभाव में कमी लाई जा सकती है।

शिक्षा व्यक्ति के जीवन में सबसे अहम और गतिशील ताकत है, जो कि सामाजिक विकास को प्रभावित करती है। यह सामाजिक बदलाव और सामाजिक संरचना में गतिशीलता के कारक के रूप में बहुत ज्यादा भूमिका निभाती है। जीवन शैली सुधारने के तरीके और साधन मुहैया कराकर यह आर्थिक विकास की ओर ले जाती है। शिक्षा के प्रति सकारात्मक रुझान व्यक्तियों और समूहों के बीच सामाजिक–आर्थिक गतिशीलता की ओर ले जाता है। इसका अर्थ है कि किसी किसान परिवार में जन्मा कोई व्यक्ति शिक्षा के जरिए प्रशासनिक अधिकारी या उच्च सरकारी अधिकारी बन सकता है। शिक्षा लोगों की जीवनशैली में परिवर्तन लाती है। यह हमारे दृष्टिकोण, आदतों, रंग–ढंग और सामाजिक जीवन के तौर तरीकों में सुधार करती है। शिक्षा व्यक्तियों और समूहों के बीच अंतरपीढ़ीय गतिशीलता के लिए जिम्मेदार होती है। अंतरपीढ़ीय गतिशीलता, के जरिए सामाजिक समूह अपना स्तर और अपने परिवार का स्तर कायम रखने में सफल होते हैं। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि शिक्षा व्यक्तियों और समूहों की सामाजिक स्थिति, व्यवसायगत संरचना, जीवन शैली, आदतों और रंग–ढंग के संदर्भ में गतिशीलता में अहम भूमिका निभाती है।

मनुष्य समाज का एक अभिन्न हिस्सा है, जिसके बिना समाज की कल्पना संभव नहीं है। समाज में रहते हुए प्रत्येक मनुष्य को अपने अंदर कुछ ऐसे गुणों का समावेश करना आवश्यक होता है, जिनके आधार पर वह समाज में एक–दूसरे के साथ मिलकर जीवन जीने की कला को सीखता है। जीवन जीने की कला को सीखने

टिप्पणी

की प्रक्रिया में स्कूल अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। स्कूल शिक्षा का औपचारिक साधन ही नहीं बल्कि छात्र के सामाजिक विकास की प्रक्रिया में अहम योगदान निभाने वाली एक महत्वपूर्ण कड़ी है। किसी भी व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया दीर्घ एवं जटिल मानी जाती है तथा इस प्रक्रिया को पूरा करने हेतु समाज की कई संस्थाओं का योगदान वांछनीय होता है। ऐसे में परिवार के पश्चात जिस महत्वपूर्ण कड़ी को समाजीकरण का अभिन्न अंग माना जाता है, वह एक विद्यालय ही होता है। विद्यालय के द्वारा ही छात्र को सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों व मान्यताओं की शिक्षा दी जाती है। सामाजिक ढांचे को सही रूप व इसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कई सामाजिक संस्थाएं मिलकर काम करती हैं।

शिक्षा एक ऐसी संस्था है, जिसका हमारे जीवन में सबसे अधिक महत्व है। शिक्षा रूपी संस्था के सही तरीके से काम करने तथा शिक्षा के द्वारा मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से विद्यालय अथवा स्कूल को ऐसी प्रणाली माना गया है, जिसके द्वारा संपूर्ण मानव जाति का विकास संभव है। यह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसका निर्माण समाज के द्वारा लोगों की शिक्षा संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए किया गया। समाज के अनुसार निर्धारित नियमों और मानकों का सही ढंग से पालन करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में कुछ नैतिक मूल्यों का होना आवश्यक माना गया है तथा इन मूल्यों के संवर्धन हेतु विद्यालय की भूमिका अहम मानी जाती है। समाज और विद्यालय का संबंध आपस में इतना गहरा है कि किसी एक की परिकल्पना दूसरे के बिना संभव नहीं है। सामाजिक विकास के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्कूल प्रणाली एक उत्तम साधन मानी गई है।

विद्यार्थी ज्ञान का सृजन करता है, इसका निहितार्थ है कि पाठ्यचर्या उसे इस बात के लिए सक्षम बनाए कि सभी बच्चों को समान रूप से प्रकृति एवं वातावरण के अनुरूप कक्षायी अनुभव प्राप्त हो सके। शिक्षण का उद्देश्य बच्चों की सीखने की सहज इच्छा और युक्तियों को समृद्ध करना होना चाहिए। ज्ञान को सूचना से अलग करने की जरूरत है और शिक्षण को एक पेशेवर गतिविधि के तौर पर अपनाने की जरूरत है न कि तथ्यों को रटने और उनका प्रसार करने के तौर पर। पाठ्यचर्या में उन सभी साधनों एवं गतिविधियों को सम्मिलित करने की आवश्यकता होती है ताकि बच्चे खुद को अभिव्यक्त करने, अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश को जानने एवं विकास करने में सक्षम हो सकें। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या की जीवन के लिए बहुत अधिक प्रासंगिकता है।

पाठ्यचर्या एक व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण उद्देश्यों का संग्रह होती है जिसके अंतर्गत ज्ञान, कौशल तथा व्यवहार के सम्मिश्रण द्वारा मूल्यों की स्थापना की जाती है। शिक्षार्थी इसमें सुसंबद्ध तरीकों से ज्ञानार्जन का अनुभव प्राप्त करते हैं। एक उत्तम पाठ्यचर्या द्वारा जीवन पर्यंत विकास का मार्ग तैयार होता है। सामाजिक व्यवहार तथा कौशल द्वारा सहिष्णुता एवं आदर की भावना का विकास होता है। रचनात्मक प्रबंधन, शांतिप्रिय सद्भावना, मानवाधिकारों का सम्मान, लैंगिक समानता, न्याय आदि गुणों की पहचान एक अच्छी पाठ्यचर्या द्वारा ही संभव है। साथ ही पाठ्यचर्या द्वारा कौशल–विकास की अवधारणा तथा संबंधित विषयों की ज्ञान प्राप्ति उत्पन्न होती है।

दैनिक जीवन के अध्ययन हेतु तथा शिक्षार्थी के व्यक्तिगत विकास के लिए पाठ्यचर्या का महत्व स्पष्ट एवं सापेक्ष है।

टिप्पणी

आकलन का मुख्य उद्देश्य बालकों को सीखने के लिए प्रेरित करना और बालकों की क्षमता उम्र तथा स्तर को ध्यान में रखते हुए उसे एक निश्चित स्तर तक पहुंचाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आकलन को सीखने के साधन के रूप में देखा जाता है। आकलन की प्रक्रिया में प्रत्येक बालक की तुलना उसकी स्थिति से ही करनी चाहिए दूसरे बच्चों की प्रगति से नहीं क्योंकि सभी बालकों के सीखने की गति एवं समझ विकसित करने का समय एक सा नहीं होता है। अत: शिक्षकों को बालकों की विभिन्नताओं को ध्यान में रखकर सीखने के अवसर प्रदान करने चाहिए। आकलन का मुख्य उद्देश्य यह ज्ञात करना होता है कि बालक ने एक निश्चित अवधि में शैक्षिक लक्ष्य को किस सीमा तक प्राप्त कर लिया है। आकलन का उद्देश्य प्राय: योगात्मक होता है और अधिकांशत: इसका प्रयोग पाठन की इकाई की अवधि के अंत में किया जाता है।

2.11 मुख्य शब्दावली

- **सतत** : लगातार
- **वित्त** : धन, पूंजी
- **अग्रसर** : आगे की ओर बढ़ना
- **आधिपत्य** : अधिकार, सत्ता
- **अधीनता** : गुलामी
- **मूल्यांकन** : किसी का मूल्य आंकना
- **सामंजस्य** : तालमेल बैठाना
- **नवाचार** : नया विधान
- **सर्वांगीण** : पूर्ण रूप से
- **सौहार्द** : भाईचारा
- **बुनियाद** : नींव
- **व्यसन** : लत, बुरी आदत

2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. समाजीकरण क्या है? परिभाषित कीजिए।
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 कितने भागों में विभाजित है? उल्लेख कीजिए।
3. सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को संक्षेप में बताइए।
4. सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में बताइए।

टिप्पणी

5. स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया के सामाजिक उद्देश्य कौन–से हैं? वर्णन कीजिए।
6. पाठ्यचर्या का अर्थ एवं परिभाषा बताइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. समाजीकरण, परिवार एवं सामाजिक वर्ग का विश्लेषण कीजिए।
2. समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की क्या भूमिका है? विस्तार से समझाइए।
3. समाज में राज्य के योगदान के उदाहरणों के साथ सभी शैक्षिक नीतियों का विश्लेषण कीजिए।
4. सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न पक्षों की विवेचना कीजिए।
5. सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएं बताते हुए सामाजिक गतिशीलता की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
6. सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए।
7. परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में शिक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
8. एक प्रणाली के रूप में स्कूल और एक प्रक्रिया के रूप में स्कूली शिक्षा का विश्लेषण कीजिए।
9. पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
10. विद्यालय में आकलन, मूल्यांकन एवं शिक्षक की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जॉनसन, एच. एम., *सोशियोलॉजी : एक सिस्टमैटिक इंट्रोडक्शन,* अलॉइड पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1970।
2. किओनिंग, सैमुअल, *सोशियोलॉजी : एन इंट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ सोसायटी,* बार्न्स एंड नोबल बुम्स, न्यूयॉर्क, 1957।
3. बॉटोमोर, टी. बी., *सोशियोलॉजी : ए गाइड टू प्रॉब्लम्स एंड लिट्रेचर,* ब्लैकी एंड सन पब्लिशर्स प्रा. लि., बॉम्बे, 1983।
4. डेविस, किन्ग्ले, *ह्यूमन सोसायटी,* सुरजीत पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1981।
5. श्रीनिवासन, एम. एन. *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया,* कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्फीली, 1966।
6. सिंह, योगेन्द्र, *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन,* थॉमस प्रेस, फरीदाबाद (हरियाणा), 1973।

इकाई 3 बहु–संस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा
  3.2.1 बहुसंस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा
  3.2.2 संस्कृति की सामान्य विशेषताएं
3.3 शैक्षिक अवसरों की समानता : समता, गुणवत्ता और दक्षता
3.4 शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व और प्रबंधन में लैंगिक असमानताएं
  3.4.1 लैंगिक असमानता : तात्पर्य, परिभाषा, कारण और प्रभाव
  3.4.2 लैंगिक असमानता के रूप
  3.4.3 शिक्षा
  3.4.4 रोजगार
  3.4.5 नेतृत्व
  3.4.6 प्रबंधन
3.5 शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी
  3.5.1 सूचना प्रौद्योगिकी : अर्थ एवं परिभाषा
  3.5.2 सूचना प्रौद्योगिकी का महत्व
3.6 शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद
  3.6.1 एम. के. गांधी
  3.6.2 पाउलो फ्रेइरे
  3.6.3 इवान इलिच
  3.6.4 जातीयता एवं शिक्षा
3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली
3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

भारतीय संस्कृति अपने प्राचीन इतिहास, अनोखी भौगोलिक संरचना, जनसांख्यिकीय विविधता से बनी हुई है। यहां भाषा, धर्म, रीति–रिवाज, नृत्य, संगीत, वास्तुकला आदि में विविधता पाई जाती है, फिर भी इन सबमें एक समानता है। वास्तव में भारत की संस्कृति इन विविध संस्कृतियों के मेल से बनी है। 'बहु–संस्कृतिवाद' एक अवधारणा है, परंतु शाब्दिक दृष्टि से इसमें दो शब्द हैं– 'बहु' अर्थात अनेक तथा 'संस्कृतिवाद' यानी संस्कृति संबंधी अवधारणा। इस प्रकार कह सकते हैं कि बहु–संस्कृतिवाद अनेक संस्कृतियों के सह–अस्तित्व के संबंध में एक सामाजिक अवधारणा है जिसमें अनेक संस्कृतियों के लोग एक साथ एक ही समाज में रहते हैं।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजा राममोहन राय तथा आर्य समाज के प्रयत्नों ने जिस स्त्री शिक्षा को आरम्भ किया था, उसमें आज व्यापक प्रगति

टिप्पणी

हुई। भारत में स्वतंत्रता के समय जहां 1000 स्त्रियों में केवल 54 स्त्रियां साक्षर थीं, वहीं आज यह संख्या बढ़कर लगभग 811 हो गई है। इस समय विभिन्न आयु के समूहों में पांच करोड़ से भी अधिक लड़कियां स्कूल और कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। ब्रिटिश काल तक लड़कियों को शिक्षा देना एक अधार्मिक कार्य के रूप में देखा जाता था, वहीं आज लड़कियों ने विज्ञान, कला और वाणिज्य की शिक्षा के साथ व्यावसायिक और राजनीतिक शिक्षा के क्षेत्र में भी अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित किया है। शिक्षा के प्रसार से स्त्रियों में न केवल एक नई सामाजिक चेतना विकसित हुई बल्कि उन्होंने उन कुरीतियों से भी छुटकारा पा लिया जो उन्हें दासता की जंजीरों में जकड़े हुए थी। अपनी शैक्षणिक उपलब्धियों द्वारा स्त्रियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि मानसिक स्तर पर वे किसी भी तरह पुरुषों से निम्न नहीं हैं।

प्रस्तुत इकाई में बहु–संस्कृतिवाद, शैक्षिक अवसरों की समानता, शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व एवं प्रबंधन, शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी, शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा को समझ पाएंगे;
- शैक्षिक अवसरों की समानताओं, गुणवत्ता और दक्षता को समझ पाएंगे;
- शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व और प्रबंधन के क्षेत्र में असमानताओं को जान पाएंगे;
- शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी का अध्ययन कर पाएंगे;
- शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद के विषय में एम.के. गांधी, पाउलो फ्रेडरे व इवान इलिच आदि विद्वानों के विचारों से अवगत हो पाएंगे।

3.2 बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा

बहु–संस्कृतिवाद अनेक संस्कृतियों की स्वीकृति तथा उन्हें बढ़ावा देता है, जो एक विशिष्ट स्थान की जनसांख्यिकीय बनावट अथवा समाज पर लागू होता है। भारत के संदर्भ में कहा जा सकता है कि बंगाली संस्कृति, गुजराती संस्कृति, पंजाबी संस्कृति, तमिल संस्कृति, जैसी संस्कृतियां मिलकर भारत में बहु–संस्कृतिवाद का निर्माण करती हैं। इसे सामान्यतः राष्ट्रों, शहरों, व्यापार मंडलों, विद्यालयों, पड़ोस जैसे संगठनात्मक स्तर पर भी देखा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में बहु–संस्कृतिवादी केन्द्र के तौर पर जातीय अथवा धार्मिक समूह या समुदाय को प्रोत्साहित किये बिना विभिन्न धार्मिक और जातीय समूहों के लिए कार्यक्रम विस्तारित किया जाता है।

भारत की संस्कृति प्रारंभ से ही ऐसी संस्कृति रही है जहां अनेक जातियां, प्रजातियां और संस्कृतियां आती गईं और समाहित होती गई हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि भारत की संस्कृति शुरू से ही संश्लेषणात्मक और सहनशील रही है। विभिन्न स्थानों

टिप्पणी

पर बाहर से आने वाले लोगों की अपनी संस्कृतियों का प्रभाव भी भारतीय समाज पर पड़ा और भारत की स्थानीय संस्कृति से वे भी प्रभावित हुए। इस प्रकार यहां स्थान–विशेष की अपनी संस्कृति और बाहरी संस्कृतियों के मध्य प्रतिक्रिया तथा परस्पर संपर्क के कारण विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का निर्माण होता गया है।

बहु–संस्कृतिवाद पर विश्लेषण से पूर्व हमें 'संस्कृति' को समझना अपरिहार्य है। 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा से निकला है तथा संस्कृत और संस्कृति दोनों 'संस्कार' शब्द से निकले हैं। संस्कार का सामान्य अर्थ है कुछ कृत्यों और अनुष्ठानों का करना। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से संस्कृति समाज की धरोहर अथवा सामाजिक विरासत होती है, जिसमें भौतिक और अभौतिक दोनों पक्ष शामिल होते हैं। रॉबर्ट बीरस्टीड का कहना है कि संस्कृति के अंतर्गत हम जीवन जीने अथवा कार्य करने और विचार करने के उन सभी तरीकों को शामिल करते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हैं तथा जो समाज के स्वीकृत अंग बन चुके हैं।

3.2.1 बहुसंस्कृतिवाद, नृजातीयता और शिक्षा

यह विचार कि विभिन्न संस्कृतियों, नस्लों और नृजातीयताओं, विशेष रूप से अल्पसंख्यक समूहों के लोग, एक प्रमुख राजनीतिक संस्कृति के भीतर अपने मतभेदों की विशेष स्वीकार्यता के लायक हैं– बहुसंस्कृतिवाद कहलाता है। यह अभिस्वीकृति समग्र रूप से राजनीतिक समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में योगदान की मान्यता का रूप ले सकती है। कुछ सांस्कृतिक समूहों के लिए कानून के अंतर्गत विशेष सुरक्षा की मांग या कुछ संस्कृतियों के लिए शासन के स्वायत्त अधिकार भी दिए जा सकते हैं। आधुनिक लोकतंत्रों में सांस्कृतिक बहुलतावाद भूतकाल में किये गए बहिष्कार, भेदभाव और उत्पीड़न के लिए सांस्कृतिक समूहों की क्षतिपूर्ति करने का एक तरीका है। अधिकांश आधुनिक लोकतंत्रों में विविध सांस्कृतिक दृष्टिकोणों, प्रथाओं और योगदान वाले सदस्य शामिल होते हैं। कई अल्पसंख्यक सांस्कृतिक समूहों ने अतीत में अपने योगदानों और पहचान का बहिष्करण या बहिष्कार का अनुभव किया है। बहुसंस्कृतिवाद समाज के विविध सदस्यों के विचारों और योगदान को शामिल करते हुए उनके मतभेदों के प्रति सम्मान बनाए रखता है और प्रमुख संस्कृति में उनको आत्मसात करने की अपनी मांग को वापस लेता है।

बहुसंस्कृतिवाद समाज के सभी लोगों को उनके अस्तित्व को वास्तविक रूप में अभिव्यक्त–प्रगट करने की अनुमति देता है और सामाजिक मुद्दों के गुणों को अपनाया जाता है। एक जाति और एक धर्म के आधार पर संस्कृति को परिभाषित नही किया जाता है। यह अनेक कारकों का परिणाम होता है? जैसे–जैसे इन कारकों में परिवर्तन होता है संस्कृति भी बदल जाती है। शिक्षा में बहुसंस्कृतिवाद वैश्विक युग की आवश्यकता है। इसके द्वारा शिक्षा में तथा बहुसंस्कृतिवादी शिक्षा द्वारा बहुसांस्कृतिक समाज में आमूलचूल परिवर्तन संभव है तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तो यह बहुत ही आवश्यक हो गया है।

बहुसांस्कृतिकता भारतीय समाज की वस्तुनिष्ठ सच्चाई है और यह बहुसांस्कृतिकता भारतीय समाज में जाति, धर्म, जीवन–शैली, मूल्यों, रीति–रिवाज, पहनावें एवं भाषाई

टिप्पणी

विविधता के रूप में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। समाज में उपलब्ध इस बहुसांस्कृतिकता की छाप इसकी विभिन्न संस्थाओं में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है हमारे शैक्षिक संस्थान भी इसका अपवाद नही है, आज हमें सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक व भाषाई रूप से भिन्न समूह विद्यालयों एवं कक्षाओं में दिखाई देते हैं। यह सांस्कृतिक विविधता शैक्षिक प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि संस्कृति व्यक्ति के ज्ञान, ज्ञान को अर्जित करने के रास्तों एवं उस ज्ञान को पाकर उसे कौन सी भूमिका निभानी है को स्पष्ट रूप से प्रभावित करती है। बहुत से विद्वान जैसे डेलपिट व हॅर्नानडेज शिक्षा व सासंस्कृतिक विविधता के बीच गहरा संबध देखते है एंव शिक्षा को छात्रों के परिवेश से जोडने के लिए बहुसांस्कृतिक शिक्षा को एक उपाय के रूप में सुझाते हैं। ऐसी स्थिति में भारत जैसे बहुसांस्कृतिक देश में शिक्षा व संस्कृति के संबंध को समझना बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि जहाँ एक ओर संस्कृति पर शिक्षा का प्रभाव पडता है वहीं दूसरी ओर शिक्षा के माध्यम से संस्कृति को हस्तांतरित किया जाता है। शिक्षा में सांस्कृतिक विविधता के इस महत्त्व को देखते हुए इस अध्ययन में बहुसांस्कृतिकता के प्रति छात्र–अध्यापकों व अध्यापिकाओं के दृष्टिकोण को जानने के पश्चात निष्कर्ष रूप में पाया गया कि सभी छात्र अध्यापक व अध्यापिका बहुसांस्कृतिक शिक्षा को एक संसाधन के रूप में देखते हैं न कि बाधा के रूप में। हालांकि इस विचार की व्यवहारिकता को लेकर वे कुछ आशंकित हैं क्योंकि भारत जैसे जटिल विविधताओं वाले देश में बहुसांस्कृतिकता कि अवधारणा को समझना एवं इस पर कार्य करना आसान नहीं है।

अर्थ

बहुजातीय संस्कृति की स्वीकृति देना या बढ़ावा देना बहुसंस्कृतिवाद है। किसी समाज या देश में अलग–अलग धर्मो, सांस्कृतिक समूहों के लोगों का सह–अस्तित्व बहुसंस्कृतिवाद है। इस अवधारणा का उदय 70 के दशक में अमेरिका और यूरोप में श्वेत संस्कृति के पक्ष में, अन्य संस्कृतियों के समरूपीकरण के विरोध में प्रतिसांस्कृतिक व मानवाधिकारवादी आंदोलनों से हुआ।

एक विशिष्ट स्थान की जनसांख्यिकीय बनावट पर यह लागू होता है। आमतौर पर यह पड़ोस, शहर, स्कूल, व्यापार या राष्ट्र जैसे संगठनात्मक स्तर पर होता है। इस संदर्भ में, बहुसंस्कृतिवादी केन्द्र के रूप में किसी विशेष जातीय, धार्मिक समूह या सांस्कृतिक समुदाय को विशेष सहयोग दिए बिना विशिष्ट जातीय और धार्मिक समूहों के लिए विस्तारित न्यायसम्मत मूल्य स्थिति को स्थान दिया जाता हैं। बहुसंस्कृतिवाद की नीति अक्सर आत्मसातकरण और सामाजिक एकीकरण अवधारणाओं के विपरीत होती है।

बहुसंस्कृतिवाद वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समाज सांस्कृतिक विविधता के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। बहुसंस्कृतिवाद की अवधारणा के अनुसार बहुत अलग–अलग संस्कृतियों के सदस्य शांति पूर्वक सह–अस्तित्व में रह सकते हैं तथा सांस्कृतिक विविधता के सम्मान एवं संरक्षण के साथ–साथ समाज को भी समृद्ध बनाया जा सकता है। राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में, बहुसंस्कृतिवाद उन तरीकों को संदर्भित करता है जिनके द्वारा समाज विभिन्न संस्कृतियों के न्यायसंगत व्यवहार हेतु आधिकारिक नीतियों को बनाने और लागू करने का चयन करते हैं।

टिप्पणी

परिभाषाएं

बहुसंस्कृतिवाद शब्द का समाजशास्त्र, राजनीतिक दर्शन और बोलचाल के उपयोग के संदर्भ में कई अर्थ हैं।

बहुसंस्कृतिवाद एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक समाज में सभी विभिन्न सांस्कृतिक या नस्लीय समूहों के समान अधिकार और अवसर होते हैं, और किसी को भी अनदेखा या महत्वहीन नहीं माना जाता है।

समाजशास्त्र और रोजमर्रा के उपयोग में, बहुसंस्कृतिवाद शब्द "जातीय बहुलवाद" का एक पर्याय है, तथा ये दोनों शब्द (बहुसंस्कृतिवाद – जातीय बहुलवाद) अक्सर एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग किये जाते हैं और सांस्कृतिक बहुलवाद जिसमें विभिन्न जातीय समूह आपस में सहयोग करते हैं तथा एक दूसरे के साथ अपनी विशेष पहचान का त्याग किए बिना संवाद स्थापित करते हैं।

सांस्कृतिक बहुलवाद या विविधता (एक समाज, एक संगठन, या एक शैक्षणिक संस्थान के रूप में): एक बहुसांस्कृतिक सामाजिक राज्य या एक सिद्धांत या नीति जो ऐसे राज्य को बढ़ावा देती है या उसकी वकालत करती है

समाजशास्त्र के अनुसार, बहुसंस्कृतिवाद वह प्रक्रिया है जो किसी समाज की सांस्कृतिक विविधता से संबंधित होती है।

बहुसंस्कृतिवाद के विचारानुसार, विभिन्न संस्कृतियों, नस्लों और जातियों, विशेष रूप से अल्पसंख्यक समूहों के लोग एवं उनकी संस्कृतियां, प्रमुख राजनीतिक संस्कृति के अंदर अपनी भिन्नताओं की विशेष स्वीकृति के पात्र हैं।

शब्द "बहुसांस्कृतिक" सामान्यतः किसी समाज में विविधता के तथ्य को चिह्नित करने के लिए एक वर्णनात्मक शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है, किन्तु, पश्चिमी उदार लोकतांत्रिक समाजों के संदर्भ में बहुसंस्कृतिवाद को एक आदर्श के रूप में लिया जाता है।

3.2.2 संस्कृति की सामान्य विशेषताएं

किसी भी संस्कृति में हम कुछ सामान्य विशेषताएं एक समान पाते हैं, जैसे–

- संस्कृति मानव निर्मित होती है,
- संस्कृति सीखी जाती है,
- प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है,
- संस्कृति हस्तांतरित होती है,
- संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है,
- संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है,
- संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं,
- संस्कृति में संतुलन और संगठन होता है,
- संस्कृति में संतुलन की क्षमता होती है।

टिप्पणी

बहु–संस्कृतिवाद की नीति सामान्यतः आत्मसातकरण तथा सामाजिक एकीकरण की अवधारणाओं के साथ भी होती है और इनसे थोड़ी दूरी भी बनाए रखती है। इसे एक बेहतर प्रणाली के रूप में देखा जाता है जो समाज के भीतर लोगों को, उनके अस्तित्व को वास्तविक रूप में अभिव्यक्त करने का अवसर देता है। बहु–संस्कृतिवाद सहनशील होती है और इसे सामाजिक समस्याओं के बेहतर समाधान के लिए अपनाया जाता है। समाज में पाई जाने वाली संस्कृति किसी एक धर्म अथवा भाषा से नहीं बनी होती है, इसलिए इसे बहु–संस्कृतिवाद कहा जा सकता है।

एंड्रयू हेवुड ने बहु–संस्कृतिवाद के संदर्भ में लिखा है कि 'बहु–संस्कृतिवाद' शब्द को वर्णनात्मक और मानक दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। वर्णनात्मक शब्द के रूप में बहु–संस्कृतिवाद शब्द का प्रयोग सांस्कृतिक विविधता के लिए किया जाता है तो मानक रूप में इस शब्द का प्रयोग एक सकारात्मक समर्थन है। सांप्रदायिक विविधता तक का उत्सव है जो आमतौर पर सम्मान और मान्यता के लिए विभिन्न समूहों के अधिकार के आधार पर होता है अथवा नैतिक और सांस्कृतिक विविधता के विस्तृत समाज हेतु कथित लाभ के आधार पर होता है। रॉबर्ट डी. पुटनम ने अमेरिका के 40 समुदायों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि सामाजिक विश्वास को बहु–संस्कृतिवाद पूरी तरह से प्रभावित करता है।

मुरडॉक तथा बील्स और हॉइजर का कहना है कि ऊपरी तौर पर हमें भले ही विभिन्न संस्कृतियों में भिन्नता दिखायी देती है, परंतु गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि उनमें पर्याप्त समानताएं हैं। सभी समाजों में परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म, प्रथाएं, परंपराएं आदि देखी जा सकती हैं, भले ही इसके बाहरी आवरण में अंतर दिखता हो। इस प्रकार इन विद्वानों का विचार है कि प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो सभी संस्कृतियों में समान तौर पर पाए जाते हैं और कुछ ऐसे तत्व भी होते हैं जो उसे अन्य संस्कृतियों से भिन्नता प्रदान करते हैं। इस संदर्भ में यदि भारत में इसके व्यावहारिक स्वरूप को देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि यहां बहु–संस्कृतिवाद व्यावहारिक तौर पर पाई जाती है। यदि भारत में मुस्लिम संस्कृति को ही लिया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि भले ही मुस्लिमों की संस्कृति भारत के हिन्दुओं की संस्कृति से भिन्न है, परंतु इसकी तुलना यदि अन्य देशों के मुसलमानों से की जाए तो इसमें बहुत–से अंतर देखने को मिल जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, भले ही मुस्लिमों में विवाह, परिवार और जाति आदि के उद्देश्यों में अंतर है, परंतु इसकी अगर अन्य देशों के मुसलमानों से तुलना की जाए तो पाएंगे कि भारतीय मुसलमानों में भी विवाह को अब जीवन–भर का बंधन मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। संयुक्त परिवार प्रणाली तथा जातिवाद भी भारत को छोड़कर अन्य देशों के मुसलमानों में नहीं देखे जाते हैं।

भारत में बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा को समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनाया गया है। समाज में संस्कृति का कार्य मानव की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है और किसी समाज में जब विभिन्न संस्कृतियों के लोग एक साथ रहने लगते हैं तो उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहु–संस्कृतिवाद जैसे विचार को अपनाना पड़ता है। समाज और मानव की आवश्यकताओं के अनुसार समय–समय पर इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। लोगों के मूल्यों, विश्वासों, मानकों में

टिप्पणी

परिवर्तन होने से इसमें भी बदलाव होता रहता है। उदाहरणस्वरूप भारत में बहु–संस्कृतिवाद का जो स्वरूप आज हम देख रहे हैं वह ब्रिटिशकाल अथवा मुगलकाल में नहीं था। उस समय शासकों ने अपनी विशेष संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हुए उसे समाज में विद्यमान अन्य संस्कृतियों पर थोपने का प्रयास किया, परंतु आज भारत में विभिन्न संस्कृतियों को अपनाने वाले लोगों को अपनी पृथक पहचान बनाए रखने और आचरण करने की पूरी स्वतंत्रता है, क्योंकि भारत में अनेक संस्कृतियों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उनके संरक्षण की बात की गई है।

बहु–संस्कृतिवाद के घटक

बहु–संस्कृतिवाद के प्रमुख घटकों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है –

1. **प्रौद्योगिकी** – बहु–संस्कृतिवाद का प्रमुख घटक प्रौद्योगिकी है, जिसमें प्राचीनकालीन हस्तनिर्मित उपकरणों और शिल्पकला से लेकर आधुनिक काल की उन्नत तकनीक कम्प्यूटर और इंटरनेट तक का इस्तेमाल करने वाले लोग समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। भारत में एक तरफ महानगरों में रहने वाले इंटरनेट के प्रयोगकर्ता पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने वाला समूह है तो दूसरी तरफ तकनीक से दूर प्राचीन जड़ी–बूटियों से इलाज करने वाले जनजातीय समुदाय के लोग भी हैं।
2. **कला** – कला मानव के सौन्दर्य बोध और कलात्मक गुणों को प्रदर्शित करती है। बहु–संस्कृतिवाद में समाज में अनेक कलाओं को देखा जा सकता है। भारत में संगीत को ही लें तो यहां शास्त्रीय संगीत, सूफी संगीत आदि अनेक संगीत विद्यमान हैं। इस तरह की विविधता बहु–संस्कृतिवाद में प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती है।
3. **भाषा** – बहु–संस्कृतिवाद में विचारों को अभिव्यक्त करने के माध्यम के तौर पर विभिन्न भाषाओं का प्रयोग किया जाता है अथवा सामान्य भाषा में अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण देखने को मिल जाता है। भारत में इतनी भाषाएं पाई जाती हैं कि इसे अपने–आप में उपमहाद्वीप की संज्ञा दी जाती है।
4. **विचारधारा** – विचारधारा मनुष्य के विश्वासों, मान्यताओं, चिंतन और आदर्श से मिलकर बनी होती है। चूंकि बहु–संस्कृतिवाद में लोगों के विश्वासों, मान्यताओं, चिंतन और आदर्श में विविधता पाई जाती है, अतः इनसे निर्मित विचारधारा में भी विभिन्नता देखी जा सकती है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि किसी भी क्षेत्र में भारत की विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के विचारों में अंतर देखा जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र की बात की जाए तो कुछ लोग पूंजीवाद के समर्थक हैं तो कुछ मार्क्सवाद के।
5. **धर्म** – बहु–संस्कृतिवाद में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं और अपने धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। भारत जैसे बहु–संस्कतिवादी समाज में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के लोग रहते हैं। इतना

टिप्पणी

ही नहीं हिन्दू धर्म में ही नानकपंथी, कबीरपंथी, वैदिक, आर्यसमाजी, वैष्णव, शैव आदि को मानने वाले विभिन्न विचारधारा के लोग हैं। इसी प्रकार मुस्लिमों में भी शिया और सुन्नी दो संप्रदाय हैं, जैन धर्म में भी श्वेतांबर और दिगंबर दो संप्रदाय देखे जा सकते हैं। इस प्रकार यहां विभिन्नताएं देखी जा सकती हैं।

6. **सामाजिक संगठन** – सामाजिक संगठन समाज और व्यक्ति के संबंधों को बतलाता है। बहु–संस्कृतिवाद में व्यक्तियों और समाज के संबधों में विविधता देखने को मिलती है, इसलिए इसमें सामाजिक संगठन में भी विविधता पाई जाती है। उदाहरणस्वरूप भारत की ग्रामीण संस्कृति में जाति पंचायतों का अधिक महत्व होता है तो शहरी संस्कृति में जाति पंचायत नाम की चीज देखने को नहीं मिलती है। यहां व्यवसाय के आधार पर विभिन्न तरह के संघों और संगठनों को देखा जा सकता है, जैसे– मजदूर संघ, ऑटो–रिक्शा संघ, व्यवसायी संगठन आदि।

7. **आर्थिक संगठन** – उत्पादन को संगठित करने तथा वस्तुओं और कार्यों के वितरण की व्यवस्था करने वाले आर्थिक संगठन पर भी बहु–संस्कृतिवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। जिस संस्कृति के लोग आर्थिक तौर पर अधिक उन्नत होते हैं, उनकी संस्कृति में प्रौद्योगिकी और चिंतन परिष्कृत होता जाता है तथा जिस संस्कृति के लोग आर्थिक तौर पर कम उन्नत होते हैं, उनकी प्रौद्योगिकी और विचारधारा आदिकालीन अथवा प्राचीन अवस्था में रह जाती है, जैसे वर्तमान जनजातियों की संस्कृति।

8. **राजनीतिक संगठन** – विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं को बनाए रखने की पद्धतियों और उपायों पर भी बहु–संस्कृतिवाद का प्रभाव दिखता है। सरकार कोई ऐसी नीति नहीं बनाती है जिससे किसी विशेष संस्कृति के लोगों को आघात पहुंचे।

भारत में बहु–संस्कृतिवाद के विविध पक्ष और आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारत में बहु–संस्कृतिवाद सामाजिक जीवन के सभी पक्षों में दृष्टिगोचर होता है, जिसे निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

- **भोजन में विविधता** – भारतीय संस्कृति में विविधता के दर्शन भोजन के संदर्भ में भी देखे जा सकते हैं। उत्तर भारतीय समाज से लेकर दक्षिण भारतीय समाज तक में अंतर देखा जा सकता है। पंजाबी समाज में जहां मक्के की रोटी और सरसों का साग मुख्य भोजन है, वहीं दक्षिण में इडली, डोसा, सांभर आदि भोजन है। इतना ही नहीं एक ही पकवान बनाने में उत्तर से लेकर दक्षिण भारत में मसालों में भी विविधता देखी जा सकती है।
- **वस्त्रों में विविधता** – भारतीय संस्कृति में विविधता के दर्शन वस्त्रों में भी पाए जा सकते हैं। पुरुषों के वस्त्र पंजाब में कुर्ता पाजामा तो दक्षिण भारत में लुंगी, कुर्ता, मध्य भारत में धोती–कुर्ता तो शहरों में शर्ट–पैंट हैं। महिलाओं

टिप्पणी

के वस्त्रों में तो और भी विविधता देखी जा सकती है। पंजाब में शलवार कमीज तो अन्य स्थानों पर साड़ी। शहरों में जींस और टीशर्ट जैसे पाश्चात्य परिधान महिलाओं का पहनावा हैं। इतना ही नहीं यदि एक साड़ी को ही लें तो इसे उत्तर से लेकर दक्षिण तक बांधनें के दर्जनों तरीके हैं।

- **रीति–रिवाजों में विविधता** – विविधता परंपराओं और रीति–रिवाजों में भी देखी जाती है। यदि अभिवादन का ही उदाहरण लें तो हिन्दू समाज में जहां हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर प्रणाम करके अभिवादन किया जाता है, मुस्लिम समाज में सिर झुकाकर सलाम किया जाता है।
- **साहित्य में विविधता**– भारतीय संस्कृति में विविधता के दर्शन हमें साहित्य के क्षेत्र में भी देखने को मिलते हैं। यहां पर हिंदी साहित्य काफी समृद्ध है, परंतु प्राचीन भारतीय साहित्य की शुरुआत संस्कृत से होती है, जिसके ग्रंथों की प्रामाणिकता और उत्कृष्ट रचनाओं के सम्मुख भारत क्या, विश्व का कोई भी साहित्य नहीं टिक सकता है। संस्कृत के अतिरिक्त भारत में तमिल, तेलुगु, कन्नड़, उड़िया, उर्दू, मराठी, बांग्ला, मलयालम आदि अनेक भाषाओं का साहित्य संसार समृद्धि से परिपूर्ण है।
- **त्योहारों में विविधता**– भारत में हिन्दुओं के होली, दिवाली, नवरात्रि, रक्षा बंधन, मकर संक्रांति, गणेश चतुर्थी आदि अनेक त्योहार हैं तो ईद, बकरीद आदि मुस्लिमों के त्योहार हैं, वैशाखी सिखों का और क्रिसमस ईसाइयों का त्योहार है। कुछ त्योहार ऐसे भी हैं, जिसे दो धर्मों के लोग मिलकर मनाते हैं, जैसे– बुद्ध पूर्णिमा को हिन्दू और बौद्ध धर्म के लोग मिलकर मनाते हैं तो करवाचौथ को हिन्दू और सिख मिलकर मनाते हैं। इसी प्रकार से गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस जैसे राष्ट्रीय त्योहारों को सभी भारतवासी मिलकर मनाते हैं। भारतीय त्योहारों का आधार विभिन्न चीजों से जुड़ा होता है, जिसमें धर्म से जुड़े त्योहार अधिक होते हैं, फसलों और मौसम से जुड़े त्योहार भी यहां बहुतायत में मनाए जाते हैं, जैसे– वैशाखी, मकर संक्रांति, ओणम, पोंगल, आदि।
- **परिवार में विविधता**– भारतीय संस्कृति में विविधता के दर्शन परिवार के संदर्भ में भी होते हैं। कहीं एकल परिवार है तो कहीं संयुक्त परिवार है। कहीं मातृसत्तात्मक परिवार है तो कहीं पितृसत्तात्मक परिवार। कहीं एक–विवाही परिवार है तो कहीं बहु–विवाही परिवार। इस प्रकार भारत में कई दृष्टिकोणों से विविधता देखने को मिलती है।
- **धर्म में विविधता**– भारतीय संस्कृति में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, धर्मों के अतिरिक्त एक ही धर्म में अनेक उपधर्म अथवा संप्रदाय के लोग भी रहते हैं। हिन्दुओं में ही कबीरपंथी, नानकपंथी, वैष्णव, शैव, वैदिक संप्रदाय आदि के लोग हैं। भारतीय जनजातियां अपने को पृथक धर्म का अनुयायी मानती हैं।

टिप्पणी

- **विवाह प्रणाली में विविधता** – विभिन्न समाजों की विवाह प्रणाली में भी अंतर देखा जा सकता है, क्योंकि विविध धर्मों और समाजों में विवाह का उद्देश्य भी अलग होता है। हिन्दू समाज में जहां इसे धार्मिक कृत्य समझते हुए जन्मों का बंधन माना जाता है, वहीं मुस्लिम समाज में इसे लौकिक कृत्य मानते हुए संविदा माना जाता है, जिसे तोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार जनजातियों में भी विवाह के विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विविध प्रकार की व्यवस्था की गई है।
- **जाति व्यवस्था में विविधता** – भारतीय संस्कृति में विविधता के दर्शन वैसे तो हिन्दू समाज की विशेषता थी, परंतु मुस्लिम और ईसाई समाज के कुछ भागों में भी जाति व्यवस्था के दर्शन हो जाते हैं। हिन्दू संस्कृति में जाति–व्यवस्था का उग्र रूप देखा जा सकता है, जहां छुआछूत चरम पर रहा है। वहीं मुस्लिम और ईसाई समाज में इसकी उग्रता बहुत कम है। कुल मिलाकर भारत में कहीं जाति–व्यवस्था के दर्शन होते हैं तो किसी विशेष संस्कृति में जाति देखने को नहीं भी मिलती है।
- **भाषा में विविधता** – कहावत है कि भारत में प्रत्येक 20 मील पर भाषा बदल जाती है। इस संदर्भ में उत्तर से लेकर दक्षिण और पूरब से लेकर पश्चिम तक सैकड़ों भाषाएं प्रयुक्त की जाती हैं।

भारत में बहु–संस्कृतिवाद को सिद्धांत रूप में अथवा विचारधारा के तौर पर ही नहीं अपनाया गया है, बल्कि इसे व्यावहारिक तौर पर भी अपनाया गया है और प्रयास किया गया है कि भारतीय समाज में रहने वाले विभिन्न संस्कृतियों के अंतिम व्यक्ति तक को व्यावहारिक तौर पर इस बहु–संस्कृतिवाद के दर्शन हों और इसके फायदे मिले। यही कारण है कि देश की आजादी के समय से ही संविधान में मौलिक अधिकारों के अंतर्गत विभिन्न संस्कृतियों को समान मानते हुए उसके अनुसार अपना जीवनयापन करने का अधिकार सभी नागरिकों को प्रदान किया गया है और सरकार द्वारा सभी संस्कृतियों के साथ समान व्यवहार करने की बात कही गई है। सरकार द्वारा अल्पसंख्यकों की संस्कृति और सभ्यता के अनुरक्षण के लिए भी प्रयास किया जाता है तो इसका यही अर्थ है कि भारत की बहु–संस्कृतिवादी स्वरूप को बनाए रखा जाए। विलुप्ति के कगार पर पहुंच चुकी अनेक जनजातियों की संस्कृति के सरंक्षण के लिए सरकार द्वारा किया जा रहा प्रयास इसी श्रेणी के अंतर्गत आता है।

बहु–संस्कृतिवाद की आलोचना

बहु–संस्कृतिवाद की आलोचना के संदर्भ में अक्सर यह कहा जाता है कि यह विडंबनापूर्ण है कि सह–अस्तित्व वाली संस्कृतियां एक–दूसरे को प्रभावित करती हैं, फिर भी अलग बनी रहती है। बहु–संस्कृतिवाद के संबंध में यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि जिन राष्ट्र राज्यों की पहले से अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान होती है, वह बहु–संस्कृतिवाद के लागू होने से खत्म हो जाती है। इस प्रकार राष्ट्र राज्य की

विशिष्ट संस्कृति का अपक्षरण हो जाता है। बहु–संस्कृतिवाद की आलोचनाओं के प्रमुख आधार इस प्रकार हैं–

- आलोचकों का कहना है कि सर्वप्रथम बहु–संस्कृतिवाद क्या है और इसकी सर्वमान्य परिभाषा क्या है, यह स्पष्ट नहीं है।
- बहु–संस्कृतिवाद को विभिन्न लोगों ने विभिन्न तरीकों से प्रयुक्त किया है। वर्णनात्मक तौर पर इस शब्द का प्रयोग सांस्कृतिक विविधता के लिए किया जाता है, जबकि मानक रूप में यह एक सकारात्मक समर्थन है। धार्मिक विविधता का उत्सव है, जो सामान्यतः सम्मान तथा मान्यता के आधार पर विभिन्न समूहों के लिए होता है या नैतिक और सामाजिक विविधता के लिए समाज के लाभ के लिए होता है।
- बहु–संस्कृतिवाद में मैत्रीपूर्ण सह–अस्तित्व वाली संस्कृतियां एक–दूसरे को प्रभावित तो करती हैं, परंतु तब भी अलग बनी रहती हैं जो कि विडंबनापूर्ण है।
- आलोचकों का यह भी कहना है कि राष्ट्र जिनकी पहले से ही अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान होती है, वह बहु–संस्कृतिवाद के लागू होने से समाप्त हो जाती है।
- बहु–संस्कृतियों वाले समाज में राष्ट्रीय एकता में कमी आती है और क्षेत्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। भारत जैसे बहु–संस्कृति वाले देश में भी इस प्रकार की विरोधी संस्कृतियां देखी जा सकती हैं।

टिप्पणी

भारत में बहु–संस्कृतिवाद को प्रभावी बनाने के उपाय

भारतीय समाज एक बहु–संस्कृतिवादी समाज है और इसके बहु–सांस्कृतिक स्वरूप को और प्रभावी बनाने के लिए ऐसे कुछ उपायों को अमल में लाया जा सकता है –

- बहु–संस्कृतिवाद को प्रभावी बनाने के लिए लोगों के विचार और दृष्टिकोण का व्यापक होना आवश्यक है और इसके लिए आधुनिक तथा सह–संस्कृति की विचारधारा वाली शिक्षा ही प्रमुख हथियार हो सकती है। इस प्रकार शिक्षा का प्रसार अधिक से अधिक किया जाना चाहिए।
- सांस्कृतिक आधार पर विद्वेष फैलाने वाले तत्वों से सख्ती से निपटा जाना चाहिए।
- संविधान में वर्णित विभिन्न संस्कृतियों के संवर्द्धन संबंधी समानता और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों को समाज के अंतिम व्यक्ति तक व्यावहारिक तौर पर पहुंचाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- संस्कृति को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण विषयों और मुद्दों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। भले ही ऐसे मुद्दों पर निर्णय नहीं लिया गया हो, परंतु आज या भविष्य में यदि ये विषय किसी विशेष संस्कृति के लिए महत्व रखते हैं अथवा रखेंगे तो उन पर अभी से ध्यान दिया जाना चाहिए।

टिप्पणी

- बुद्धिजीवी वर्ग के साथ मीडिया को भी भारतीय समाज के इस बहु–संस्कृतिवादी स्वरूप का प्रचार–प्रसार करना चाहिए ताकि आम जनता के दृष्टिकोण में अन्य संस्कृतियों के प्रति सहनशीलता और समन्वय की भावना आ सके।
- सांस्कृतिक विविधता के आधार पर राजनीति करने वाले दलों और संगठनों पर प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए, ताकि भारत की बहु–संस्कृतिवादी छवि को कोई नुकसान नहीं पहुंचा सके।
- लोगों के मध्य अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हुए धर्म, जाति, प्रजाति, स्थान आदि के आधार पर अन्य संस्कृतियों को निम्न न मानकर समान आदर करने की प्रवृत्ति का विकास किया जाना चाहिए।
- समाज में विद्यमान विभिन्न संस्कृतियों के मध्य यथासंभव संतुलन बनाए रखा जाना चाहिए, क्योंकि व्यावहारिक तौर पर किसी भी समाज में संस्कृतियों का पूर्ण संतुलन और सौहार्दपूर्ण संबंध असंभव है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतीय समाज में बहु–संस्कृतिवाद को सफल बनाने के लिए लोगों में शिक्षा का प्रसार तीव्रता से किया जाना चाहिए और शिक्षा भी ऐसी होनी चाहिए जो अन्य संस्कृतियों के प्रति आदर एवं सम्मान की भावना का विकास कर सके। अपने विशिष्ट बहु–सांस्कृतिक समाज के प्रति प्रत्येक भारतीय में आदर की भावना विकसित हो सके, इसके लिए भारत के बहु–संस्कृतिवादी स्वरूप का व्यापक प्रचार–प्रसार किया जाना चाहिए। अभी तक के सफर को देखते हुए कहा जा सकता है कि यहां विभिन्न संस्कृतियों के लोग अपनी विशिष्ट पहचान को बनाए रखे हुए हैं तथा समाज में विद्यमान अन्य संस्कृतियों से पृथकता भी बनाए हुए हैं। भले ही कभी–कभार सांस्कृतिक तनाव और विरोध यहां देखने को मिल जाता है, परंतु अंत में यदि कोई बाहरी संस्कृति अथवा संकट का सामना करना होता है तो भारत की सभी संस्कृतियों के लोग मिलकर इसका सामना करते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि बाहरी संस्कृतियों से पृथक रहते हुए देश की आंतरिक संस्कृतियों में विविधता देखी जा सकती है और बाहरी संस्कृतियों के सम्मुख भारत का एक समग्र बहु–सांस्कृतिक स्वरूप देखा जा सकता है। भारत की बहु–संस्कृतिवादी प्रकृति की व्यावहारिक तौर पर भारत की राजनीतिक व्यवस्था से तुलना की जा सकती है, जहां विभिन्न राज्यों के मध्य अंतर तो है, परंतु यदि किसी दूसरे देश की बात की जाए तो भारत के सभी राज्य एक हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार भारत में विभिन्न संस्कृतियां तो हैं, परंतु यदि किसी बाहरी समाज की संस्कृति से तुलना की जाए तो यहां की सभी संस्कृतियों में समानता देखी जा सकती है।

अंत में कहा जा सकता है कि भारत में बहु–संस्कृतिवाद को व्यावहारिक तौर पर अपनाए जाने के कारण कुछ समस्याएं पैदा होती रही हैं। लोगों में अपनी विशेष संस्कृति को लेकर श्रेष्ठता की भावना और दूसरे की संस्कृति को हीन भावना से देखने के कारण समय–समय पर सांस्कृतिक तनाव भी देखने को मिलता है। सत्ता ने हमेशा से भारतीय समाज के बहु–संस्कृतिवादी स्वरूप को बनाए रखने की कोशिश की है।

टिप्पणी

सरकार संप्रदाय विशेष की संस्कृति को जीवित रखने के लिए ही प्रतिबद्ध नहीं है, बल्कि विभिन्न जनजातियों की संस्कृतियों को जीवंत रखने के लिए सांस्कृतिक केन्द्रों का निर्माण करती रहती है ताकि उनकी संस्कृति को सवंर्द्धित किया जा सके। हालांकि सरकार को अपनी बहु–संस्कृतिवादी विचारधारा का प्रचार–प्रसार आम जनता में और अधिकता से करना चाहिए, क्योंकि यदि एक बार आम जन में समाज की दूसरी संस्कृतियों के प्रति सम्यक और सहयोगी दृष्टिकोण विकसित हो जाएगा तो समाज से सांस्कृतिक टकराव जैसी समस्याएं स्वयं ही समाप्त हो जाएंगी।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'संस्कृति' शब्द किस भाषा से निकला है?
   (क) हिंदी (ख) संस्कृत
   (ग) फारसी (घ) अरबी
2. बहु–संस्कृतिवाद का प्रमुख घटक कौन सा है?
   (क) भाषा (ख) धर्म
   (ग) विचारधारा (घ) उपर्युक्त सभी

3.3 शैक्षिक अवसरों की समानता : समता, गुणवत्ता और दक्षता

शैक्षिक अवसरों की समानता का विचार लोकतंत्र की देन है। लोकतंत्र स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों पर आधारित है। यह सामाजिक न्याय का पक्षधर है। यह व्यक्ति के व्यवहार का आदर करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के स्वतंत्र अवसर प्रदान करता है। लोकतंत्रीय भावना के आधार पर सर्वप्रथम 1870 में ब्रिटेन में शिक्षा को अनिवार्य किया गया और उसे सर्व सुलभ बनाया गया। उसके बाद यूरोप के अन्य देशों में भी एक निश्चित स्तर तक की शिक्षा को अनिवार्य किया गया और सर्व सुलभ बनाया गया। भारत में इस प्रकार का विचार सर्वप्रथम ब्रिटिश शासन काल में उठा। 15 अगस्त, 1947 को हमारा देश स्वतंत्र हुआ और 26 जनवरी 1950 को हमारे देश में हमारा स्वयं का संविधान लागू हुआ। इस संदर्भ में हमारे संविधान में दो घोषणाएं की गई हैं–

1. संविधान के अनुच्छेद 45 में यह घोषणा की गई कि राज्य इस संविधान के लागू होने के समय से 10 वर्ष के अंदर 14 वर्ष तक के सभी आयु के सभी बच्चों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा।
2. संविधान के अनुच्छेद 29 में यह घोषणा की गई है कि राज्य द्वारा पोषित अथवा आर्थिक सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षा संस्था में किसी भी बच्चे को धर्म, मूल, वंश अथवा जाति के आधार पर प्रवेश से वंचित नहीं किया जाएगा।

टिप्पणी

शैक्षिक अवसरों की समानता का अर्थ

सामान्य अर्थ के अनुसार शैक्षिक अवसरों की समानता का अर्थ है "देश के सभी बच्चों को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर और समान सुविधाएं प्रदान करना।"

परंतु समान अवसर की समानता के अर्थ के लिए विद्वानों में भिन्न–भिन्न मत हैं। इनके अनुसार तीन मत हैं–

1. समान बालकों की शिक्षा के आधार पर।
2. समान शिक्षा संस्थानों के आधार पर।
3. किसी भी स्तर पर बच्चों को प्रवेश की सुविधा के आधार पर।

1. **समान बालकों की शिक्षा के आधार पर**– कुछ विद्वान शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर और समान सुविधाओं से अर्थ देश के सभी बच्चों के लिए एक समान शिक्षा अर्थात समान पाठ्यक्रम से लेते हैं। सामान्य शिक्षा तो सबके लिए समान हो सकती है परंतु विशिष्ट शिक्षा तो बच्चों की रुचि, रुझान, योग्यता और क्षमता के आधार पर ही दी जा सकती है।
2. **समान शिक्षा संस्थानों के आधार पर**– कुछ विद्वान इसका अर्थ शिक्षा संस्थाओं के समान रूप से लेते हैं। वे सरकारी, गैर सरकारी और पब्लिक स्कूलों के भारी अंतर को समाप्त करने के पक्ष में है। अन्यथा धनी वर्ग के बच्चे पब्लिक स्कूलों की अच्छी शिक्षा प्राप्त करते रहेंगे और निर्धन वर्ग के बच्चे सरकारी एवं गैर सरकारी स्कूलों की निम्न स्तर की शिक्षा ही प्राप्त कर सकेंगे। अतः आवश्यकता है निर्धन वर्ग के मेधावी छात्रों के लिए अच्छी शिक्षा की व्यवस्था करने की, न कि अच्छी शिक्षा संस्थाओं को बंद करने की।
3. **किसी भी स्तर पर बच्चों को प्रवेश की सुविधा के आधार पर**– कुछ विद्वान शैक्षिक अवसरों की समानता का अर्थ शिक्षा के किसी स्तर पर सभी बच्चों को प्रवेश की सुविधा प्रदान करने से लेते हैं। उनके अनुसार शिक्षा मनुष्य का मौलिक अधिकार है परंतु यह धारणा भी गलत है, अधिकार के साथ कर्तव्य जुड़ा होता है। समान अवसरों के पीछे समान योग्यता एवं समान दक्षता का भाव निहित है।

हमारे देश में इस समस्या पर सर्वप्रथम विचार किया कोठारी आयोग ने 1964–66 में। आयोग ने सुझाव दिया था कि शैक्षिक अवसरों की समान सुविधा प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम 6–14 वर्ष के बच्चों के लिए कक्षा (1–8) तक की शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क की जाए और किसी भी वर्ग के बच्चों की इस शिक्षा प्राप्ति में आने वाली कठिनाइयों को दूर किया जाए। साथ ही देश के सभी वर्ग के बच्चों, युवकों और प्रौढ़ों के लिए उनकी रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकतानुसार इससे आगे की शिक्षा (माध्यमिक, उच्च, प्रौढ़, सतत) शिक्षा की व्यवस्था की जाए और किसी भी वर्ग के बच्चों,

टिप्पणी

युवकों व प्रौढ़ों की इस शिक्षा प्राप्ति करने में आने वाली कठिनाइयों को दूर किया जाए। अतः भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता का एक नया अर्थ ही निकल कर आया।

शैक्षिक अवसरों की समानता का अर्थ है– राज्य द्वारा देश के सभी बच्चों के लिए स्थान, जाति, धर्म अथवा लिंग आदि किसी भी आधार पर भेद किए बिना एक निश्चित स्तर तक की शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क रूप से सुलभ कराना और उनकी इस शिक्षा प्राप्ति करने में आने वाली कठिनाइयों का निवारण करना। साथ ही देश के सभी बच्चों और युवकों को इससे आगे की शिक्षा उनकी रुचि, रुझान, योग्यता, क्षमता और आवश्यकतानुसार सुलभ कराना और उनकी इस शिक्षा प्राप्ति करने में आने वाली कठिनाइयों का निवारण करना।

शैक्षिक अवसरों की समानता की आवश्यकता

संसार के सभी देशों में शिक्षा को मानव का मूल अधिकार माना गया है। किसी भी देश में सभी को शिक्षा प्राप्त करने की समान सुविधाएं होनी चाहिए। शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति का स्तर ऊपर उठ सकता है। शिक्षा ही उसे उच्च स्तर, स्थान तथा आय के लिए समर्थ बना सकती है किंतु शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसे वही अवसर मिलने चाहिए, जो कि धनाढ्य वर्ग के बालकों को प्राप्त होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो धनाढ्य वर्ग के बच्चों का स्तर ऊपर हो जाएगा तथा निम्न वर्ग के बच्चों का स्तर नीचा रह जाएगा और अंत में दोनों वर्गों के बच्चों की शिक्षा में असमानताएं बढ़ती चली जाएंगी, परंतु हमारी शिक्षा का ध्येय प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा ग्रहण करने के समान स्तर का होना चाहिए ताकि वह उस सीमा तक उससे लाभ उठा सके जितना लाभ उठाने की उसमें क्षमता हो।

शिक्षा के अवसरों की समानता की आवश्यकता निम्न कारण से है–

1. **देश में एक सम–समाज की स्थापना के लिए**– शिक्षा में समान अवसरों का अधिकार इसलिए प्राप्त होना चाहिए ताकि व्यक्तियों को समता तथा सामाजिक न्याय मिल सके।
2. **लोकतंत्र की रक्षा के लिए**– लोकतंत्र की सफलता उसके नागरिकों पर निर्भर करती है, उसके नागरिकों की योग्यता क्षमता पर निर्भर करती है और नागरिकों की योग्यता एवं क्षमता शिक्षा पर निर्भर करती है। अतः देश के प्रत्येक नागरिकों को शिक्षित करना अनिवार्य है, परंतु हमारे देश में जनसंख्या अधिक है इस कारण आधे से अधिक लोग अपने बच्चों को पढ़ाने में असमर्थ रहते हैं। दूसरे बहुसंख्यक जनता गांव में व दूरदराज में निवास करती है अतः देश में उपेक्षित, निर्धन और दूरदराज में रहने वाले बच्चों को शिक्षा सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए। उन्हें लोकतांत्रिक मूल्यों का ज्ञान कराएं ताकि वो लाकतंत्र में सफल जीवन बिता सकें।
3. **व्यक्ति के वैयक्तिक विकास के लिए**– लोकतंत्र व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर करता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का स्वतंत्र अवसर प्रदान करता है। अतः सभी को शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।

टिप्पणी

4. **समाज के उन्नयन के लिए**– लोकतंत्र सामाजिक वर्ग भेद का विरोधी है, वह पूरे राष्ट्र को एक समाज मानता है और उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज के रूप में विकसित करने में विश्वास करता है। यह सब तभी संभव है जब देश के प्रत्येक नागरिक को शिक्षित किया जाए। इसके लिए शैक्षिक अवसरों की समानता की बहुत आवश्यकता है।

5. **राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए**– किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास दो तत्वों पर निर्भर करता है– (क) प्राकृतिक संसाधन, (ख) मानव संसाधन। प्राकृतिक संसाधन तो प्रकृति पर निर्भर होते हैं परंतु मानव संसाधन का विकास शिक्षा द्वारा होता है। जिस राष्ट्र में जितनी अधिक उत्तम शिक्षा होगी उतनी ही उत्तम शिक्षा की व्यवस्था होती है वह राष्ट्र उतनी ही तेजी से आर्थिक विकास करता है। अतः आवश्यक है कि हम जन–जन तक शिक्षा पहुंचाएं, उनके मार्ग की कठिनाइयां दूर करें। यह शिक्षा के समान अवसरों के लिए आवश्यक है।

6. **वर्ग भेद की समाप्ति के लिए**– स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले हमारे देश में शिक्षा उच्च वर्ग तक सीमित थी जिसके परिणामस्वरूप इस देश में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उच्च वर्ग का अधिकार बढ़ता गया व निम्न वर्ग के व्यक्ति पिछड़ते गए जिससे वर्ग भेद में भी बढ़ोतरी होती गई। इस वर्ग भेद की समाप्ति के लिए सभी वर्गों के बच्चों एवं युवकों को शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर व सुविधाएं प्राप्त कराना आवश्यक है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 29 में स्पष्ट रूप से घोषणा की गई है कि राज्य द्वारा पोषित अथवा आर्थिक सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षा संस्था में किसी भी नागरिक को धर्म, मूल वंश अथवा जाति के आधार पर प्रवेश से वंचित नहीं किया जाएगा।

भारत में शैक्षिक अवसरों की असमानता

भारत में शिक्षा के क्षेत्र में कई प्रकार की असमानता है, जैसे–

1. **प्रांत–प्रांत की शिक्षा में असमानता**– भारत विभिन्न प्रांतों में बंटा हुआ है और अपने–अपने क्षेत्र में शिक्षा की व्यवस्था करना प्रांतों का उत्तरदायित्व है। यद्यपि पूरे देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अनुसार 10 + 2 + 3 शिक्षा संरचना लागू कर दी गई है, परंतु प्रथम 10 वर्षीय आधारभूत पाठ्यक्रम का ईमानदारी से पालन किया गया है। इस पाठ्यचर्या की मूल बात त्रिभाषा सूत्र और समाजोपयोगी उत्पादक कार्य/ कार्यानुभव/कार्य शिक्षा है। प्रांतीय सरकारों ने इन्हें अलग–अलग लिया है। कुछ प्रांतों में +2 पर भिन्न प्रांतों में भिन्न शिक्षा व्यवस्था है। +3 पर तो विश्वविद्यालयों को स्वायत्तता है ही अर्थात कहा जा सकता है कि संपूर्ण भारत में शैक्षिक स्तर पर भी अंतर है।

2. **प्रांत विशेष की शिक्षा में असमानता**– हमारे देश में किसी प्रांत के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में भी शिक्षा में अंतर है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रायः प्राथमिक और उच्च प्राथमिक स्तर तक ही शिक्षा उपलब्ध है। माध्यमिक स्तर की शिक्षा भी सुलभ है, उसका स्तर नगरीय माध्यमिक शिक्षा की तुलना में निम्न कोटि का है।

3. **शिक्षण संस्थाओं का असमान वितरण**– भारत में बच्चों के लिए स्कूल कॉलेजों की संख्या कहीं पर आवश्यकता से अधिक है और कहीं पर कम। किसी क्षेत्र में सरकारी और गैर सरकारी दोनों प्रकार के स्कूल एवं कॉलेज हैं और कहीं पर है ही नहीं। महाविद्यालय की स्थापना तो राजनीतिक दवाब में की जाती है।

4. **लड़के–लड़कियों की शिक्षा संस्थाओं में असमानता**– हमारे देश में प्राथमिक स्तर पर तो सहशिक्षा व्यवस्था है, परंतु माध्यमिक स्तर पर लड़के–लड़कियों के लिए अलग–अलग स्कूलों की व्यवस्था होती है। अधिकतर प्रांतों में लड़कियों के लिए स्कूलों की व्यवस्था कम संख्या में है, दूसरी तरफ स्नातक स्तर की शिक्षा में भी लड़के–लड़कियों की फीस में अंतर रखा गया है, जिससे स्पष्ट है कि लड़के व लड़कियों की शिक्षा में भी असमानता है।

5. **विद्यालय–विद्यालय की शिक्षा में असमानता**– स्थान विशेष पर जो शिक्षण संस्थाएं हैं उनके भवन, फर्नीचर, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, शिक्षण सामग्री एवं शिक्षकों में बड़ी असमानता है। किन्हीं विद्यालयों में सब कुछ सुलभ है और किन्हीं में कुछ भी सुलभ नहीं है। उनकी कार्य प्रणाली में काफी अंतर है। यहां तक कि सरकारी स्कूल और पब्लिक स्कूलों में भी अधिक अंतर है जिससे शिक्षा में असमानता बढ़ रही है।

6. **लड़के–लड़कियों की शिक्षा में असमानता**– मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लड़के–लड़कियों में कोई अंतर नहीं होता परंतु उनके पाठ्यक्रमों में भी अंतर रखा गया है। इसी कारण इस स्तर पर शिक्षा में असमानता पाई जाती है।

7. **उपेक्षित क्षेत्र एवं वर्ग के बच्चों की शिक्षा की अपर्याप्त व्यवस्था**– यद्यपि दूरदराज में रहने वाले और पिछड़े, अनुसूचित जाति, जनजाति के बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था का वादा किया गया था परंतु कार्य रूप में परिणित नहीं हो पाया। केवल निम्न वर्ग के बच्चों के लिए निम्न स्तर की शिक्षा ही सुलभ है। उपेक्षित वर्ग के मेधावी छात्रों के लिए जो नवोदय विद्यालय खोले गए हैं उनमें भी उच्च वर्ग के बच्चे ही शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

8. **विद्यालयों में बच्चों के साथ व्यवहार में असमानता**– हमारे देश में प्राइवेट स्कूल प्रायः जाति और धर्म के आधार पर खोले जाते हैं। ऐसे स्कूलों में शिक्षकों की नियुक्ति भी जाति व धर्म के आधार पर की जाती है। जहां पर शिक्षकों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जा रही है वहां भी भाईचारा एवं पैसा चल रहा है। ऐसी स्थिति में नियुक्त किए गए अध्यापक बच्चों के साथ भी समान व्यवहार नहीं करते हैं।

9. **बच्चों के शैक्षिक पर्यावरण में असमानता**– हमारे देश में बच्चों को पढ़ने के लिए समान पर्यावरण नहीं मिल पाता क्योंकि प्राथमिक पाठशालाओं में बच्चों के बैठने के लिए न स्थान है और न सुविधा। इसके विपरीत उच्च वर्ग के लिए

टिप्पणी

सब कुछ सुलभ है। ऐसे वातावरण के होते हुए शिक्षा में असमानता होना स्वाभाविक है।

10. **आर्थिक असमानता के कारण असमानता**– इस समय मनुष्य की योग्यता को नहीं बल्कि सामर्थ्य को आधार माना जाता है। आज बच्चों को अच्छे स्कूलों व कॉलेजों में प्रवेश उनकी योग्यता के आधार पर नहीं मिलते बल्कि अभिभावकों की आर्थिक संपन्नता, राजनैतिक संप्रभुता शक्ति के आधार पर मिलते हैं।

भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति के उपाय

शैक्षिक अवसरों की समानता के दो मुख्य पहलू हैं–

1. देश के सभी बच्चों और युवकों को बिना किसी भेदभाव के, किसी भी स्तर की, किसी प्रकार की शिक्षा समान रूप से सुलभ कराना।
2. किसी भी वर्ग के बच्चों अथवा युवकों के किसी भी स्तर की, किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने में आने वाली बाधाओं का निवारण करना।

परंतु भारत में इस कार्य में बहुत बाधाएं हैं, जो निम्न हैं–

1. देश की बढ़ती जनसंख्या।
2. देश में संसाधनों की कमी।
3. अधिकांश जनता का पिछड़ापन।
4. एक बड़ी जनसंख्या का दूरदराजों, रेगिस्तान, पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में छोटी–छोटी बस्तियों में रहना। इस दिशा में हमारे देश में सर्वप्रथम विचार कोठारी आयोग (1964–66) ने किया था।

कोठारी आयोग के सुझाव

कोठारी आयोग ने शिक्षा के अवसरों की समानता के लिए निम्न उपाय बताए हैं–

1. ट्यूशन फीस समाप्त कर दी जाए
   (क) सभी विद्यालयों में प्राथमिक स्तर पर ट्यूशन फीस समाप्त कर दी जाए।
   (ख) सभी माध्यमिक विद्यालयों में ट्यूशन फीस समाप्त कर दी जाए।
   (ग) अगले 10 वर्षों तक मुख्य प्रयास उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए यह होना चाहिए कि वह उन विद्यार्थियों की, जिनकी आवश्यकताएं हैं और जो योग्य हैं, फीस माफ कर दी जाए।
2. प्राथमिक स्तर पर पाठ्य पुस्तकें और लिखने की सामग्री बालकों को निःशुल्क दी जाए।
3. आवागमन की सुविधाएं सोच समझ कर प्रदान की जाए ताकि हॉस्टल और छात्रवृत्तियों पर कम व्यय आए।
4. विद्यार्थियों को ऐसी सुविधाएं प्रदान की जाएं ताकि वह अपनी शिक्षा के अर्थ का कुछ भाग कमा सके।

टिप्पणी

5. विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियों को खुले तौर पर बढ़ाया दिया जाए, इसके लिए केंद्र सरकार का अधिकतर उत्तरदायित्व राज्य सरकार को देना चाहिए।
6. शैक्षिक विकास में स्तरों की विषमताओं को कम करना चाहिए।

शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता संबंधी मुद्दे

भारत छात्रों की संख्या की दृष्टि से विश्व में प्रमुख स्थान रखता है परंतु शिक्षा की गुणवत्ता की दृष्टि से भारत विश्व में बहुत पीछे है। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में छात्रों का अधिक संख्या में होना और छात्रों में गुणवत्ता तथा उत्कृष्टता का होना दोनों अलग–अलग चीजें हैं। जहां तक भारत की बात है वर्तमान में भारत उच्च शिक्षा में छात्र संख्या की दृष्टि से अमेरिका और चीन के बाद तीसरे स्थान पर है, परंतु गुणवत्ता की दृष्टि से देखा जाए तो विश्व के 200 श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में भारत का एक भी विश्वविद्यालय शामिल नहीं है।

वर्तमान में भारत में 27.8 करोड़ लोग निरक्षर हैं, जो कुल आबादी का 37 प्रतिशत भाग है। यूनेस्को तथा एजुकेशन फॉर ऑल ग्लोबल मॉनिटरिंग की रिपोर्ट के अनुसार 1991 से 2006 में भारत की साक्षरता दर 48 प्रतिशत से बढ़कर 63 प्रतिशत हो गई, 2011 में यह 74 प्रतिशत है। भारत की आजादी के समय यह साक्षरता दर मात्र 12 प्रतिशत थी, उससे यह काफी आगे निकल गई है, परंतु भारत में साक्षरता का क्या स्तर है इसका पता इसी से लगता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आधे बच्चे दूसरी कक्षा की किताब पढ़ने में भी असमर्थ हैं, 14 वर्ष तक के 50 प्रतिशत बच्चे शब्दों को पहचान नहीं पाते हैं। भारत में 12.4 करोड़ बालक अभी भी विद्यालय नहीं जा पाते हैं, 13.24 करोड़ पांचवीं तक तथा 6.64 करोड़ बालक आठवीं तक ही शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं। विद्यालय की शिक्षा पूरी करने वाले प्रत्येक 9 में से 1 छात्र ही महाविद्यालय में प्रवेश ले पाता है, जबकि अमेरिका जैसे देशों के 83 प्रतिशत छात्र उच्च शिक्षा में नामांकन लेते हैं, उनकी तुलना में भारत में 11 प्रतिशत छात्र ही उच्च शिक्षा में प्रवेश पाते हैं।

शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता संबंधी समस्याएं

शिक्षा के सार्वभौमीकरण के साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसकी गुणवत्ता और उत्कृष्टता को बनाए रखा जाए। यदि भारत की बात की जाए तो यहां की शिक्षा को विकसित देश अपनी शिक्षा की तुलना में कम आंकते हैं। भारत की शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता में कमी के प्रमुख कारणों को निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है–

(1) शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता में कमी– शिक्षण संस्थानों के प्रबंधन से लेकर प्रशासन और निरीक्षण की उचित व्यवस्था नहीं होने के कारण शिक्षा संबंधी गुणवत्ता और उत्कृष्टता में कमी देखने को मिलती है। प्राथमिक स्तर पर विभिन्न राज्यों के शिक्षा विभाग और केन्द्रीय संगठनों के निर्देशों के अधीन विद्यालय अपना उल्लू सीधा करते हैं तो उच्च शिक्षा के स्तर पर राज्य स्तरीय विश्वविद्यालय यूजीसी और राज्य की नीतियों के बीच में अपने को लाभान्वित

टिप्पणी

करना चाहते हैं। शिक्षा संबंधी इस तरह के असमंजस से शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता में भी कमी देखी जाती है। किसी एक ही योजना को पूरा करने के लिए विद्यालय और विश्वविद्यालय को दो स्तरों से गुजरना पड़ता है किन्तु दो स्तरों पर निगरानी से भी शिक्षण संस्थान कुछ सकारात्मक कार्य नहीं कर पाते हैं। भारत में उच्च शिक्षा की बात की जाए तो गुणवत्ता की दृष्टि से विश्व के 200 श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में भारत का एक भी विश्वविद्यालय शामिल नहीं है।

(2) **शिक्षकों की गुणवत्ता में कमी**– शिक्षकों की नियुक्ति करने की प्रक्रिया को उदार बना दिया जाता है, उनकी नियुक्ति के मानदंडों में ढ़ीलापन शिक्षा के स्तर को प्रभावित करता है। शिक्षण व्यवसाय में अधिकांश योग्य व्यक्ति आना नहीं चाहते हैं इस कारण भी योग्य शिक्षकों का अभाव होता है। विभिन्न राज्यों में शिक्षकों की नियुक्ति के मानदण्डों में अंतर भी देखने को मिल जाता है। पुनः योग्य शिक्षक भी एक बार शिक्षण व्यवसाय में प्रवेश कर लेने के बाद अपनी नौकरी को सुरक्षित मानते हुए अपनी गुणवत्ता का विकास नहीं करते हैं, इससे शिक्षा का स्तर निम्न हो जाता है।

(3) **छात्रों के प्रवेश मानदण्डों में विविधता**– देश के विभिन्न शिक्षण संस्थानों में छात्रों को प्रवेश देते समय उनकी योग्यता से लेकर खर्च तक के मानकों में अंतर देखने को मिलता है, जिस कारण विभिन्न शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता में अंतर हो जाता है और विभिन्न शिक्षण संस्थानों से डिग्रियों को लेकर निकलने वाले छात्रों की योग्यता पर शक किया जाता है। इस प्रकार किसी एक छात्र पर ही नहीं अपितु सभी छात्रों की योग्यता पर अंगुली उठाई जाने लगती है। भारत में दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में जहां शत–प्रतिशत अथवा 95 प्रतिशत से अधिक अंक लाने पर ही नामांकन सुनिश्चित हो पाता है, इससे देश के शेष पिछड़े राज्यों के बच्चों को इस विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं मिल पाता है। प्रवेश देने की इस पूरी प्रक्रिया में ग्रामीण क्षेत्र के छात्र पिछड़ जाते हैं और शिक्षा में अंतर बना रह जाता है। इस प्रकार भारत में ही शिक्षा की गुणवत्ता में विभिन्न राज्यों और स्थानों के छात्रों के मध्य अंतर देखने को मिलता है। यह अंतर पूरी शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित करता है।

(4) **दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली**– हमारी शिक्षा व्यवस्था में छात्रों के ज्ञान का आकलन उनके पाठ्यपुस्तकों में निहित ज्ञान को ही माना जाता है, जहां उनके अनुभव अथवा खोजों और चिंतन के लिए स्थान नहीं होता है, ऐसे में रटंत शिक्षा ही छात्रों को मिलती है। परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्नों में छात्र के आंतरिक चिंतन अथवा उसकी सृजनशीलता के लिए स्थान न देकर केवल विषय से संबंधित निष्पक्ष सवाल पूछे जाते हैं, ऐसे सवालों से छात्रों में रुचि जाग्रत नहीं होती और अंततः उनका शिक्षा से मन ऊबने लगता है, यह शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावित करता है।

(5) **व्यावहारिक ज्ञान पर जोर नहीं**– हमारी शिक्षा व्यवस्था की गंभीर कमी यह है कि यहां की पाठ्यपुस्तकों में व्यावहारिक ज्ञान पर अधिक जोर नहीं दिया जाता

टिप्पणी

है। शिक्षक केवल किताबी ज्ञान देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। ऐसे किताबी ज्ञान को छात्र समग्र तौर पर समझ नहीं पाता है। विद्यालय स्तर से ही व्यावहारिक ज्ञान की इस कमी के कारण छात्र प्राप्त ज्ञान को अधिक दिनों तक याद भी नहीं रख पाता है, इन सबसे शिक्षा का स्तर निम्न होता जाता है। प्राथमिक स्तर से ही छात्रों को चीजों को दिखाकर पढ़ाने का प्रचलन भारत में नहीं है, इसका गलत प्रभाव छात्रों के अधिगम पर पड़ता है, उसे अध्ययन से उब होने लगती है और वह पाठ को अधिक समय तक याद भी नहीं रख पाता है।

(6) **शिक्षण संस्थानों में उचित उपकरणों और संसाधनों की कमी**– हमारे शिक्षण संसाधनों में धन की कमी और भ्रष्टाचार के कारण धन की बंदरबांट से संसाधनों की कमी देखी जा सकती है। विद्यालयी स्तर से लेकर विश्वविद्यालय के स्तर तक पुस्तकालयों में मानक पुस्तकों की कमी और प्रयोगशालाओं में उपकरणों की कमी देखी जा सकती है। कुछ प्रयोगशालाओं में उपकरणों के होने पर भी छात्रों को प्रयोग करने के लिए उपलब्ध नहीं करवाए जाते हैं, जिससे शिक्षा की गुणवत्ता प्रभावित होती है। प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने वाले भारत के बहुत से विद्यालय ऐसे हैं, जिनका अभी तक कोई भवन ही नहीं है, ऐसे विद्यालयों में छात्रों के लिए पुस्तकालय और अन्य उपकरणों की व्यवस्था की बात करना बेमानी लगती है, जब पढ़ने के लिए क्लासरूम ही नहीं है तो फिर अन्य सुविधाओं की केवल कल्पना की जा सकती है।

(7) **उद्देश्यहीनता**– वर्तमान शिक्षा प्रणाली उद्देश्यहीन प्रतीत होती है। यदि सामान्य शिक्षा की बात की जाए तो यह किताबी शिक्षा तक सीमित है और वास्तविक जीवन से इसका कोई संबंध नहीं होता है। सामान्य शिक्षा प्राप्त छात्र सैद्धांतिक मूल्यों के साथ कहीं रोजगार पाने की स्थिति में नहीं होता है तो व्यावसायिक शिक्षा में तकनीकी का प्रशिक्षण तो दे दिया जाता है, परंतु मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि आर्थिक और व्यावसायिक दृष्टि से आगे चलकर छात्र सफल हो जाते हैं, परंतु वे एक बेहतर मानव नहीं बन पाते हैं। इस प्रकार सामान्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा दोनों उद्देश्यहीन से हो गए हैं।

(8) **छात्र–शिक्षक अनुपात का समुचित पालन नहीं**– शिक्षण संस्थानों में छात्र–शिक्षक संख्या का अनुपालन नहीं किया जाता है। आंकड़ों में भले ही सरकार यह दिखला दे कि विद्यालयों में छात्र शिक्षकों का अनुपात संतुलित है, परंतु व्यवहार में शिक्षक कक्षाओं में उपस्थित ही नहीं रहते हैं और एक–एक कक्षा में 100 से 200 छात्रों को एक साथ पढ़ना पड़ता है, जिसका सीधा प्रभाव शिक्षा की गुणवत्ता पर पड़ता है। शिक्षक अपने छात्रों पर समुचित तौर पर ध्यान नहीं दे पाते हैं और छात्रों को बेहतर शिक्षा प्राप्त नहीं हो पाती है।

(9) **निर्देशन और परामर्श का अभाव**– छात्रों में शिक्षा संबंधी कौन–सी योग्यता है ? वे किस क्षेत्र में बेहतर कर सकते हैं ? कौन–सा शिक्षण संस्थान उनकी विशेष आवश्यकताओं और आर्थिक स्थिति के अनुकूल है ? विषय विशेष के

टिप्पणी

अध्ययन के बाद रोजगार के अवसर क्या हैं? इन विषयों के संदर्भ में छात्रों को सही निर्देशन और मार्गदर्शन नहीं मिल पाता है, जिस कारण वे किसी भी विषय और शिक्षण संस्थान में प्रवेश तो ले लेते हैं, परंतु उसमें जाकर दबाव में आ जाते हैं और इसका अंतिम परिणाम होता है कि उनकी शिक्षा का स्तर निम्न रह जाता है और वे कुछ खास नहीं कर पाते हैं।

शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता के विकास के साधन

शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता के विकास के निम्न साधन हैं–

(1) **शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता का विकास करना**– शिक्षण संस्थानों के प्रबंधन से लेकर प्रशासन और निरीक्षण की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। शिक्षण संस्थानों का निरीक्षण और प्रबंधन एक ही केन्द्रीय संगठन के अधीन होना चाहिए, परंतु निरीक्षण और प्रबंधन की व्यवस्था अधिक सुदृढ़ होनी चाहिए। इस प्रकार निर्देशों के दोहरे प्रारूप को समाप्त करके शिक्षण संस्थानों के असमंजस को भी समाप्त किया जा सकेगा और उनकी मनमानी को भी खत्म किया जा सकेगा।

(2) **शिक्षकों की गुणवत्ता का विकास**– शिक्षकों की नियुक्ति करने की प्रक्रिया को अधिक सख्त और नियमों पर आधारित बनाया जाना चाहिए। केवल योग्य व्यक्तियों को ही शिक्षण व्यवसाय में आने देना चाहिए। विभिन्न राज्यों में शिक्षकों की योग्यता के मानदण्डों में पूरी तरह से समरूपता होनी चाहिए तथा नौकरी में प्रवेश के बाद भी शिक्षकों का प्रशिक्षण और उनकी योग्यता का आकलन सख्ती से किया जाना चाहिए, जिससे शिक्षा का स्तर सुधर सके। शिक्षण कार्य के लिए आने वाले अभ्यर्थियों में शैक्षिक तौर पर अधिक अंक योग्यता ही नहीं होनी चाहिए, अपितु यह देखना चाहिए कि ये आगे चलकर छात्रों के व्यावहारिक तौर पर ज्ञान प्राप्त के लिए कितने प्रतिबद्ध हैं और इसमें उन्हें कितना महारत हासिल है। किताबी कीड़े की तरह केवल पाठ्य–पुस्तकों से चिपके रहने वाले मनोवृति के लोगों को शिक्षण कार्य से दूर रखकर शिक्षा का विकास किया जा सकता है।

(3) **छात्रों के प्रवेश मानदण्डों में समरूपता**– समान पाठ्यक्रमों में प्रवेश देने के लिए सभी शिक्षण संस्थानों मे छात्रों के प्रवेश मानदण्डों में समरूपता होनी चाहिए और इस समरूपता का पालन दृढ़ता से किया जाना चाहिए। भारत में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की गुणवत्ता का स्तर क्या होता है, इसका पता लगाने के लिए आंकड़ों पर गौर करना चाहिए कि ग्रामीण क्षेत्रों में आधे बच्चे दूसरी कक्षा की किताब पढ़ने में भी असमर्थ हैं, 14 वर्ष तक के 50 प्रतिशत बच्चे शब्दों को पहचान नहीं पाते हैं। ऐसे छात्र शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता को कम करने के लिए होते हैं।

(4) **परीक्षा प्रणाली का विकास**– परीक्षा में छात्रों से पूछे जाने वाले सवालों को छात्रों को उनके परिवेश से जोड़कर पूछा जाना चाहिए और छात्रों से उस विषय के प्रति राय को जानना चाहिए, जिससे छात्रों में मौलिक चिंतन का विकास

टिप्पणी

होगा। परीक्षा में अर्जित अंक ही छात्र के मूल्यांकन का आधार नहीं होने चाहिए, बल्कि उनके द्वारा शिक्षण संस्थानों में अन्य किए गए व्यवहार, उनकी सोच और अन्य विशेष गतिविधियों के आधार पर भी उनका मूल्यांकन किया जाना चाहिए, इससे छात्रों पर से परीक्षा का दबाव घटेगा और वे खुलकर अपने चिंतन को प्रकट कर पाएंगे।

(5) **व्यावहारिक ज्ञान पर जोर** – विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक शिक्षा में व्यावहारिक ज्ञान पर जोर देना चाहिए, जिससे छात्र विषय को समझकर सीख सकें न कि रटकर। व्यावहारिक ज्ञान को जब तक आत्मसात करके छात्र समझ नहीं लेता है, शिक्षा के स्तर के उन्नयन की बात करना बेमानी होगा। शिक्षण कार्य के लिए आने वाले अभ्यर्थियों में शैक्षिक तौर पर अधिक अंक ही योग्यता नहीं होनी चाहिए, अपितु यह भी देखना चाहिए कि आगे चलकर छात्रों को व्यावहारिक तौर पर ज्ञान प्राप्त कराने के लिए वे कितने प्रतिबद्ध हैं और इसमें उन्हें कितनी महारत हासिल है।

(6) **शिक्षण संस्थानों में उचित उपकरणों और संसाधनों की आपूर्ति**– शिक्षण संस्थानों में उपकरणों और संसाधानों की आपूर्ति को सरकार को सुनिश्चित करना चाहिए और इसके लिए धन की कमी को आड़े नही आने देना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर शिक्षा के लिए अधिक बजट का प्रावधान किया जाना चाहिए, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात है कि सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि संस्थान में उपलब्ध संसाधन पुस्तकें, उपकरण आदि छात्रों को आसानी से उपलब्ध हो सकें।

(7) **उद्देश्यपरक शिक्षा**– शिक्षा का उद्देश्य निश्चित होना चाहिए। सामान्य शिक्षा केवल ज्ञान और मूल्यों के लिए ही नहीं अपितु ऐसी होनी चाहिए, जिसको पूरा करने के बाद छात्र आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर हों यानी रोजगार पा सकें और व्यावसायिक शिक्षा में भी मूल्यों की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए, जिससे सफल अभियंता और चिकित्सक के साथ ही एक श्रेष्ठ मानव भी इन शिक्षण संस्थानों से निकले।

(8) **छात्र–शिक्षक अनुपात का समुचित पालन** – शिक्षण संस्थानों में छात्रों को प्रवेश देने से पूर्व छात्र–शिक्षक अनुपात सुनिश्चित कर लेना चाहिए, जिससे शिक्षा की गुणवत्ता का स्तर उंचा रहे। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने छात्र शिक्षक अनुपात के जो आंकड़े अपनी वेबसाईट पर जारी किए हैं, उसे बनाए रखा जाए और उससे भी बड़ी बात है कि कक्षाओं में शिक्षकों की उपस्थिति को सुनिश्चित किया जाए ताकि एक ही कक्षा में एक साथ सैकड़ों की संख्या में छात्रों को पढ़ना नहीं पड़े। मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा छात्र शिक्षक संख्या का अनुपात इस प्रकार दिया गया है–

टिप्पणी

शिक्षण संस्थानों के प्रकार	शिक्षकों की संख्या	प्रति 100 शिक्षकों पर महिला शिक्षकों की संख्या	छात्र शिक्षक अनुपात
प्राथमिक शिक्षा	2684194	88	28
उच्च प्राथमिक शिक्षा	2512968	83	30
माध्यमिक शिक्षा	1286498	74	28
उच्च माध्यमिक शिक्षा	1785099	96	40
उच्च शिक्षा	1209211	64	23

(9) उचित निर्देशन और परामर्श – छात्रों को उनकी रुचि, आर्थिक स्थिति और रोजगार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उचित मार्गदर्शन और परामर्श दिया जाना चाहिए, जिससे छात्र भी संतुष्ट होकर बेहतर प्रदर्शन कर सकें और अध्ययन के बाद रोजगार पाकर अपना जीवनयापन कर सकें।

अपनी प्रगति जांचिए

3. किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास किस पर निर्भर करता है?

   (क) प्राकृतिक संसाधन (ख) मानव संसाधन

   (ग) क एवं ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं

4. शैक्षिक अवसरों की समानता का विचार किसकी देन है?

   (क) लोकतंत्र (ख) सामाजिक न्याय

   (ग) राजतंत्र (घ) इनमें से कोई नहीं

3.4 शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व और प्रबंधन में लैंगिक असमानताएं

वर्तमान समय में असमानता संबंधी अध्ययन किसी एक राष्ट्र की सीमाओं के अंतर्गत उत्पन्न होने वाली समस्याओं में सम्मिलित विषय नहीं रहा है, वरन् यह एक अंतर्राष्ट्रीय विषय हो गया है क्योंकि आधुनिक समय में विश्व का आकार लघु होता जा रहा है। वैश्वीकरण (Globalization) एवं उदारीकरण (Liberalization) की प्रक्रियाओं ने सभी राष्ट्रों की समस्याओं को एकबद्ध कर दिया है। अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लिंग संबंधी असमानता एवं समस्याओं का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। यह विषय इस तथ्य पर बल देता है कि शारीरिक संरचना के आधार पर पुरुष तथा स्त्री के मध्य विद्यमान प्राकृतिक असमानताओं को तो स्वीकार किया जा सकता है, परंतु सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर पुरुष तथा स्त्री में मतभेद करने का कोई औचित्य नहीं है। ऐसा करना मानवता तथा मानव अधिकारों की धारण के नितान्त विपरीत है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार पूरे विश्व में स्त्रियां यद्यपि विश्व जनसंख्या के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा संपूर्ण कार्य के दो–तिहाई भाग को पूरा करती हैं, परंतु इनके पास विश्व की सम्पत्ति का केवल दसवां भाग ही है। वर्तमान समय में विश्व बैंक

टिप्पणी

के द्वारा प्रतिपादित सद्–शासन (Good Governance) के सिद्धांत का संपूर्ण विश्व में जोरदार प्रचार तथा प्रसार किया जा रहा है। कानून का शासन लिंग पर आधारित भेदभाव को स्वीकार नहीं करता है। यह कानून के समक्ष सभी प्राणियों की समानता के विचार का समर्थन करता है।

3.4.1 लैंगिक असमानता : तात्पर्य, परिभाषा, कारण और प्रभाव

लैंगिक असमानता का तात्पर्य लैंगिक आधार पर महिलाओं के साथ भेदभाव से है। परंपरागत रूप से समाज में महिलाओं को कमज़ोर वर्ग के रूप में देखा जाता रहा है।

वे घर और समाज दोनों जगहों पर शोषण, अपमान और भेद–भाव से पीड़ित होती हैं। महिलाओं के खिलाफ भेदभाव दुनिया में हर जगह प्रचलित है।

वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक– 2020 में भारत 153 देशों में 112वें स्थान पर रहा। इससे साफ तौर पर अंदाजा लगाया जा सकता है कि हमारे देश में लैगिंक भेदभाव की जड़ें कितनी मजबूत और गहरी है।

परिभाषा

'लिंग' सामाजिक–सांस्कृतिक शब्द हैं, सामाजिक परिभाषा के अनुसार यह समाज में 'पुरुषों' और 'महिलाओं' के कार्यों और व्यवहारों को परिभाषित करता हैं, जबकि, 'सेक्स' शब्द 'आदमी' और 'औरत' को परिभाषित करता है जो एक जैविक और शारीरिक घटना है। अपने सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पक्षों में, लिंग पुरुष और महिलाओं के बीच शक्ति के आवंटन से सम्बद्ध है जहाँ पुरुष को महिला से श्रेंष्ठ माना जाता हैं। इस तरह, 'लिंग' को मानव निर्मित सिद्धान्त समझना चाहिये, जबकि 'सेक्स' मानव की प्राकृतिक या जैविक विशेषता हैं।

लिंग असमानता को सामान्य शब्दों में इस तरह परिभाषित किया जा सकता हैं कि, लैंगिक आधार पर महिलाओं के साथ भेदभाव। समाज में परम्परागत रुप से महिलाओं को कमजोर जाति–वर्ग के रुप में माना जाता हैं।

लैंगिक असमानता के कारण

लड़की को बचपन से शिक्षित करना अभी भी एक बुरा निवेश माना जाता हैं क्योंकि एक दिन उसका विवाह होगा और उसे पिता के घर को छोड़कर दूसरे घर जाना होगा। इसलिये, अच्छी शिक्षा के अभाव में वर्तमान में नौकरियों कौशल माँग की शर्तों को पूरा करने में असक्षम हो जाती हैं, वहीं प्रत्येक साल हाई स्कूल और इंटर मीडिएट में लड़कियों का परिणाम लड़कों से अच्छा होता हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन के आझार पर कहा जा सकता हैं कि महिलाओं के साथ असमानता और भेदभाव का व्यवहार समाज में, घर में, और घर के बाहर विभिन्न स्तरों पर किया जाता हैं।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति के बावजूद वर्तमान भारतीय समाज में पितृसत्तात्मक मानसिकता जटिल रूप में व्याप्त है। इसके कारण महिलाओं को आज भी एक ज़िम्मेदारी समझा जाता है। महिलाओं को सामाजिक और पारिवारिक रुढ़ियों के कारण विकास के कम अवसर मिलते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं

टिप्पणी

हो पाता है। पितृसत्तात्मकता व्यवस्था ने अपनी वैधता और स्वीकृति हमारे धार्मिक विश्वासों, चाहे वो हिन्दू, मुस्लिम या किसी अन्य धर्म से ही क्यों न हों, से प्राप्त की हैं।

भारत में आज भी व्यावहारिक स्तर (वैधानिक स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय के आदेशानुसार संपत्ति पर महिलाओं का समान अधिकार है) पर पारिवारिक संपत्ति पर महिलाओं का अधिकार प्रचलन में नहीं है इसलिये उनके साथ विभेदकारी व्यवहार किया जाता है।

राजनीतिक स्तर पर पंचायती राज व्यवस्था को छोड़कर उच्च वैधानिक संस्थाओं में महिलाओं के लिये किसी प्रकार के आरक्षण की व्यवस्था नहीं है।

नवीनतम आधिकारिक आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (Periodic Labour Force Survey) के अनुसार, भारतीय अर्थव्यवस्था में महिला श्रम शक्ति (Labour Force) और कार्य सहभागिता (Work Participation) दर कम है। ऐसी परिस्थितियों में आर्थिक मापदंड पर महिलाओं की आत्मनिर्भरता पुरुषों पर बनी हुई है। देश के लगभग सभी राज्यों में महिलाओं की कार्य सहभागिता दर में गिरावट देखी गई है। इस गिरावट के विपरीत केवल कुछ राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों जैसे मध्य प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, चंडीगढ़ और दमन–दीव में महिलाओं की कार्य सहभागिता दर में सुधार हुआ है।

महिलाओं के रोज़गार की अंडर–रिपोर्टिंग (Under-Reporting) की जाती है अर्थात् महिलाओं द्वारा परिवार के खेतों और उद्यमों पर कार्य करने को तथा घरों के भीतर किये गए अवैतनिक कार्यों को सकल घरेलू उत्पाद में नहीं जोड़ा जाता है।

शैक्षिक कारक जैसे मानकों पर महिलाओं की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा कमज़ोर है। हालाँकि लड़कियों के शैक्षिक नामांकन में पिछले दो दशकों में वृद्धि हुई है तथा माध्यमिक शिक्षा तक लैंगिक समानता की स्थिति प्राप्त हो रही है लेकिन अभी भी उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं का नामांकन पुरुषों की तुलना में काफी कम है।

लैंगिक असमानता के विभिन्न प्रभाव

सामाजिक क्षेत्र में– भारतीय समाज में प्रायः महिलाओं को घरेलू कार्य के ही अनुकूल माना गया है। घर में महिलाओं का मुख्य कार्य भोजन की व्यवस्था करना और बच्चों के लालन–पालन तक ही सीमित है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि घर में लिये जाने वाले निर्णयों में भी महिलाओं की कोई भूमिका नहीं रहती है। महिलाओं के मुद्दों से संबंधित विभिन्न सामाजिक संगठनों में भी महिलाओं की न्यूनतम संख्या लैंगिक असमानता के विकराल रूप को व्यक्त करती है।

आर्थिक क्षेत्र में– आर्थिक क्षेत्र में कार्यरत महिला और पुरुष के पारिश्रमिक में अंतर है। औद्योगिक क्षेत्र में प्रायः महिलाओं को पुरुषों के सापेक्ष कम वेतन दिया जाता है। इतना ही नहीं रोज़गार के अवसरों में भी पुरुषों को ही प्राथमिकता दी जाती है।

राजनीतिक क्षेत्र में– सभी राजनीतिक दल लोकतांत्रिक होते हुए समानता का दावा करते हैं परंतु वे न तो चुनाव में महिलाओं को प्रत्याशी के रूप में टिकट देते हैं और न ही दल के प्रमुख पदों पर उनकी नियुक्ति करते हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में– जब हम वैज्ञानिक समुदाय पर ध्यान देते हैं तो यह पाते हैं कि प्रगतिशीलता की विचारधारा पर आधारित इस समुदाय में भी स्पष्ट रूप से लैंगिक असमानता विद्यमान है। वैज्ञानिक समुदाय में या तो महिलाओं का प्रवेश ही मुश्किल से होता है या उन्हें कम महत्व के प्रोजेक्ट में लगा दिया जाता है। यह विडंबना ही है कि हम मिसाइल मैन के नाम से प्रसिद्ध स्वर्गीय ए. पी.जे अब्दुल कलाम से तो परिचित हैं लेकिन मिसाइल वुमेन ऑफ इंडिया टेसी थॉमस के नाम से परिचित नहीं हैं।

मनोरंजन क्षेत्र में– मनोरंजन के क्षेत्र में अभिनेत्रियों को भी इस भेदभाव का शिकार होना पड़ता है। अक्सर फिल्मों में अभिनेत्रियों को मुख्य किरदार नहीं समझा जाता और उन्हें पारिश्रमिक भी अभिनेताओं की तुलना में कम मिलता है।

खेल क्षेत्र में– खेलों में मिलने वाली पुरस्कार राशि पुरुष खिलाड़ियों की बजाय महिला खिलाड़ियों को कम मिलती हैं। चाहे कुश्ती हो या क्रिकेट हर खेल में भेदभाव हो रहा है। इसके साथ ही, पुरुषों के खेलों का प्रसारण भी महिलाओं के खेलों से ज्यादा है।

भारत के कुछ राज्यों में किये गए 'समय का उपयोग' सर्वेक्षण के अनुसार पुरुष स्त्री से कम कार्य करता है परंतु फिर भी उसका काम अधिक दिखाई देता है क्यूंकि उसके कार्य से आमदनी होती है। महिलाएं घर में घरेलु कार्य करती हैं अतः उनके कार्य की गिनती नहीं होती क्यूंकि घरेलु कार्य से कोई आमदनी नहीं होती।

3.4.2 लैंगिक असमानता के रूप

पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग एक जैविक तथ्य है। यदि इस तथ्य के साथ किसी प्रकार की असमानता जोड़ दी जाती है तो यह एक सामाजिक तथ्य बन जाता है जिसे लैंगिक असमानता कहा जाता है। अंग्रेजी के शब्द सेक्स (Sex) तथा जेण्डर (Gender) हेतु हिंदी में 'लिंग' शब्द का ही प्रयोग होता है जिसके कारण बहुधा इन्हें एक ही मान लिया जाता है। वास्तव में, दोनों में बहुत अंतर है। सेक्स शब्द से अभिप्राय स्त्रियों और पुरुषों के उन जैविक एवं भौतिक लक्षणों (जैसे क्रोमोसोम, हार्मोन, आंतरिक एवं बाह्य यौनांग इत्यादि) से है जिनका निर्धारण जन्म से ही हो जाता है। जब हम स्त्री या पुरुष की बात करते हैं तो संपूर्ण विश्व में इसका अर्थ उन शारीरिक लक्षणों से लगाया जाता है जो दोनों को एक–दूसरे से अलग करते हैं।

लिंग के विपरीत जेण्डर एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्य है जिसे हम लिंग की सामाजिक रचना भी कह सकते हैं। यह किसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम न होकर सामाजिक संरचना द्वारा निर्मित प्रक्रियाओं की सामाजिक रचना होती है। विभिन्न समाजों में सामाजिक–सांस्कृतिक अंतर होने के कारण जेण्डर के रूप में लिंग की यह सामाजिक रचना भिन्न–भिन्न प्रकार की हो सकती है। इसलिए विभिन्न समाजों में अथवा एक ही समाज के विभिन्न युगों में जेण्डर से संबंधित भूमिकाओं में भी अंतर पाया जाता है। इस नाते जेण्डर एक स्थायी एवं अपरिवर्तनीय सामाजिक रचना नहीं है। जेण्डर पर आधारित पहचान गतिशील (गत्यात्मक) होती है तथा इसे बनाए रखने में

टिप्पणी

अनेक कारकों की निरंतर अंतःक्रिया उत्तरदायी मानी जाती है। इन कारकों में सामाजिक, राजनीतिक, लैंगिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक प्रमुख हैं। जेण्डर पर आधारित वर्गीकरण का आधार लिंग पर आधारित श्रम–विभाजन है जिसके आधार पर यह परिभाषित किया जाता है कि स्त्रियों के लिए कौन–सा वांछनीय है तथा पुरुषों के लिए कौन–सा।

लिंग की सामाजिक रचना होने के नाते जेण्डर से अभिप्राय लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार, भूमिकाओं, प्रत्याशाओं तथा समाज में की जाने वाली क्रियाओं से है। प्रत्येक समाज पुरुष एवं स्त्री से अलग व्यवहार की आशा करता है, उनकी भूमिकाओं, क्रियाओं एवं गतिविधियों में भी अंतर पाया जाता है। अधिकांश समाजों में परम्परागत रूप से लिंग के आधार पर श्रम–विभाजन पाया जाता था जिसके अनुसार स्त्रियों की भूमिका घर की चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दी गई थी। पुरुष की भूमिका बाहर जाकर कार्य करने की रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय भाषा में जेण्डर से संबंधित भूमिका से अभिप्राय विभिन्न संस्कृतियों में लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार प्रतिमानों से है।

अतः यह कहा जा सकता है कि लैंगिक असमानता वर्तमान समय में जीवन का सार्वभौमिक तत्व बन गया है। विश्व के अनेक समाजों, विशेषकर विकासशील देशों में, स्त्रियों को समाज में प्रचलित विभिन्न समाजिक अधिकारों से वंचित किया जाता है। स्त्री या फेमिनिस्ट विद्वानों के अनुसार लैंगिक असमानता को स्त्री–पुरुष विभेद के सामजिक संगठन अथवा स्त्री–पुरुष के मध्य असमान संबंधों की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

भारत पुरुष प्रधान एवं पितृसत्तात्मक समाज है। इसमें अन्य सभी समाजों की तरह जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों एवं स्त्रियों में लैंगिक असमानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

पिछले 50 सालों के दौरान बाल लैंगिक अनुपात (0–6 वर्ष) में भी गिरावट का रुझान दिखता है और यह 1961 के 976 से घटकर 2011 में 914 तक लुढ़क गया है। आठ राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों जैसे अंडमान निकोबार द्वीप समूह, चंडीगढ़, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मिजोरम, पंजाब और तमिलनाडु को छोड़कर भारत के सभी राज्यों/ केंद्रशासित प्रदेशों में गिरावट दर्ज की गई है, जम्मू और कश्मीर, झारखंड, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र एवं उत्तराखंड में गिरावट बहुत ही ज्यादा है। ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में बाल लैंगिक अनुपात घटा है। विचारणीय यह है कि ग्रामीण क्षेत्र में यह गिरावट 2011 में शहरी क्षेत्र की तुलना में तीन गुना अधिक है– यह बहुत चिंता का विषय है। वह भी तब जबकि सभी सरकारों ने इसको रोकने के प्रयास किए थे।

भारत में स्त्रियों एवं पुरुषों में असमानता निम्न रूपों में देखी जा सकती है–

3.4.3 शिक्षा

प्रारम्भिक वैदिक साहित्य से हमें यह पता चलता है कि वैदिक युग में लड़की का भी उपनयन संस्कार होता था और वह भी लड़कों की भांति आश्रमों में शिक्षा के लिए जाती

टिप्पणी

थी। धीरे–धीरे उसे शिक्षा से दूर किया जाता रहा और उसके लिए एकमात्र संस्कार विवाह ही माना जाने लगा। धर्मशास्त्रों तक आते–आते यह प्रक्रिया पूरी हो गई। मुस्लिम काल में तो स्त्री पूर्णतः निरक्षर थी। नई दिल्ली स्थित 'भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद्' (ICSSR) द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि 1971 ई. में साक्षर स्त्रियां 18.4 प्रतिशत थीं, 1981 ई. में यह प्रतिशत 25 था, जबकि 1991 ई, 2001 ई. तथा 2011 ई. की जनगणनाओं के अनुसार यह क्रमशः 39.42, 54.16 तथा 65.46 प्रतिशत हो गया है। वास्तव में, यह प्रगति नगरीय क्षेत्रों में उच्च और मध्यम वर्ग के बीच अधिक हुई है।

स्त्री शिक्षा से संबंधित सबसे प्रमुख समस्या यह है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर स्त्रियों के बीच पढ़ाई छोड़ने की दर बहुत ऊंची है। गरीब मां–बाप लड़कियों को आगे पढ़ा नहीं पाते क्योंकि उन्हें या तो घरेलू काम–काज में सहायता देनी पड़ती है, अपने छोटे–बहन–भाइयों को देखना पड़ता है या बाहर धनोपार्जन में लगना पड़ता है। दूसरी समस्या यह है कि परम्परागत रूप से स्त्री की शिक्षा एक फिजूलखर्च समझा जाता है क्योंकि अंततः उसका विवाह हो जाना है और उसे वहां भी गृहस्थी का ही कामकाज देखना है। तीसरे, घर से स्कूल तक यातायात के साधन की समस्या है कि वे कैसे जाएं और आएं। चौथे, ज्यों–ज्यों वे बड़ी होने लगती हैं उनकी सुरक्षा का प्रश्न भी जटिल होता जाता है। अन्तिम रूप से, उनकी शिक्षा का पाठ्यक्रम भी जीवन की वास्तविकताओं से दूर है। वह न तो उन्हें जीविकोपार्जन के लिए तैयार करता है और न एक आदर्श गृहिणी या मां की भूमिकाओं से ही जोड़ पाता है। जहां व्यावसायिक शिक्षा का प्रबंध किया गया है वहां भी सिलाई–कढ़ाई, गृह–सज्जा, नर्सिंग, सौन्दर्यीकरण आदि तक ही उनके लिए कोर्स हैं, जो सभी उनके परम्परागत रूप तक ही सीमित हैं तथा आज के औद्योगिक युग की मांग से संबंधित नहीं है। सच तो यह है कि शिक्षा पाठ्यक्रम लिंग–भेदभाव पर आधारित न होकर स्त्री की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिए जो उनके दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के साथ–साथ उन्हें इस योग्य बना सके कि वे राष्ट्रीय विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकें।

शैक्षणिक समस्याएं– भारत में स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या उनके शैक्षणिक जीवन से संबंधित है। सन 1991 की जनगणना के अनुसार पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत जहां 64.13 था, वहीं स्त्रियों में साक्षरता का प्रतिशत केवल 39.29 पाया गया। इसका तात्पर्य है कि आज भी समाज में शिक्षा के दृष्टिकोण से लड़कों और लड़कियों के बीच एक स्पष्ट विभेद करने की प्रवृत्ति बनी हुई है। यह आंकड़े भी साक्षरता से संबंधित हैं, शिक्षा से नहीं। अधिकांश माता–पिता लड़कियों को शिक्षा देने की जगह उन्हें घरेलू काम सिखाना अधिक अच्छा समझते हैं। गांवों में लड़कियों को धार्मिक शिक्षा मिलने के कारण जीवन के आरंभ से उनमें तरह–तरह के अंधविश्वास और भाग्यवादी विचार विकसित होना आरंभ हो जाते हैं। कुछ प्रगतिशील परिवारों में भी लड़कियों के लिए उच्च शिक्षा देना इस कारण अच्छा नहीं समझा जाता कि उच्च शिक्षा के बाद उनका विवाह करना कठिन हो जाता है। यह सच है कि पिछले 15–20 वर्षों से बहुत सी लड़कियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके चिकित्सा, प्रशासन तथा अनेक दूसरे क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है लेकिन कुल जनसंख्या में यदि ऐसी स्त्रियों

के प्रतिशत को देखा जाए तो वह बिल्कुल नगण्य है। शिक्षा की कमी के कारण स्त्रियों को परिवार में भी वह सम्मान नहीं मिल पाता जो समतावादी मूल्यों के अनुसार उन्हें मिलना चाहिए।

टिप्पणी

शिक्षा की पहुंच और इसे प्रभावित करने वाले कारक

लिंग समानता अकसर उपयोग किया जाने वाला शब्द है लेकिन पर्याप्त रूप से अनुवादित नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में अवधारणा की पर्याप्त समझ से शिक्षा कार्यक्रम विकसित करना और विकसित करने के लिए शिक्षा के प्रोग्रामर को सक्षम किया जा सकता है, जिसको अच्छी तरह से प्रबंधित और मूल्यांकित किया जा सकता है। यथार्थवादी होने के लिए, इसकी रूपरेखा और अवधारणाओं को निश्चित तौर पर स्पष्ट करना चाहिए। दोनों के बीच के अंतर को पर्याप्त रूप से उजागर करते हुए, इससे संबंधित नियमों तथा संबंधित समस्याओं को भी निपटाया जाना चाहिए। लिंग समानता दोनों लड़कों/पुरुषों और लड़कियों/महिलाओं को समान अवसर तथा अधिकार देने वाली होती है, जिससे वे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विस्तार से समान रूप से योगदान और लाभ प्राप्त कर सकते हैं। समानता और निष्पक्षता शिक्षा में समानता की रीढ़ है। यूनेस्को के अनुसार, लिंग समानता तब प्राप्त होती है, जब लड़के और लड़कियां समान अनुपात में होते हैं और उनके विशिष्ट आयु समूहों के अनुसार शैक्षिक प्रणाली में शामिल होते हैं। हालांकि, सिर्फ प्रणाली में दाखिला लिया जाना ही पर्याप्त नहीं है, प्रणाली में स्तरों के माध्यम से पारित किया जाना भी उतना ही जरूरी है। नामांकन समानता की दिशा में पहला कदम लिंग निष्पक्षता लड़कियों और लड़कों के लिए उचित उपचार की प्रथा है। समाज में मौजूदा चुनौतियों से मुकाबला करने के लिए उचित उपचार कदमों की गारंटी लेनी चाहिए ताकि लिंग निष्पक्षता को हासिल किया जा सके।

निष्पक्षता का एक मूलभूत मानक सभी के लिए समान अवसर प्रदान कर रहा है और उन्हें अपनी क्षमता तथा प्रतिभा के आधार पर क्षेत्र में उत्कृष्टता प्रदान कर रहा है। मानदंड उनके लिंग, वित्तीय स्थिति या जाति पर आधारित नहीं होना चाहिए। यूएसएआईडी के प्रावधानों के अनुसार, नामांकन के समय लिंग समानता प्राप्त करने के लिए निष्पक्ष उपकरण जैसे छात्रवृत्ति स्थापित की जा सकती है। लिंग समानता प्राप्त करने का दूसरा तरीका उन विषयों में अतिरिक्त कोचिंग देना है जहां छात्रों की कमी है। उदाहरण के लिए, यूएसएआईडी/मिस्र ने लैंगिक असमानता को कम करने के लिए 28,000 लड़कियों को शैक्षणिक व्यवस्था में दाखिला दिलाया है। तंजानिया में, यूएसएआईडी ने छात्रों को अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए, प्रोत्साहित करने के लिए विज्ञान शिविर प्रदान किया। इस तरह की निष्पक्ष योजनाएं बाद में लम्बे समय में लैंगिक समानता प्राप्त करने में मदद करती हैं। इन प्रावधानों को पर्याप्त रूप से लागू किया जाना चाहिए और शिक्षकों व समाज को अपने अस्तित्व के बारे में पता होना चाहिए। लैंगिक समानता प्राप्त करने की दिशा में प्रगति की एक छानबीन आवश्यक है और इसके लिए, पुरुषों और महिलाओं की गतिविधियों में अंतर की स्थिति को स्पष्ट करना चाहिए।

यूएसएआईडी के काम के अनुसार, लड़कियों को शिक्षित करने के लिए एक सफल योजना में समता और साथ ही निष्पक्षता के मामले में समानता पर ध्यान देना

आवश्यक है। एजेंसी ने टिप्पणी की है कि लड़कियों की ओर से बदलावों को शिक्षा सुधार की एक सुसंगत समग्र रणनीति में एकीकृत किया जाना चाहिए।

टिप्पणी

गुणवत्ता और समानता के बीच संबंध

विद्यालय में नामांकन पहला कदम है, लेकिन उसके बाद, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है। लेकिन यह अकेले समानता स्थापित नहीं करेगा। दोनों लिंगों के लिए समान अवसर प्रदान करना सबसे महत्वपूर्ण है। सभी छात्रों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की गारंटी देने के लिए पहुंच, गुणवत्ता और प्रासंगिकता के बीच संतुलन स्थापित करने का एक साधन है। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए लिंग–संवेदनशील पाठ्यक्रम और शिक्षण तकनीक उपलब्ध कराने के द्वारा यह संभव हो सकता है।

शिक्षा में गुणवत्ता और समानता निकटता से जुड़े हैं। जो छात्र गरीब परिवारों के हैं, सबसे अधिक संभावना में, उनके माता–पिता अशिक्षित होंगे और स्वयं बहुत कुछ नहीं पढ़ पाएंगे। इसलिए, उन्हें शिक्षक से अधिक ध्यान देने की जरूरत है। पर्याप्त शिक्षा की अनुपस्थिति में, ये छात्र बुरी तरह से प्रदर्शन और शिक्षाविदों में रुचि खोने के लिए बाध्य होते हैं। लड़कियों में लड़कों की तुलना में शिक्षकों की गुणवत्ता से प्रभावित होने की अधिक संभावना होती हैं। कई अवसरों पर, शिक्षा आज के रोजगार और वयस्कता के लिए छात्रों को तैयार करने में असमर्थ होती है क्योंकि जीवन जीने के लिए और आत्मनिर्भर बनने के लिए उपयुक्त कौशल प्रदान नहीं किए जाते हैं।

सीखने के तरीकों में समानता

सीखने के तरीकों में समानता, इसमें लड़कों और लड़कियों दोनों के लिए समान सीखने के अवसर प्रदान करना शामिल है। इस प्रक्रिया में भी पर्याप्त ध्यान देने और दोनों को समान रूप से प्रबंधित करना शामिल है। दोनों के लिए एक ही पाठ्यक्रम के लिए प्रावधान आवश्यक है और इस आधार पर शिक्षण शैली को दोनों को समायोजित करने के लिए अनुकूलित किया जाना चाहिए। संपूर्ण शिक्षण प्रक्रिया किसी भी प्रकार के लिंग पूर्वाग्रह को प्रतिबिंबित नहीं करनी चाहिए और लेबल तथा टाइपकास्ट से मुक्त होनी चाहिए। दोनों का अकादमिक और गैर–शैक्षिक कौशल का पता लगाने के लिए उपयोग होना चाहिए।

शैक्षिक उपलब्धियों की समानता

अकादमिक उपलब्धियों की समानता एक ऐसी प्रणाली को संदर्भित करती है जिसमें लड़कियों और लड़कों को अपने सपनों को पूरा करने तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए समान अवसर मिलना चाहिए। ये उपलब्धियां विद्यार्थियों के प्रयासों और प्रतिभाओं के अनुसार पूरी तरह से होनी चाहिए तथा उनके लिंग से प्रभावित किसी भी पूर्वनिर्धारित धारणा पर आधारित नहीं होनी चाहिए। स्कूलों को छात्रों के हितों को प्रोत्साहित करना चाहिए और मूल्यांकन के सेट पैटर्न के आधार पर उनके प्रदर्शन का मूल्यांकन करने की हमेशा कोशिश नहीं करनी चाहिए। हालांकि मूल्यांकन प्रणाली आवश्यक है, यह केवल मापदंड नहीं होना चाहिए। ये प्रतिबंधित मूल्यांकन प्रतिभा और आत्मविश्वास के स्तर को रोक सकते हैं तथा छात्रों के दिमागों में संदेह पैदा कर सकते हैं। लड़कियों और लड़कों दोनों को अपने कैरियर की वरीयता का चयन करने के लिए समान

टिप्पणी

स्वतंत्रता होनी चाहिए और उन्हें प्राप्त करने में सक्षम होने के समान अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।

2006 में अंतर्राष्ट्रीय छात्र आकलन कार्यक्रम (पीआईएसए) द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के मुताबिक, इस आयाम में लैंगिक समानता को प्राप्त करने में काफी अंतर था क्योंकि लड़कियों और लड़कों का प्रदर्शन उनके प्रदर्शन के आधार पर किया जा रहा था। गणित के लिए कम रुचि को दर्शाने के लिए लड़कियां हमेशा ही रहीं थीं, जबकि लड़कों ने गणित में बेहतर स्कोर बनाया। अकेले टेस्ट स्कोर को संकेतक नहीं माना जाना चाहिए। यह पता लगाया जाना चाहिए कि दोनों समान अवसर प्राप्त कर रहे हैं और कभी–कभी अगर प्रदर्शन एक ही स्तर पर है, तो यह जरूरी नहीं कि न्यायसंगत उपचार का संकेत मिलता है। इन पहलुओं ने कक्षा गतिशीलता की पर्याप्त रूप से व्याख्या करने के महत्व पर जोर दिया और यह पता लगाने की कोशिश की कि कैसे इन पहलुओं ने भविष्य के विकल्प और कैरियर विकल्प के सही चयन को प्रभावित किया।

3.4.4 रोजगार

भारत में लिंग भेद कोई नया शब्द नहीं है। यह परिवार और मानव जीवन के कई पहलुओं से स्पष्ट होता है। लिंग भेद न केवल महिलाओं के विकास में अवरोध है, बल्कि उनके दिन–प्रतिदिन के जीवन में अवरोध का मुख्य कारक भी है। एक ओर जहां परिवार और समाज में महिलाओं तथा पुरुषों की सामाजिक भूमिका अलग–अलग है, वहीं दूसरी ओर आज महिलाएं पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर समानता की नई परिभाषा भी लिख रही हैं। वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम (WEF) की ग्लोबल जेंडर गैप रिपोर्ट 2018 में, भारत लैंगिक अंतर सूचकांक पर 149 देशों में से 108 वें स्थान पर है। भारतीय समाज को एक पुरुष प्रधान समाज के तौर पर जाना जाता है, जिसके कारण पितृसत्तात्मक एवं रूढ़िवादिता प्रचलित होने के कारण महिलाओं को न केवल समानता के लिए घर परिवार में संघर्ष करना पड़ता है, अपितु घर से बाहर भी कामकाज के क्षेत्र में कई तरह से असमानता का सामना करना पड़ता है। विश्व रोजगार एवं सामाजिक दृष्टिकोण 2017 की रिपोर्ट के अनुसार, महिलाओं के लिए वर्तमान वैश्विक श्रम बल भागीदारी दर 49% के करीब है। पुरुषों के लिए, यह 75% है। भारत में महिलाओं की श्रम बल भागीदारी दर लगभग 27 % तथा पुरुषों के लिए 78 % है। इन आंकड़ों से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि हमारा देश महिलाओं को कामकाज के क्षेत्र में समानता देने के उद्देश्य को पाने में सफल नहीं हो पाया है।

महिलाओं की रोजगार संबंधी चुनौतियां

रोजगार संबंधी क्षेत्र में महिलाओं के सामने कई कठिनाइयां व चुनौतियां आती हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार है–

रोजगार के सीमित अवसर

महिलाओं की रोजगार संबंधी चुनौतियों में सबसे अहम चुनौती उनको मिलने वाले रोजगार के अवसरों से है। मुख्यतया यह देखा गया है कि महिलाओं को उनकी इच्छा व योग्यता के अनुसार रोजगार मिलने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि

टिप्पणी

हमारे समाज में आज भी लिंग भूमिका के आधार पर रोजगार के विकल्पों को देखा जाता है तथा यह भी निर्धारित किया जाता है कि किस प्रकार का रोजगार महिलाओं के लिए सही व उचित रहेगा। ऐसे बहुत से कार्य क्षेत्र हैं जिन्हें हमारा समाज आज भी पुरुषों के लिए सही तथा महिलाओं के काम करने के लिए कठिन क्षेत्र के रूप में जानता है। जहां पर महिलाओं को न केवल रोजगार के विकल्प में अपितु उससे संबंधित समय सीमा को लेकर भी कई प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। ऐसे क्षेत्र जहां देर रात तक महिलाओं को कार्य करना पड़े, ऐसे क्षेत्रों को महिलाओं के लिए उचित नहीं समझा जाता है।

असमान वेतन व्यवस्था

लिंगभेद प्रत्यक्ष रूप से कामकाजी महिलाओं के लिए इस प्रकार भी देखने को मिलता है कि समान कार्य के लिए समान रूप से मेहनत करने पर भी महिलाओं को कई क्षेत्रों में पुरुषों के समान वेतन नहीं दिया जाता है और इस तरीके की असमानता गैर–सरकारी कार्यों से जुड़ी संस्थाओं में अधिक देखने को मिलती है। मार्च 2019 में प्रकाशित मॉन्स्टर सैलरी इंडेक्स (MSI) की रिपोर्ट के अनुसार, भारत में महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा 19% कम मेहनताना पाती हैं। यह समाज में व्याप्त एक प्रकार की रूढ़िवादिता है, जिसमें महिलाओं की योग्यता को पुरुषों के मुकाबले कम माना जाता है और इस प्रकार के कारणों से उन्हें कम वेतनमान पर कार्य करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

कार्यस्थल पर मानसिक एवं यौन उत्पीड़न की समस्या

महिलाओं के रोजगार से संबंधित कई ज्वलंत मुद्दों में एक सबसे बड़ा मुद्दा कार्यस्थल पर महिलाओं के मानसिक एवं यौन उत्पीड़न से भी जुड़ा हुआ है। स्टेटस ऑफ वूमेन इन इंडिया की एक रिपोर्ट के अनुसार लगभग 10% महिलाएं अपने कार्यस्थल पर मानसिक एवं यौन उत्पीड़न का शिकार होती हैं। कई बार महिलाओं के काम करने की मजबूरी का फायदा उठाकर या किसी प्रकार का प्रलोभन देकर महिलाओं को मानसिक और शारीरिक तौर पर उत्पीड़न का शिकार बनाया जाता है। महिलाओं की सुरक्षा के लिए बने कड़े नियमों एवं कानूनों के होने के बावजूद भी यह स्थिति तब भयानक रूप लेती है जब महिलाएं समाज के डर, शर्म और लिहाज के कारण तथा अपनी नौकरी को बचाने के लिए इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाती हैं। इस बात का आकलन इस बात से लगाया जा सकता है कि महिला एवं बाल विकास मंत्रालय की एक रिपोर्ट के अनुसार कार्यस्थल पर यौन शोषण के कुल दर्ज केस में 2014 से 2017 तक 54% की बढ़ोतरी देखी गई।

निर्णय में भागीदारी की कमी

कार्यस्थल में लिंग भेद की असमानता इस बात से भी उजागर होती है कि महिलाओं को निर्णय लेने की स्थिति में कम भागीदार बनाया जाता है जिससे कि महिलाएं अपनी योग्यता अनुसार अपने विचार सामने रखने में कई बार अपने आप को असमर्थ पाती हैं।

टिप्पणी

सुरक्षा संबंधी कारण

महिलाओं के रोजगार से संबंधित मुख्य चिंता का विषय उनकी सुरक्षा को लेकर भी है जिसके चलते कई बार महिलाओं को परिवार से काम करने की अनुमति नहीं मिल पाती है। ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं जहां पर महिलाएं देर तक काम के लिए रुकती हैं तथा उन्हें कार्यस्थल से घर आने–जाने की सुविधाओं का अभाव होने के कारण सुरक्षा संबंधी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

परिवार से सहयोग की कमी

लिंग भेद के कारण कई महिलाओं को परिवार से उचित सहयोग न मिल पाने के कारण भी संघर्ष की स्थिति से गुजरना पड़ता है क्योंकि उन्हें अपने कार्यस्थल के कामकाज के साथ–साथ घर संबंधी कार्य को भी उतनी ही प्राथमिकता के साथ पूरा करना होता है। अकसर महिलाओं द्वारा किए गए कार्य को उचित महत्व न मिल पाने के कारण महिलाओं में तनाव और चिंता की स्थिति अधिक देखने को मिलती है।

गैर सरकारी संस्थानों में अवकाश संबंधी परेशानी

रोजगार के संबंध में महिला एवं पुरुष के बीच अंतर गैर सरकारी संस्थानों में अधिक देखने को मिलता है, जहां पर अकसर महिलाओं को अवकाश संबंधी परेशानियों का भी सामना करना पड़ता है। जैसे कि मातृत्व अवकाश के लिए सरकार के द्वारा कड़े नियम बनाए जाने के बावजूद भी गैर सरकारी संस्थान महिलाओं को यह सुविधा पूरे तरीके से नहीं दे पाते हैं तथा इसके चलते महिला के कार्य की गुणवत्ता पर प्रश्न चिह्न एवं उनके मेहनताने में कटौती भी देखने को मिलती है।

उपर्युक्त बिंदुओं के अलावा भी कई ऐसे विषय हैं जो हमारे समाज में लिंग भेद को बढ़ावा देते हैं तथा जिसका सीधा असर महिलाओं के रोजगार के क्षेत्र में भी देखने को मिलता है। जब हम महिला व पुरुष में समानता की बात करते हैं, तो हमें यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि यह समानता महिला व पुरुष से संबंधित प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिले तथा इसके लिए सरकार द्वारा बनाए गए नियम एवं कानूनों को सख्ती से लागू किया जाए। इसके लिए एक उत्तम उदाहरण शिक्षा का माध्यम हो सकता है जिसके जरिए समाज में लोगों को लिंग भेद द्वारा उत्पन्न और असमानता से होने वाले नुकसान से अवगत कराया जाए तथा समाज में महिलाओं को रोजगार के उचित अवसर दिए जा सकें।

3.4.5 नेतृत्व

नेतृत्व शब्द संस्कृत की 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'के नीयते यः जनेन्' अर्थात् जो दूसरों को आगे ले जाने की क्षमता रखता है। जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को आगे बढ़ाने, मनोवांछित पथ पर चलाने की क्षमता रखता हो, वही नेता कहलाता है। आंग्ल भाषा में नेता (Leader) का अर्थ है–(One who leads) अर्थात जो मार्गदर्शक, अगुआ या नायक है। हर परिवार, समाज और राष्ट्र में नेतृत्व के विकास पर बहुत बल दिया जाता है। 'नेता' एवं नेतृत्व शब्द के शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करने का अर्थ यही है कि जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को मार्ग दिखाने अथवा अगुआ होकर आदर्श व्यवहार करने की

टिप्पणी

क्षमता रखता है, वही सचमुच नेता कहला सकता है। जो व्यक्ति स्वयं आदर्श रूप होकर अन्य व्यक्तियों को आदर्श की ओर अग्रसर करता है, वही नेता हो सकता है।

परिभाषाएं– विभिन्न विद्वानों ने नेतृत्व को अपने–अपने ढंग से परिभाषित किया है। इनमें से कुछ परिभाषाएं विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं–

डोनेल के अनुसार– "किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्प्रेषण के माध्यम द्वारा व्यक्तियों को प्रभावित कर सकने की योग्यता ही नेतृत्व कहलाती है।"

चेस्टर आई बर्नार्ड के अनुसार– नेतृत्व का आशय व्यक्ति के व्यवहार के उस गुण से है, जिसके द्वारा वह अन्य लोगों को संगठित प्रयास से संबंधित कार्य करने में मार्गदर्शक का कार्य करता है।"

के. यंग के अनुसार– "नेतृत्व प्रभुत्व का एक प्रकार है जिसमें अनुयायी कम या अधिक इच्छा में किसी अन्य व्यक्ति का निर्देशन एवं नियंत्रण स्वीकार करते हैं।"

आर.एम. स्टॉगडिल के अनुसार– "नेतृत्व एक संगठित समूह की लक्ष्य–निर्धारण एवं लक्ष्य प्राप्ति को प्रभावित करने की प्रक्रिया है।"

हैमन के अनुसार– "नेतृत्व वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कार्यकारी अधिकारी दूसरे व्यक्तियों के कार्यों, संगठन और व्यक्ति दोनों के बीच इस प्रकार की मध्यस्थता करे कि दोनों को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो, विशिष्ट लक्ष्यों को चुनने और उन्हें पाने में विवेकपूर्ण ढंग से निर्देश देता है, पथ–प्रदर्शन करता है तथा प्रभावित करता है।"

नेतृत्व संगठन के निर्देशों का यन्त्रवत पालन कराना मात्र न होकर अनुयायियों को इस प्रकार प्रेरित करने की योग्यता है कि वे साधारण रूप से किए जाने वाले प्रयासों से बढ़कर कुछ अतिरिक्त प्रयास कर सकें। वास्तव में नेतृत्व वह है जो समूह की गतिविधियों में भाग लेने हेतु व्यक्ति को प्रभावित करता है। यह वह क्षमता है जो इस बात का भी पता लगाती है कि समूह के किन कार्यकर्ताओं के ऊपर पर्यवेक्षण रखने की आवश्यकता है और कौन से वह लोग हैं जिन्हें अपने व्यवसाय की न्यूनतम आवश्यकताओं हेतु प्रशिक्षित किया जाना है।

नेतृत्व के लिए अनुयायियों का होना नितान्त आवश्यक है। इसके अभाव में नेतृत्व की कल्पनामात्र भी व्यर्थ है। अनुयायियों की संख्या जितनी अधिक होती है, नेतृत्व का महत्व उतना ही बढ़ जाता है। जॉर्ज आर. टेरी के अनुसार– ''नेतृत्व पारस्परिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लोगों को स्वेच्छा से प्रयत्न करने हेतु प्रभावित करने की क्रिया है।" नेता तथा उसके अनुयायियों के बीच क्रियाशील संबंध होते हैं अर्थात नेता किसी कार्य के संबंध में अपने अनुयायियों का सक्रिय रूप से नेतृत्व करता है। नेता अपने अनुयायियों के समक्ष उच्च आदर्श भी प्रस्तुत करता है ताकि उसके समर्थक उसके आचरण का अनुसरण कर सके। एल.एफ. उर्विक के अनुसार– ''अधीनस्थों को अपने नेता का कहना अथवा लिखना प्रभावित नहीं करता, अपितु वह क्या कार्य करता है तथा किस प्रकार का आचरण करता है, यह प्रभावित करता है। नेतृत्व, संगठन में व्याप्त परिस्थिति एवं वातावरण पर निर्भर करता है। अनुकूल परिस्थितियों में नेतृत्व सफलता प्राप्त करता है, जबकि विपरीत परिस्थितियों में इसके असफल होने की सम्भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

टिप्पणी

नेतृत्व की अवधारणा

जब हम नेतृत्व के संबंध में विकसित होने वाले विचारों पर दृष्टिपात करते हैं तो हम इन विचारों को तीन भागों में बांट सकते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. **नेतृत्व गुण की अवधारणा**– इस अवधारणा के अंतर्गत यह माना जाता है कि नेतृत्व की क्षमता रखने वाले व्यक्तियों में कुछ गुण या विशेषताएं ऐसी होती हैं जो सामान्य व्यक्तियों में नहीं होती। स्टॉगडिल ने अध्ययन के आधार पर कहा कि नेतृत्व का संबंध अधोलिखित गुणों से धनात्मक होता है। इनमें निम्न बिन्दु होते हैं–
   1. कार्य के प्रति लगन भाव
   2. अगुवाई करना
   3. सामाजिकता
   4. आत्म–विश्वास
   5. कार्य निकालने के तरीके जानना
   6. ख्याति
   7. सावधानी रखना
   8. अनुकूलता।

   मायर्स ने नेतृत्व के लिए जिन गुणों का होना आवश्यक माना है, वे हैं–
   1. अगुवाई करना
   2. अन्तर्दृष्टि या सूझबूझ
   3. महत्वाकांक्षी
   4. सहयोग
   5. संवेगात्मक स्थिरता
   6. निरन्तरता
   7. सम्प्रेषण योग्यता
   8. लोकप्रियता
   9. निर्णय शक्ति

   नायकत्व के लक्षणों के अध्ययन में नई दिशा समाजशास्त्रीय आचार्यों ने प्रदान की है। जॉन के. हैम्पडिल ने अपनी पुस्तक 'ए सिचुएशन फैक्टर्स इन लीडरशिप' में पन्द्रह समूहों के परिप्रेक्ष्य में नामकत्व को देखा है। अपने अध्ययन में उन्होंने दो गुणों को बहुत महत्वपूर्ण माना है–

   (क) नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि वह जिन व्यक्तियों के साथ काम कर रहा है, उनसे समरूपता स्थापित करे। समूह के सदस्यों को कभी भी ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिए कि उनका नेता उनके समूह का अंग नहीं वरन एक बाहरी तत्व है जो अपनी उपस्थिति से समूह की गतिविधियों पर नकारात्मक प्रभाव डालता है।

   (ख) समूह के सदस्यों की सन्तुष्टि जिस नेता से होगी उसका नेतृत्व उतना ही सफल होगा।

टिप्पणी

2. **नेतृत्व की व्यवहारवादी अवधारणा**– हेमिल ने नेतृत्व की इस धारणा का विकास किया और उसने कहा कि नेतृत्व ऐसा कार्य है जिसके द्वारा वह समूह की समस्याओं को सुलझाने हेतु परस्पर व्यवहार करते हैं। उसने नेतृत्व के निम्न आयाम निर्धारित किए हैं–
   (i) समूह के सदस्यों की परस्पर समानता
   (ii) सदस्यों में साथ रहने की भावना
   (iii) समूह के सदस्यों की संख्या
   (iv) समूह में व्यवहार करने की सीमा का निर्धारण
   (v) समूह के सदस्यों में परस्पर घनिष्ठता की सीमा
   (vi) समूह के सदस्यों में स्थायीपन की सीमा
   (vii) वह सीमा जिसमें समूह अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखता है।
   (viii) दूसरे समूहों से स्वतन्त्रता की सीमा
   (ix) वह सीमा जिसमें समूह अपने सदस्यों की सदस्यता बिल्कुल अलग से रखता है।
   (x) समूह के स्पष्ट व निश्चित लक्ष्य
3. **नेतृत्व की परस्पर व्यवहार–क्रिया की अवधारणा**– नेतृत्व किसी पद या स्थिति तथा जन्म से संबंधित नहीं है, वरन् यह समूह में परस्पर व्यवहारजन्य है। नेतृत्व का पहले से निर्माण नहीं होता, वरन् परस्पर व्यवहार और परिस्थितिवश नेतृत्व का जन्म होता है। कुछ विचारकों का मत है कि समय व परिस्थिति किसी व्यक्ति को नेता बना देती है। परिस्थितियां नेतृत्व का विकास करने में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। इस विचारधारा को विकसित करने में होमन्स का विशेषरूप से योगदान है। उनका मानना था कि नेतृत्व की क्षमता का विकास रिक्त परिस्थितियों में नहीं होता। व्यक्ति समूह के साथ क्रिया–प्रतिक्रिया करता है तो जब उसे ऐसा लगने लगता है कि लोग उसकी बात को मान रहे हैं तो उसमें धीरे–धीरे नेतृत्व की क्षमता विकसित होने लगती है। परस्पर व्यवहार क्रिया सिद्धांत के अंतर्गत यह आवश्यक है कि समूह के सदस्यों को उनके उद्देश्य, कार्य आदि निश्चित करने में नेतृत्व अपने दायित्वों को पूरा करे। समूह में व्यवहार को प्रभावित करने वाले तीन कारक होते हैं– 1. क्रिया 2. अन्तःक्रिया 3. भावना।

नेतृत्व की आवश्यकता एवं महत्व

किसी भी संगठन अथवा समूह के उद्देश्य–प्राप्ति में नेतृत्व की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। समूह छोटा हो या बड़ा, नेता के बिना नहीं चल सकता। कोई भी समूह अपने कार्यों का सम्पादन नेता के माध्यम से ही करता है। जिस समूह अथवा समाज का कोई नेता नहीं होता वह समूह दिशाहीन तथा उद्देश्यहीन हो जाता है। समूह शक्ति–प्रदर्शन का भी प्रतीक बन चुका है। इसके माध्यम से समूह वैवाहिक परिचय आदि की गतिविधियां भी करते हैं तथा अधिकारों की आवाज भी उठाते हैं। आजकल हर जाति–उपजाति के अपने–अपने संगठन हैं, सभी में नेतृत्व पदाधिकारियों के माध्यम से मौजूद रहता है।

टिप्पणी

समाज के विभिन्न क्षेत्रों यथा राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक, व्यापारिक अथवा प्रशासनिक सभी में योग्य, दक्ष, अनुभवी, कल्पनाशील, रचनात्मक, दूरदर्शी तथा गत्यात्मक नेतृत्व की आवश्यकता होती है। इस प्रकार का नेतृत्व अपने–अपने क्षेत्र का समुचित विकास करने में सफल होता है। आजकल शिक्षकों के भी हर स्तर प्राथमिक, माध्यमिक तथा कॉलेज स्तर पर अनेक संघ बने हुए हैं जो शिक्षकों की समस्याओं को शासन के सम्मुख रखकर उनके निराकरण का प्रयास करते हैं। आजकल देश में विभिन्न समाजों, सम्प्रदायों, संगठनों तथा संस्थाओं की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। नेताओं की संख्या का भी उसी अनुपात में बढ़ना आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज में नेतृत्व की आवश्यकता एवं महत्व निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। निम्न बिन्दुओं के आधार पर नेतृत्व की आवश्यकता और महत्व को समझा जा सकता है–

1. **सामाजिक परिवर्तन के अनुकूल शिक्षा–विकास**– शिक्षा का क्षेत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है। देश की रचनात्मक तथा विकासात्मक अवस्था के मूल में शिक्षा ही होती है। उत्तम तथा समाजोपयोगी शिक्षा की व्यवस्था शैक्षिक नेतृत्व के अभाव में संभव नहीं है। शिक्षा–विभाग के अंतर्गत असंख्य शिक्षण–संस्थाएं समाज–कल्याण में सहायक होती हैं। छात्रों तथा शिक्षकों की कार्यक्षमता को उचित दिशा–निर्देश के लिए शैक्षिक नेतृत्व की परमावश्यकता होती है। सामूहिक प्रयत्नों को वांछित उद्देश्यों की दिशा में संचालित करने के लिए प्रबंधन या प्रशासन की आवश्यकता होती है। शैक्षिक नेतृत्व के अभाव में कोई भी समूह व्यवस्थित व संगठित नहीं रह सकता। अव्यवस्था की दशा में समूह के सदस्य अलग–अलग व्यक्तिगत रूप में कितना ही अच्छा कार्य क्यों न करें, सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जरूरी है कि प्रशासक या प्रबंधक एक प्रभावशाली नेता के रूप में उनकी क्रियाओं का समन्वय करे। एक प्रभावी तथा गत्यात्मक नेतृत्व बदलती हुई रीति–नीतियों व परिस्थितियों के अनुरूप युक्तियां अपनाकर समूह के सदस्यों को उद्देश्य के प्रति आस्थावान बनाए रखता है, उन्हें अभिप्रेरित करता है।

   परिवर्तन प्रकृति के नियम हैं। समाज, शिक्षा, साहित्य आदि सब कुछ परिवर्तन की प्रक्रिया के दौर से गुजरते रहते हैं। समाज की मान्यताओं, मूल्यों तथा धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का साधन माना जाता है तथा शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुगमन भी करती है। समाज के अनुरूप किस प्रकार की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए तथा शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, व्यवस्था, शिक्षण–विधि आदि में किस प्रकार का परिवर्तन होना आवश्यक है, इन सभी बातों का ध्यान शैक्षिक नेतृत्व संभालने वाले व्यक्तियों को करना पड़ता है। विद्यालयों, महाविद्यालयों में आवश्यक नीतियों तथा रीतियों का क्रियान्वयन शिक्षक नेता ही कर सकते हैं। यह क्रियान्वयन प्राचार्यों के सहयोग से चलाया जाता है।

टिप्पणी

2. **संस्कृति के विकास हेतु**– एक नेता को उस समय ही सफल कहा जा सकता है जब वह अपने समूह में भी कार्य–संस्कृति का विकास कर दे। उसके निर्देशन में अनुयायी अपने–अपने कार्य में संलग्न रहते हुए अपेक्षित रूप से दायित्व–निर्वाह करते हैं। देखा जाता है कि कर्मठ नेता की उपस्थिति में समूह अपने कार्यों को भली प्रकार सम्पन्न करता है। समूह अपने नेता से प्रेरित होकर खुशी–खुशी नई–नई उद्‌भावनाओं के साथ कार्य करता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी देखा जाता है कि प्रधानाचार्य की कर्तव्य–निष्ठा, प्रेरणा और नियंत्रण से वहां का पूरा वातावरण कार्य–संस्कृति से अनुप्राणित होने लगता है। एक सफल नेतृत्व एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करता है कि सभी कार्यकर्ता सहजरूप से, बिना किसी दबाव या तनाव के अपने–अपने प्रयासों द्वारा संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। शिक्षकों के मूल्यों तथा अभिवृत्तियों में इस ढंग से स्थायी परिवर्तन आ जाते हैं कि नेता की अनुपस्थिति से प्रभावित हुए बिना वे अपने कार्यों में पूर्ववत संलग्न रहते हैं।

   विचारकों का मत है कि नेतृत्व मूलतः अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण तथा व्यवहार को इस प्रकार प्रभावित करता है कि वे स्वयमेव पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उत्साहपूर्वक जुटे रहें। किसी संगठन में औपचारिक नेता या प्रशासक का मूल दायित्व अपने अधीनस्थों द्वारा कार्य सम्पन्न कराना है और ऐसा वह उन लोगों को प्रभावशाली ढंग से प्रभावित करके ही कर सकता है। मानव–प्रकृति तथा व्यवहार की गहन समझ रखने वाला कुशल नेता ही समूह के माध्यम से लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफल हो पाता है। साथ ही उसे अन्य प्रबंधकीय कार्यों जैसे नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय, नियंत्रण तथा मूल्यांकन आदि में भी दक्ष होना जरूरी है।

3. **सामूहिक कार्यों में समन्वय हेतु**– समाज में सभी व्यक्ति एक समान नहीं होते। विद्यालयों में देखा जाता है कि कुछ अध्यापक कार्यों के प्रति समर्पित होते हैं, अपनी कक्षाएं समय पर लेते हैं तो कुछ बहुत लापरवाह होते हैं। कुछ लेखन कार्य में निपुण होते हैं तो कुछ मंच पर भाषण देने में। कुछ मितभाषी होते हैं तो कुछ वाचाल। कुछ विनम्र और शांतस्वभावी होते हैं तो कुछ झगडालू। इन विभिन्नताओं के रहते हुए सभी विद्यालय के सामूहिक कार्य–कलापों में सभी शिक्षकों को एक सांचे में ढालने तथा सबकी क्षमताओं का उपयोग करने और पारस्परिक एकता एवं सद्‌भाव को बनाए रखने के लिए किसी एक योग्य नेता की आवश्यकता होती है। विद्यालय के प्रधानाचार्य नेतृत्व के उत्तरदायित्व को समझते हुए इस कार्य का कुशलतापूर्वक सम्पादन कर सके हैं। शैक्षिक नेतृत्व की यह अपूर्व विशेषता होती है कि व्यक्तियों की विरोधी विचारधाराओं के होते हुए भी उन्हें एक उद्देश्य तथा एक योजना में तल्लीन रहने के लिए प्रेरित व उत्साहित कर देता है।

टिप्पणी

4. **नियोजन तथा व्यवस्था की सफलता के लिए**– शिक्षा के क्षेत्र में नवीन तथा उपयोगी कार्यों के लिए योजना का निर्माण करना होता है। कार्य सफलता के लिए संगठन और कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। कार्यान्वयन में कोई व्यक्ति विरोध या उदासीनता न दिखाए, इसके लिए सजग रहना पड़ता है। वास्तव में उचित नियोजन तथा व्यवस्था नेतृत्व के अभाव में संभव नहीं है। एक प्रभावशाली नेता व्यवस्था तथा रीति–नीति का विरोध करने वाले व्यक्तियों को शीघ्र ही अपने प्रभाव से सहमत कर लेता है। शिक्षा विभाग के अधिकारियों की प्रशासनिक योजना तभी सफल होती है, जब उनमें शैक्षिक नेतृत्व की योग्यता होती है। विद्यालय की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि विद्यालय किस प्रकार संचालित होता है। नेतृत्व वास्तव में वह प्रक्रिया है जिसमें नेता समूह के सदस्यों पर अपना प्रभाव डालते हैं व उन्हें विशिष्ट उद्देश्यों की ओर दिशा निर्देशन देते हैं।

5. **शैक्षिक स्तर की निरन्तर प्रगति हेतु**– शिक्षा के क्षेत्र में नवीन अनुसन्धानों, उपागमों तथा नई विधियों का बड़ा महत्व होता है। शैक्षिक नेता से यह आशा की जाती है कि वह नवीनतम शैक्षिक सामग्री से पूर्णतया परिचित रहे तथा अपने आश्रित व्यक्तियों को भी उनसे अवगत कराए। उत्तम शैक्षिक नेता अपने स्टॉफ की शैक्षिक योग्यताओं में वृद्धि करने में भी रुचि लेता है। अध्यापकों को ओरिएंटेशन, कार्यशाला तथा सेमिनार्स में भेजना, उनका अनुसंधान कार्य करना, आलेख तथा पुस्तक आदि लिखना वास्तव में शैक्षिक स्तर को ऊंचा करता है। कुछ स्कूलों के शिक्षक सांस्कृतिक, साहित्यिक, खेलकूद आदि क्षेत्रों में प्रसिद्ध हो जाते हैं। वास्तव में इन विशिष्ट क्षेत्रों की ख्याति प्रधानाचार्य की विशेष प्रवृत्ति पर ही अवलम्बित होती है। सुयोग्य प्राचार्य महाविद्यालय की सर्वांगीण उन्नति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और अपने संस्थान को उन्नति के शिखर पर पहुंचाकर ही दम लेते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा विभाग के आदेशानुसार तथा निरीक्षकों के दिए गए सुझावों के अनुसार जैसा शैक्षिक स्तर होना चाहिए, उसे निर्मित करने तथा बनाए रखने के लिए योग्य शैक्षिक नेतृत्व की ही आवश्यकता होती है।

6. **लक्ष्य प्राप्ति हेतु कार्यारम्भ की प्रवृत्ति के विकास हेतु**– सभी व्यक्तियों में कार्य करने की शक्ति होती है और समय तथा अवसर मिलने पर वे उसका परिचय भी देते हैं, किन्तु असफलता के भय के कारण कार्य प्रारम्भ नहीं कर पाते। किसी कार्य में पहल करने तथा अन्य व्यक्तियों को लक्ष्य–प्राप्ति में जुटाने की अद्‌भुत योग्यता नेता में ही होती है। नेता ही विभिन्न कार्यों, योजनाओं की पहल करके उन्हें अंजाम तक पहुंचाते हैं। प्रधानाचार्य स्वयं तो कार्यारम्भ करने का साहस रखते ही हैं, अन्य व्यक्तियों में भी वे पहलकदमी की प्रवृत्ति का विकास करते हैं। जब तक किन्हीं कार्यों को शुरू ही नहीं किया जाएगा तो वे अपने सुपरिणाम कैसे प्रदर्शित करेंगे।

टिप्पणी

इसमें सन्देह नहीं कि यदि समाज में नेतृत्व शक्ति द्वारा कार्यारम्भ में पहल नहीं की जाती है तो वह समाज शक्ति रखते हुए भी सुप्त और बाद में विलुप्त हो जाता है। आत्मविश्वास से कार्यारम्भ करते ही अन्य लोगों में भी शक्ति व उत्साह का संचार होने लगता है। उदाहरणार्थ सैनिकों में पराक्रम का अभाव कभी नहीं होता, परंतु अपने नेता द्वारा कार्यारम्भ करते ही अथवा नेता का संकेत मिलते ही उनमें अद्‌भुत शक्ति का संचार होने लगता हैं। एक शैक्षिक उदाहरण से भी कार्यारम्भ के महत्व को समझा जा सकता है। एक विद्यालय के प्रधानाचार्य विद्यालय में किसी क्लब, गोष्ठी अथवा सहकारी समिति का निर्माण करना चाहते हैं। इन कार्यों का संचालन करने के लिए विचार–विमर्श भी करते हैं, किन्तु इनका क्रियान्वयन तब तक संभव नहीं हो पाता, जब तक कोई योग्य शिक्षक अथवा वे स्वयं इन कार्यों को करने में पहल नहीं करते। कार्यारम्भ होने के पश्चात तो सभी व्यक्ति उस अभियान में शामिल हो जाते हैं।

7. **शैक्षिक नेतृत्व और व्यक्तित्व विकास के लिए**– शैक्षिक नेतृत्व संभालने से व्यक्ति की पद–प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है और नेता को एक आत्मिक सन्तोष तथा सुख की प्राप्ति होती है। यद्यपि नेता के पद और नेतृत्व कार्य का निर्वाह करते हुए, नेता अपने कार्य में आए हुए अवरोधों तथा विघ्नों का उल्लेख करते हुए खीझ भी प्रकट करते रहते हैं परंतु मस्तिष्क में शैक्षिक नेतृत्व का महत्व सदैव विद्यमान रहता है। वे इस तथ्य को भली–भांति जानते हैं कि छात्रों, अध्यापकों तथा संरक्षकों के बीच उनका जो कुछ भी सम्मान है, वह नेतृत्व पद के कारण ही है। निस्सन्देह शैक्षिक नेतृत्व से व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है जिससे आत्मिक सन्तोष की परम सुखद अनुभति होती है। विद्यालयों के उत्सवों अथवा सम्मेलनों व विभिन्न कार्यक्रमों में जब मंच से प्राचार्य की भूरि–भूरि प्रशंसा की जाती है, विद्यालय की उपलब्धियों का गौरव उसे प्रदान किया जाता है तो उसके हृदय में अपूर्व उल्लास का संचार होने लगता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि समाज में हर व्यक्ति ख्याति और प्रतिष्ठा का आकांक्षी होता है परंतु यश की प्राप्ति केवल इच्छा करने से नहीं हो सकती, इसके लिए अत्यंत परिश्रम तथा विशिष्ट गुणों की आवश्यकता होती है। प्रतिभाशाली और उत्साही व्यक्ति ही इसे स्वीकार करते हैं।

निश्चित रूप से नेतृत्व से व्यक्ति के व्यक्तित्व का चहुमुंखी विकास होता है। विभिन्न अवसरों के द्वार खुलने लगते हैं। सोच का दायरा बढ़ता है। सम्प्रेषण में निखार आता जाता है। भाषण देने की योग्यता निखरती चली जाती है। शैक्षिक नेतृत्व मात्र व्यक्तिगत पद–प्रतिष्ठा अथवा मान–सम्मान के लिए नहीं हो सकता। यह विद्यालय की चहुंमुखी प्रगति और सामाजिक उन्नति के लिए भी महत्वपूर्ण समझा जाता है। शिक्षा प्रशासन में नेतृत्व का महत्व सर्वस्वीकृत व सर्वसमावृत है।

संगठनात्मक परिस्थितियों की जटिलता तथा मांगों में वृद्धि के कारण नेता के दायित्वों में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। उसका कार्य पहले की अपेक्षा बहुत कठिन और

टिप्पणी

चुनौतीपूर्ण हो गया है। परंपरागत इकाई संगठनों में प्रशासक के दायित्व भी सहन और सरल होते थे परंतु विकास के साथ–साथ संगठनों का रूप–आकार बढ़ता चला गया और साथ ही प्रशासकीय दायित्व भी। शैक्षिक प्रशासन की प्रक्रिया में जहां समूह–प्रक्रिया तथा मानवीय व्यवहार की अत्यंत आवश्यकता होती है, वहां नेतृत्व–शक्ति का महत्व भी स्वयंसिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि शैक्षिक नेतृत्व नेता के व्यक्तित्व को उभारने में तो सहायक होता ही है, परंतु शैक्षिक प्रशासन की उत्तमता तथा उत्कृष्टता शैक्षिक नेतृत्व पर ही अवलम्बित होती है। शैक्षिक नेतृत्व का महत्व निस्सन्देह सर्वस्वीकृत है।

3.4.6 प्रबंधन

प्रबंधन से तात्पर्य किसी व्यावसायिक एवं शैक्षिक संस्था की क्रियाओं के नियोजन व नियमन से है। प्रबंधन एक प्रक्रिया है जो प्रत्येक संस्था में चाहे यह संस्था व्यावसायिक हो अथवा सामाजिक, धार्मिक हो या राजनीतिक, समान रूप से सम्पन्न की जाती है। प्रबंधन की अनिवार्यता उन सभी स्थानों पर देखी जा सकती है जहां व्यक्ति या व्यक्ति समूहों द्वारा सामान्य हितों की प्राप्ति हेतु कार्य किया जाता है। प्रबंधन के प्रत्यय के विकास का श्रेय विभिन्न विचारकों, दार्शनिकों तथा विद्वानों को हैं जिन्होंने अपने अनुभवजन्य ज्ञान से नवीन प्रबंधकीय विचारों तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से प्रबंधन को परिभाषित किया है। कतिपय परिभाषाएं विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं–

प्रो. किम्वान एंड किम्बाल के अनुसार–"विस्तृत रूप से प्रबंधन उस कला को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी उपक्रम में मनुष्यों और पदार्थों को नियमित करने के लिए आर्थिक सिद्धांतों को प्रयोग में लाया जाता है।"

जे.एल. गिलवर्ड के शब्दों में– "प्रबंधन वह प्रक्रिया तथा एजेंसी है जिसके माध्यम से नीतियों के क्रियान्वयन का आयोजन तथा पर्यवेक्षण किया जाता है।"

पीटरसैम तथा प्लाबेन के अनुसार–''प्रबंधन एक ऐसी तकनीक है जिसके माध्यम से व्यक्ति विशेष के समूह के कार्यों तथा उद्देश्यों का निर्धारण, स्पष्टीकरण तथा कार्यान्वयन किया जाता है।

विलियम एच. न्यूमैन के अनुसार–''किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी व्यक्तिसमूह के प्रयत्नों का मार्गदर्शन, नेतृत्व एवं नियंत्रण ही प्रबंधन कहलाता है।''

अतः शैक्षिक प्रबंधन एक ऐसी कला और सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो किसी संस्था के पूर्ण निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति में नेतृत्व, सहायता तथा मार्गदर्शन करती है।

शैक्षिक प्रबंधन वर्तमान काल की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शैक्षिक प्रबंधन के अंतर्गत कक्षा, शिक्षक, छात्रा, विभाग, प्राचार्य, प्रबंध आदि प्रणाली एवं उपप्रणालियों द्वारा इसकी संरचना की जाती है। हैरी व्राद मियर तथा स्टीफेनसन ने विद्यालय प्रणाली एवं उसकी उपप्रणालियों की संख्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

टिप्पणी

शैक्षिक प्रबंधन–संरचना एवं उद्देश्य

मुख्यतः शिक्षा प्रबंधन का उद्देश्य अध्यापक तथा विद्यार्थियों को ऐसी परिस्थितियों में एक साथ लाना है जिससे कि शिक्षा के लक्ष्य अधिक सफलता से प्राप्त हो सकें। शैक्षिक प्रबंधन का संबंध केवल फाइल, कार्य प्रणाली और तकनीक से ही नहीं है, वह शिक्षा संबंधी विचारधारा तथा परीक्षित वैकल्पिक राज के बीच एक सजीव पुल का कार्य करता है। साथ ही समस्याओं तथा उनके समाधान का भी हल ढूंढ़ता है। बिना प्रबुद्ध सिद्धांत के कार्यप्रणाली नीरस है।

जेक्स एव लुण्डी के अनुसार–''प्रबंधन मुख्य रूप से विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों के प्रयत्नों को नियोजित, समन्वित, प्रेरित एवं नियोजित करने का कार्य है।''

जॉन आर. टेरी के अनुसार–''प्रबंधन एक विशेष प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, उत्प्रेरणा एवं नियंत्रण शामिल होते हैं। इन सभी क्रियाओं में कला और विज्ञान दोनों का प्रयोग किया जाता है और इनका अपने इसी क्रम में पूर्व निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अनुसरण किया जाता है।''

शल्फ सी डेविस के अनुसार–''प्रबंधन से तात्पर्य किसी भी स्थान पर नेतृत्व करना है। इसके द्वारा किसी भी संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक नियोजन, संगठन तथा नियंत्रण संबंधी कार्यों को किया जाता है।''

एफ.डब्ल्यू. टेलर के अनुसार–''प्रबंधन एक कला है जिसके माध्यम से पहले यह जाना जाता है कि आप करना क्या चाहते हैं और फिर यह निश्चित किया जाता है कि इस इच्छित बात का सबसे अच्छे और सबसे मितव्ययतापूर्ण ढंग से लोगों द्वारा कैसे किया जाय।''

डॉ. सम्पूर्णानन्द के अनुसार–''शैक्षिक प्रबंधन ऐसा होना चाहिए कि अध्यापक अपने कार्य पर विश्वास करे, जो विशेषता उसमें है वह कक्षा में अध्यापन के समय प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्राप्त करे। जब कभी अध्यापक का उत्साह कम होने लगे तो प्रशासनिक प्रोत्साहन मिल सके।''

पी.सी. रैन के अनुसार–''छात्र के लाभ हेतु उसकी मनःशक्ति के प्रशिक्षण, उसकी सामान्य दृष्टि विस्तृत करने, उसके मस्तिष्क को उन्नतिशील बनाने, चरित्र का निर्माण करने एवं शांति देने, उसे अर्थ स्थान एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्य का अनुभव कराने आदि के लिए ही विद्यालय को संगठित किया जाए न कि उसे माध्यमिक परीक्षा के लिए तैयार कराने हेतु।''

ग्रेसन केफेयूवेर के अनुसार–''शैक्षिक प्रशासन में दीर्घकालीन नीतियों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति करने की नीतिज्ञता निहित होती है। दैनिक समस्याओं का समाधान इन्हीं दीर्घकालीन नीतियों के सन्दर्भ में किया जाता है।''

कैण्डल के शब्दों में–''मूल रूप से शैक्षिक प्रशासन का उद्देश्य यही है कि दोनों को ऐसी परिस्थिति में एक साथ लाया जाए, जिससे अधिकतम रूप से सफलतापूर्वक शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

टिप्पणी

प्रबंधन : लक्ष्यगत उद्देश्य

उद्देश्य के लक्ष्य की व्याख्या करते हुए वॉनड्यूवी ने कहा है– ''उद्देश्य के अंतर्गत व्यवस्थापूर्ण गतिशीलता होती है, जिसे क्रिया द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसके लिए हम क्रियाशील होते हैं–(An aim implies an orderly and ordered activity, one in which order consists in progresive completing of a process.)"

एन.सी.ई.आर.टी. (NCERT) ने भी कहा है–''उद्देश्य वह बिन्दु है, जिसकी दिशा में कार्य किया जाता है। लक्ष्य या उद्देश्य की क्रिया द्वारा प्राप्त गतिशीलता को व्यवस्थित परिवर्तन भी कहते हैं।'' इस दृष्टि से उद्देश्यों की रचना इसलिए की जाती है–

1. कार्य के दिशा निर्धारण हेतु
2. कार्य में निश्चितता तथा सार्थकता हेतु
3. समयबद्धता हेतु
4. संभाव्य कठिनाइयों के निवारण हेतु
5. वांछित परिणाम हेतु

लक्ष्य एवं उद्देश्य में अंतर

प्रायः उद्देश्य (Aims) तथा लक्ष्यों (Objectives) को समानार्थी माना जाता है। उद्देश्य व्यापक होते हैं और उनका क्षेत्र सार्वभौमिक होता है। बिना उद्देश्य के कोई भी कार्य करना दिशाहीनता की ओर बढ़ना होता है। लक्ष्य दिशा विशेष है। लक्ष्य पूर्व निर्दिष्ट वस्तु या बिन्दु से सम्बन्धित होता है। लक्ष्यों और उद्देश्यों में अंतर इस प्रकार किया जा सकता है–

1. उद्देश्यों में व्यापकता तथा सार्वभौमिकता होती है, जबकि लक्ष्य सीमित होते हैं।
2. उद्देश्य किसी सामाजिक, दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय विचारधारा से अनुप्राणित होते हैं और लक्ष्य निर्धारित कार्यों की पूर्ति के लिए होते हैं।
3. उद्देश्यों में कभी–कभी व्यापकता के कारण भ्रम तथा दिशाहीनता उत्पन्न हो जाती है, जबकि लक्ष्य का क्षेत्र सीमित होने के कारण इसमें स्पष्टता तथा निश्चितता बनी रहती है।
4. उद्देश्य प्राप्ति हेतु अनेक दिशाओं तथा दशाओं का ध्यान रखा जाता है जबकि लक्ष्य में एक वस्तु अथवा बिन्दु का ध्यान रखा जाता है।
5. उद्देश्य औपचारिक होते हैं और लक्ष्य कार्यपरक।
6. उद्देश्य प्राप्त करने में समय अधिक लगता है, लक्ष्य शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं।
7. उद्देश्य परोक्ष होते हैं और लक्ष्य प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किए जा सकते हैं।
8. उद्देश्यों के निर्माण में अधिक समय तक धन लगता है, लक्ष्यों की रचना में कम समय तक धन लगता है।

9. उद्देश्य आदर्शों पर आधारित होने के कारण अपूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं जबकि लक्ष्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

टिप्पणी

शैक्षिक प्रबंधन और प्रजातांत्रिक लक्ष्य

प्रजातंत्र में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक आदि सभी संस्थाएं प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण से संचालित की जाती हैं। विद्यालय अब ऐसा स्थान मात्र नहीं समझा जाता जहां केवल औपचारिक शिक्षा मात्र दी जाती है, वरन् प्रजातंत्र के सिद्धांतों पर आधारित लक्ष्यों की प्राप्ति का स्थान माना जाता है। विद्यालय व्यक्ति विशेष की उन्नति के साथ ही समाज की उन्नति के लिए भी कार्य करता है। अतः शैक्षिक प्रबंधन इस प्रकार का होना चाहिए कि विद्यालय के प्रजातांत्रिक लक्ष्यों की पूर्ण प्राप्ति हो सके। प्रबंधन को प्रजातन्त्र के महत्व का ज्ञान तथा उसके सिद्धांतों पर विश्वास होना चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में एक विशेष सामाजिक एवं राजनीतिक ढांचे का निर्माण हुआ है। अतः आवश्यक है कि शिक्षा–पद्धति भारतीय नागरिक के चरित्र–गठन, आचार–विचार तथा भावनाओं का विकास इस प्रकार करे कि प्रत्येक नागरिक देश और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझे।

प्रजातांत्रिक शैक्षिक प्रबंधन के सिद्धांत

प्रजातांत्रिक शैक्षिक प्रबंधन के प्रमुख सिद्धांत निम्नांकित हैं–

1. **उत्तरदायित्व में सहभागिता का सिद्धांत**– प्रजातंत्र पर विश्वास करने वाला प्रबंधन उत्तरदायित्व में सहभागिता के सिद्धांत का परिपोषक होता है। वह अपने अधिकारों को आवश्यकतानुसार अपने सहयोगियों में वितरित कर देता है।
2. **समानता का सिद्धांत**– प्रजातांत्रिक प्रबंधन को अपने सहयोगियों को अपने ही स्तर का समझना चाहिए। प्रबंधक एक नियमावली बनाए, जिसका पालन और शिक्षण साथ ही करे। वह किसी के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार न करे।
3. **स्वतन्त्रता का सिद्धांत**– व्यक्ति अपनी प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन तब ही कर सकता है, जब वह ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता के वातावरण में ही कोई व्यक्ति अपनी प्रतिभा को खुलकर व्यक्त कर सकता है।
4. **सहयोग का सिद्धांत**– विद्यालय एक ऐसी सहयोग संस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति 'सबके लिए' और 'सब एक के लिए' काम करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी व्यक्तियों के एक ही लक्ष्य तथा उद्देश्य होते हैं। अतः सहयोग की भावना का महत्व सदा बना रहना चाहिए।
5. **न्याय का सिद्धांत**– प्रजातांत्रिक प्रबंधक सभी के प्रति समभाव रखता है। पक्षपात सहयोगियों में निराशा और कार्य के प्रति अरुचि उत्पन्न करता है। नियमों के ऊपर किसी व्यक्ति को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए।
6. **व्यक्तिगत योग्यता के सम्मान का सिद्धांत**– प्रजातंत्र में विश्वास रखने वाला प्रबंधक अपने सहयोगियों के व्यक्तित्व का आदर करता है, उनके

टिप्पणी

आत्म–सम्मान का हनन नहीं करता। संस्था के हित में व्यक्ति विशेष की प्रतिभा को पूर्ण मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

7. **नेतृत्व का सिद्धांत**– शैक्षिक प्रबंधक कई समूहों का नेता होता है। इसलिए उसमें वे सभी गुण होने चाहिए जो एक अच्छे नेता में होते हैं। अतः शैक्षिक प्रबंधक मानव मनोविज्ञान का पारखी तथा समूह को समझने की क्षमता रखने वाला होना चाहिए, तभी वह सफल हो सकता है।
8. **मूल्यांकन का सिद्धांत**– समय–समय पर पाठ्यक्रम, पाठ्य–विधि, पाठ्य–सामग्री तथा अन्य उपकरणों आदि का मूल्यांकन किया जाना चाहिए ताकि शिक्षा के लक्ष्यों की पूर्ति में बाधक तत्त्वों में सुधार लाया जा सके।
9. **जवाबदेही का सिद्धांत**– प्रजातांत्रिक प्रबंधन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि जो चाहे अपनी मन–मर्जी करे।

प्रजातांत्रिक शैक्षिक प्रबंधन की लक्ष्यगत उपादेयता

आज समाज की विद्यालय के प्रति अपेक्षाएं बढ़ती जा रही हैं। आज शिक्षकों का कार्य केवल ज्ञान प्रदान करना ही नहीं है, बल्कि उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे छात्रों के उपयुक्त विचारों, आवश्यक कौशलों, क्षमताओं तथा नैतिक मूल्यों का विकास करें। इसके साथ ही उनमें प्रजातंत्रीय मूल्यों तथा व्यवस्थाओं के प्रति विश्वास को उत्पन्न करें। शिक्षा सभ्यता एवं संस्कृति का मूलाधार होती है। शैक्षिक नीतियों को व्यवहार रूप में परिणत करने तथा उन्हें प्रभावशाली रूप से क्रियान्वित करने का दायित्व प्रमुखतः शिक्षकों का है। अपने निरन्तर प्रयासों के द्वारा वह शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु सचेष्ट रहता है। यद्यपि राष्ट्रीय अथवा राज्य की शिक्षा संबंधी योजनाओं के निर्माण में उसकी भूमिका नहीं है, फिर भी उसकी इन योजनाओं के क्रियान्वयन संबंधी भूमिका के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। नीतियां व कार्यक्रम कितने ही अच्छे क्यों न हों, यदि उन्हें प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वित न किया जा सके तो वे व्यर्थ ही हैं।

एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में विद्यालय प्रशासक अपने शिक्षक सहयोगियों के साथ पारस्परिक विचार–विनिमय के द्वारा ही विद्यालय संबंधी कार्यक्रमों एवं नीतियों का निर्माण करता है, ऐसा करते समय वह राष्ट्र के शैक्षिक उद्देश्यों को ध्यान में रखता है, साथ ही उनके अनुरूप अपने विद्यालय व निकट समुदाय की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं को भी ध्यान में रखते हुए उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग करते हुए विद्यालय की योजनाओं की रूपरेखा तैयार करता है। विद्यालय के लक्ष्य राष्ट्र के शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति में ही सहायक होते हैं। इन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अध्यापक इन्हें स्थूल, विशिष्ट एवं व्यावहारिक रूप से परिभाषित करते हुए अपने शिक्षण या अनुदेश के लक्ष्यों को निर्धारित करता है। ये लक्ष्य प्रत्यक्ष, प्रारम्भ तथा मूल्यांकन योग्य होते हैं। इनकी प्राप्ति से शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है। अतः एक शिक्षक को छात्रों के व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए तथा शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षण प्रक्रिया से पूर्व इन अनुदेशन उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर लेना चाहिए। ये उसकी शिक्षण क्रियाओं को मार्गदर्शन प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं और उसके प्रयास सार्थक तथा लक्ष्य केन्द्रित हो जाते हैं।

टिप्पणी

मानवीय प्रबंधन एवं व्यवस्था की आवश्यकता होती है कि उसमें स्वतन्त्रता, स्वायत्तता और अनुशासन रखा जाय तभी शिक्षा की क्रिया से शिक्षा के लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। शैक्षिक प्रबंधन मुख्यतः उद्देश्यों के निर्धारण और उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्णय लेने से सम्बन्धित होता है। एक अन्य विचारधारा के अनुसार प्रबंधन का आशय किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों, मुद्रा, उपकरणों, सामग्री एवं विधियों के प्रभावपूर्ण उपयोग से है। प्रबंधन का अर्थ उस विशिष्ट प्रक्रिया से होता है जो संगठन के विषय में निर्णय लेती है और पूर्व निर्धारित उद्देश्य अथवा लक्ष्यों की उपलब्धि हेतु कार्यकर्ता की क्रियाओं का नियन्त्रण करती है जैसा कि मैक्फरलैण्ड ने भी कहा है–''एक निश्चित व्यक्ति समूह के द्वारा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किए जाने वाले कार्यों को ही संगठन कहते हैं। प्रो. एच.एच. हेने का भी ऐसा ही मत है–''किसी सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट अंगों का मैत्रीपूर्ण संयोजन ही संगठन कहलाता है।"

आर. मार्ट तथा रौस ने शैक्षिक प्रशासन को मानवीय संबंधों से जोड़ते हुए शैक्षिक प्रशासन के तीन कार्य बताए हैं–

1. छात्रों को निर्धारित लक्ष्यों की ओर अग्रसर करना
2. उनके लिए शिक्षकों को साधन के रूप में प्रयोग करना तथा
3. इस प्रक्रिया का संचालन ऐसे जनसमुदाय के सन्दर्भ में करना जो दोनों लक्ष्यों तथा प्राप्ति के साधनों से विभिन्न रूप में सम्बन्धित हो।

शिक्षा में प्रबंधन का महत्व एवं उद्देश्य

(क) शिक्षा में प्रबंधन की महत्ता

शिक्षा के प्रबंधन की मूलभूत उपादेयताएं निम्नांकित हैं–

1. शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों की प्रभावपूर्ण ढंग से पूर्ति
2. सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति
3. विभिन्न शैक्षिक क्रियाओं का समन्वय
4. आधुनिक तकनीकों का उपयोग
5. न्यूनतम साधनों से श्रेष्ठ परिणामों की प्राप्ति
6. शिक्षा की समस्याओं का उचित समाधान
7. शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाना
8. भविष्य के लिए कुशल, सक्षम तथा उत्पादक नागरिक एवं कर्मचारी तैयार करना

(ख) शिक्षा में प्रबंधन के उद्देश्य

देश की स्थिति, आवश्यकता और शैक्षणिक विकास की दृष्टि से शिक्षा प्रबंधन के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए जा सकते हैं–

1. शिक्षा संबंधी नीतियों का निर्धारण करना, शिक्षा योजनाएं बनाना तथा उन्हें कार्यान्वित करना।

टिप्पणी

2. शिक्षा क्षेत्र में अधिकतम उपलब्धियां प्राप्त करने हेतु साधन जुटाना और अनुकूल शैक्षणिक पर्यावरण उत्पन्न करना।
3. छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना, विभिन्न शक्तियों को प्रशिक्षित करना तथा उनके चरित्र का विकास करना।
4. शिक्षा के नवीन उद्देश्यों, मूल्यों, मान्यताओं, सिद्धांतों आदि का निर्धारण करना।
5. शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शैक्षणिक कार्यक्रमों, क्रिया–कलापों तथा गतिविधियों का सुचारू रूप से संचालन।
6. शिक्षा विभाग के कर्मचारियों की नियुक्ति, सेवा शर्तों का निर्धारण और उनके प्रशिक्षण तथा उनमें प्रगति करने आदि की व्यवस्था करना।
7. समाज के नागरिकों, पालकों तथा शिक्षा व्यवस्थापकों को समय पर शिक्षा की नीतियों, योजनाओं तथा प्रगति से अवगत कराते रहना।
8. शिक्षा संबंधी उचित कार्यों, निर्णयों तथा विचारों को प्रोत्साहित करना और अनुचित कार्यों, हानिकारक निर्णयों तथा दूषित विचारों को रोकना।
9. शिक्षा संबंधी प्रत्येक संगठन के लिए अलग–अलग प्रबंधनात्मक नेतृत्व प्रदान करना।
10. शिक्षा–संस्थानों का नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण कराना और आवश्यक प्रगति हेतु निर्देशन देना।
11. समय–समय पर शिक्षा में सुधार हेतु शिक्षा आयोगों तथा समितियों का गठन करना। समीक्षा के पश्चात दिए गए सुझावों तथा संस्तुतियों का क्रियान्वयन करना।

अपनी प्रगति जांचिए

5. भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद के अनुसार 1971 में साक्षर स्त्रियों का प्रतिशत कितना था?

   (क) 16.4 प्रतिशत (ख) 18.4 प्रतिशत

   (ग) 19.4 प्रतिशत (घ) 20.4 प्रतिशत

6. भारत में महिलाओं की श्रम बल भागीदारी लगभग कितने प्रतिशत है?

   (क) 21 प्रतिशत (ख) 25 प्रतिशत

   (ग) 27 प्रतिशत (घ) 30 प्रतिशत

3.5 शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी

सूचना प्रौद्योगिकी (Information technology), आंकड़ों की प्राप्ति, सूचना (इंफार्मेशन) का संग्रह, सुरक्षा, परिवर्तन, आदान–प्रदान, अध्ययन, डिजाइन आदि कार्यों तथा इन

टिप्पणी

कार्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक कंप्यूटर हार्डवेयर एवं सॉफ्टवेयर अनुप्रयोगों से सम्बन्धित है। सूचना प्रौद्योगिकी कंप्यूटर पर आधारित सूचना–प्रणाली का आधार है। सूचना प्रौद्योगिकी, वर्तमान समय में वाणिज्य और व्यापार का अभिन्न अंग बन गई है। संचार क्रांति के फलस्वरूप अब इलेक्ट्रॉनिक संचार को भी सूचना प्रौद्योगिकी का एक प्रमुख घटक माना जाने लगा है और इसे सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (Information and Communication Technology–ICT) भी कहा जाता है।

3.5.1 सूचना प्रौद्योगिकी : अर्थ एवं परिभाषा

प्रौद्योगिकी का अर्थ एक व्यवस्थित ज्ञान से है जिसके द्वारा विभिन्न यन्त्रों तथा उपकरणों का प्रयोग सम्भव हो पाता है। उद्देश्यपूर्ति के लिए जिन साधनों का प्रयोग करते हैं उनसे सम्बन्धित उपकरण अथवा ज्ञान को प्रौद्योगिकी कहते हैं। सामन्यतः लोग प्रौद्योगिकी का तात्पर्य उपकरणों अथवा यंत्रों से ही लगाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उपकरण, यन्त्र तथा प्रौद्योगिकी अलग–अलग अवधारणाएं हैं। उपकरण का अभिप्राय उस वस्तु से होता है जिसका प्रयोग लोग अपनी शक्ति द्वारा करते हैं, जैसे– हथौड़ा, आरी, कुल्हाड़ी व पेंचकश इत्यादि। यन्त्र का तात्पर्य उस वस्तु से होता है जो कई उपकरणों से मिलकर बनती है और जो जल शक्ति, पशु शक्ति, विद्युत शक्ति अथवा अन्य किसी शक्ति के द्वारा कार्य करती है, जैसे– ट्रैक्टर, रेलगाड़ी का इंजन, कल–कारखाने की मशीनें आदि। प्रौद्योगिकी के अंतर्गत उपकरणों और यन्त्रों के प्रयोग तथा वस्तुओं को बनाने की भी सम्पूर्ण मौलिक प्रक्रियाएं समाविष्ट हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी दो शब्दों से मिलकर बना है सूचना व प्रौद्योगिकी। सूचना का तात्पर्य है तथ्य, ज्ञान व जानकारी और प्रौद्योगिकी का आशय है, 'वह तकनीक जो सूचना को व्यवस्थित कर संप्रेषण योग्य बनाती है।' अतः सूचना प्रौद्योगिकी वह प्रौद्योगिकी है जिसके द्वारा हम सूचना की विभिन्न प्रक्रियाओं में वर्तमान तकनीकी का प्रयोग कर सूचना के उपयोग और आवश्यकता को बढ़ा सकते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के द्वारा कोई संदेश, तस्वीर या विचार एक स्थान से विश्व के किसी दूसरे स्थान पर कम से कम समय में भेजे जा सकते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार में कम्प्यूटर और इंटरनेट के माध्यम का महत्वपूर्ण योगदान है जिसके द्वारा लोगो को सूचनाओं के संग्रह, संप्रेषण, दूरसंचार, इलेक्ट्रॉनिक्स प्रकाशन, सूक्ष्म प्रतिलिपिकरण आदि की सुविधाएँ प्राप्त है। नेटवर्क के माध्यम से विशिष्ट जनकारी प्राप्त करना और दूरदराज बैठे लोगों से सीधा संवाद व संबंध बनाए रखने का यह सरल उपाय है।

सूचना प्रौद्योगिकी की परिभाषा

यूनेस्को के अनुसार सूचना प्रौद्योगिकी की परिभाषा –

सूचना प्रौद्योगिकी, "वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीय और इंजीनियरिंग विषय है। यह सूचना की प्रोसेसिंग, उनके अनुप्रयोग की प्रबंध तकनीकें, कंप्यूटर एवं उनकी मानव तथा मशीन के साथ अंतःक्रिया एवं संबद्ध सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विषय है।'

टिप्पणी

रौले के अनुसार– ''सूचना तकनीकी का अर्थ सूचना के एकत्रीकरण, संग्रहण, संचालन, प्रसारण तथा उपयोग से है इसका आशय हार्डवेयर अथवा सॉफ्टवेयर से नहीं है बल्कि इस तकनीक के द्वारा मानव की महत्वपूर्ण आवश्यकता एवं विभिन्न सूचनाओं की पूर्ति से है।''

वेबस्टर न्यू इनसाइक्लोपीडिया के अनुसार– ''सूचना तकनीकी विभिन्न तकनीकों का संयुक्त पद है जिसमें विभिन्न तकनीकों द्वारा सूचना के संचालन एवं स्थानान्तरण का कार्य किया जाता है। माध्यम के रूप में कम्प्यूटर, दूरसंचार तथा माइक्रो–इलेक्ट्रॉनिक्स शामिल हैं।''

हेरॉल्डस लाइब्रेरियन्स ग्लौसरी के अनुसार– ''सूचना तकनीकी सूचना स्रोतों का विकास है, जिसे कम्प्यूटर एवं संचार माध्यमों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।''

क्लार्क विसलर के अनुसार, ''प्रौद्योगिकी एक सामान्य पद है, जिसके अंतर्गत उपकरणों के प्रयोग तथा वस्तुओं के बनाने की सम्पूर्ण यांत्रिक प्रक्रियाएं आ जाती हैं।''

कार्ल मार्क्स के शब्दों में, ''प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के ढंग व उत्पादन की प्रक्रिया को व्यक्त करती है जिसके द्वारा वह अपना जीवन–यापन करता है और तदनुसार सामाजिक संबंधों की रचना के ढंग तथा उनसे प्रवाहित मानसिक धारणाओं को भी स्पष्टतः प्रस्तुत करता है।''

आधुनिक समाज को यांत्रिक समाज भी कहते हैं। 19वीं और 20वीं सदी में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में जो विकास हुआ है उसके कारण सामाजिक संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है।

3.5.2 सूचना प्रौद्योगिकी का महत्व

- सूचना प्रौद्योगिकी, सेवा अर्थतंत्र (Service Economy) का आधार है।
- पिछड़े देशों के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए सूचना प्रौद्योगिकी एक सम्यक तकनीकी (appropriate technology) है।
- जनता को सूचना–सम्पन्न बनाकर ही निर्धनता के उन्मूलन में सहायता की जा सकती है।
- सूचना–संपन्नता से समाज का सशक्तीकरण (empowerment) होता है।
- सूचना तकनीकी, प्रशासन और सरकार की कार्यप्रणाली में पारदर्शिता लाती है, इससे भ्रष्टाचार को कम करने में सहायता मिलती है।
- सूचना तकनीक का प्रयोग जन कल्याण योजना बनाने, नीति निर्धारण तथा निर्णय लेने में होता है।

सूचना प्रौद्योगिकी ने पूरी धरती को एक गांव बना दिया है। इसने विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं को जोड़कर एक वैश्विक अर्थव्यवस्था को जन्म दिया है। यह नवीन अर्थव्यवस्था अधिकाधिक रूप से सूचना की रचनात्मक व्यवस्था व वितरण पर निर्भर है। इसके कारण व्यापार और वाणिज्य में सूचना का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। इसीलिए इस अर्थव्यवस्था को सूचना अर्थव्यवस्था (Information Economy) या ज्ञान अर्थव्यवस्था (Knowledge Economy) भी कहने लगे हैं। वस्तुओं के उत्पादन (Manufacturing) पर आधारित परम्परागत अर्थव्यवस्था कमजोर पड़ती जा रही है और सूचना पर आधारित सेवा अर्थव्यवस्था (Service Economy) निरन्तर आगे बढ़ती जा रही है।

टिप्पणी

सूचना क्रांति से समाज के सम्पूर्ण क्रियाकलाप प्रभावित हुए हैं–धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य (e-health), व्यापार (e-commerce), प्रशासन, सरकार (e-governance), उद्योग, अनुसंधान व विकास, संगठन, प्रचार आदि सब के सब क्षेत्रों में कायापलट हो गया है।

प्रौद्योगिकी, विशिष्ट समस्याओं को हल करने के लिए उपकरणों के निर्माण के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का अनुप्रयोग है। तकनीकी विकास, ऑटोमोबाइल, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीविजन, मोबाइल फोन, कंप्यूटर, मोडेम और फैक्स मशीन के रूप में दुनिया के लिए परिवर्तन लाए हैं। दरअसल, 20वीं सदी में लोगों से मिलने, बातचीत करने, जानकारी लेने, काम करने, खेलने, यात्रा, पूजा और व्यापार आदि करने के तरीकों को प्रौद्योगिकी ने पूरी तरह से बदल दिया है। तकनीकी जानकारी तेजी से बढ़ती है। वैज्ञानिक ज्ञान का पूरा डेटाबेस हर साल बढ़ता है। प्रौद्योगिकी ज्ञान और जानकारी में बढ़ोतरी होती जाती है। दूसरे शब्दों में, यह एक चक्र होता है, नतीजतन, समाजशास्त्रियों का उद्देश्य यह जानना रहता है कि प्रौद्योगिकीय–विकास समाज के लिए सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है।

कंप्यूटर तकनीक

1990 के दशक में, लोगों ने कंप्यूटर प्रौद्योगिकी का एक विस्फोट दुनिया भर में देखा। जिसने लोगों के काम करने के तरीके में परिवर्तन कर दिया। फोन, कंप्यूटर, ई–मेल, फैक्स और इलेक्ट्रॉनिक नेटवर्किंग के माध्यम से वे अपने कार्यालयों के लिए कनेक्ट हो जाते हैं। Telecommuting कर्मचारियों को दूसरे स्थानों में पर्यवेक्षण के तहत काम करने के लिए अनुमति देता है।

इंटरनेट दुनिया के सबसे बड़े इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर नेटवर्किंग में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है। इंटरनेट का उपयोग कर लोगों की जानकारी बढ़ना जारी है।

इंटरनेट ने निश्चित रूप से इलेक्ट्रॉनिक संचार के लिए रोमांचक व नई संभावनाओं को प्रदान किया है, फिर भी आलोचकों का तर्क है कि इस सूचना के उपकरण के दूसरे प्रभाव भी मौजूद हैं। विशेष रूप से युवा बच्चों वाले परिवारों के लिए विशेष चिंता का विषय है, क्योंकि इसमें अश्लील सामग्री डाउनलोड करने की क्षमता भी है। हाल के वर्षों में, इंटरनेट का गलत इस्तेमाल भी किया गया है। चिंता के अन्य कारण जैसे– संभावित सामाजिक अलगाव, गलत सूचना के यादृच्छिक और लापरवाह प्रसार, साहित्यिक चोरी और परिवार में मनमुटाव शामिल हैं।

सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिकी कारक

मनुष्य के ज्ञानवर्द्धन तथा चेतना के विकास के लिए सूचनाओं का परस्पर आदान–प्रदान बहुत महत्वपूर्ण है। इसी के आधार पर मानव अपना अनुभव दूसरे मानवों तथा समाज के साथ करता है जिससे स्वयं का तथा समाज का विकास किया जा सके। प्रौद्योगिकीय विकास के पूर्व मनुष्यों के लिए एक दूसरे के साथ सूचनाएं लेने–देने (Exchange of Informations) का कार्य बहुत कठिन था तथा काफी समय यूं ही व्यतीत हो जाता था और विकास का कार्य बाधित होता था परंतु 19वीं सदी तथा 20वीं सदी ने ऐतिहासिक खोजों के द्वारा सूचनाओं का आदान–प्रदान सुगम कर दिया।

टिप्पणी

आधुनिक समाज को यान्त्रिक समाज भी कहते हैं। 19वीं एवं 20वीं सदी में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में जो विकास हुआ है उसके कारण सामाजिक संबंधों में महान परिवर्तन हुआ है।

प्रौद्योगिकी का समाज पर प्रभाव

यन्त्रीकरण में विकास के फलस्वरूप हमारे सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन हो रहा है। पहले समाज में परम्परा, रूढ़ि, प्रथा आदि की प्रधानता थी। साधारणतया लोगों का यह विचार था कि मनुष्य की मनोवृत्ति, भावना, विकास तथा समाज की जनरीतियों, प्रथाओं और परम्पराओं का प्रचलन जन–समूहों की अपनी प्रकृति का परिणाम है। प्लेटो, हीगल तथा दुर्खीम जैसे सामाजिक विचारकों का मत था कि समाज अथवा राजा की स्वेच्छाचारी शासन–पद्धति दैनिक शक्तियों का परिणाम है।

समाज में वर्ण व्यवस्था के कारण जो ऊंच–नीच का भेदभाव है वह भी स्वाभाविक तथा उचित है। कुछ लोग दैविक कारणों से तथा भगवान की विशेष कृपा से उत्कृष्ट होते हैं तो कुछ लोग दैविक प्रकोपों के कारण नीच बन जाते हैं; अतः उन्हें आजीवन अपने को नीच मानना चाहिए, पर यान्त्रिक युग ने इन धारणाओं में मूलभूत परिवर्तन किया है। स्त्रियों की स्थिति, स्त्री–पुरुष संबंध, धार्मिक विश्वास तथा अन्य सभी सामाजिक संगठन की इकाइयों में इस यन्त्रीकरण के कारण मूलभूत परिवर्तन हो रहे हैं। नए–नए उत्पादन के तरीकों के विकास से मनुष्य का जीवन सरलतम एवं विलासी होता जा रहा है।

यन्त्रीकरण के कारण श्रम–विभाजन के क्षेत्र में कठोरता आई है। एक मशीन एक ही प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करती है। उन मशीनों पर काम करने वाला व्यक्ति भी एक ही प्रकार के कार्यों को करते–करते उन्हीं कार्यों में निपुण हो जाता है और इस प्रकार विशेषीकरण की प्रक्रिया कार्यशील हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक संगठनों में जटिलता आती जा रही है, जीवन के प्रति नए–नए आदर्श अवतरित हो रहे हैं जिनके अनुरूप व्यवहार करना आज के मानव का कर्त्तव्य हो गया है; फलस्वरूप सामाजिक संबंध संशोधित हो रहे हैं।

प्रौद्योगिकी के विकास ने मानव समाज को अनेक मशीनें दी हैं। समाज में व्यक्तियों के सामाजिक संबंध, इन प्रविधियों के विकास के फलस्वरूप प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आज का मनुष्य प्रत्येक कार्य मशीनों से ही करना चाहता है। प्रौद्योगिकी का समाज पर जो प्रभाव पड़ता है उसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं : पहला, प्रत्यक्ष प्रभाव यह प्रभाव अनिवार्य तथा स्थायी रूप से पड़ता है और दूसरा, अप्रत्यक्ष प्रभाव जो अस्थायी रूप से पड़ता है।

(i) **प्रौद्योगिकी के प्रत्यक्ष प्रभाव** : प्रौद्योगिकी मानव के पारस्परिक संबंधों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। मैकाइवर एण्ड पेज ने लिखा है कि प्रौद्योगिकी के प्रत्यक्ष परिणाम हैं; जैसे– श्रम का नवीन संगठन, सामाजिक सम्पर्कों की सीमा का विस्तार, कार्य का विशेषीकरण तथा ग्रामीण जीवन पर नगरीय प्रभाव।

(ii) **प्रौद्योगिकी के अप्रत्यक्ष प्रभाव** : प्रौद्योगिकी का अप्रत्यक्ष प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ता है। मैकाइवर ने लिखा है कि प्रौद्योगिकी के कुछ अप्रत्यक्ष

टिप्पणी

प्रभाव हैं; जैसे– बेकारी में वृद्धि, प्रतियोगिता की चरम सीमा तथा यान्त्रिक आश्रितता की वृद्धि।

प्रौद्योगिकी के कारण समाज में प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। समाज के आर्थिक पहलू में प्रतिस्पर्धा का विकास विशेष रूप से हुआ है। पूंजीवादी समाजों में 'गलाकाट प्रतियोगिता' का विकास इस 21वीं सदी की बड़ी घटना है। प्रतिस्पर्धा के कारण आर्थिक उत्पादन में वृद्धि होती है। समाज का कुल उत्पादन तेजी से बढ़ता है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है। जहां एक ओर प्रतिस्पर्धा उत्पादन के लिए वरदान है वहीं पर दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप समाज में व्यक्तियों के आपसी संबंध द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। प्रतिस्पर्धा जब वैयक्तिक हो जाती है तो वह संघर्ष का रूप ले लेती है।

संघर्ष असहयोगात्मक सामाजिक अन्तःक्रिया का अन्तिम रूप है। प्रतिस्पर्धा के कारण व्यक्तिवादिता का विकास हुआ है। व्यक्तिवादिता के कारण आज नए–नए आदर्श व्यक्तियों के सम्मुख हैं, जिनको प्राप्त करने में व्यक्ति उलझा हुआ है। नवीन मूल्यों एवं पुराने मुल्यों में संघर्ष के कारण आज सामाजिक संबंध तेजी से परिवर्तित हो रहे हैं और सामाजिक परिवर्तन को एक नई दिशा प्रदान कर रहे हैं तथा भावनात्मकता को समाप्त कर रहे हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. सूचना प्रौद्योगिकी का प्रमुख आधार क्या माना जाता है?

(क) अर्थशास्त्र (ख) कम्प्यूटर

(ग) समाजशास्त्र (घ) राजनीति शास्त्र

8. कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का विस्फोट किस दशक में हुआ?

(क) 1970 (ख) 1980

(ग) 1990 (घ) 2000

3.6 शैक्षिक विकल्प और प्रतिवाद

वैदिक युग से लेकर अब तक भारतवासियों के लिए शिक्षा का अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश का स्रोत है और वह जीवन के विभिन्न कार्यों में हमारा मार्ग आलोकित करती है। भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्मिकता पर आधारित थी। वह मुक्ति और आत्मबोधन का साधन मानी जाती थी। शिक्षा व्यक्ति के लिए नहीं धर्म के लिए थी। भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव अंग्रेजी शासन में डाली गई। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में शिक्षा को लेकर नवीन चिंतनधाराओं का सूत्रपात हुआ, जिसमें कई दार्शनिकों ने महान योगदान दिया है। डॉ. राधाकृष्णन, जो स्वतंत्र भारत में दूसरे राष्ट्रपति थे, एक महान दार्शनिक और शिक्षाविद् थे। उन्होंने अपने जीवन के चालीस वर्ष अध्यापन कार्य में लगाए और भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में व्यापक बदलावों की शुरुआत की। वे शिक्षा को मानव व समाज का सबसे बड़ा आधार मानते थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पहलुओं पर विचार किया और कहा कि आत्म–ज्ञान ही

टिप्पणी

शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य है। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रेम और सार्वभौमिकता पर बल दिया है। महात्मा गांधी का शिक्षा चिंतन भी काफी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने बालक की प्राकृतिक शक्तियों के विकास पर बल दिया है। उनके अनुसार शिक्षा से तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में सर्वश्रेष्ठ तत्वों का विकास है। जे. कृष्णमूर्ति मानव मन के मूलभूत परिवर्तनों के संप्रेषण के लिए शिक्षा को प्राथमिकता देते हैं। मौलाना आजाद का योगदान इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने समूचे देश में शैक्षणिक अधिसंरचना का निर्माण किया और जीवन भर शिक्षा की उन्नति के लिए समर्पित रहे। के. जी. सैय्यदैन महान शिक्षाविद् और लेखक थे, जिन्होंने भारतीय शिक्षा की गुणवत्ता और दर्शन के क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया। डॉ. जाकिर हुसैन भी शिक्षा में व्यावहारिक सुधारों के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने अपने जीवन काल में शिक्षा की कई राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की।

पाउलो फ्रेइरे समकालीन दार्शनिकों में प्रमुख हैं, जिन्होंने तीसरी दुनिया के देशों में शिक्षा के मुद्दों पर गहन विचार–विमर्श किया है। वे कहते हैं कि शिक्षा विकास के सम्पूर्ण कार्यक्रमों में दमितों–वंचितों की पूरी तरह उपेक्षा की गई है। उनके अनुसार गरीबों को कोई शिक्षा नहीं दी जाती। इसके परिणामस्वरूप उनकी सभ्य समाज के साथ कोई अंतःक्रिया नहीं हो पाती। पाउलो फ्रेइरे ने आधुनिक शिक्षा को सामाजिक न्याय और राजनीतिक दृष्टि से देखा है। इवान इलिच ने शिक्षा में मूल्य का सिद्धांत, ज्ञान का सिद्धांत, मानवीय स्वभाव का सिद्धांत और सीखने का सिद्धांत जैसे अपने सिद्धांतों से काफी योगदान दिया है। शिक्षा में नवाचारों की दृष्टि से उनके विचारों का अवलोकन महत्वपूर्ण है।

3.6.1 एम. के. गांधी

महात्मा गांधी ने न केवल भारत के राजनीतिक क्षेत्र में विलक्षण कार्य किया अपितु विश्व के राजनीतिक चिन्तन में बड़ी क्रांतिकारी मौलिक देन दी। गांधी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को 'गांधीवाद' का नाम दिया जाता है। महात्मा गांधी प्लेटो आदि की भांति कोरे दार्शनिक नहीं, किन्तु धार्मिक भावना से अनुप्राणित होकर जनकल्याण के लिए अनवरत कार्य करने वाले कर्मयोगी थे। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू या मार्क्स की भांति क्रमबद्ध या व्यवस्थित रूप से अपने सिद्धांतों की विवेचना नहीं की, अपितु अपने सामने आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन किया, अपने विचार प्रकट किए और लेख लिखे। इसलिए विभिन्न अवसरों पर व्यक्त किए गए उनके विचारों में कुछ विरोध या असंगतियां भी मिलती हैं।

शिक्षा का अर्थ

गांधी ने शिक्षा का अर्थ समझाते हुए हरिजन में लिखा था कि 'शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक एवं मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के उत्कृष्ट एवं सर्वांगीण विकास से है।' By education, I mean an all round drawing out of the best instincts in child's body, mind and spirit. 'साक्षरता शिक्षा की न तो अंतिम सीढ़ी है और न ही प्रथम सोपान। यह तो स्त्री–पुरुष को शिक्षित करने का एक साधन है, साक्षरता स्वयं शिक्षा नहीं

टिप्पणी

कहला सकती है। उनका विश्वास था कि शिक्षा को बालक की समस्त शक्तियों का विकास करना चाहिए, जिससे वह पूर्ण मानव बन जाए। पूर्ण मानव का अर्थ बालक के व्यक्तित्व के चारों तत्वों–शरीर, हृदय, मस्तिष्क तथा आत्मा के समुचित विकास से है।

महात्मा गांधी द्वारा दी गई इस परिभाषा में दो शब्दों का विश्लेषण करना अत्यंत आवश्यक है–

(क) बाहर निकालना (To draw out)– शिक्षा शास्त्रियों में इस बात पर मतभेद है कि शिक्षा का अंग्रेजी शब्द Education किस शब्द से बना है। प्रबल विचार यही है कि Education शब्द लैटिन भाषा के Educare शब्द से बना है, जिसका अर्थ है प्रेरणा अथवा बाहर निकालना (To lead out or to draw out.) इस संबंध में स्वामी विवेकानन्द जी ने लिखा है, ''ज्ञान बच्चे के अंदर विद्यमान होता है।'' (Knowledge resides within an individual.) फ्रोबेल का भी इससे मिलता–जुलता मत है। उनके अनुसार, ''शिक्षा जो बच्चे के अंदर निहित है, उसे व्यक्त करना है।'' (Education is to make explicit what is already implicit in the child.) अर्थात ज्ञान पहले से बालक के अंदर होता है। इसे बाहर निकालना शिक्षा का कार्य होता है। फ्रोबेल ने ज्ञान और शिक्षा की तुलना बीज एवं वृक्ष से की है। वृक्ष बीज के अंदर निहित है, परंतु यह व्यक्त तभी होता है जब कुछ समय तक माली इसमें पानी व खाद दे और पौधों को उचित प्रकाश या तापमान मिलता है। इसी प्रकार ज्ञान तो बालक के अंदर निहित (जन्मजात) होता है। शिक्षा का कार्य उसे बाहर निकालना है।

(ख) सर्वोत्तम प्रवृत्तियां (Best Instincts)– ये प्रवृत्तियां न नैतिक होती हैं और न अनैतिक। ये स्वयं में नैतिकता या अनैतिकता का तत्व नहीं रखती हैं, जैसे– बालकों में लड़ने की प्रवृत्ति (Instinct of Pugnacity) होती है। इस प्रवृत्ति की तृप्ति दो प्रकार से की जा सकती है। यदि बालक बीमारियों, अज्ञानता अथवा निरक्षरता के विरुद्ध अभियान छेड़ता है तो यह लड़ाई नैतिक तथा निर्माणकारी होती है, किन्तु यदि वही बालक अपने माता–पिता, अध्यापकों या सहपाठियों के साथ छोटी–छोटी बातों के लिए लड़ता है तो यह प्रवृत्ति अनैतिक तथा विनाशकारी मानी जाती है।

गांधी के अनुसार, शिक्षा के द्वारा बालकों में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम और विश्व बंधुत्व आदि की भावनाओं का विकास करना तथा ऐसे नागरिक उत्पन्न करना है, जो स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी, आत्म अभिमानी और संयमी हों।

गांधी ने लिखा है कि उस मनुष्य को सच्ची शिक्षा मिली है, जिसका शरीर इतना सधा हुआ है कि वह उसे काबू में रख सके और आराम व आसानी के साथ बताया हुआ कार्य करे, उस व्यक्ति को सच्ची शिक्षा मिली है, जिसकी बुद्धि शुद्ध, शांत व न्यायदर्शी है, उस व्यक्ति ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसकी अन्तर्वृत्ति विशुद्ध है, जिसका मन प्रकृति के नियमों से भरा है, जिसकी इन्द्रियां अपने वश में हैं और जो आदमी नीच आचरण को धिक्कारता है तथा दूसरों को अपने जैसा समझता है। ऐसा व्यक्ति सचमुच में शिक्षा पाया हुआ माना जाता है।

टिप्पणी

महात्मा गांधी का शिक्षा–दर्शन

वर्तमान समय में हम सभी शिक्षा के महत्व से भली भांति परिचित हो चुके हैं। देश के चहुंमुखी विकास में शिक्षा का योगदान महत्वपूर्ण होता है। जिस देश की जनता जितनी अधिक शिक्षित होती है उस देश का विकास भी उतना ही निरन्तर होता रहता है क्योंकि उस देश की जनता भली भांति अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का प्रयोग करती है। साथ ही शिक्षित व्यक्ति स्वयं ही अपना रोजगार शुरू करके अपनी आजीविका का निर्वहन भी करते हैं। इसके ठीक विपरीत जिस देश की जनता अशिक्षित होती है उस देश का विकास भी अवरुद्ध होता जाता है।

गांधी की शिक्षा योजना जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। वे शिक्षा को केवल साक्षरता से ही नहीं जोड़ते थे, वे तो शिक्षा को आत्मा, मस्तिष्क तथा शरीर के विकास के साथ–साथ राष्ट्र के विकास के साथ जोड़ते थे। वे शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य मानते थे क्योंकि शिक्षा लोगों के चरित्र और जीवन पद्धति को बदलने का काम करती है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति का सामाजिक तथा भावात्मक विकास होता है। गांधी का कहना था कि ''शिक्षा यदि सिर्फ अक्षर ज्ञान हो तो वह एक साधन जैसे ही हुई। उसका अच्छा उपयोग भी हो सकता है और वही शस्त्र किसी की जान लेने के लिए भी काम में लाया जा सकता है। अक्षर ज्ञान भी ऐसा ही है बहुत से लोग उसका बुरा उपयोग करते हैं यह तो हम देखते ही हैं। उसका अच्छा उपयोग प्रमाण में कम ही लोग करते हैं। यह बात अगर ठीक है तो इससे यह साबित होता है कि अक्षर ज्ञान से दुनिया को फायदे के बदले नुकसान ही हुआ है।''

यंग इण्डिया में गांधी ने लिखा है– ''शिक्षा को निरी साहित्यिक बना देना तथा लड़कों और लड़कियों को उनके जीवन में हाथ के काम के लिए अयोग्य बना देना गुनाह है–चूंकि हमारा अधिकांश समय अपनी रोजी कमाने में लगता है, इसलिए हमारे बच्चों को बचपन से ही इस प्रकार के परिश्रम का गौरव सिखाना चाहिए। हमारे बालकों की पढ़ाई ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिससे वे मेहनत का तिरस्कार करने लगें। कोई कारण नहीं कि क्यों एक किसान का बेटा किसी स्कूल में जाने के बाद खेती के मजदूर के रूप में आजकल की तरह निकम्मा बन जाए। यह अफसोस की बात है कि हमारी पाठशालाओं के लड़के शारीरिक श्रम को तिरस्कार की दृष्टि से चाहे न देखते हों पर नापसन्दगी की नजर से तो जरूर देखते हैं।

गांधी का शिक्षा दर्शन उनके जीवन–दर्शन पर आधारित है। उनकी सत्य, अहिंसा, त्याग, निष्ठा एवं सहानुभूति आदि मानवीय गुणों में श्रद्धा थी और जीवनपर्यन्त रही। इन मानवीय गुणों को शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। गांधी के जीवन में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक सभी पक्षों को स्थान मिला। गांधी का शिक्षा दर्शन उनके जीवन–दर्शन का गतिशील पक्ष है। गांधी के शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद का अद्‌भुत समन्वय पाया जाता है। इनका दृष्टिकोण भौतिकवादी भी दिखाई पड़ता है। गांधी ने उत्पाद क्रिया को माध्यम बनाने की संस्तुति की है। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक बालक अपने बचपन से ही अपनी रोटी कमाने के लिए आदत बनाए और शिक्षा में श्रम तथा वैज्ञानिक ज्ञान को साथ जोड़ने की क्षमता होनी चाहिए। यह संकेत भौतिकवादी भावना को प्रकट करता है।

टिप्पणी

शिक्षा का आधारभूत सिद्धांत

गांधी की शिक्षा के आधारभूत सिद्धांत निम्नांकित हैं–

- शिक्षा द्वारा बालक में शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक क्षमताओं को विकसित करना।
- शिक्षा द्वारा बालक–बालिकाओं में निहित समस्त मानवीय गुणों का विकास करना।
- 7 से 14 वर्ष के बालकों की शिक्षा निःशुल्क करना।
- शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना ताकि छात्र में उसके प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण उत्पन्न हो।
- शिक्षा का व्यवसायकेन्द्रित होना।
- किसी उद्योग के द्वारा शिक्षा को स्वावलंबी बनाना।
- बालक की शिक्षा किसी लाभकारी हस्तकला व दस्तकारी से प्रारम्भ करना जिससे वह अपने भावी जीवन में अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके।
- विद्यालय ऐसा होना चाहिए जहां बालक अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा नई–नई खोजें करता रहे।
- शिक्षा के द्वारा बालकों में बंधुत्व, सहयोग और समाज सेवा की भावना उत्पन्न करना।
- शिक्षा द्वारा बालक के व्यक्तित्व, शरीर, हृदय, मस्तिष्क और आत्मा का सामंजस्यपूर्ण विकास करना।

गांधी के शिक्षा दर्शन को प्रभावित करने वाले तत्व

महात्मा गांधी जिस किसी भी सिद्धांत की बात करते थे, उसे पहले करके देखते थे। गांधी का शिक्षा–दर्शन तथा पद्धति समय–समय पर किए गए प्रयोगों का परिणाम थी।

(1) महात्मा गांधी ने टॉल्सटॉय आश्रम में एक अखबार निकाला। आश्रम की प्रेस में वह छपता था। प्रेस को केन्द्र मानकर उन्होंने शिक्षा के प्रयोग स्वयं अपने एवं आश्रम के बच्चों पर किए।

(2) महात्मा गांधी का जीवन–दर्शन उनके शिक्षा–दर्शन को प्रभावित करता था।

(3) महात्मा गांधी को विद्यमान शिक्षा–प्रणाली के प्रति असंतोष था।

(4) महात्मा गांधी यह मानकर चलते थे कि भारत का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कल्याण शिक्षा की पुनर्रचना से ही संभव है।

गांधी के शिक्षा–दर्शन की प्रमुख विशेषताएं

महात्मा गांधी के शिक्षा दर्शन की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं–

टिप्पणी

(1) **शिक्षा–दर्शन में आदर्शवाद** (Idealism in Educational Philosophy)– महात्मा गांधी का संपूर्ण शिक्षा–दर्शन आदर्शवाद की प्राप्ति के लिए है। वे स्वयं आध्यात्मिकता में विश्वास रखते थे। उनका कहना है–'जीवन का अंतिम लक्ष्य ईश्वरोपलब्धि है। मानव की समस्त क्रियाएं–सामाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक ईश्वर–दर्शन से निर्देशित होती हैं।

(2) **व्यावहारिक शिक्षा–दार्शनिक** (Practical Educational Philosophy)– महात्मा गांधी की यह विशेषता थी कि वे आचार तथा विचार में सदैव संतुलन रखते थे। वह पहले प्रयोग करते थे। उसी के आधार पर अपने विचारों को व्यक्त करते थे।

(3) **गतिशील शिक्षा–दर्शन** (Dynamic Educational Philosophy)– महात्मा गांधी का शिक्षा–दर्शन उनके संपूर्ण जीवन–दर्शन का गतिशील पहलू था। उन्होंने अपने शिक्षा–दर्शन में जीवन के सभी पहलुओं को सम्मिलित किया है। उद्देश्य से लेकर परिणाम तक उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए हैं।

(4) **बालक महत्वपूर्ण** (Child is Important)– बापू के शिक्षा–दर्शन में बालक को साधन से महत्वपूर्ण माना गया है। सारी शिक्षा ही बालक को प्रदान की जाती है। इसी कारण बालक को संपूर्ण शिक्षा–प्रणाली में अति–महत्वपूर्ण माना गया है।

(5) **सच्ची शिक्षा** (True Education)– महात्मा गांधी ने बालक को सच्ची शिक्षा देने का प्रस्ताव रखा है। उसके विचार में शिक्षा से मेरा तात्पर्य, बालक तथा मनुष्य के सर्वांगीण विकास शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा से है।

(6) **उद्योग–केन्द्रित** (Craft Centred)– गांधी ने करके सीखने की विधि (Learning by doing) का अनुकरण करते हुए शिक्षा को उद्योग–केन्द्रित किया है। बालक जो भी सीखे, वह उद्योग केन्द्रित हो। उद्योग–केन्द्रित प्रशिक्षण का आर्थिक तथा शैक्षिक–दोनों प्रकार का महत्व होता है। शिक्षा का मूल्य (Value) मानव के संपूर्ण विकास में निहित होता है। यह उद्योग के द्वारा आत्म–निर्भरता की ओर ले जाने का संकेत है।

(7) **क्रिया तथा अनुभव** (Activity And Experience)– गांधी के शिक्षा दर्शन में क्रिया तथा अनुभव का स्थान बहुत है। विद्यालय कार्य, प्रयोग तथा खोज का केन्द्र स्थल होता है। इसका पाठ्यक्रम क्रिया–प्रधान होता है।

(8) **आत्म–निर्भरता** (Self-Supporting Aspect)– गांधी चाहते थे कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे शिक्षक, विद्यालय तथा छात्र सभी अपना–अपना खर्च निकाल सकें।

(9) **यथार्थ परिस्थिति** (Concrete Life Situation)– महात्मा गांधी जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के मध्य शिक्षा देना चाहते थे। उनका ऐसा विचार था कि

वर्तमान शिक्षा प्रणाली का प्रमुख दोष यही है कि वह जीवन के यथार्थ से परे है। उनके विचार में 'प्रत्येक शिक्षाशास्त्री एवं वह व्यक्ति जो छात्रों के हित हेतु कुछ भी करता है, उसने यह महसूस किया कि हमारी शिक्षा–प्रणाली दोषपूर्ण है। यह विधि भारत की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती। ग्राम एवं गृह के मध्य यह शिक्षा सम्पर्क स्थापित नहीं करती।

शिक्षा के उद्देश्य

महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तावित शिक्षा के उद्देश्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– (1) वास्तविक उद्देश्य (Ultimate Aim), (2) तात्कालिक उद्देश्य (Immediate Aim)।

(1) वास्तविक उद्देश्य– गांधी के शिक्षा–दर्शन में वास्तविक अथवा सर्वोच्च उद्देश्य निम्न हैं–

आत्मबोध का उद्देश्य (Self Realization Aim)– शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को आत्मबोध होना है। शिक्षा का उद्देश्य है– अंतिम वास्तविकता का अनुभव, ईश्वर और आत्मानुभूति का ज्ञान। इस उद्देश्य के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे मनुष्य अंतिम वास्तविकता को पहचान सके और अपने नश्वर शरीर को ईश्वर में विलीन कर सके। उन्होंने इस संदर्भ में लिखा है–''टॉल्सटॉय फार्म पर बच्चों को शिक्षा देने का कार्य करने से पूर्व मुझे इस बात का ज्ञान हो गया था कि आत्मा का प्रशिक्षण स्वयं में एक महान कार्य है। आत्मा का विकास करना चरित्र का निर्माण करना है और व्यक्ति को ईश्वरानुभूति तथा आत्मानुभूति के योग्य बनाना है।'' सांसारिक बंधनों से 'सा विद्या या विमुक्तये' गांधी के इस आदेश के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव को सांसारिक बंधनों से मुक्त करना है।

(2) तात्कालिक उद्देश्य– गांधी के अनुसार शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

जीविकोपार्जन उद्देश्य (Bread & Butter Aim)– शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना होना चाहिए कि उसे आगे चलकर बेकारी व बेरोजगारी का सामना न करना पड़े। गांधी के अनुसार–'शिक्षा को बालकों को बेरोजगारी के प्रति एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिए। 7 वर्ष का पाठ्यक्रम समाप्त करने के पश्चात् 14 वर्ष की आयु में बालक को कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय से बाहर भेजना चाहिए।' उन्होंने आगे कहा है– 'यह शिक्षा एक प्रकार से बेरोजगारी के खिलाफ बीमे के रूप में होनी चाहिए। यहां तक कि राज्य को सात वर्ष की आयु में ही बालक का दायित्व ले लेना चाहिए और परिवार की कमाने वाली इकाई के रूप में लौटाना चाहिए। आप इसके माध्यम से एक ओर शिक्षा देते हैं तो दूसरी ओर बेकारी पर कुठाराघात करते हैं।'

सांस्कृतिक उद्देश्य (Cultural Aims)– गांधी सांस्कृतिक उद्देश्य की भी शिक्षा में अपेक्षा करते थे। उनके अनुसार–'मैं शिक्षा के साहित्यिक पक्ष की अपेक्षा सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्व देता हूं। संस्कृति बालिकाओं की मुख्य वस्तु है। उन्हें अपने बोलने,

टिप्पणी

चलने, कपड़े पहनने और छोटे–छोटे कार्य तथा व्यवहार में संस्कृति को व्यक्त करना चाहिए।'

संतुलित व्यक्तित्व विकास का उद्देश्य (The overall Development Aim)– महात्मा गांधी शिक्षा के द्वारा विकास करना चाहते थे, इसका तात्पर्य हाथ (Hands), हृदय (Heart) एवं सिर (Head) से है। इसलिए उन्होंने मस्तिष्क, शरीर व आत्मा के विकास की बात कही है। गांधी के अनुसार, 'शिक्षा का उद्देश्य संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण कर उसे विकसित करना है। व्यक्तित्व के निर्धारक (मानसिक, संवेगात्मक, शारीरिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक) अर्थात सभी में संतुलन एवं सामंजस्य रखते हुए विकसित करना है। गांधी के शब्दों में 'शरीर, आत्मा तथा मस्तिष्क का उचित सामंजस्य संपूर्ण व्यक्तित्व की रचना करता है और यहां शिक्षा की सच्ची मितव्ययिता का निर्माण करता है।'

नैतिक या आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य (Moral or Spiritual development Aim)– गांधी ने शिक्षा का उद्देश्य सर्वप्रथम वैयक्तिक विकास माना है। वैयक्तिक गुणों के विकास के अभाव में वह सामाजिक विकास के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। गांधी ने वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास के उद्देश्यों को एक–दूसरे का पूरक कहा है। उन्होंने नैतिक शिक्षा को प्रमुख माना है। उनसे एक बार प्रश्न पूछा गया कि स्वाधीन भारत में शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य क्या होना चाहिए? उनका उत्तर था 'चरित्र निर्माण'। योग्यता के उद्देश्यों की प्राप्ति साक्षरता से अधिक महत्व का है। बौद्धिक प्रशिक्षण तो इस महान कार्य का एक भाग है....शिक्षा का समापन चरित्र–निर्माण से होना चाहिए। गांधी ने विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र माना ताकि दोनों में एक दूसरे के समीप आकर सेवा एवं सामाजिक सम्पर्क स्थापित किया जा सके।

गांधी की शिक्षा को देन

गांधी के दर्शन का आधार आदर्शवाद है तथा प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद मात्र उसके सहायक हैं। गांधी का शिक्षा–दर्शन क्योंकि बालक की प्रवृत्ति पर पूरा ध्यान देता है, इसलिए वह प्रकृतिवादी है, क्योंकि यह दर्शन बालक को रुचि के अनुसार सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर क्रिया करके सीखने पर बल देता है। अतः वह इस अर्थ में प्रयोजनवादी है। आदर्शवादी वह इस अर्थ में है, क्योंकि गांधी शिक्षा का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति को मानते हैं, वे बालकों को सत्य और अहिंसा का अमरपाठ पढ़ाना चाहते हैं। डॉ. एम.एस. पटेल के शब्दों में, 'दार्शनिक के रूप में गांधीवाद की महानता इस बात में है कि उनके शिक्षा–दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियां अलग और स्वतंत्र नहीं हैं वरन् वे सब मिलजुलकर एक हो गई हैं, जिससे ऐसे शिक्षा–दर्शन का जन्म हुआ है, जो आज की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त होगा, मानव आत्मा की सर्वोच्च आकांक्षाओं को संतुष्ट करेगा। गांधी की भारतीय शिक्षा को सबसे बड़ी, सबसे महत्वपूर्ण और सबसे मूल्यवान देन वर्धा योजना है। गांधी के शिक्षा संबंधी विचारों के आधार पर हम निर्विवाद रूप से यह कह सकते हैं कि महात्मा गांधी इस युग के महान शिक्षार्थी थे। हुमायूं कबीर के शब्दों में, 'गांधी की राष्ट्र को नवीन शिक्षा के प्रयोग की देन सर्वोत्तम है।'

टिप्पणी

3.6.2 पाउलो फ्रेइरे

पाउलो फ्रेइरे का जन्म ब्राजील के रेकिफ में आर्थिक मध्यवर्गीय परिवार में 19 सितंबर 1921 में हुआ। इन्होंने उस महामंदी के दौरान निर्धनता व क्षुधा (भूख) के बारे में सीखा जब निर्धनों के प्रति इनमें चिंताएं रूप ले रही थीं एवं जो इनकी अपनी विशेष शैक्षणिक विश्वदृष्टि का सृजन करने में सहायक हुईं।

फ्रेइरे ने सन 1943 में रेकिफ के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। स्कूल ऑफ लॉ (School of Law) में नामांकन किया परंतु दर्शनशास्त्र एवं भाषा के मनोविज्ञान का भी अध्ययन किया। बार एसोसिएशन में प्रविष्ट होकर इन्होंने वास्तव में कानून की प्रेक्टिस की ही नहीं एवं इसके बजाय सेकेण्डरी स्कूलों में अध्यापक के रूप में पुर्तगाली भाषा के अध्यापन का कार्य किया।

सन 1944 में इन्होंने एक सह–शिक्षिका से विवाह किया। यह दम्पति कैथोलिक एक्शन मूवमेंट के माध्यम से समाज–सेवा करने लगा किन्तु शीघ्र ही इन्होंने समूह को छोड़ दिया, जब इन्हें लगा कि समूह के सदस्यों की जीवन शैलियां उस ईसाई विश्वास की विरोधी हैं जिनका दावा वे किया करते हैं। इसके बजाय इन्होंने स्वयं की सेवाओं का आयोजन करना आरम्भ कर दिया व स्थानीय समुदाय की सामाजिक समस्याओं में उतरने लगे।

सन 1946 में फ्रेइरे को एक ब्राजीलियाई राज्य में सामाजिक सेवाओं की संस्कृति व शिक्षा विभाग का निदेशक नियुक्त किया गया जिसकी राजधानी रेकिफ थी। ब्राजील में उस समय राष्ट्रपति–निर्वाचनों में मतदान करने में साक्षरता एक आवश्यकता थी। सर्वप्रथम निरक्षर निर्धनों के साथ काम करते हुए फ्रेइरे ने गैर–रूढ़िवादी रूप को अपनाना आरम्भ कर दिया जिसे 'लोक शिक्षा' कहा जाने लगा।

सन 1961 में इन्हें रेकिफ विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक विस्तार विभाग के निदेशक के रूप में नियुक्त किया गया। सन 1962 में इन्हें अपने सिद्धांतों के महत्वपूर्ण अनुप्रयोग का प्रथम अवसर मिला जब 300 गन्ना–श्रमिकों को मात्र 45 दिनों में पढ़ना–लिखना सिखा दिया। इस प्रयोग से प्रतिक्रिया में ब्राजीलियाई शासन ने देशभर में सैकड़ों सांस्कृतिक मण्डलियों के निर्माण का अनुमोदन कर दिया। सन 1967 में फ्रेइरे ने अपनी प्रथम पुस्तक 'Education as the Practice of Freedom' प्रकाशित की।

पुस्तक की सराहना की गई एवं फ्रेइरे के समक्ष सन 1969 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक का प्रस्ताव रखा गया। पूर्ववर्ती वर्ष इन्होंने अपनी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'दमितों का शिक्षणशास्त्र' (Pedagogy of the Oppressed) को स्पैनिश व आंग्लभाषा में भी सन 1970 को प्रकाशित किया। सैन्य तानाशाहियों व ईसाई समाजवादियों के मध्य राजकीय कलह के कारण पुस्तक को सन 1974 तक ब्राजील में प्रकाशित नहीं किया गया जब तक अरनेस्टो गिजल ने ब्राजील को अपने नियन्त्रण में नहीं कर लिया व सांस्कृतिक उदारीकरण की अपनी प्रक्रिया आरम्भ नहीं कर दी।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में एक वर्ष उपरान्त फ्रेइरे स्विट्जरलैंड स्थित जेनेवा की ओर निकल पड़े ताकि गिरजाघरों की विश्व परिषद् में विशेष शिक्षा परामर्शदाता का कार्य कर

टिप्पणी

सकें। उस समय फ्रेइरे ने अफ्रीका में भूतपूर्व पुर्तगाली उपनिवेशों में शिक्षा सुधार के परामर्शदाता का कार्य किया।

सन 1979 में ये ब्राजील लौट पाए जहाँ São Paulo के शहर में Workers' Party (PT) से जुड़े व सन 1980 से सन 1986 तक अपनी वयस्क साक्षरता परियोजना के लिए पर्यवेक्षक के रूप में काम किया। जब नगरनिगम निर्वाचनों में सन 1988 को Workers' Party (PT) जीती तो फ्रेइरे को साओ पाउलो के लिए शिक्षा–सचिव नियुक्त किया गया।

सन 1986 में इनकी पत्नी की मृत्यु हो गई एवं इन्होंने दूसरा विवाह कर लिया जो कि स्वयं कट्टर सुधारक थीं। फ्रेइरे को 'शांति के लिए शिक्षा' हेतु सन 1986 में यूनेस्को प्राइज प्राप्त हुआ। सन 1991 में पाउलो फ्रेइरे इंस्टीट्यूट की स्थापना साउ पाउलो में की गई ताकि लोक–शिक्षा संबंधी इनके सिद्धांतों का विस्तार किया जा सके। इस संस्था ने फ्रेइरे के अभिलेखों का अनुरक्षण किया। 2 मई सन 1997 में साओ पाउलो में फ्रेइरे की मृत्यु हो गई।

पाउलो फ्रेइरे द्वारा शिक्षा के दर्शनशास्त्र में किए गए योगदानों का उद्‌गम अनेक दिशाओं से हुआ– प्लेटो के अधिक पारंपरिक दृष्टिकोण से तो हुआ ही, साथ में आधुनिक मार्क्सवादी व उपनिवेश–विरोधी विचारकों से भी हुआ। वस्तुतः कई प्रकारों से इनकी 'Pedagogy of the Oppressed' (दमितों का शिक्षणशास्त्र) Frantz Fanon's *The Wretched of the Earth* (1963) के विस्तार अथवा 'से प्रतिक्रिया' में बेहतर पढ़ा जा सकता है जिसमें मूलनिवासी जनसंख्याओं को ऐसी शिक्षा प्रदान करने पर जोर दिया गया था।

फ्रेइरे ने शिक्षा की 'बैंकिंग' अवधारणा पर आक्रमण कर दिया जिसमें शिक्षार्थियों को एक रिक्त खाते जैसा देखा जाता था जिसे कि अध्यापक द्वारा भरा जाना है, वैसे भी इस दृष्टिकोण की आलोचनाएं नवीन नहीं थीं। 'रिक्त तख्ती' / 'ब्लैंक स्लेट' / 'टॅब्युला रासा' के रूप में बच्चे की अवधारणा (जो कि मूलतः 'बैंकिंग अवधारणा' के समान है) को पहले ही इनके द्वारा नकारा जा चुका था।

फ्रेइरे ने अध्यापक–शिक्षार्थी व शिक्षार्थी–अध्यापक के सन्दर्भों में सोचना चाहा, अर्थात ऐसा अध्यापक जो सीखे व ऐसा शिक्षार्थी जो सिखाए– कक्षायी सहभागिता की मूलभूत भूमिकाओं के रूप में। एक अध्यापक से शिक्षार्थी तक ज्ञान–हस्तान्तरण की प्रक्रिया को 'अध्यापन' नहीं माना जा सकता; यह तो एक यांत्रिक स्थलान्तरण हुआ जिसके परिणामस्वरूप यंत्रवत स्मृतिबद्धता कर ली जाती है। इस प्रकार फ्रेइरे का उपागम ऐसा एक प्रयास था जिसमें लोकतन्त्र जैसे कुछ को शैक्षणिक विधि के रूप में स्थापित करने का सोचा गया, न कि शिक्षा के लक्ष्यमात्र के रूप में। ड्यूवी (जिनके लिए लोकतन्त्र एक मापदण्ड था) ने भी लोकतान्त्रिक पद्धति को अपनी विधियों में पूर्णतया एकीकृत करने का प्रयास नहीं किया। फ्रेइरे ने दावा किया कि सच्चा ज्ञान 'अनुभवजन्याधारित सीख' से ही उपज सकता है एवं सीखने की महानतम विधि के रूप में सेवा–सीख (सर्विस–लर्निंग) का समर्थन किया। उन्होंने इस आंतरिक अभिप्रेरणा को सफल सीख की कुंजी के रूप में देखा एवं संवाद को मुख्य विधि के रूप में। इस प्रकार इन्होंने शिक्षार्थियों व अध्यापक के मान की समानता पर जोर दिया।

टिप्पणी

दमितों का शिक्षणशास्त्र

'दमितों का शिक्षणशास्त्र' (Pedagogy of Oppressed) को फ्रेइरे के कार्यों में सर्वाधिक व्यापक रूप से जाना जाता है। सन 1970 में प्रथमतया प्रकाशित इस पुस्तक में शैक्षणिक तन्त्र में न्याय व समता के लिए संघर्ष को रेखांकित किया गया है एवं नवीन शिक्षणशास्त्र प्रस्तावित किया गया है।

फ्रेइरे ने विस्तृत मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण अपनी खोज में सम्मिलित किया है, वह भी उपनिवेशवादी व उपनिवेशित के मध्य के संबंध की खोज में।

स्वाधीनता को विजय द्वारा अर्जित किया जाता है, वह उपहार में नहीं मिला करती। इसका अनुगमन निरन्तर व उत्तरदायी रूप से करना ही होता है। स्वाधीनता मानव के बाहर स्थित कोई धारणा नहीं है, न ही यह ऐसा कोई विचार है जो भ्रांति बन जाए। यह वस्तुतः मानवीय सम्पूर्णता के अन्वेषण की एक अनिवार्य स्थिति है।

शिक्षा के संबंध में फ्रेइरे ने तर्क किया कि चिंतन व क्रिया के मध्य आमूल–चूल अन्योन्य क्रिया में प्रयुक्त शब्द एवं सच्चे शब्द रूपान्तरणकारी होते हैं। संवाद में पारस्परिक सम्मान व सहकारिता आवश्यक है– समझ विकसित करने में ही नहीं वरन् विश्व को परिवर्तित करने में भी। फ्रेइरे के अनुसार 'प्रामाणिक' शिक्षा में अध्यापक व शिक्षार्थी के मध्य संवाद किया जाएगा, व्यापक विश्व–परिदृश्य द्वारा मध्यस्थता की जाएगी।

फ्रेइरे ने शिक्षा के 'बैंकिंग' उपागम को नकार दिया एवं दावा किया कि इससे शिक्षार्थियों व अध्यापकों दोनों का अमानवीयकरण होता है। इसके स्थान पर फ्रेइरे ने अधिक विश्व–मध्यस्थ, पारस्परिक शिक्षा–उपागम का पक्ष लिया जिसमें लोगों को अपूर्ण माना गया। शिक्षा में इस 'प्रामाणिक' उपागम में लोगों को अपनी अपूर्णता से अवगत होने देना ही होगा एवं अधिक पूर्ण मानव बनने की ओर बढ़ने देना होगा। व्यक्ति व समाज को सचेतरूपेण गढ़ने के साधन के रूप में शिक्षा का प्रयोग करने के इस प्रयास को 'सचेतनीकरण' कहा गया जो कि पहली बार पुस्तक में फ्रेइरे द्वारा प्रयुक्त शब्द था।

पाउलो फ्रेइरे द्वारा लिखित दमित–शिक्षणशास्त्र दार्शनिक, राजकीय व शैक्षणिक सिद्धांत का संयोजन है। फ्रेइरे ने दमित के वाद एवं मुक्ति के सूत्र को रूपरेखाबद्ध किया। फ्रेइरे की दृष्टि में मुक्ति की कुंजी है– व्यक्ति में महत्तापूर्ण जागृति व विचार–प्रक्रिया ले आना। शिक्षा के नवीन प्रकार के माध्यम से जिसमें कि अध्यापक व शिक्षार्थी के मध्य साझेदारी निर्मित हो जाए, संवाद में उतरने के लिए शिक्षार्थी सशक्त हो जाए एवं विचार व इसकी सहसंबंधी क्रिया के माध्यम से मानवीकरण की प्रक्रिया आरम्भ कर दी जाए।

फ्रेइरे ने अपनी पुस्तक का आरम्भ प्राक्कथन से किया जिसमें दमितों में महती चेतना विकसित करने के विचार से अवगत कराया गया है। फ्रेइरे ने दमितों में स्वाधीनता के भय की समस्या से अवगत कराया जो दमन की परिस्थिति में निमग्न कर दिए जाने से प्रभावित हैं। दमित व्यक्ति स्वयं को बाहर से देखें, अपनी परिस्थिति को समझें एवं अपने विश्व के बारे में सोचना आरम्भ करें। शिक्षा में संवाद के माध्यम से ऐसा घटित

होता है। फ्रेइरे ने यह स्पष्ट किया कि इनका परिप्रेक्ष्य (पर्स्पेक्टिव) आमूल–चूल परिवर्तनकारी है एवं इनके सिद्धांतों से सहमत होना होगा व पाठकों को परिवर्तन को स्वीकार करना ही होगा।

टिप्पणी

फ्रेइरे ने महत्तापूर्ण चेतना को सम्बद्ध किया एवं परिणाम में विचार व क्रिया का संश्लेषण इस रीति में किया ताकि मानवता को वापस पाया जा सके तथा मानवीकृत हुआ जा सके। इस प्रकार फ्रेइरे ने मानवता की आधारभूत इच्छा के लिए संघर्ष किया एवं बताया कि दमन अमानवीय है। फ्रेइरे का कहना था कि दमित व्यक्ति स्वयं को व दमनकर्ताओं को दमन से स्वयं ही बचा सकता है तथा मुक्ति का आगमन दमित के भीतर से होना चाहिए जिसे यथार्थता की महत्तापूर्ण समझ में विचार के माध्यम से अपने प्रकार से कार्य करना होगा जिससे क्रिया में परिणति हो।

फ्रेइरे ने अध्यापक व शिक्षार्थी के पारम्परिक संबंध का विरोध किया। इस दुष्क्रियात्मक, दमित तन्त्र में अध्यापक अपना नियन्त्रण बनाए रखता है व दमनकर्ता की भूमिका ग्रहण करता है जबकि शिक्षार्थी से अपेक्षा की जाती है कि वह अक्रिय, विचारहीन व अनुसरणकर्ता रहे। अध्यापक द्वारा शिक्षार्थियों में जानकारियां जमा कर दी जाती हैं मानो वे इन जमावों के लिए किसी खाली पात्र (बर्तन) जैसे हों। फ्रेइरे ने समस्यायुक्त शिक्षा को पारम्परिक शिक्षा के सफल विकल्प के रूप में प्रस्तावित किया। समस्यायुक्त शिक्षा को इस प्रकार गढ़ा जाता है कि जिससे शिक्षार्थियों में सोचने की क्षमता फले–फूले। इस प्रकार की शिक्षा में अध्यापक व शिक्षार्थी साझेदारी में उतरते हैं एवं समस्याओं के समापन तक आने के लिए संयुक्त संवाद में जुड़ जाते हैं। समाधानों को अध्यापक द्वारा पूर्वनिर्धारित नहीं किया गया होता है अपितु संवाद की प्रक्रिया के दौरान मिलकर उन तक पहुंचना होता है। अध्यापक व शिक्षार्थी एक–दूसरे से सीखते हैं।

फ्रेइरे ने समुदाय में लोगों के साथ काम करने की विधिपद्धति का विस्तार किया ताकि उन विषयों (थीम्स) को समझा जा सके जो उनके जीवन में महत्वपूर्ण हैं एवं अध्ययन की वस्तुएं सामने लाई जा सकें, जैसे कि चित्र, श्रव्य साक्षात्कार, फिल्म स्ट्रिप्स, पाठ्य अथवा अन्य माध्यम ताकि संवाद के केन्द्र के रूप में उन्हें लाया जा सके। तदोपरान्त फ्रेइरे ने रूपरेखाबद्ध किया कि उनका विचार राजनीति एवं दमितों में, क्रांतिकारी नेताओं में उद्‌गम में कैसे प्रयोग किया जा सकता है। इन्होंने चार दमनकारी युक्तियों को रूपरेखाबद्ध किया जो संवाद के विरुद्ध थीं व दमनकारी नेताओं द्वारा जिनका प्रयोग लोगों को नियन्त्रित करने में किया जाता था– विजय, विभाजन, छलयोजन व सांस्कृतिक आक्रमण। इनके विरुद्ध चार संवाद–पक्षधर क्रांतिकारी युक्तियां लाई गईं व उन्हें क्रांतिकारी नेताओं द्वारा प्रयोग किया ही जाना चाहिए– सहकारिता, मुक्ति हेतु ऐक्य, संगठन एवं सांस्कृतिक संश्लेषण।

लोक–शिक्षा

शिक्षा के दर्शन संबंधी फ्रेइरे–कार्य से ये लोकशिक्षा के अग्रणी व्यक्तियों में गिने जाने लगे। ये मार्क्सवाद, अनुभववाद व घटना–क्रियाविज्ञान (फेनोमोनोलॉजी) से अत्यधिक

टिप्पणी

प्रभावित थे एवं ऐसा मानते थे कि शिक्षा का भिन्न प्रयोजन होता है– शोषण व सामाजिक परकीयता (पराएपन) को दूर करते हुए सामाजिक परिवर्तन लाना।

नागरिकता में स्वाधीनता का समावेश निहित माना गया है– काम करने की, भोजन करने की, परिधान धारण करने की, चरणपादुका पहनने की, मकान में सोने की, स्वयं व परिवार का सहयोग करने की, प्रेम करने की, क्रोध करने की, रुदन करने की, विरोध करने की, सहयोग करने की, आगे बढ़ने की, किसी भी सम्प्रदाय/दल में सहभागिता करने की, स्वयं व परिवार को शिक्षित करने की, अपने देश के किसी भी महासागर में तैरने की स्वाधीनता। नागरिकता को अवसर से नहीं पाया जाता; यह एक ऐसी रचना है जो कभी पूर्ण नहीं होती, मांगें उठती जाती हैं जिनके लिए हम संघर्ष करते हैं। इसमें प्रतिबद्धता, राजकीय स्पष्टता, संगतता, निर्णय की मांगें की जाती हैं। इस कारण लोकतान्त्रिक शिक्षा को 'नागरिकता की प्राप्ति के लिए शिक्षा' से परे साकार नहीं किया जा सकता (सांस्कृतिक कार्यकर्ता के रूप में अध्यापक : अकसर उनके लिए जो सिखाने का साहस करें)।

फ्रेइरे ने दावा किया कि अपने–अपने निष्ठुर जीवन के प्रति प्रासंगिक कौशलों को सीखते हुए लोग बेहतर समाज की रचना के लिए सशक्त हो सकते हैं। शिक्षा ऐसी हो जो लोगों को साझे मूल्यों व आदर्शों के चिंतन हेतु प्रोत्साहित करे एवं सामुदायिक सेवा में भागीदारी निभाने हेतु लोगों को अभिप्रेरित करे। फ्रेइरे ने चेताया कि शिक्षा की पारम्परिक शैली में वे ही बातें सिखाते हुए यथास्थिति को बस बढ़ावा दिया जाता है जिन्हें दूसरों को सिखाना सत्तासीन की इच्छा होती है। सत्ता में भाग ले रहे पूंजीवादी, पादरीवर्ग (क्लेर्गी) व राजनीतिज्ञ समाज में छलयोजन करते रहते हैं, कैसे? सत्ता में रहने के लिए व अपने लोभ की तुष्टि के लिए शिक्षा के माध्यम से। इसीलिए शिक्षा में यह आवश्यक है कि इससे लोग बाह्य दमन व आंतरिक अज्ञानता दोनों से मुक्त हों।

आलोचना

फ्रेइरे के सिद्धांतों की आलोचना की गईं है। गिब्सन (2006) ने इनके कार्य की आलोचना पुराने ढंग के समाजवाद और उदार संशोधनवाद के संयोजन के रूप में की।

फ्रेइरे की कक्षा की आलोचना इन आधारों पर की जाती रही कि इससे तो अध्यापक का प्राधिकार ढक सकता है।

'दमितों का शिक्षणशास्त्र' नामक फ्रेइरे की पुस्तक को 17 भाषाओं में प्रकाशित किया जा चुका है एवं यह अब भी इक्कीसवीं शताब्दी में व्यापक रूप से पढ़ी जाने वाली पुस्तक है। सन 1970 में इसके प्रकाशन से पूर्व इसे 'उग्र पुस्तक' कहा जाता है जिसमें ईसाई–लोकतन्त्र का विरोध किया गया हो एवं अराजकता व साम्यवादी लक्षणों को बढ़ावा दिया गया हो। वैसे बाद में फ्रेइरे को उद्धारक शिक्षा का सच्चा अग्रदूत माना गया। एक ऐसा व्यक्ति जिसने शांत व दमित वर्ग को मुक्त कराने के लिए शिक्षा के माध्यम से कार्य किया एवं ऐसा व्यक्ति जिसने दमितों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व सिखाया। लोक–शिक्षा संबंधी इनकी अवधारणा तृतीय विश्व के देशों में व्यापकतया अपनाई गई थी, विशेषतया लैटिन अमेरिका में एवं उसे सार्वभौमिक शिक्षणशास्त्रीय विचार में मौलिक व महत्वपूर्ण लैटिन अमेरिकन योगदान माना जाता है।

टिप्पणी

3.6.3 इवान इलिच

इवान इलिच (4 सितंबर 1926–दिसंबर 2002) एक ऑस्ट्रियाई दार्शनिक, रोमन कैथोलिक पादरी तथा समकालीन पश्चिमी संस्कृति की संस्थाओं और शिक्षा, चिकित्सा, कार्य, ऊर्जा–उपयोग, परिवहन तथा आर्थिक विकास की उत्पत्ति और उस पर प्रभाव के यायावर सामाजिक आलोचक थे।

निजी जीवन

इलिच का जन्म विएना में क्रोएशियाई पिता, इंजीनियर इवान पीटर इलिच और स्पेनिश यहूदी माता ऐलीन नी रेजेनस्ट्रीफ–ऑरटलीएब के यहां हुआ था। उनकी नानी टेक्सास की रहने वाली थीं। इटेलियन, स्पेनिश, फ्रांसीसी और जर्मन इलिच की मूल भाषाएं थीं। बाद में उन्होंने अपने पूर्वजों की भाषा क्रोएशियाई भी सीखी, फिर प्राचीन यूनानी और लैटिन के साथ–साथ पुर्तगाली, हिंदी, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं का भी ज्ञान हासिल किया।

उन्होंने फ्लोरेंस यूनिवर्सिटी इटली से हिस्टोलॉजी (सूक्ष्म–संरचना विज्ञान) और क्रिस्टल विज्ञान तथा पॉन्टिफिकल ग्रेगरियन यूनिवर्सिटी रोम (1942 से 1946) से धर्मशास्त्र (थियोलॉजी) और दर्शनशास्त्र की तथा सेल्जबर्ग से मध्यकालीन इतिहास की पढ़ाई की।

उन्होंने इतिहासकार आर्नोल्ड जे. टॉइनबी पर केंद्रित एक शोध प्रबंध लिखा था और बाद के वर्षों में फिर से उसी विषय पर लौटे। 1951 में उन्होंने न्यूयॉर्क के सबसे निर्धन पड़ोसी और मैनहटन के उत्तरी किनारे पर बसे वॉशिंगटन हाइट्स में इलाकाई पादरी बनने के लिए नाम दर्ज कराया और फिर, प्यूर्टो रिकन प्रवासियों की स्पेनिश बस्ती में। 1956 में 30 वर्ष की उम्र में उन्हें कैथोलिक यूनिवर्सिटी प्यूर्टो रिको में वाइस–रेक्टर नियुक्त किया गया। इस पद पर उन्होंने कई सालों तक काम किया और उसके बाद में उन्हें वहां से निकाल दिया गया, क्योंकि इलिच वेटिकन के जन्म नियंत्रण के बारे में विचारों के ज्यादा ही कटु आलोचक थे और बम के बारे में तुलनात्मक रूप से चुप्पी साधने के भी आलोचक थे। प्यूर्टो रिको में ही इलिच की भेंट एवरेट रीमर से हुई और दोनों ने अपने कार्यों का शैक्षिक नेताओं के रूप में विश्लेषण शुरू किया। 1959 में इलिच ने पैदल और बस से दक्षिण अमेरिका की यात्रा की।

1961 में इलिच ने मेक्सिको में क्योरनावाका में सेंट्रो इंटरकल्चरल डी डॉक्यूमेंटेशन (सीआईडीओसी, या अंतरसांस्कृतिक डाक्यूमेंटेशन सेंटर) की स्थापना की, जो प्रकट रूप में एक शोध केंद्र था जहां उत्तरी अमेरिका के मिशनरियों और जॉन एफ कैनेडी द्वारा शुरू किए गए अलायंस फॉर प्रोग्रेस के स्वयंसेवकों के लिए भाषाई पाठ्यक्रम चलता था। उनका असली इरादा कथित तीसरी दुनिया के "आधुनिक विकास" में वेटिकन की भागीदारी को दर्ज करना था। इलिच उस उदारवादी दया या परंपरावादी अभिमान को संदेह से देखते थे जिसने वैश्विक औद्योगिक विकास के तेजी से उभार को प्रेरित किया था। वे ऐसे गुप्तचरों को औद्योगिक आधिपत्य के रूप में देखते थे और इस तरह से इसे आजीविका का युद्ध मानते थे। वे चर्च द्वारा भेजे गए मिशनरियों को सिखाना चाहते थे कि वे अपने सांस्कृतिक मूल्य न थोपें और अपने आपको मेजबान देश का मेहमान समझने के बजाय उससे खुद को जोड़कर रखें। 60 के पूरे दशक में और

टिप्पणी

70 के दशक के आरंभ में सीआईडीओसी आंशिक रूप से भाषाई स्कूल था और आंशिक रूप से पूरे अमेरिका के लिए बौद्धिक हिप्पियों की यूनिवर्सिटी था।

सीआईडीओसी में, इलिच तीसरी दुनिया की विकास योजनाओं और उनके नए एजेंटों की दमदार और बेहद प्रभावशाली आलोचना का विकास कर पाए। केनेडी का एलायंस फॉर प्रोग्रेस, द पीस कोर और अनगिनत मिशनरी प्रयास धनी देशों, फाउंडेशनों और धार्मिक समूहों द्वारा प्रायोजित तथा संगठित थे। दस वर्षों बाद, सीआईडीओसी के चर्च के सांस्थानिक कार्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण से उसका वेटिकन से टकराव हुआ। ओपस डेई की स्थानीय शाखा के बीच अलोकप्रिय इलिच को सीआईए की एक रिपोर्ट के सिलसिले में पूछताछ के लिए रोम बुलाया गया। 1976 में स्पष्ट रूप से विद्वानों के औपचारिक प्रवाह अपने ही "संस्थानीकरण" के संभावित साइड इफैक्ट्स से संबंधित रहे इलिच ने सीआईडीओसी के अन्य सदस्यों की सहमति से अपने केंद्र को बंद कर दिया। कई सदस्यों ने नतीजतन क्यूरनाकावा में भाषायी स्कूल चालू रखे जिनमें से कुछ अब भी मौजूद हैं। इलिच ने भी 1960 के दशक के अंत में मॉनसीनियर का दर्जा पाने के बाद पादरी के सक्रिय पद से त्याग पत्र दे दिया, लेकिन पादरी के रूप में अपनी पहचान जारी रखी और समय–समय पर निजी समारोहों में ये काम करते रहे।

1970 के दशक में इलिच फ्रांस में वामपंथी बौद्धिकों के बीच लोकप्रिय हो गए थे। उनके शोध प्रबंध पर आंद्रे गॉर्ज ने खासतौर पर चर्चा की। हालांकि, उनका प्रभाव 1981 में फ्रांक्वाइस मितरां के निर्वाचन के बाद घटने लगा क्योंकि इलिच को उस समय काफी निराशाजनक माना गया जब फ्रांस में वामपंथियों ने सरकार पर नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया था।

1980 के दशक में और उससे आगे, इलिच ने बहुत यात्राएं कीं जिस दौरान उन्होंने अपना ज्यादातर समय अमेरिका, मेक्सिको और जर्मनी में बिताया। पेन स्टेट में वे दर्शन शास्त्र, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और समाज के विजिटिंग प्रोफेसर भी नियुक्त हुए। उन्होंने ब्रेमेन यूनिवर्सिटी और हेगेन यूनिवर्सिटी में भी पढ़ाया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे एक भारतीय अर्थशास्त्री और महात्मा गांधी के सलाहकार रहे जे.सी. कुमारप्पा से, खासकर उनकी किताब इकोनॉमी ऑफ परमानेंस से बेहद प्रभावित हुए।

इवान इलिच का शिक्षा सिद्धांत

इवान इलिच के शिक्षा–दर्शन को समझने में हमें उनके कुछ प्रसिद्ध वाक्यांशों से बड़ी मदद मिल सकती है। ऐसे ही कुछ वाक्यांश इस प्रकार हैं–

मूल्य का सिद्धांत

कौन–से ज्ञान और कौशल सीखने योग्य हैं? शिक्षा के लक्ष्य क्या हैं?

इवान के अनुसार शुरुआत इस प्रश्न से नहीं होनी चाहिए कि, क्या पढ़ना चाहिए? बल्कि इस प्रश्न से होनी चाहिए कि, सीखने के क्रम में विद्यार्थी किन चीजों और लोगों के संपर्क में होना चाहते हैं?

व्यक्ति के लिए वह सारा ज्ञान और कौशल सीखने योग्य होता है जिसमें उसकी दिलचस्पी होती है और विद्यार्थी को वह तरीका चुनना चाहिए जिसके जरिए वो सीखना चाहता है। प्रत्येक विद्यार्थी की शैक्षणिक राह उसकी स्वयं की होनी चाहिए और मान्यता

टिप्पणी

योग्य कार्यक्रम की विशेषताओं पर सिंहावलोकन ही ऐसा कर सकता है। बुद्धिमान विद्यार्थी समय–समय पर व्यावसायिक राय लेते हैं। नया लक्ष्य तय करने में, सामने आने वाली कठिनाइयों पर विचार करने में, संभावित तरीकों के बीच चुनाव करने में सहायता लेते हैं।

इवान मानते हैं कि शिक्षा का अंतिम लक्ष्य मुक्ति है– चीजों तक पहुंच से मुक्ति, शिक्षा देने की स्वतंत्रता या अनुरोध पर उसे कर सकने की गारंटी द्वारा कौशलों की साझेदारी की मुक्ति, लोगों के आलोचनात्मक और रचनात्मक संसाधनों की मुक्ति, इंसान को किसी स्थापित प्रोफेशन द्वारा दी जाने वाली सेवाओं की उसकी अपेक्षाओं को आकार देने की बाध्यता से मुक्ति। शिक्षा में मुक्त भाषण, मुक्त सभा और सच्चे अर्थों में सार्वभौमिक मुक्त प्रेस के लिए आधुनिक प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल होना चाहिए।

ज्ञान का सिद्धांत

ज्ञान क्या है? मान्यता से यह किस तरह से भिन्न होता है? गलती क्या है? झूठ क्या है?

ज्ञान अर्जित किया जाता है और इसे दो वर्गों में बांटा जाता है– कौशल ज्ञान जिसे अर्जित किया जा सकता है और अभ्यास के जरिए सुधारा जा सकता है, क्योंकि कौशल का अर्थ परिभाषित करने योग्य और अनुमान लगाने योग्य व्यवहार पर महारत से होता है और अधिक उदार ज्ञान मसलन आविष्कारक तथा रचनात्मक व्यवहार एवं तर्क करने, प्रतियोगिता करने, सहयोग करने और समझने की योग्यता।

मान्यता अशिक्षित ज्ञान है। इसे ठीक से करने में कुशल ज्ञान की कमी के कारण गलती होती है। सत्य कहने के लिए पर्याप्त उदार ज्ञान की कमी से झूठ पैदा होता है।

मानवीय स्वभाव का सिद्धांत

मानव क्या है? अन्य प्रजातियों से ये किस तरह से भिन्न है? मानवीय क्षमता की सीमाएं क्या हैं?

मानव (इलिच ने सामान्य रूप से "आदमी" के रूप में समूहन किया) का विकास कभी प्रकृति पर निर्भर रहने वाले से उस तक हुआ है जो अब प्रकृति पर नियंत्रण चाहता है– आदि मानव आशा की दुनिया में रहता था। वह प्रकृति की उदारता पर, देवताओं की भेंटों पर और अपनी जनजाति को उसके गुजारा योग्य बनाने की सहज बुद्धि पर निर्भर करता था। शास्त्रीय ग्रीक्स में सच्चा मानव केवल उन्हें माना गया है जो उनके बुजुर्गों द्वारा नियोजित संस्थानों में अपने को शिक्षा से दुरुस्त होने देते थे। समकालीन मनुष्य और आगे जाता है, वह अपने ख्यालों की दुनिया रचने की कोशिश करता है, पूरी तरह से मानवनिर्मित परिवेश रचने की कोशिश करता है।

दुनिया में सभी अन्य प्रजातियां किसी न किसी तरह से मनुष्य द्वारा संचालित या निर्मित हैं– न्यूयॉर्क की सड़कों पर कोई बच्चा कभी किसी ऐसी चीज को हाथ नहीं लगाता जो वैज्ञानिक रूप से विकसित, संचालित, नियोजित न हो और जो किसी को बेची गई हो। वहां पर पेड़ भी इसलिए हैं क्योंकि पार्क्स डिपार्टमेंट ने उन्हें वहां लगाने का निश्चय किया।

टिप्पणी

मनुष्य की क्षमता पर उन संस्थानों द्वारा नियंत्रण होता है जिन्हें उसने बनाया है। सभी सशक्त औजारों से घिरा हुआ मनुष्य खुद ही अपने औजारों का औजार बनकर रह जाता है। मनुष्य उन्हीं बक्सों में बंद हो जाता है जिन्हें उसने पेंडोरा से मिली परेशानियों को बंद करने के लिए बनाए थे।

पृथ्वी पर मौजूद सीमित संसाधन मानव की क्षमता भी सीमित करते हैं– संस्थानीकृत मनुष्य के मूल्य उसकी भट्टी के रूप में क्षमता पर निर्भर करते हैं। मनुष्य अब अपने को भट्टी के रूप में परिभाषित करता है जो उसके औजारों द्वारा बनाए गए मूल्यों को जला देती है।

सीखने का सिद्धांत

सीखना क्या है? कौशल ज्ञान कैसे अर्जित किया जाता है?

सीखने की परिभाषा विषय सामग्री का उपभोग ही है, जो कि शोधित, नियोजित और प्रचारित कार्यक्रमों का परिणाम होती है। जो कुछ भी है वह उसी विशेषज्ञ संस्थान का उत्पाद है। ऐसी किसी चीज की मांग करना मूर्खता होगी जिसका उत्पादन कोई संस्थान नहीं कर सकता।

सीखने का मतलब नया कौशल या अंतर्दृष्टि हासिल करना होता है।

अधिकतर कौशल और ज्ञान स्कूल से बाहर स्वयं की इच्छा से अर्जित होने चाहिए। अधिकतर अधिगम अनजाने में होता है और यहां तक कि सर्वाधिक जानबूझकर सीखना निर्धारित निर्देशों का परिणाम नहीं होता। सामान्य बच्चे अपनी पहली भाषा अनजाने में ही सीख लेते हैं।

कौशल और ज्ञान हर किसी को साथियों एवं कौशल मॉडलों के नेटवर्क के जरिए अर्जित करने चाहिए। जरूरत नए नेटवर्कों की है, जो लोगों को तैयार रूप में उपलब्ध हों और सीखने–सिखाने का समान अवसर देने के लिए तैयार किए गए हों।

प्रसारण का सिद्धांत

किसको सिखाया जाना है? किन तरीकों से? पाठ्यक्रम क्या होगा?

वर्तमान में, कौशल शिक्षक लाइसेंस के मूल्य में विश्वास के कारण प्रमाण पत्र बहुत कम बनाए जाते हैं। प्रमाण पत्र की प्रक्रिया बाजार में हेराफेरी की स्थिति बनाती है और केवल स्कूली मस्तिष्क के लिए स्वीकार्य होती है। कला और वाणिज्य के अधिकतर शिक्षक सर्वश्रेष्ठ शिल्पकारों तथा व्यावसायियों की तुलना में कम कौशलयुक्त, कम आविष्कारक और कम संचारी होते हैं।

हालांकि, शिक्षक कौशल मॉडल होने चाहिए लेकिन वो अपनी विषय सामग्री में ही कुशल होते हैं और उनके सामने इसका प्रदर्शन करना चाहते हैं जो इसमें दिलचस्पी लेते हैं। कोई निर्धारित पाठ्यक्रम नहीं होना चाहिए। जब हम बाजार खोल देते हैं तो कौशल सीखने के अवसर कई गुना हो जाते हैं। यह सही शिक्षक के सही छात्र के मेल पर निर्भर करता है जब वह किसी बौद्धिक कार्यक्रम में, बिना किसी पाठ्यक्रम के बंधन के बेहद प्रेरक होता है।

टिप्पणी

शैक्षणिक जाल

निर्देशन के प्राथमिक तरीके होने चाहिए– बच्चा चीजों की दुनिया में बड़ा होता है, जो कौशलों और मूल्यों के लिए मॉडल की तरह काम करने वाले लोगों से घिरा होता है। उसके साथी होते हैं जो उसे तर्क करने, प्रतियोगिता करने, सहयोग करने और समझने की चुनौती देते हैं; और अगर वह भाग्यशाली हुआ तो उसे किसी ऐसे अनुभवी वरिष्ठ की आलोचना से भी टकराने का मौका मिलता है जो सचमुच उसकी परवाह करता हो।

शिक्षण की चार विधियों में से हर विद्यार्थी को स्वतंत्रतापूर्वक चुनने के योग्य होना चाहिए

1. **शैक्षणिक वस्तुओं की संदर्भ सेवाएं** : इसमें ऐसी वस्तुओं या प्रक्रियाओं तक पहुंच की सुविधा मिलती है जो औपचारिक शिक्षा के लिए इस्तेमाल होती हैं। इनमें से कुछ चीजें इस उद्देश्य के लिए सुरक्षित की जा सकती हैं, पुस्तकालयों, किराये पर देने वाली एजेंसियों, प्रयोगशालाओं में रखी जा सकती हैं, संग्रहालयों और थियेटरों जैसे शोरूमों में रखी जा सकती हैं। बाकी चीजें कारखानों, हवाईअड्डों या खेतों में दैनिक उपयोग में हो सकती हैं, लेकिन विद्यार्थियों या प्रशिक्षुओं के लिए ऑफिस के समय में उपलब्ध कराई जाती हैं।
2. **कौशल विनिमय** : इसमें व्यक्ति को अपने कौशलों की सूची बनाने का मौका मिलता है, उन परिस्थतियों की सूची बनाने का अवसर मिलता है जिनमें वे उन लोगों के लिए मॉडल का काम करने के इच्छुक होते हैं जो इन कौशलों को सीखना चाहते हैं।
3. **साथी मेल** : यह एक संचार नेटवर्क होता है जिसमें व्यक्तियों को अपने सीखने की उस गतिविधि के बारे में वर्णन का मौका मिलता है जिसमें वे इस उम्मीद में शामिल होना चाहते हैं कि उन्हें जानकारी के लिए कोई साथी मिल जाएगा।
4. **शिक्षकों के लिए मुक्त संदर्भ सेवाएं** : इन सेवाओं को डायरेक्टरी में दर्ज किया जा सकता है और पेशेवरों, उनके सहायकों तथा फ्री–लॉन्सरों के पते और विवरण को दिया जा सकता है, साथ में उनकी सेवाएँ हासिल करने की शर्तें दी जा सकती हैं। जैसा कि हम देखते हैं ऐसे शिक्षक उनके पूर्व ग्राहकों के मतदान या सलाह से चुने जा सकते हैं।

वर्तमान में, निर्देशन परिस्थितियों की पसंद है जो सीखने की सुविधा देती है। परिस्थितियों का पाठ्यक्रम निर्धारित करके भूमिकाएं सौंप दी जाती हैं और विद्यार्थी को अगर अच्छे अंक लाने हैं तो उसे वे परिस्थतियां पूरी करनी होती हैं।

पाठ्यक्रम का इस्तेमाल हमेशा सामाजिक दर्जा तय करने में होता है। यह, किसी रस्म का, क्रमिक धार्मिक संस्कारों का, रूप ले सकता है अथवा इसमें युद्ध या शिकार के पराक्रम का सिलसिला हो सकता है।

हालांकि, रुचि का पाठ्यक्रम वहां प्रस्तावित होता है जहां सारा सीखना स्वैच्छिक हो। विद्यार्थियों को कोई बाध्यकारी पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए मजबूर नहीं किया

टिप्पणी

जाना चाहिए, या इस आधार पर उनमें कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए कि उनके पास कोई सर्टिफिकेट या डिप्लोमा है अथवा नहीं।

समाज क्या है?

समाज क्या है? शैक्षणिक प्रक्रिया में कौन–से संस्थान शामिल होते हैं?

समाज अपने आप में और अपनी सारी बुराइयों से घिरा होता है, यहां तक कि फंसा होता है। हमारा समाज एक अनूठी मशीन, एक बक्से की तरह है। आप इसमें से कुछ निकाल लेने के योग्य होने की अपेक्षा करते थे, फिर भी इसमें जो है वह इसका कवर बंद करने की मशीनरी ही है। यह मशीन पेंडोरा के 'बक्से' के विपरीत है।

वर्तमान में, स्कूल शैक्षणिक प्रक्रिया में लगी एकाधिकारवादी संस्था है। स्कूल हमें बताते हैं कि अनुदेशन से सीखा जाता है। स्कूलों की मौजूदगी से स्कूलिंग की मांग पैदा होती है। स्कूल में हमें पढ़ाया गया है कि बहुमूल्य पढ़ाई हाजिरी से मिलती है। पढ़ाई की कीमत इनपुट की मात्रा के साथ–साथ बढ़ती है और आखिरकार, यह कीमत मापी ग्रेड और प्रमाणपत्रों के जरिए मापी तथा दर्ज की जा सकती है।

हालांकि, किसी भी संस्था को पूरी तरह से शैक्षणिक प्रक्रिया में शामिल होने की जरूरत नहीं है। सीखना एक मानवीय गतिविधि है जिसमें कोई दूसरा बहुत कम बदलाव कर सकता है। अधिकतर सीखना किसी निर्देशन का नतीजा नहीं होता। इसके बजाय यह किसी सार्थक व्यवस्था में निर्बाध भागीदारी का परिणाम है।

अवसर का सिद्धांत

शिक्षित किसको किया जाना है? किसको स्कूल भेजा जाना है?

हर किसी को उसकी शिक्षा दी जानी चाहिए जिसमें उसकी दिलचस्पी हो। बेहतरीन शैक्षणिक प्रणाली में तीन उद्देश्य होने चाहिए। इसे उन सभी को वह सब मुहैया कराना चाहिए जो अपने जीवन में किसी भी समय उपलब्ध संसाधनों की पहुंच के साथ सीखना चाहते हैं, उन सभी को सशक्त करे जो अपने ज्ञान को उन लोगों को बांटना चाहते हैं जो उसे ग्रहण करने के इच्छुक हों और आखिरी, अपनी चुनौती को जाहिर करने के अवसर के साथ जो लोग किसी मुद्दे को सार्वजनिक करना चाहते हैं उन्हें प्रस्तुत करे।

कुछ विचारकों का कहना है कि स्कूलिंग एक सामाजिक बुराई है जिसका शिक्षा पर एकाधिकार खत्म करके इसे खत्म किया जाना चाहिए। स्कूल शिक्षा के लिए उपलब्ध धन, मनुष्य और सामान को हथिया लेता है तथा अन्य संस्थाओं को शैक्षणिक कार्य हाथ में लेने से रोकता भी है। स्कूलिंग अनिवार्य है और इस दृष्टिकोण से स्कूलिंग के लिए ही स्कूलिंग बन जाती है।

स्कूल एक सुनियोजित प्रक्रिया बन चुका है जो मनुष्य को नियोजित दुनिया के लिए औजार देता है, मनुष्य को फंसाने के लिए मुख्य औजार मनुष्य के ही जाल में फंसा होता है। इससे अपेक्षा की जाती है कि यह हर व्यक्ति को इस दुनिया के खेल में अपनी भूमिका निभाने के लिए पर्याप्त स्तर तक आकार देगा।

स्कूल तो एक विज्ञापन एजेंसी है जो आपको ये विश्वास दिलाती है कि आपको ऐसे ही समाज की जरूरत है जैसा कि यह है।

टिप्पणी

स्कूलिंग एक युग विशेष के अनुसार, शिक्षक से संबंधित प्रक्रिया है जिसमें अनिवार्य पाठ्यक्रम के तहत पूरी अटेंडेंस चाहिए होती है ताकि लोग आत्म–निर्भर होने के बजाय निर्भर बन जाते हैं।

सम्मति का सिद्धांत

लोग असहमत क्यों होते हैं? सहमति कैसे हासिल की जाती है? किसके मत को प्रधानता दी जाती है? आइए इसको समझने का प्रयास करते हैं।

खासकर स्कूलिंग में असमानता और अपर्याप्तता, धनी और निर्धन के बीच, यहां तक कि विभिन्न देशों के बीच भी बैर पैदा करते हैं। अनिवार्य स्कूलिंग अपरिहार्य रूप से समाज का ध्रुवीकरण करती है। यह अंतर्राष्ट्रीय जाति व्यवस्था के अनुसार विश्व के देशों को भी अलग–अलग दर्जा देती है। राष्ट्रों की रेटिंग जाति की तरह होती है, जिसकी शैक्षणिक प्रतिष्ठा उसके नागरिकों के औसत स्कूलिंग वर्षों से तय की जाती है। स्कूलों का उत्थान वैसा ही विध्वंसात्मक है जैसा कि हथियारों का उत्थान है, लेकिन यह दिखता कम है।

स्कूलिंग की समानता इसकी स्थितिक मूल्य के कारण संभव नहीं है। समान स्कूलिंग को अस्थायी रूप से अव्यावहारिक कहने के बजाय हमें यह समझना चाहिए कि यह सिद्धांत रूप में आर्थिक रूप से बेतुकी है और इसके प्रयास बौद्धिक रूप से निस्तेज करने वाले हैं, सामाजिक ध्रुवीकरण करने वाले हैं और जो राजनीतिक प्रणाली इसे प्रोत्साहित करती है, उसकी ही विश्वसनीयता के लिए विध्वंसक है।

ऐसे में, चूंकि यह बैर पैदा करती है और इसे समानीकृत नहीं किया जा सकता, इसलिए सहमति बनाने के लिए इसे खत्म कर देना चाहिए। समाज को अनिवार्य रूप से स्कूलविहीन कर देने से अर्थशास्त्र, शिक्षा और राजनीति के बीच भेद धुंधला हो जाएगा जिनके बल पर मौजूदा विश्व व्यवस्था का स्थायित्व और राष्ट्रों का स्थायित्व टिका हुआ है।

वर्तमान में, धनी (और इस कारण शक्तिशाली) लोगों के मतों को गरीबों के मतों पर प्रधानता दी जाती है क्योंकि धनी लोगों के पास जीवन में अधिक अवसर होते हैं। गरीब बच्चों के पास अधिकतर शैक्षणिक अवसर होते ही नहीं जो कि मध्यम वर्ग के बच्चे को आमतौर पर उपलब्ध होते हैं। इसलिए, ज्यादा निर्धन विद्यार्थी आमतौर पर काफी पीछे छूट जाते हैं क्योंकि वे आगे बढ़ने या सीखने के लिए स्कूल पर निर्भर होते हैं। यह सब गरीब देशों में भी है और धनी देशों में भी।

3.6.4 जातीयता एवं शिक्षा

भारतीय समाज जातीय सामाजिक इकाइयों से गठित है और इन्हीं के द्वारा विभक्त भी है। संवैधानिक एवं अन्य परिवर्तनों के बावजूद भी जातीयता की गांठें ढीली होनी तो आरंभ हुई हैं किंतु जाति आधारित भारतीय समाज की संरचना में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। प्रत्येक जाति का व्यक्ति स्वयं को दूसरी जाति के व्यक्ति से ऊंचा समझता है, इससे प्रत्येक व्यक्ति में एक दूसरे के प्रति पृथकता की भावना इतनी उग्र हो जाती है कि वह अपने आपको अलग मानने लगता है। हजारों वर्षों से चली आ रही जाति संबंधी मनोवृत्तियां इतनी गहरी पैठ बना चुकी हैं कि भिन्न–भिन्न (ऊची–नीची) जाति के विवाहित युवक–युवतियों को जाति पंचायतों द्वारा अमानवीय

रूप से प्रताड़ित किया जाता है। यह जातिगत भेद जीवन के हर क्षेत्र में दिखाई देता है तथा ग्रामीण क्षेत्र में यह विशेष रूप से देखने को मिलता है। जातीयता के प्रभाव आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व अन्य क्षेत्रों में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। जातीयता का इतिहास लगभग 2000 वर्ष पुराना है। जातीयता की पुष्टि एवं इसके निराकरण के उपायों का उल्लेख मंडल आयोग ने भी किया है। इसके कारणों में मनुस्मृति के विधान, धार्मिक शिक्षा एवं परंपरावादी जीवन, जातिगत पंचायतें, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, अंतर्विवाह का प्रचलन न होना, जाति पर आधारित राजनीति, जातियों का असमान विकास, गुट निर्माण की प्रवृति आदि प्रमुख हैं।

शिक्षा द्वारा पुरानी एवं नई पीढ़ी को इसके दुष्परिणामों के बारे में जागरूक कर कालांतर में इसके प्रभाव में कमी लाए जाने का प्रयास करना चाहिए। शिक्षा ही वह मशाल है जो जातीयता के अंधेरे को चीरकर सामाजिक समरसता एवं सद्भाव के प्रकाश को फैला सकती है। इस दिशा में प्रयास किए जा रहे हैं। मार्ग लंबा ही सही किंतु शिक्षा हमें इसमें अवश्य सफलता दिलाएगी।

अपनी प्रगति जांचिए

9. महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को क्या नाम दिया गया है?

   (क) संरचनावाद (ख) गांधीवाद

   (ग) मार्क्सवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

10. 1961 में मैक्सिको में सेंट्रो इंटरकल्चरल डी डॉक्यूमेंटेशन की स्थापना किसने की थी?

    (क) इवान इलिच (ख) पाउलो फ्रेइरे

    (ग) एम.के. गांधी (घ) इनमें से कोई नहीं

3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (ग)
4. (क)
5. (ख)
6. (ग)
7. (ख)
8. (ग)
9. (ख)
10. (क)

टिप्पणी

3.8 सारांश

भारत में बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा को समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनाया गया है। समाज में संस्कृति का कार्य मानव की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है और किसी समाज में जब विभिन्न संस्कृतियों के लोग एक साथ रहने लगते हैं तो उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहु–संस्कृतिवाद जैसे विचार को अपनाना पड़ता है। समाज और मानव की आवश्यकताओं के अनुसार समय–समय पर इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। लोगों के मूल्यों, विश्वासों, मानकों में परिवर्तन होने से इसमें भी बदलाव होता रहता है। उदाहरणस्वरूप भारत में बहु–संस्कृतिवाद का जो स्वरूप आज हम देख रहे हैं वह ब्रिटिशकाल अथवा मुगलकाल में नहीं था। उस समय शासकों ने अपनी विशेष संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हुए उसे समाज में विद्यमान अन्य संस्कृतियों पर थोपने का प्रयास किया, परंतु आज भारत में विभिन्न संस्कृतियों को अपनाने वाले लोगों को अपनी पृथक पहचान बनाए रखने और आचरण करने की पूरी स्वतंत्रता है, क्योंकि भारत में अनेक संस्कृतियों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उनके संरक्षण की बात की गई है।

शैक्षिक अवसरों की समानता का विचार लोकतंत्र की देन है। लोकतंत्र स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों पर आधारित है। यह सामाजिक न्याय का पक्षधर है। यह व्यक्ति के व्यवहार का आदर करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के स्वतंत्र अवसर प्रदान करता है। लोकतंत्रीय भावना के आधार पर सर्वप्रथम 1870 में ब्रिटेन में शिक्षा को अनिवार्य किया गया और उसे सर्व सुलभ बनाया गया। उसके बाद यूरोप के अन्य देशों में भी एक निश्चित स्तर तक की शिक्षा को अनिवार्य किया गया और सर्व सुलभ बनाया गया।

लिंग की सामाजिक रचना होने के नाते जेण्डर से अभिप्राय लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार, भूमिकाओं, प्रत्याशाओं तथा समाज में की जाने वाली क्रियाओं से है। प्रत्येक समाज पुरुष एवं स्त्री से अलग व्यवहार की आशा करता है, उनकी भूमिकाओं, क्रियाओं एवं गतिविधियों में भी अंतर पाया जाता है। अधिकांश समाजों में परम्परागत रूप से लिंग के आधार पर श्रम–विभाजन पाया जाता था जिसके अनुसार स्त्रियों की भूमिका घर की चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दी गई थी। पुरुष की भूमिका बाहर जाकर कार्य करने की रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय भाषा में जेण्डर से संबंधित भूमिका से अभिप्राय विभिन्न संस्कृतियों में लिग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार प्रतिमानों से है।

भारत में स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या उनके शैक्षणिक जीवन से संबंधित है। सन 1991 की जनगणना के अनुसार पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत जहां 64.13 था, वहीं स्त्रियों में साक्षरता का प्रतिशत केवल 39.29 पाया गया। इसका तात्पर्य है कि आज भी समाज में शिक्षा के दृष्टिकोण से लड़कों और लड़कियों के बीच एक स्पष्ट विभेद करने की प्रवृत्ति बनी हुई है। ये आंकड़े भी साक्षरता से संबंधित हैं, शिक्षा से नहीं। अधिकांश माता–पिता लड़कियों को शिक्षा देने की जगह उन्हें घरेलू काम सिखाना अधिक अच्छा समझते हैं।

महिलाओं के रोजगार से संबंधित मुख्य चिंता का विषय उनकी सुरक्षा को लेकर भी है जिसके चलते कई बार महिलाओं को परिवार से काम करने की अनुमति नहीं मिल

टिप्पणी

पाती है। ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं जहां पर महिलाएं देर तक काम के लिए रुकती हैं तथा उन्हें कार्यस्थल से घर आने–जाने की सुविधाओं का अभाव होने के कारण सुरक्षा संबंधी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि वह जिन व्यक्तियों के साथ काम कर रहा है, उनसे समरूपता स्थापित करे। समूह के सदस्यों को कभी भी ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिए कि उनका नेता उनके समूह का अंग नहीं वरन एक बाहरी तत्व है जो अपनी उपस्थिति से समूह की गतिविधियों पर नकारात्मक प्रभाव डालता है।

प्रबंधन से तात्पर्य किसी व्यावसायिक एवं शैक्षिक संस्थाओं की क्रियाओं के नियोजन एवं नियमन से है। प्रबंधन एक प्रक्रिया है जो प्रत्येक संख्या में चाहे यह संस्था व्यावसायिक हो अथवा सामाजिक, धार्मिक हो या राजनीतिक, समान रूप से सम्पन्न की जाती है। प्रबंधन की अनिवार्यता उन सभी स्थानों पर देखी जा सकती है जहां व्यक्ति या व्यक्ति समूहों द्वारा सामान्य हितों की प्राप्ति हेतु कार्य किया जाता है।

1990 के दशक में, लोगों ने कंप्यूटर प्रौद्योगिकी का एक विस्फोट दुनिया भर में देखा, जिसने लोगों के काम करने के तरीके में परिवर्तन कर दिया। फोन, कंप्यूटर, ई–मेल, फैक्स और इलेक्ट्रॉनिक नेटवर्किंग के माध्यम से वे अपने कार्यालयों के लिए कनेक्ट हो जाते हैं। Telecommuting कर्मचारियों को दूसरे स्थानों में पर्यवेक्षण के तहत काम करने के लिए अनुमति देता है।

भारत में शिक्षा को लेकर नवीन चिंतनधाराओं का सूत्रपात हुआ, जिसमें कई दार्शनिकों ने महान योगदान दिया है। डॉ. राधाकृष्णन, जो स्वतंत्र भारत में दूसरे राष्ट्रपति थे, एक महान दार्शनिक और शिक्षाविद् थे। उन्होंने अपने जीवन के चालीस वर्ष अध्यापन कार्य में लगाए और भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में व्यापक बदलावों की शुरुआत की। वे शिक्षा को मानव व समाज का सबसे बड़ा आधार मानते थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पहलुओं पर विचार किया और कहा कि आत्म–ज्ञान ही शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य है। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रेम और सार्वभौमिकता पर बल दिया है। महात्मा गांधी का शिक्षा चिंतन भी काफी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने बालक की प्राकृतिक शक्तियों के विकास पर बल दिया है। उनके अनुसार शिक्षा से तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में सर्वश्रेष्ठ तत्वों का विकास है।

3.9 मुख्य शब्दावली

- **परिप्रेक्ष्य** : संदर्भ, विषय में
- **धरोहर** : पूंजी, विरासत
- **परस्पर** : एक दूसरे से आदान–प्रदान
- **आत्मसात** : पूरी तरह अपने में समाहित, समाना
- **बहुतायत** : बहुत ज्यादा संख्या में
- **आवागमन** : आना–जाना
- **नगण्य** : न के बराबर, शून्य

टिप्पणी

- **निष्पक्षता** : बिना भेदभाव किए
- **उल्लास** : खुशी
- **प्रतिस्पर्धा** : मुकाबला, प्रतियोगिता

3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. बहु–संस्कृतिवाद के प्रमुख घटक बताइए।
2. शैक्षिक अवसरों की समानता से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
3. शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता संबंधी मुद्दे कौन–से हैं?
4. रोजगार के संबंध में प्रमुख असमानताओं का वर्णन कीजिए।
5. शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी का महत्व बताइए।
6. शिक्षा के क्षेत्र में इवान इलिच की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. बहु–संस्कृतिवाद की अवधारणा स्पष्ट करते हुए उसकी आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
2. शैक्षिक अवसरों की समानता के संदर्भ में गुणवत्ता एवं उत्कृष्टता संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
3. शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में असमानताओं का वर्णन कीजिए।
4. शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी का विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए।
5. निम्न पर टिप्पणी कीजिए–

   1. एम.के. गांधी 2. पाउले फ्रेइरे 3. इवान इलिच

3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जॉनसन, एच. एम., *सोशियोलॉजी : एक सिस्टमैटिक इंट्रोडक्शन*, अलॉइड पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1970।
2. किओनिंग, सैमुअल, *सोशियोलॉजी : एन इंट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ सोसायटी*, बार्न्स एंड नोबल बुम्स, न्यूयॉर्क, 1957।
3. बॉटोमोर, टी. बी., *सोशियोलॉजी : ए गाइड टू प्रॉब्लम्स एंड लिट्रेचर*, ब्लैकी एंड सन पब्लिशर्स प्रा. लि., बॉम्बे, 1983।
4. डेविस, किन्ग्ले, *ह्यूमन सोसायटी*, सुरजीत पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1981।
5. श्रीनिवासन, एम. एन. *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया*, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्फीली, 1966।
6. सिंह, योगेन्द्र, *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन*, थॉमस प्रेस, फरीदाबाद (हरियाणा), 1973।

इकाई 4 भारत में शिक्षा और समाज

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय

4.1 उद्देश्य

4.2 सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ : भारत में पूर्व औपनिवेशिक और औपनिवेशिक काल में शिक्षा

- 4.2.1 समाज में शिक्षा का महत्व व उद्देश्य
- 4.2.2 शिक्षा की ऐतिहासिक प्रणालियां
- 4.2.3 300 ई. पू. भारत में शिक्षा व्यवस्था
- 4.2.4 ब्राह्मण युग में शिक्षा
- 4.2.5 बौद्ध युग में शिक्षा
- 4.2.6 मुस्लिमयुगीन शिक्षा
- 4.2.7 भारत में पूर्व औपनिवेशिक काल में शिक्षा
- 4.2.8 भारत में औपनिवेशिक काल में शिक्षा

4.3 शिक्षा, विविधता और असमानताएं

- 4.3.1 क्षेत्र
- 4.3.2 जनजाति
- 4.3.3 जाति
- 4.3.4 लिंग
- 4.3.5 ग्रामीण एवं शहरी आवास

4.4 शिक्षा और आधुनिकीकरण

4.5 शिक्षा में समता और समानता : सकारात्मक भेदभाव और आरक्षण

4.6 लैंगिक असमानता : लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा

- 4.6.1 लैंगिक समानता एवं शिक्षा को प्रभावित करने वाले कारक
- 4.6.2 लैंगिक समानता में पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों की भूमिका
- 4.6.3 शिक्षक की भूमिका
- 4.6.4 लैंगिक समानता और सहपाठी प्रभाव
- 4.6.5 लैंगिक समानता की चुनौतियां
- 4.6.6 लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा के लिए सरकारी प्रयास

4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

4.8 सारांश

4.9 मुख्य शब्दावली

4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

प्राचीन इतिहास के आधार पर देखा जाए तो इतिहास की रेखाएं हमारी वास्तविकता का दर्शन कराती हैं। इतिहास हमें बताता है कि हम क्या थे? हम क्या हैं? और हम क्या होंगे। इतिहास के आधार पर हम उस बीज तत्व को खोज लेते हैं जिससे हमारा भावी समाज निर्मित होता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को मूलतः तीन भागों में बांटा जा सकता है– वैदिक काल की शिक्षा, ब्राह्मण काल की शिक्षा तथा बौद्ध काल की शिक्षा। चूंकि ब्राह्मण

काल की शिक्षा प्रणाली वैदिक काल की शिक्षा प्रणाली पर काफी हद तक आधारित थी, इसलिए वैदिक काल की शिक्षा प्रणाली के बाद सीधे बौद्ध काल की शिक्षा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मूलभूत कदम के रूप में लिया जाता है।

टिप्पणी

सन 1834 की 10 जून को लॉर्ड मैकॉले भारत में कंपनी का कानूनन सदस्य बनकर आया। यह अंग्रेजी का प्रकांड विद्वान था। वह चार्ल्स ग्रांट के विचारों का समर्थक था तथा प्राच्यविद्या को हीन मानता था। भारत में लॉर्ड बैंटिक ने उसे लोक शिक्षा समिति (Public Instruction Committee) का भी प्रधान बना दिया। कंपनी ने आज्ञापत्र (1813) की 43वीं धारा तथा एक लाख रुपए के व्यय पर मैकॉले से कानूनी राय मांगी। वह इस अवसर की प्रतीक्षा में था। उसने 8 फरवरी, 1835 ई. को ऐतिहासिक विवरण (Minute) प्रस्तुत किया, जिसमें भारतीय साहित्य तथा संस्कृति पर कुठाराघात किया गया था।

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ में पूर्व औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिक काल में शिक्षा की स्थिति, शिक्षा विविधता जैसे क्षेत्रीय, जनजाति, जाति, लैंगिक असमानताएं, शिक्षा और आधुनिकीकरण, शिक्षा में समानता, सकारात्मक भेदभाव व आरक्षण, लड़कियों व महिलाओं की शिक्षा आदि तथ्यों का विवेचन किया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ में भारत में शिक्षा व्यवस्था को जान पाएंगे;
- पूर्व औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिक काल में शिक्षा की प्रक्रिया को जान पाएंगे;
- शिक्षा के क्षेत्र में विविधता एवं असामनताओं को समझ पाएंगे;
- क्षेत्रीय, जातीय, लैंगिक आधार पर असमानताओं के बारे में जान पाएंगे;
- शिक्षा और आधुनिकीकरण का विवेचन कर पाएंगे;
- शिक्षा में समता या समानता के बारे में जान पाएंगे;
- लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा में भेदभाव को समझ पाएंगे।

4.2 सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ : भारत में पूर्व औपनिवेशिक और औपनिवेशिक काल में शिक्षा

शिक्षा का अध्ययन यदि हम इतिहास की आंखों से देखें तो वर्तमान शिक्षा प्रणाली की दिशा मिल जाती है। इतिहास का परिप्रेक्ष्य शैक्षिक समस्याओं के अध्ययन के लिए वस्तुनिष्ठता प्रदान करता है। शिक्षा का विकास शिक्षा का पाठ्यक्रम एवं शिक्षा की संस्कृति का अध्ययन विचार के नए द्वार खोलता है।

4.2.1 समाज में शिक्षा का महत्व व उद्देश्य

शिक्षा मानव विकास हेतु प्रयुक्त किया जाने वाला सबसे प्रमुख साधन है। शिक्षा ही एक मात्र ऐसा माध्यम है जिसकी सहायता से व्यक्ति के समस्त पक्षों का सर्वांगीण विकास

टिप्पणी

किया जा सकता है। शिक्षा के ही द्वारा हमारी कीर्ति का प्रकाश चारों ओर फैलता है तथा शिक्षा ही हमारी समस्याओं को सुलझाती है एवं हमारे जीवन को सुसंस्कृत बनाती है। हम देश में रहें अथवा विदेश में, शिक्षा प्रत्येक स्थान पर हमारी सहायता करती है। अर्थात जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर कमल का फूल खिल उठता है तथा सूर्य अस्त होने पर कुम्हला जाता है ठीक उसी प्रकार शिक्षा के प्रकाश को पाकर प्रत्येक व्यक्ति कमल के फूल की भांति खिल उठता है। शिक्षा वह प्रकाश है जिसके द्वारा बालक की समस्त शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है। इससे वह समाज की सर्वांगीण उन्नति में अपनी शक्ति का उत्तरोत्तर प्रयोग करने की भावना से ओतप्रोत होकर संस्कृति तथा सभ्यता को पुनर्जीवित एवं पुनर्स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है।

शिक्षा द्वारा समाज भावी पीढ़ी के बालकों को उच्च आदर्शों, आशाओं, आकांक्षाओं, विश्वासों, परंपराओं, संस्कृति तथा संपत्ति को इस प्रकार हस्तांतरित करता है कि उनके हृदय में देश प्रेम तथा त्याग की भावना प्रज्वलित हो जाती है। जब ऐसी भावनाओं तथा आदर्शों से भरे हुए बालक तैयार होकर समाज अथवा देश की सेवा का व्रत धारण करके मैदान में निकलेंगे तथा अपने जीवन में त्याग से अनुकरणीय कार्य करेंगे तो समाज भी निरंतर उन्नति के शिखर पर चढ़ता ही रहेगा। इस प्रकार व्यक्ति व समाज दोनों के ही विकास में शिक्षा की बहुत अधिक आवश्यकता है।

4.2.2 शिक्षा की ऐतिहासिक प्रणालियां

प्राचीनकालीन शिक्षा के अंतर्गत हम चार युगों की शिक्षा का वर्णन कर रहे हैं– वैदिक कालीन शिक्षा, उत्तर वैदिक काल या ब्राह्मणकालीन शिक्षा, बौद्धकालीन शिक्षा और मुस्लिम कालीन शिक्षा।

वैदिककालीन शिक्षा

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर 2000 ई.पू. भारत में जिस सभ्यता का उद्‌भव हुआ वह वैदिक सभ्यता के नाम से जानी जाती है। आर्यों ने जिस सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला रखी वह मौलिक तो थी ही भावी भारत के लिए अनुकरणीय भी थी। इस अनूठी संस्कृति के लगभग सभी अंगों का चरमोत्कर्ष वैदिक काल में परिलक्षित होता है। भारत का इतिहास सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारकों से उतना प्रभावित नहीं रहा जितना कि यहां की आध्यात्मिकता ने उसे प्रभावित किया है। यहां की संस्कृति ने विश्व–बंधुत्व तथा अति मानवता को प्राथमिकता दी है। प्राचीन काल में आध्यात्मिकता से ही राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक धाराएं प्रभावित हुईं। सत्याचरण, प्रेम, अहिंसा पर ही सामाजिक जीवन की नींव रखी गई थी। प्राचीन काल में शिक्षा इसी सिद्धांत पर आधारित थी। अनादिकाल से भारत में शिक्षा स्वयं के लिए नहीं, अपितु धर्म के लिए प्राप्त की जाती थी। यह मुक्ति एवं आत्मबोध का साधन थी और जीवन का महान लक्ष्य मुक्ति था।

प्राचीन भारत की शिक्षा एवं समाज की जानकारी देने वाले ग्रंथों में वेदों का स्थान पहला है। डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने कहा है– "प्राचीन वैदिक काव्य के जन्म से ही

टिप्पणी

हम भारतीय साहित्य को पूर्णरूपेण धर्म से प्रभावित देखते हैं।" प्राचीन काल में अनेक विद्याओं की शिक्षा की व्यवस्था थी। नारद जी ने सनत्कुमार से सभी विद्याएं पढ़े जाने के विषय में कहा था, ऐसा वर्णन छांदोग्योपनिषद में आता है।

आज की तरह, वैदिक काल में भी घर बालक की प्रथम पाठशाला के रूप में ही कार्य करते थे। परिवार बालक की प्राथमिक पाठशाला थी। बालक अपने विकास के साथ–साथ सहज रूप से बहुत सी बातों को स्वयं सीखता था। समुदाय के व्यवहार तथा समाज की भाषा को वह स्वाभाविक रूप में घर पर ही सीख लेता था। भारत का प्राचीन काल शैक्षिक दृष्टि से इतना महान तथा प्रबुद्ध रहा है कि विदेशी विद्वानों ने मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा की है। डॉ. एफ. डब्ल्यू. थॉमस ने लिखा है– "भारत में शिक्षा कोई नई बात नहीं है। संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां पर ज्ञान के प्रेम की परंपरा भारत से अधिक प्राचीन एवं शक्तिशाली हो।" प्राचीन काल में शिक्षा का आधार धर्म तथा धार्मिक क्रियाएं थीं। वैदिक क्रियाएं ही शिक्षा का प्रमुख आधार थीं। मानव जीवन धर्म से अनुप्राणित होता था।

वैदिककालीन शिक्षा का उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम

वैदिककालीन शिक्षा का उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है–

वैदिक शिक्षा के उद्देश्य

वैदिक काल में शिक्षा एक आदर्श रूप में थी, जिसमें अध्यापक या गुरु अपने आप को ईश्वर का सच्चा सेवादार समझता था, जिसे स्वयं ईश्वर ने विद्यादान देने के लिए चुना है। शिक्षा का आधार स्तंभ धर्म होने के कारण गुरु अपने शिष्यों का आध्यात्मिक एवं धार्मिक विकास करना अपना परम कर्तव्य समझता था, लेकिन इसके साथ–साथ वह नैतिक चरित्र का विकास, व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, नागरिकता का विकास, सामाजिक मूल्यों का विकास और राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण व प्रसार का भी ध्यान रखता था।

वैदिक काल में शिक्षा को दो भागों में विभक्त किया गया था– परा विद्या एवं अपरा विद्या। परा विद्या में अलौकिक एवं अपरा विद्या में लौकिक ज्ञान दिया जाता था। परा विद्या को श्रेष्ठतम दर्जा हासिल था, क्योंकि इसमें ब्रह्म का ज्ञान करवाया जाता था, ईश्वर व आत्मा को मिलाने पर बल दिया जाता था। परा विद्या के द्वारा चरम लक्ष्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति का रास्ता दिखाया जाता था और अपरा विद्या में शिष्य को व्यवहारिक ज्ञान दिया जाता था, जिससे वह जीवन में आने वाली चुनौतियों के लिए तैयार हो सके। वर्ण के आधार पर शिक्षा का प्रावधान था जैसे क्षत्रियों को युद्ध कला, ब्राह्मण को धर्म की शिक्षा और वैश्य को व्यापार कला में निपुण किया जाता था। शूद्रों के लिए शिक्षा के द्वार बंद थे। वैदिक काल की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे–

i. सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास

वैदिक काल की शिक्षा में बच्चों के सर्वांगीण विकास पर बल दिया जाता था। व्यक्तित्व से जुड़े प्रत्येक पहलू जैसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, संवेगात्मक, शारीरिक,

बौद्धिक, नैतिक, मानसिक आदि सभी के समान एवं संतुलित विकास पर बल दिया जाता था। बच्चों में आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, सहनशीलता, परोपकार, आत्म–अनुभूति और न्याय भावना से संबंधित गुणों का विकास किया जाता था। शिक्षा के साथ–साथ छात्र को कई प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी करना पड़ता था, जिससे उनमें नेतृत्व व निर्णय लेने के लिए विवेक का विकास होता था। समय–समय पर अनेक गोष्ठियों एवं वाद–विवाद प्रतियोगिता का आयोजन होता था, जिसमें भाग लेकर छात्र एक अच्छे वक्ता के रूप में उभरते थे। इस प्रकर वैदिक शिक्षा में छात्र के व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास किया जाता था।

टिप्पणी

ii. आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्यों का विकास

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एवं च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्य स्यादात्मवान द्विजः।।
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्त सम्पूर्णफलभाग्भवेत्।।

मनुस्मृति के इस श्लोक के अनुसार कहने, सुनने, सुनाने, पढ़ने, पढ़ाने का फल यही है कि वेद वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करें, इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहें, क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़ कर धर्माचरण करता है वही संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

जैसा कि अध्याय की शुरुआत में भी कहा गया है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा अर्थात वैदिक शिक्षा का आधार धर्म एवं अध्यात्म था, इसीलिए शिक्षा में धर्म से संबंधित विभिन्न संस्कारों के बारे में बताया जाता था, उन्हें जीवन को पवित्र बनाने व अच्छाइयों को अपनाने की शिक्षा दी जाती थी। मन को वश में करना, कुवृत्तियों पर काबू पाना, इंद्रियों को दुनियावी मोह माया से दूर रखना और ब्रह्मचर्य का पालन करना सिखाया जाता था। शिक्षा का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति माना जाता था। वैदिक शिक्षा के अनुसार संसार को चलाने वाली शक्ति ब्रह्म है और आत्मा के आध्यत्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए ब्रह्म में लीन होना ही सर्वोत्तम मार्ग है, इसी को मोक्ष का नाम दिया गया। गीता में वर्णित – 'सा विद्या या विमुक्तये' इसी बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वैदिक शिक्षा में ज्ञान के अनुसरण का मतलब धार्मिक मूल्यों के अनुसरण से लिया जाता था। प्रत्येक शिष्य को विभिन्न धार्मिक संस्कारों से संबंधित क्रियाएं करनी होती थी, प्रतिदिन ईश्वर की स्तुति में प्रार्थना एक सामान्य क्रिया थी। शिक्षार्थी को सभी धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेना जरूरी था। इस प्रकार उपरोक्त विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गुरुकुलों में धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का प्रावधान था। उपनिषदों में वर्णित – 'सत्यम् ज्ञानम् अनत्म ब्रह्म' अर्थात् आत्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान पर अधिक महत्व वैदिक शिक्षा का केंद्र बिंदु था।

टिप्पणी

iii. चरित्र विकास

भारत के इतिहास में किसी काल खंड में इतना जोर चरित्र विकास पर नहीं दिया गया जितना वैदिक काल में दिया गया। सच्चरित्रता को ज्ञान से भी श्रेष्ठ माना गया। वैदिक शिक्षा में अध्यापक के चरित्रवान होने पर अधिक बल दिया गया, क्योंकि छात्र अध्यापक का अनुसरण करते हैं। इसके अलावा ब्रह्मचर्य का पालन भी चरित्र विकास में अहम योगदान देता था। शिक्षा के द्वारा इंद्रियों को वश में कर एक संयमित व आदर्श जीवन जीने की कला सिखायी जाती थी। इसका प्रमाण मनुस्मृति के निम्न श्लोक में मिलता है–

इन्द्रियाणा विचरतां विषयेएवपहारिषु।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्।।

अर्थात जिस प्रकार सारथी घोड़ों को नियम में रखता है वैसे मन और आत्मा को गलत कार्यों में खींचने वाली इंद्रियों को वश में करें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न महापुरुषों के जीवन आदर्शों को शिष्यों के सामने प्रस्तुत किया जाता था। सदाचार, परमार्थ, परोपकार, शुद्ध एवं सात्विक भोजन, गुरु व बड़ों का आदर, धर्म के प्रति निष्ठा, श्रम के प्रति आदर, उच्च विचार आदि संस्कारों का विकास कर प्रत्येक छात्र के चरित्र का विकास किया जाता था। शिक्षक एवं छात्र दोनों नैतिकता के आदर्श माने जाते थे और वे अपने समस्त जीवन काल में इन मूल्यों का निर्वाह करते थे। वैदिक कालीन शिष्यों को नम्र, सुशील, विद्वानों और वृद्धों की सेवा करने के लिए कहा जाता था, ऐसा करने से उनकी आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चारों बढ़ते थे। इसका वृतांत मनुस्मृति के निम्न श्लोक में मिलता है–

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक शिक्षा में चरित्र विकास को अहम योगदान दिया गया था। एक अच्छे चरित्रवान छात्र को धर्म और अध्यात्म के रास्ते पर चलकर मोक्ष की प्राप्ति की ओर अग्रसर किया जाता था।

iv. जिम्मेदार नागरिकता एवं सामाजिक मूल्यों का विकास

मनुस्मृति के अनुसार चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित ही क्यों न हो अगर वो स्वधर्म पर स्थिर नहीं रहते, वे सब दण्ड के भोगी हैं और राजा न्यायासन पर बैठ कर उपरोक्त किसी भी संबंध के कारण पक्षपात न करे और यथोचित दण्ड दे। जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दंड हो उसी अपराध में राजा को हजार गुणा, मंत्री को आठ सौ गुणा, उससे छोटे को सात सौ गुणा और छोटे से छोटे भृत्य अर्थात चपरासी को कम से कम आठ गुणा दंड हो। इसी प्रकार आगे लिखा है कि विवेकी (ज्ञानी) होकर जो एक शूद्र चोरी करे उसे आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा,

क्षत्रिय को बत्तीस गुणा और ब्राह्मण को कुल मिलाकर एक सौ अट्ठाईस गुणा दंड होना चाहिए।

टिप्पणी

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि समाज में जो व्यक्ति जितनी बड़ी जिम्मेदारी से जुड़ा है, अगर वह अपने कर्तव्य का पालन न कर कुकर्म करता है, वह उतना ही बड़े दण्ड का भागी होगा। इससे एक स्वस्थ नागरिकता का विकास होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी हैसियत के हिसाब से अपना एक स्वच्छ उदाहरण प्रस्तुत करेगा। इसके अलावा प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण के अनुसार उपयोगी शिक्षा दी जाती थी, ताकि उन कौशलों को सीख कर जीवनपर्यंत आजीविका कमा सके और जीवन को बेहतर बना सके। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि शिक्षा अपरा एवं परा दो भागों में विभक्त थी, परा विद्या धर्म पर आधारित थी और अपरा विद्या विशेष रूप से विभिन्न सामाजिक एवं नागरिकता के कौशलों के लिए दी जाती थी, इसमें छात्र को अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान करवाया जाता था, विभिन्न सामाजिक गुणों जैसे परोपकार, सहनशीलता, नेतृत्व, आत्मविश्वास, आत्मसम्मान आदि का विकास किया जाता था।

v. राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण व प्रसार

प्रत्येक देश की शिक्षा व्यवस्था का यह एक जरूरी उत्तरदायित्व होता है कि वह उसकी संस्कृति को संरक्षण प्रदान कर सके, वैदिक शिक्षा भी इससे अछूती नहीं थी। वैदिक काल में राष्ट्रीय संस्कृति (जो धर्म पर आधारित थी) के संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। केवल संरक्षण ही नहीं बल्कि इसका प्रचार–प्रसार भी खूब हुआ। विभिन्न देशों से आने वाले शिक्षार्थी भारतीय सांस्कृतिक विरासत को अपने साथ भी लेकर गए। गुरुकुल की औपचारिक शिक्षा समाप्त करने के बाद भी यह आशा व्यक्त की जाती थी कि छात्र समस्त जीवन में ज्ञान–दान (जो ब्राह्मण का परम धर्म माना जाता था) देते रहेंगे और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्थानांतरित करते रहेंगे। वैदिक शिक्षा के अनुसार हमें अपनी संस्कृति पर गर्व महसूस करना चाहिए और इसके गौरव को ज्यादा से ज्यादा फैलाना चाहिए। इस प्रकार वैदिक शिक्षा राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण व प्रसार की पक्षधर थी।

vi. कौशलयुक्त व व्यवहारिक ज्ञान

छात्र को अपने भावी जीवन की तैयारी के लिए विभिन्न कौशलों का ज्ञान भी दिया जाता था, जिससे कि वो जीविकोपार्जन कर सकें। पशुपालन, कृषि, चिकित्सा, व्यवसाय, युद्ध कला आदि अनेक व्यावहारिक व जीवनोपयोगी विषयों का ज्ञान उन्हें दिया जाता था। इससे उनका सामाजिक जीवन संतुलित रहता था और वह अपने परिवार का भरण–पोषण भी अच्छे तरीके से कर सकते थे। इन व्यवहारिक ज्ञान व कौशलयुक्त शिक्षा से छात्र अपने गृहस्थ आश्रम को अधिक सुखी व संतोषमयी बना सकते थे। वर्ण व्यवस्था के अनुरूप ही ब्राह्मण को शिक्षण कौशल, क्षत्रिय को युद्ध कौशल, वैश्य को व्यापार संबंधित कौशल सिखाए जाते थे। ये समस्त व्यवहारिक ज्ञान अपरा विद्या के अंतर्गत आता था।

वैदिक शिक्षा का पाठ्यक्रम

टिप्पणी

वैदिक शिक्षा जैसे कि हम इस अध्याय में कई बार विवरण दे चुके हैं कि धर्म एवं आध्यात्म पर आधारित थी। शिक्षा का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना था, लेकिन इसके साथ–साथ शिक्षा के अनेक उद्देश्य थे, जो छात्रों के आध्यात्मिक जीवन के अलावा व्यवहारिक जीवन के लिए उपयोगी थे। वैदिक शिक्षा बहुत ही संतुलित शिक्षा मानी जाती थी। जीवन के धार्मिक पक्ष के लिए परा विद्या तथा व्यावहारिक एवं भौतिक पक्ष के लिए अपरा विद्या का प्रावधान था। इन दोनों प्रकार की शिक्षा के लिए एक विशेष पाठ्यक्रम का संचालन किया जाता था। 'कठोपनिषद्' में इन दोनों प्रकार के विषयों का वृतांत मिलता है, जो अग्रलिखित प्रकार से है–

1. परा विद्या (पारलौकिक या आध्यात्मिक)
2. अपरा विद्या (लौकिक या भौतिक)

परा विद्या

परा विद्या का संबंध धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा से था इसलिए इसके अंतर्गत वेद–वेदांत, दर्शनशास्त्र, उपनिषद्, पुराण और नीतिशास्त्र आदि विषय आते थे। इसके अलावा महान पुरुषों की जीवनियां भी इसमें सम्मिलित थी। यज्ञ एवं अन्य संस्कारों की विधियों का ज्ञान भी दिया जाता था। इन विषयों के अध्ययन से छात्र अपने आध्यात्मिक जीवन को सफल बनाते थे। नीतिशास्त्र के द्वारा छात्र को विश्वशांति, विश्व संस्कृति एवं विश्व बंधुत्व के बारे में बताया जाता था।

अपरा विद्या

अपरा विद्या का संबंध भौतिक संसार से था, इसलिए इसके अंतर्गत इतिहास, गणित, भौतिकशास्त्र, ज्योतिष, प्राणीशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, चिकित्सा और तर्क शास्त्र आदि विषय आते थे। इसके अलावा पशुपालन, कृषि, युद्ध कला, ललित कला, भवन निर्माण, वाणिज्य व्यापार एवं प्रशासन आदि व्यवसायिक विषयों को भी पाठ्यक्रम में शामिल किया गया था। वैदिक शिक्षा के इन सभी विषयों से संबंधित उद्देश्य सामान्य ज्ञान देना नहीं था बल्कि इन विषयों में प्रतिभाशाली विशेषज्ञों को तैयार करना था। ज्ञान प्राप्त करने की सामग्री संस्कृत में उपलब्ध थी, ब्राह्मणों के बोलचाल की भाषा भी संस्कृत थी, इसलिए शिक्षा का माध्यम भी संस्कृत भाषा ही थी।

गुरुकुल शिक्षण व्यवस्था

भारतीय शिक्षा का इतिहास बहुत प्राचीन है। आर्य लोग जब भारतवर्ष में आए, तो वे सभ्य और सुशिक्षित थे। उनके निश्चित जीवन सिद्धांत थे और वे अपने बालकों को अपने सिद्धांतों के अनुसार शिक्षित करते थे। शिक्षा में उनका विश्वास था और वे प्रत्येक बालक को शिक्षित करना चाहते थे। भर्तृहरि ने अपने नीति–शतक में लिखा है–

'विद्याविहीनः पशुः'

अर्थात जो मनुष्य शिक्षित नहीं है, वह पशु के समान है। अशिक्षित मनुष्य का विकास नहीं हो सकता। विद्या–विहीन मनुष्य एक अन्धे के समान है। ज्ञान से मनुष्य के अंतःचक्षु खुल जाते हैं, 'ज्ञानं तृतीय मनुजस्य नेत्रां'।

टिप्पणी

प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास था। आत्म–ज्ञान एवं नैतिक विकास पर प्राचीन ऋषि अधिक जोर देते थे। आध्यात्मिक विकास एवं नैतिक उन्नति प्रमुख उद्देश्य होने के कारण शिक्षा का संपूर्ण कलेवर धार्मिक भावनाओं से ओत–प्रोत था। समाज ने शिक्षा की नींव उपयुक्त व्यवस्था पर रखी थी या यों कहिए कि एक ऐसी व्यवस्था का विकास हो गया था, जो तत्कालीन परिस्थितियों के सर्वथा योग्य थी। वैदिक युग में घर का बड़ा–बूढ़ा ही प्रधान शिक्षक था।

उसी के आस–पास परिवार के लड़के एकत्र हो जाते थे और वह घर के लड़कों को वैदिक ऋचाएं कंठस्थ करा दिया करता था। वेदों को आर्य लोग श्रुति भी कहते थे। श्रुतिशब्द का अर्थ है– सुना हुआ। आर्यों का विश्वास था कि वेद ईश्वर वाक्य हैं, जिन्हें प्राचीन ऋषियों ने तपस्या करते समय सुना था। पर हम किसी भी घटना को श्रुति कह सकते हैं और इससे यही प्रकट होता है कि बहुत दिनों तक वेदों को पिता से पुत्र कंठस्थ करते रहे। इनका संकलन बहुत दिनों बाद किया गया।

सभ्यता के विकास के साथ पाठ्य–विषय भी बढ़ते गये और थोड़े ही दिनों में यह असंभव हो गया कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लड़के को शिक्षित कर ले; अतएव आर्यों ने यह कार्य विशेष व्यक्तियों को सौंप दिया, उन्हें 'आचार्य' कहते थे। जाति–व्यवस्था के साथ पढ़ने–पढ़ाने और पूजा–पाठ करने का काम ब्राह्मण करने लगे। यही नहीं, उत्तर वैदिक काल के पश्चात जो धार्मिक क्रांति हुई, उसमें बहुत–से आचार्य क्षत्रिय एवं दूसरे वर्णों के भी हुए।

आचार्यों का आश्रम, बस्ती के बाहर एकांत में होता था। इस आश्रम को गुरुकुल कहते थे। यद्यपि शिक्षा में दर्शन और धर्म को प्रधानता थी, फिर भी आर्यऋषि मनुष्यों के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास के लिए सक्रिय थे। संभवतः आर्यों की धार्मिक भावना बहुत विशद् थी, जिसके अंतर्गत मनुष्य का सर्वांगीण विकास सन्निहित था। भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों के विषय में लिखते हुए एक लेखक ने लिखा है कि धार्मिक भावनाओं का विकास, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व–विकास, सामाजिक–शिक्षा एवं राष्ट्रीयता का प्रचार, भारतीय शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे। शिक्षा जीवन के सन्निकट थी और विद्यार्थी को सब परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करती थी। हस्त–कला या किसी ललित कला में दक्षता प्राप्त करना विद्यार्थियों की विशेष योग्यता होती थी और सब विद्यार्थी किसी–न–किसी विशेष कला में प्रवीण होते थे। कृष्ण राजनीतिक थे, तो पटु सारथी भी, अर्जुन यदि धनुर्विद्या में पारंगत थे, तो नृत्य कला भी सिखा सकते थे, भीम यदि गदा–युद्ध में अद्वितीय थे, तो पाक–विद्या में भी कोई उनका मुकाबला नहीं कर सकता था। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा न केवल आध्यात्मिक ही थी, बल्कि उसका उद्देश्य विद्यार्थी का सर्वोमुखी विकास भी था।

वैदिककालीन शिक्षा की विशेषताएं

वैदिक काल में शिक्षा के लिए विद्या, ज्ञान, प्रबोध तथा विनय आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल के ग्रंथों में अशिक्षित मनुष्य को 'विद्या विहीनः पशु' कहा गया है। शिक्षा को प्रकाश का स्रोत माना गया है। प्राचीन काल में शिक्षा की विशेषताएं निम्नलिखित थीं–

टिप्पणी

1. **ज्ञान, तीसरा नेत्र**– शिक्षा ज्ञान है और वह मनुष्य का तीसरा नेत्र है। 'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं' का अभिप्राय यह है कि ज्ञान से मनुष्य के अंतःचक्षु खुल जाते हैं। उसे आध्यात्मिक एवं अलौकिक प्रकाश मिलता है जो जीवन का लक्ष्य है। शिक्षा के द्वारा समस्त मानव जीवन का विकास संभव है। विद्या, माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह सद्मार्ग का अनुकरण करने की प्रेरणा देती है और पत्नी के समान सुख देती है (मातेव रक्षति, पितेव हिते नियुक्ते काग्तेव चापि रमयत्य पत्नीम् स्वेदम्)। शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास होता है। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है और इसका अर्थ है ज्ञान। सायण ने वेद को इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट को दूर करने वाला बताया है। चारों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) के साथ–साथ श्रुति, स्मृति आदि से अनेक नवीन ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति के मस्तिष्क के कपाट खुलते थे।

   ज्ञान प्राप्ति सरल नहीं थी। छान्दोग्योपनिषद में श्वेतकेतु तथा कमल नयन को बारह वर्ष के उपरांत भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं माना गया। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान तथा अनुभव को आत्मसात करना था।

2. **गुरुकुल शिक्षा प्रणाली**– वैदिक युग में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली थी। छात्र, माता–पिता से अलग, गुरु के घर पर ही शिक्षा प्राप्त करता था। यह गुरुकुल पद्धति कहलाती थी। छात्र गुरु–गृह में ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ शिक्षा प्राप्त करता था। वेदकालीन शिक्षा प्रणाली में आरंभिक युग में शिक्षक प्रमुख था किंतु उत्तर काल में शिष्य प्रमुख हो गया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शिक्षण की प्रक्रिया थी। गुरुकुल शिक्षा के केंद्र थे। गुरुकुलों में योग्य तथा चरित्रवान व्यक्ति ही शिक्षा देते थे। इन गुरुकुलों में छात्र 12 वर्ष तक विद्याभ्यास करता था। ज्ञान क्षुधा को शांत करने के लिए परिषदें थीं। समय–समय पर विद्वानों के सम्मेलन भी होते रहते थे। इनमें प्रतिभाशाली विद्वानों को पुरस्कृत भी किया जाता था।

   गुरुकुल के अतिरिक्त अन्य शिक्षा संस्थाओं का प्रचलन भी था। ये संस्थाएं थीं– चरण, घटिका, टोल, परिषद, चतुष्पथी, विशेष विद्यालय आदि।

3. **उपनयन संस्कार**– वैदिक काल में हर छात्र को जीवन के विशिष्ट भाग में ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। आचरण की शुद्धता को प्रमुखता दी जाती थी। अविवाहित छात्रों को ही गुरुकुल में प्रवेश मिलता था। छात्र जीवन में पदार्पण करने के बाद छात्र मेखला धारण करता था। मेखला वर्ण के अनुसार धारण की जाती थी। ब्राह्मण मूंज की, क्षत्रिय तांत की तथा वैश्य ऊन की मेखला धारण करते थे। पहनने के वस्त्र भी इसी क्रम में रेशम, ऊन, सूत आदि के होते थे। सुगंधित तथा मादक वस्तुओं का उपयोग निषिद्ध था।

4. **गुरु सेवा**– वैदिक काल में हर छात्र को गुरुकुल में रहते हुए गुरु सेवा अनिवार्य रूप से करनी पड़ती थी। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करना पाप था और इसके लिए कठोर दंड दिया जाता था। आचार्य को दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध कराना, जैसे दातून, स्नान के लिए जल की व्यवस्था छात्र का प्रमुख कर्तव्य था। गुरु भी छात्रों से ऐसे कार्य नहीं लेते थे जिनसे उनके अध्ययन में बाधा पहुंचे। समावर्तन के मध्य किसी प्रकार की सेवा छात्रों से नहीं ली जाती थी।

टिप्पणी

शिक्षा कार्य का आरंभ प्रातःकाल से होता था। छात्र अपनी दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर हवन आदि में भाग लेते थे। इसके बाद उनका अध्ययन चलता था। दोपहर में भोजनादि के बाद फिर विद्याध्ययन आरंभ होता था। सूर्यास्त के समय हवनादि होता था और फिर इसी प्रकार दिन की क्रियाएं समाप्त हो जाती थीं।

5. **भिक्षा–वृत्ति**– वैदिक काल में छात्र को अपना तथा गुरु का पोषण करना पड़ता था। भिक्षा–वृत्ति के माध्यम से निर्वाह किया जाता था। उस समय भिक्षा–वृत्ति को बुरा नहीं समझा जाता था। हर गृहस्थ, छात्र को भिक्षा अवश्य देता था क्योंकि वह जानता था कि उसका पुत्र भी कहीं भिक्षा मांग रहा होगा। भिक्षा का नियम छात्रों के लिए बनाने का कारण यह था कि भिक्षा से जीवन में विनय आती थी। छात्र को यह अनुभूति होती थी कि समाज की सेवा तथा सहानुभूति से ही ज्ञान प्राप्ति व जीविकोपार्जन आ सकता है। भिक्षा–वृत्ति निर्धन छात्रों के लिए अनिवार्य थी, परंतु धनी छात्रों के लिए यह सामान्य नियम था। छात्र जीवन की समाप्ति के पश्चात भिक्षा–वृत्ति निषिद्ध थी।
6. **व्यावहारिकता**– वैदिक काल में शिक्षा में जीवन की आवश्यक क्रियाएं थीं। गौ–पालन, कृषि आदि की शिक्षा दी जाती थी। इसके साथ–साथ चिकित्सा की शिक्षा भी दी जाती थी। डॉक्टर अल्तेकर के अनुसार, "शिक्षा का उद्देश्य अनेक विषयों का साधारण ज्ञान मात्र करा देना न था अपितु इसका आदर्श विभिन्न क्षेत्रों में उच्च कोटि के ज्ञातज्ञ (विशेषज्ञ) बनाना था। इसी कारण व्यावसायिक शिक्षा में प्रायोगिक शिक्षण पर बल दिया जाता था।"
7. **व्यक्ति के लिए शिक्षा**– वैदिक काल में हर छात्र का विकास करने के लिए गुरु प्रयत्नशील रहता था। वह उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास करता था। इस युग में छात्रों के वैयक्तिक विकास पर पूरा–पूरा ध्यान दिया जाता था परंतु अयोग्यों के लिए (विशेषकर नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से हीन) शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी।
8. **अवधि**– वैदिक काल में गुरु गृह में शिक्षा की अवधि 24 वर्ष की आयु तक होती थी। 25वें वर्ष में शिष्य को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। उस समय छात्रों की तीन श्रेणियां थीं– (अ) 24 वर्ष तक अध्ययन करने वाले– वसु, (ब) 36 वर्ष तक अध्ययन करने वाले– रुद्र, (स) 48 वर्ष तक अध्ययन करने वाले– आदित्य।

4.2.3 300 ई. पू. भारत में शिक्षा व्यवस्था

भारत की संस्कृति और परंपराओं की तरह, शिक्षा प्रणाली का भी अपना एक समृद्ध इतिहास है। हिंदू धर्म से प्रमुख रूप से प्रभावित, प्राचीन काल के लोगों द्वारा अर्जित ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया गया जो आज की शिक्षा में भी परिलक्षित होता है। समयानुसार कुछ परिवर्तनों के साथ प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली अपने आरम्भिक काल से मध्ययुगीन काल के अंत तक प्रचलन में रही। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली जो 300 ई. पू. के दौरान प्रचलन में रही, उसे आरण्यक उपनिषद काल कहा जाता है, इसी दौरान बौद्धयुगीन शिक्षा प्रणाली भी प्रचलित थी (बौद्धयुगीन शिक्षा

टिप्पणी

प्रणाली का विस्तारपूर्वक विवरण आगे दिया गया है) इनका संक्षिप्त वर्णन यहां दिया जा रहा है–

प्राचीन काल में भारत में औपचारिक शिक्षा नहीं होती थी। एक पिता अपने बच्चे को मुख्य रूप से अपने व्यवसाय से संबंधित ज्ञान दिया करता था। कालांतर में, शिक्षा की दो प्रणालियाँ उभरीं – वैदिक और बौद्ध। वैदिक प्रणाली वेदों, वेदांगों और उपनिषदों के इर्द–गिर्द घूमती थी, जबकि बौद्ध प्रणाली प्रमुख बौद्ध विद्यालयों के विचारों का प्रचार करती थी। शिक्षा की भाषा वैदिक व्यवस्था के लिए संस्कृत और बौद्ध व्यवस्था के लिए पाली थी।

प्राचीन भारत में शिक्षा उस समय शेष विश्व से काफी भिन्न थी। समाज और राज्य पाठ्यक्रम या प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। शिक्षा प्राप्त करने के लिए, एक बच्चे को अपनी पढ़ाई की पूरी अवधि के लिए घर छोड़कर गुरुकुल में एक शिक्षक की देखरेख में रहना होता था। शिक्षा के लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता थाद्य वास्तव में, शिक्षक ही छात्र के भोजन, वस्त्र और आवास सहित हर बात का ध्यान रखता था। इस व्यवस्था के अनुसार शारीरिक श्रम का अत्यधिक महत्व था। अतः यदि कोई बच्चा दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने में रुचि रखता हो, तब भी उसे प्रतिदिन कुछ न कुछ शारीरिक कार्य करना पड़ता था। प्राचीन काल में भी वाद–विवाद और चर्चा शिक्षा का अंग थे।

वैदिक प्रणाली में, एक बच्चा पांच साल की उम्र में अपनी शिक्षा शुरू कर देता था। इस शुरुआत को चिह्नित करने के लिए, विद्यारंभ समारोह आयोजित किया जाता था, जिसमें पहली बार देवी सरस्वती की पूजा करना और अक्षर सीखना शामिल था। घर छोड़ना और गुरु के साथ रहना आरम्भ करने हेतु बच्चे को उपनयन नामक एक और समारोह आयोजित करने की आवश्यकता होती थी। बच्चों की जाति के अनुसार अलग–अलग उम्र में इस समारोह का आयोजन किया जाता था (केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बच्चे ही इसके पात्र थे)।

बौद्ध धर्म का उदय ईसा से 600 वर्ष पूर्व हुआ था। 300 ईसा पूर्व में बौद्ध शिक्षण व्यवस्था के अंतर्गत बच्चा अपनी शिक्षा आठ साल की उम्र में पब्ज्जा या प्रब्रज नामक समारोह के साथ शुरू करता था। वैदिक प्रणाली के विपरीत, इस दीक्षा समारोह को सभी जातियों के लड़के कर सकते थे। इसके बाद बच्चा घर छोड़कर अपने गुरु (एक साधु) के मार्गदर्शन में एक मठ में रहने चला जाता था तथा 12 वर्ष तक रहकर अध्ययन करता था।

महिलाओं की शिक्षा

प्राचीन भारत में महिलाओं के लिए शिक्षा का बहुत महत्व था। उन्हें घर की देखरेख के साथ–साथ नृत्य और संगीत में प्रशिक्षित किया जाता था। लड़कियों को भी उपनयन संस्कार करना पड़ता था। शिक्षित महिलाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जाता था – सद्योद्वाहस, जिन्होंने अपने विवाह तक अपनी शिक्षा को जारी रखा, एवं ब्रह्मवादिनी, जिन्होंने कभी विवाह नहीं किया और जीवन भर पढ़ाई जारी रखी। वेद और वेदांग महिलाओं को भी पढ़ाए जाते थे, लेकिन वे धार्मिक गीतों और अनुष्ठानों के लिए

आवश्यक कविताओं तक ही सीमित थे। कुछ उल्लेखनीय वैदिक और उपनिषदों की ज्ञाता महिला विदुषियां अपाला, इंद्राणी, घोष, लोपामुद्रा, गार्गी और मैत्रेयी थीं।

टिप्पणी

शिक्षा की वैदिक और बौद्ध दोनों प्रणालियों में अध्ययन के अलग–अलग विषय होते थे। वैदिक प्रणाली में चार वेद (ऋग्वेद, साम वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद), छह वेदांग (अनुष्ठान ज्ञान, मेट्रिक्स, एक्सजेटिक्स, व्याकरण, ध्वन्यात्मक और खगोल विज्ञान), उपनिषद, तारक शास्त्र (तर्क) शामिल थे। पुराण (इतिहास), तथा अन्य पौराणिक ग्रंथों का अध्ययन भी इसमें शामिल था। बौद्ध व्यवस्था में मुख्य विषय तीन पिटक (विनय, अभिधम्म और सुत्त) थे, जो सभी 18 बौद्ध विद्यालयों में सबसे अधिक मान्यता प्राप्त विषय थे। दोनों प्रणालियों में उपस्थित कुछ सामान्य विषय जैसे– अंकगणित, सैन्य विज्ञान, न्याय, प्रदर्शन कला, नैतिकता, कला तथा वास्तुकला थे।

एक वेद में महारत हासिल करने में 12 साल लगते थे। अतः छात्र कितने विषयों को सीखना चाहता था, अध्ययन की अवधि तदनुसार भिन्न होती थी। शिक्षा 48 वर्षों तक भी जारी रह सकती थी।

आजीविका कमाने के लिए पुरुषों को एक कला रूप जानने की आवश्यकता होती थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के अनुसार, नृत्य, संगीत, आभूषण निर्माण, मूर्तिकला, कृषि और चिकित्सा विज्ञान सहित लगभग 64 कला रूप थे। एक विशेष कला रूप में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु, पुरुषों को विशेषज्ञता हासिल करने के लिए एक गुरु की देखरेख में प्रशिक्षुओं के रूप में काम करना होता था। उन्हें बिना किसी शुल्क के पढ़ाया जाता था, तथा भोजन और निवास का प्रबंध गुरु द्वारा किया जाता था।

हालांकि तब समूहों में पढ़ाना आम बात थी, फिर भी छात्रों को उनके शिक्षकों द्वारा उनकी क्षमताओं और योग्यता के आधार पर व्यक्तिगत रूप से भी पढ़ाया जाता था। मौखिक पाठ ज्ञान प्रदान करने का मूल माध्यम था और आत्मनिरीक्षण (सुनना, चिंतन और एकाग्र चिंतन), कहानी सुनाना, याद रखना, आलोचनात्मक विश्लेषण, व्यावहारिक अध्ययन और संगोष्ठियों जैसी विभिन्न विधियों के माध्यम से अभ्यास किया जाता था।

जिस तरह आज हम विश्व प्रसिद्ध विश्वविद्यालय देखते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी लोकप्रिय शिक्षण संस्थान थे। इनमें से चार संस्थान काफी प्रमुख थे और विभिन्न विशेषज्ञताओं के लिए जाने जाते थे। नालंदा विश्वविद्यालय अपने उदार और महानगरीय चरित्र और तर्क विभाग के लिए प्रसिद्ध था। तक्षशिला विश्वविद्यालय, एक ऐसे क्षेत्र में जो अब आधुनिक पाकिस्तान में है, अपने मेडिकल स्कूल के लिए दुनिया भर में प्रसिद्ध था और छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मुख्य शिक्षा केंद्र था। पूर्व में जिस प्रकार नालंदा विश्वविद्यालय की ख्याति थी वही स्थान वल्लभी का पश्चिम भारत में था। यह एक प्रसिद्ध अध्ययन केंद्र भी था जो कानून, चिकित्सा और अर्थशास्त्र जैसे विषयों में विशिष्ट था, और इसमें देश के सभी भागों से छात्र भाग लेते थे। विक्रमशिला एक अन्य सम्मानित संस्था थी, जो तांत्रिक बौद्ध धर्म के लिए जानी जाती थी।

4.2.4 ब्राह्मण युग में शिक्षा

ब्राह्मणयुगीन शिक्षा व्यवस्था बहुत कुछ वेदकालीन शिक्षा का ही परिष्कृत तथा उन्नत रूप थी। इस युग में पुरोहितवाद बढ़ रहा था। साथ ही शिक्षा की संस्थाओं में अनेक

टिप्पणी

स्वरूप विकसित होने लगे। शाखा, चरण, परिषद्, कुल तथा गोत्र संस्थाओं का जन्म शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए होने लगा था। उपनिषद, आरण्यक, ब्राह्मण आदि ग्रंथों की रचना इसी युग की देन है। वनों में प्रसिद्ध आश्रमों की स्थापना होने लगी थी। इसी युग में सूत्र साहित्य का सर्जन भी हुआ। दर्शन की छः शाखाओं– सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, कर्म या पूर्व मीमांसा, वेदांत या उत्तर मीमांसा आदि का विकास भी इसी युग की देन है। इस युग की विशेषता है– वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण तथा उसका शिक्षण, शूद्र तथा स्त्रियों की शिक्षा कम होने लगी थी।

किसी भी देश का दर्पण उसका साहित्य होता है। वेदों के युग से लेकर ब्राह्मण युग तक साहित्य तथा अन्य साहित्य की रचना होती रही। समाज की आवश्यकतानुसार शिक्षा में भी परिवर्तन होता रहा। ब्राह्मण काल में भी शिक्षा को ज्ञान का माध्यम माना गया है। इस युग में भी शिक्षा के उद्देश्य वैदिक युग की भांति ही थे। समय के साथ–साथ उनके मानने में अंतर अवश्य आ गया था। शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार कहे जा सकते हैं–

1. आत्म–नियंत्रण करना।
2. चरित्र–निर्माण करना।
3. सामाजिकता की भावना पैदा करना।
4. व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करना।
5. पवित्रता का प्रसार।
6. ज्ञान तथा संस्कृति का संरक्षण

ब्राह्मण युग की शिक्षा वैदिक युग के आधार पर चल रही थी परंतु उनके पालन में दृढ़ता तथा संकीर्णता आ गई थी। इस युग में शिक्षा जीवन संघर्ष से जूझने के लिए दी जाती थी। उपनयन संस्कार के बाद रुचि, अभिवृत्ति के अनुसार गुरु शिष्य को शिक्षा प्रदान करते थे। ब्रह्मचर्य का पालन कठोरता से किया जाता था। शिक्षा प्रदान करते समय बालक के मनोविज्ञान का संपूर्ण ध्यान रखा जाता था। शारीरिक दंड अनुशासन पालन की अंतिम व्यवस्था थी। मनुस्मृति में कहा गया है– अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्टयर्थ ताड्यत्त तौ (4–64), इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा है– न निन्दा ताडने कुर्यात पुत्रं शिष्यं च ताडयेत (1–115)।

शिष्य गुरुकुल अथवा गुरुगृह में रहते थे और गुरु के संसर्ग में रहकर संस्कार अर्जित करते थे। शिक्षा प्राप्त करने में शूद्रों पर अवश्य प्रतिबंध लग गया था। वे सामाजिक कारणों से शिक्षा प्राप्त करने के पात्र नहीं समझे जाते थे।

ब्राह्मणयुगीन शिक्षा की सामान्य विशेषताएं

वैदिक कालीन शिक्षा के बाद कर्मकांड में वृद्धि हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में शूद्रों एवं स्त्रियों की स्थिति हीन होने लगी। इस युग में शिक्षा व्यापक होने लगी। उसे जीवन के प्रत्येक पक्ष से जोड़ा गया। इसकी कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. **धर्म प्रधान होना**– वैदिक काल की भांति, इस युग में शिक्षा धर्म प्रधान थी। छात्रों को धार्मिक क्रियाओं का ज्ञान कराया जाता था। अनेक धार्मिक–सांस्कृतिक

कार्यों का आयोजन किया जाता था जिनके माध्यम से छात्र उन क्रियाओं के संपर्क में आते थे।

टिप्पणी

2. **असांसारिक तथा सांसारिक (परा–अपरा) शिक्षा**– वैदिक युग में शिक्षा जहां पारलौकिक उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील रहती थी तो वहां वह सांसारिकता का भी पूरा–पूरा ध्यान रखती थी। इसमें शिक्षा, जीवन की भौतिकता का पूरा–पूरा समावेश करती थी।
3. **व्यक्तिवाद**– ब्राह्मण युग में सामूहिक शिक्षा न होने के कारण व्यक्ति प्रधान था। गुरु भी छात्रों के व्यक्तिगत विकास का ध्यान रखते थे।
4. **ब्रह्मचर्य**– वैदिक काल की शिक्षा की भांति इस युग में ब्रह्मचर्य पालन पर पूर–पूरा जोर दिया जाता था। छात्रों से यह आशा की जाती थी कि वह गुरु की आज्ञा का पालन करें और नैतिक आचरण करें।
5. **शारीरिक दंड**– ब्राह्मण युग में छात्रों को शारीरिक दंड देने की प्रथा नहीं थी। मनु, गौतम, विष्णु आदि आचार्यों ने शारीरिक दंड का विरोध किया है और उसे अमानुषिक बताया है।
6. **शिक्षण विधि**– वैदिक युग में तो शिक्षा मौखिक रूप से होती थी। गुरु शिष्यों को मंत्र रटाते थे और उनकी व्याख्या करते थे। ब्राह्मण युग तक लिखने की कला का विकास हो गया था और लिखने के साथ–साथ मौखिक कार्य पर अधिक बल दिया जाता था। लेखन कार्य भोजपत्र पर होता था। शुद्ध उच्चारण पर बल दिया जाता था। शंका समाधान, प्रश्नोत्तर वाद–विवाद आदि के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। लेखन कार्य के लिए विशेष अभ्यास कराया जाता था और पांडुलिपियों की नकल कराई जाती थी। व्याकरण, ज्योतिष, न्याय तथा आयुर्वेद में प्रयोगात्मक कार्य पर बल दिया जाता था। विद्वत परिषदों में अध्यापक तथा छात्र अनौपचारिक रूप से सीखते थे। इनमें पर–विचार विनिमय किया जाता था।
7. **पाठ्यक्रम**– वैदिक युग में भी वेदों के अध्ययन को प्रमुखता दी जाती थी। व्याकरण, गणित, रेखागणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति, कृषि, भौतिक विज्ञान, न्याय दर्शन आदि को पाठ्यक्रम में रख लिया गया था। इस युग की विशेषता यह रही कि समय के साथ पाठ्यक्रम भी दो तरह के बनाए गए– दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन। साथ ही, उच्चारण, स्वर, व्यंजन आदि के शुद्ध अभ्यास पर बल दिया जाता था। छात्रों को रस, छंद, अलंकार आदि को पढ़ाया जाता था। इसी आधार पर वेदों से संहिताओं की रचना की गई। छंद आदि के लिए पिंगल शास्त्र की रचना की गई। शल्य चिकित्सा शास्त्र का विकास भी इसी युग में हो चुका था।
8. **गुरु–शिष्य संबंध**– गुरु–शिष्य के संबंध पिता–पुत्र के समान थे। गुरु परिवार में शिष्य परिवार के एक सदस्य की भांति ही रहते थे। वे गुरु की सेवा करना, भिक्षा मांगना, गाय चराना आदि कार्य करते थे। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु–शिष्यों को 'सत्यं वद्, धर्मं–चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः' का उपदेश देता था।

टिप्पणी

इस युग में जब शिष्य गुरु के पास आता था तो गुरु को समिधा अर्पित करता था। यह समिधा ही ज्ञान की ज्योति के रूप में परिवर्तित हो जाती थी। छात्र, गुरु की सेवा करते थे। शिक्षा समाप्त होने पर वे समावर्तन संस्कार के समय गुरु दक्षिणा देते थे।

4.2.5 बौद्ध युग में शिक्षा

ब्राह्मण युगीन शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन के साथ जुड़ गई थी। कर्मकांड का बोलबाला था। जनता परेशान थी। चारों ओर दिशाहीनता का वातावरण था। ऐसे समय में बौद्ध धर्म का उद्‌भव वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। वैदिक विद्यापीठों की तुलना में बौद्ध मठों की स्थापना होने लगी थी। पहले तो इन विद्यापीठों में केवल बौद्धों को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। कालांतर में सभी वर्गों के व्यक्तियों के लिए बिना किसी भेदभाव के शिक्षा दी जाने लगी। इस बौद्ध शिक्षा प्रणाली के विषय में आर.के मुकर्जी का कथन है– "उचित रूप से विचार किए जाने पर, बौद्ध शिक्षा प्राचीन हिंदू या ब्राह्मणीय शिक्षा प्रणाली का केवल एक रूप है।"

बौद्धयुगीन शिक्षा ईसा पूर्व 5वीं सदी में अस्तित्व में आई। ब्राह्मणों ने जन साधारण को शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया। फलतः बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव ने जनता को शिक्षित करने, उन्हें धर्म का आचरण करने की स्वतंत्रता प्रदान की। बुद्ध ने जीवन को व्यावहारिक स्वरूप दिया। इसलिए व्यावहारिक धर्म और व्यावहारिक शिक्षा जन साधारण के लिए उपलब्ध हो गए।

वास्तविकता यह है कि बौद्ध युगीन शिक्षा स्वयं में भिन्नता रखते हुए भी वैदिक युग की शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी। बौद्ध शिक्षा संघों में थी। आर.के. मुकर्जी ने लिखा है– "बौद्ध शिक्षा पद्धति प्रायः बौद्ध संघ की पद्धति है, जिस प्रकार वैदिक युग में यज्ञ संस्कृति के केंद्र थे, उसी प्रकार बौद्ध युग में संघ शिक्षा और विद्या के केंद्र थे। बौद्ध संसार में अपने संघों से पृथक या स्वतंत्र रूप में शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं था। सब प्रकार की धार्मिक तथा लौकिक शिक्षा श्रमणों के हाथ में थी।"

शिक्षा के स्तर

बौद्ध काल में शिक्षा के दो स्तर थे– प्राथमिक एवं उच्च।

1. प्राथमिक स्तर– बौद्ध युग में प्राथमिक शिक्षा सांसारिक शिक्षा के रूप में दी जाती थी। फाह्यन (FA-Hien) ने भी सामान्य शिक्षा की चर्चा की है। प्राथमिक स्तर में 6 वर्ष की आयु में प्रवेश दिया जाता था।
2. उच्च स्तर– डॉ. अल्तेकर के अनुसार, "मठों में अपनी उच्च शिक्षा की योग्यता से, जहां अध्ययन करने के लिए कोरिया, चीन, तिब्बत और जावा ऐसे सुदूर देशों के छात्र आकर्षित होते थे, भारत की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को ऊंचा उठा दिया।"

बौद्धयुगीन शिक्षा के उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम

बौद्धयुगीन शिक्षा के उद्देश्य– लौकिक दृष्टि से मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक, नैतिक तथा आर्थिक विकास पर बल दिया है और पारमार्थिक दृष्टि से मनुष्य के निर्वाण

की प्राप्ति के लिए चार आर्य सत्यों, पंचशील, अष्टांगिक मार्ग और त्रिरत्न की उपलब्धि पर बल दिया है। शिक्षा के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. **सम्यक् दृष्टि**– अविद्या के कारण मनुष्य सांसारिक सुख नहीं भोग पाता। मिथ्या दृष्टि को छोड़कर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान रखने को सम्यक् दृष्टि कहते हैं। यही विकसित करना बौद्धकालीन शिक्षा का उद्देश्य है।
2. **सम्यक् संकल्प**– बौद्धकालीन शिक्षा का उद्देश्य बुरी भावनाओं और हानि पहुंचाने वाले विचारों का उन्मूलन करना। सम्यक् संकल्प में त्याग परोपकार और करुणा सम्मिलित है।
3. **सम्यक् वाक**– सम्यक् वाक में मिथ्यावाद, निन्दा एवं अप्रिय वचन आदि का निषेध है। विद्यार्थी को अशुभ से बचकर शुभ वाचन करना चाहिए।
4. **सम्यक् कर्मान्त**– विद्यार्थी को अपने गुरुओं का आदर करना चाहिए, उनके आदेश का पालन करना चाहिए एवं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए।
5. **सम्यक् आजीविका**– बौद्धयुगीन शिक्षा का उद्देश्य शुद्ध उपायों से जीविकोपार्जन करना है।
6. **सम्यक् व्यायाम**– कुसंस्कारों एवं अशुद्ध विचारों को रोकने के प्रयास को सम्यक् व्यायाम कहा गया है। इससे विद्यार्थी का नैतिक व मानसिक विकास होता है।
7. **सम्यक् स्मृति**– सम्यक् स्मृति के अनुसार, विद्यार्थी शरीर, चित्त, वेदना को उसके यथार्थ रूप में स्मरण रखते हैं।
8. **सम्यक् समाधि**– सम्यक् समाधि में विद्यार्थी के अन्तःकरण की शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय होता है।

पाठ्यक्रम– पाठ्यक्रम में कुछ विषय धार्मिक प्रकृति के थे, जिनका आधार अलौकिक था। कुछ विषय लौकिक आधार पर आधारित थे। धार्मिक पाठ्यक्रम भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए था, इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना था। इस पाठ्यक्रम में चार आर्य सत्यों का पूर्ण ज्ञान था। बौद्ध विहारों में पांच विद्याओं शब्द विद्या, शिल्पासन विद्या, चिकित्सा विद्या, हेतु विद्या एवं आध्यात्मिक विद्या। लौकिक पाठ्यक्रम साधारण लोगों के लिए था। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य स्त्री–पुरुषों को अच्छा नागरिक बनाना था। पाठ्यक्रम में सामान्य विषय, कला कौशल, व्यावहारिक विषय थे।

बौद्धयुगीन शिक्षा की विशेषताएं

बौद्धयुगीन शिक्षा की अनेक विशेषताएं थीं, जो इस प्रकार हैं–

1. **छात्र योग्यता**– बौद्ध युग में चांडालों को छोड़कर समाज के सभी वर्गों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। अस्वस्थ, असम्मानित, रोगी, विकलांग एवं दंडित लोगों को भी शिक्षा का अधिकार नहीं था। विद्यारंभ 8 वर्ष की आयु में होता था। छात्र 12 वर्ष तक श्रमण की स्थिति में रहता था। 20 वर्ष की आयु के पश्चात वह भिक्षु बन सकता था। शिक्षा का माध्यम पालि भाषा थी।

टिप्पणी

2. **पब्बजा संस्कार**– शिक्षा के लिए मठों में प्रवेश हेतु पब्बजा संस्कार होता था। 'विनयपिटक' के अनुसार– "छात्र अपने सिर के बाल मुंडवाता था, पीले कपड़े पहनता था, मठ के भिक्षुओं के चरणों में अपना माथा टेकता था और फिर पालथी मारकर बैठ जाता था। उसे तीन बार कहना पड़ता था– 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'।"

   इसके बाद उसे 10 नियमों का पालन करने का आदेश दिया जाता था। दस नियमों में चोरी न करना, जीव हत्या न करना, अशुद्ध आचरण न करना, वर्जित समय पर आहार न करना, मादक वस्तुओं का सेवन न करना, शृंगार की सामग्री का प्रयोग न करना, बिना दिए हुए किसी वस्तु को ग्रहण न करना, सोना–चांदी आदि कीमती वस्तुओं का दान न लेना, नृत्य, संगीत आदि न देखना थे। इस संस्कार के बाद छात्र को श्रमण अथवा समनेर कहा जाता था।

3. **उपसंपदा संस्कार**– 20 वर्ष की आयु के पश्चात छात्र को उपसंपदा ग्रहण करनी पड़ती थी। उपसंपदा के समय 10 भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। उपसंपदा के बाद पुरुषों को भिक्षुक एवं स्त्रियों को भिक्षुणी कहा जाने लगता था। उपसंपदा के बाद भी भिक्षुक को वृक्ष के नीचे वास करना, भिक्षा पात्र में भिक्षान्न मांगकर खाना, मांगे हुए वस्त्र धारण करना एवं औषधि रूप में गौ मूत्र सेवन करना पड़ता था।

4. **अध्ययन काल**– 12 वर्ष पब्बजा, 10 वर्ष उपसंपदा, कुल मिलाकर 22 वर्ष का अध्ययन काल होता था।

5. **गुरु–शिष्य संबंध**– छात्र गुरु की सेवा करते थे, भिक्षा मांगते थे तथा तीन बार भोजन करते थे, तीन वस्त्र पहनते थे और शुद्ध स्नान करते थे, अनुशासन में रहते थे। डॉ. अल्तेकर के अनुसार, "अपने गुरु के साथ नवशिष्य के संबंधों का स्वरूप पुत्रानुरूप था। वे पारस्परिक सम्मान, विश्वास और प्रेम से आबद्ध थे। इस काल में गुरु शिष्य संबंध का आधार समता का था। शिष्य तथा गुरु, दोनों ही अपने कर्तव्यों का पालन करते थे।"

6. **स्त्री शिक्षा**– बौद्ध युग में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से नीचा था। पहले स्त्रियां संघ में वर्जित थीं। बाद में जब उन्हें संघ में प्रवेश मिल गया, तभी उनमें शिक्षा की प्रगति हुई। डॉक्टर अल्तेकर के अनुसार, "स्त्रियों के संघ में प्रवेश करने की आज्ञा ने स्त्री शिक्षा, विशेष रूप से समाज के कुलीन और व्यावसायिक वर्गों की स्त्रियों की शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन दिया।" बुद्धकाल में स्त्रियों की शिक्षा का प्रसार होने के अनेक प्रमाण हैं। इनके लिए अलग विहारों की स्थापना की गई। शील भट्टारिका, विजयांका, प्रभुदेवी आदि महिलाओं के नाम उच्च शिक्षा प्राप्त नारियों में आते हैं। संघमित्रा बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए लंका गई थी।

7. **व्यावसायिक शिक्षा**– बुद्ध काल में लेखन, गणना–रूपक (Drawing), कृषि, वाणिज्य, कुटीर–उद्योग और पशुपालन, हस्तज्ञान (Palmistry), इन्द्रजाल, मृतकों को जीवित करने का मंत्र, पशुओं की बोलियों का ज्ञान, धनुर्विद्या, भविष्य कथन, इंद्रिय संबंधी क्रियाओं का वशीकरण, शारीरिक संकेत, औषधि विज्ञान पाठ्यक्रम में थे। डॉक्टर आर.के मुकर्जी के अनुसार, "सिप्पायों या प्राविधिक तथा वैज्ञानिक

शिक्षा के ज्ञान की मांग सामान्य शिक्षा या धार्मिक अध्ययन की मांग से किसी प्रकार कम नहीं थी।

8. **पाठ्यक्रम**– बौद्ध युग में लेखन, गणित तथा शास्त्रार्थ के साथ–साथ कला कौशल, सैनिक शिक्षा, सारथी–विद्या, धनुर्विद्या, भूतल विद्या (Geology) आदि की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त धार्मिक तथा लौकिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी।

टिप्पणी

बौद्ध काल में पाठ्यक्रम दो प्रकार का था– धार्मिक तथा लौकिक। धार्मिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत वेद–शास्त्र तथा बौद्ध शास्त्र पढ़ाए जाते थे। उन दिनों वेद तथा बौद्ध ग्रंथों का उदारतापूर्वक अध्ययन कराया जाता था। लौकिक पाठ्यक्रम में समाज की भौतिक आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इनमें लेखन, गणित, शास्त्रार्थ, कातना, बुनना, छपाई, रंगाई, सिलाई, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत, कृषि, पशुपालन और चिकित्सा आदि थी। इस युग में गुरु शिष्य संबंध वैदिक तथा ब्राह्मण युग की तरह मधुर थे। आचार्य की आज्ञा का पालन तथा सेवा करना शिष्यों का कर्तव्य था। अपराध होने पर प्रायश्चित की व्यवस्था भी थी।

4.2.6 मुस्लिमयुगीन शिक्षा

भारत में मुस्लिम शिक्षा प्रणाली बहुमुखी होकर विकसित हुई। इसने एक ओर इस्लाम तथा कुरान को जीवन शैली का आधार बनाया तो दूसरी ओर मिश्रित संस्कृति और सभ्यता से नई दिशा विकसित हुई। डॉ. एफ.ई.सी. के अनुसार, "मुस्लिम शिक्षा एक विदेशी प्रणाली थी, जिसका भारत में प्रतिरोध किया गया और जो ब्राह्मण शिक्षा से अति अल्प संबंध रखकर अपनी नवीन भूमि में विकसित हुई।"

मुस्लिमयुगीन शिक्षा के उद्देश्य एवं संरचना

मुगलकालीन शिक्षा अनेक उद्देश्यों को लिए हुए थी, जिसमें प्राथमिक लक्ष्य तो मुगल प्रशासन और राजनीति के संचालन की व्यवस्था थी। हालांकि इसके स्वरूप में शासकों के कार्यकाल के दौरान परिवर्तन भी होता रहा था, जैसे– अकबर के शासन के दौरान की शिक्षा–व्यवस्था औरंगजेब के शासनकाल की शिक्षा–व्यवस्था से काफी अलग थी।

1. **धर्म का विस्तार**– मुस्लिम शिक्षा का उद्देश्य धर्म को विस्तारित करना था। यही कारण है कि मस्जिदों के साथ मकतबों को स्थापित किया गया था और कहा गया था कि शिक्षा प्रदान करने के कार्य में संलग्न लोग अल्लाह के बंदे कहलाएंगे और जन्नत को प्राप्त करेंगे। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद ने भी शिक्षा को अल्लाह का सर्वोत्तम देन कहा था और इसे प्रदान करना हर माता–पिता का प्रथम कर्तव्य माना था। कुरान में कहा गया है कि शिक्षा के माध्यम से सांसारिक और स्वर्गीय आनंद मिलता है। मुस्लिम न तो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और न ही आध्यात्मिक शून्यवाद में, वे तो अपने वर्तमान जीवन में ही अधिकाधिक कर्म करने के इच्छुक थे। इस कारण मुस्लिम शिक्षा पद्धति का स्वरूप ऐसा बनाया गया था कि छात्रों के

टिप्पणी

लोक–परलोक अर्थात वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए शिक्षा लाभदायक हो।

2. **धार्मिक नियमों का फैलाव**– मुस्लिम शिक्षा का उद्देश्य कुरान के शरीयतों और इस्लाम के प्रमुख नियमों को फैलाना था। शिक्षा के माध्यम से इस्लाम के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इस्लामिक कानूनों के अनुसार सुधार लाने का लक्ष्य था। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से जीवन का उन्नयन करना इस समय का उद्देश्य था।
3. **ज्ञान का विस्तार**– मुस्लिम शिक्षा का उद्देश्य मुसलमानों में शिक्षा का विस्तार करना था। मुस्लिम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद ने कहा था कि बिना शिक्षा के समस्याओं से मुक्ति संभव नहीं है। शिक्षा के माध्यम से ज्ञान का विस्तार करके लोगों को यह बताया जा सकता है कि सही और गलत कार्य क्या है? धर्म और अधर्म क्या है? इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुस्लिम काल में शिक्षा का लक्ष्य मानव का कल्याण करने के लिए व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करना था। प्राचीन हिंदू शिक्षा की ही तरह मुस्लिम काल में भी शिक्षा को अर्थ से नहीं जोड़कर बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति से जोड़कर देखा जाता था। शिक्षा के संदर्भ में मुहम्मद साहब ने यह भी उपदेश दिया कि, ''दान में धन देने की अपेक्षा अपने बच्चों को शिक्षा देना कहीं अधिक अच्छा है। छात्रों के कलम की स्याही, शहीदों के खून से भी अधिक पवित्र है।''
4. **प्रशासन का सुदृढ़ीकरण**– मुस्लिम शिक्षा में शासकों का यह मानना था कि प्रशासनिक और राजनीतिक कार्यों में संलग्न व्यक्यिों की समुचित शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा के माध्यम से प्रशासनिक और राजनीतिक कार्यों का सुदृढ़ीकरण मुस्लिम शासकों का लक्ष्य था।
5. **व्यापक प्रगति**– मुस्लिम शिक्षा के अंतर्गत व्यापक तौर पर शिक्षित व्यक्तियों को ही उच्च पदों पर आसीन किया जाता था, जैसे– काजी न्याय व्यवस्था के लिए और वजीर प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री पद पर आसीन होते थे।
6. **चरित्र निर्माण और पुरस्कार**– मुस्लिम काल में छात्रों के चरित्र–निर्माण और उनके अनुशासनबद्ध जीवन पर विशेष जोर दिया जाता था। इसके अंतर्गत मेधावी और कुशाग्र छात्रों को पुरस्कृत करने की भी परंपरा थी तथा पाठ्यक्रमों के अंतर्गत विविधता और व्यापकता का समावेश किया गया था। शिक्षा में उच्च स्तर की नैतिकता को कायम रखने के लिए शिक्षकों को भी 'ताल्वे इल्म' और 'उस्ताद' जैसी उपाधियां प्रदान की जाती थी।
7. **मुस्लिम संस्कृति का प्रसार**– मुस्लिम शिक्षा का लक्ष्य मुस्लिम संस्कृति का प्रसार करना था। मुस्लिम अन्य देशों से भारत में आए थे। भारत के हिंदुओं की संस्कृति से उनकी संस्कृति में काफी विषमताएं थीं। इसी विषमता को

समाप्त करने के लिए मुस्लिमों ने शिक्षा को अपना अस्त्र बनाया और अपनी मुस्लिम संस्कृति को हिंदुओं पर थोपने का प्रयास किया। मुस्लिमों का मानना था कि परंपरागत भारतीयों को अपनी भाषा, आचार–विचार, प्रथाओं, नियमों को अपनाने के लिए मजबूर कर देने पर अंत में वे मुस्लिम धर्म को भी अपनाने को विवश हो जाएंगे।

टिप्पणी

8. **विशिष्ट नैतिकता का समावेश**– मुस्लिम शिक्षा व्यवस्था इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार विशिष्ट नैतिकता का समावेश करने के लक्ष्य से स्थापित की गई थी। मुस्लिम शिक्षा का द्वार हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिए खोल दिया गया, परंतु इन शिक्षण संस्थानों में नैतिकता के नियम हिंदुओं के नैतिकता के नियमों से अलग मुस्लिम नियमों के अनुसार निर्धारित थे।
9. **मुस्लिम श्रेष्ठता की स्थापना**– मुस्लिम शासक यह अच्छी तरह से जानते थे कि यदि उन्हें हिंदुओं पर श्रेष्ठता स्थापित करनी है तो उसका एकमात्र साधन शिक्षा ही हो सकता है। यही कारण है कि हिंदुओं के विचारों और दृष्टिकोण में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए मुस्लिम शासकों ने शिक्षा को अस्त्र के तौर पर प्रयोग करते हुए हिंदुओं को अपने अधीन करने का प्रयत्न किया।
10. **सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति**– मुस्लिम दर्शन पुर्नजन्म, आदि में विश्वास नहीं करता है और इसी जन्म में वह सांसारिक सुखों की चाह रखता है। शिक्षा के माध्ययम से इस जन्म में ही अधिकतम सुखों को पाया जा सकता है, मुस्लिम शासकों के यहां निम्नतम से लेकर उच्चतम पदों तक सभी पर शिक्षित लोगों को नियुक्त करने का विधान था।

मुस्लिम शिक्षा की संरचना

मुस्लिम शिक्षा की एक व्यापक संरचना की गई थी, जिसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

1. **बिस्मिल्लाह**– मुस्लिम शिक्षा संरचना में शिक्षा का प्रारंभ 'बिस्मिल्लाह' नामक एक परंपरा से किया जाता था। यह परंपरा निर्वाह बच्चे के चार वर्ष, चार महीने और चार दिन के उम्र पर हो जाने पर होता था। इस दिन बच्चों को नए वस्त्र पहना कर मौलवी के पास भेजा जाता था, जहां कुरान के पाठ अथवा आयतें पढ़ते हुए 'बिस्मिल्लाह' का उच्चारण करते हुए मौलवी बच्चे की शिक्षा का प्रारंभ करते थे। इस समय धनवान मुस्लिम अपने घर में शिक्षा की इस परंपरा का प्रारंभ करते थे। मुस्लिम शिक्षा में बिस्मिल्लाह परंपरा वैदिककालीन उपनयन संस्कार और बौद्धकालीन पब्बज्जा के समान थी।
2. **मकतब और खानकाह**– मुस्लिम शिक्षा के दौरान प्रारंभिक शिक्षा के संदर्भ में दो संस्थानों का नाम लिया जा सकता है–
   (क) **मकतब**– मुस्लिम शिक्षा में बच्चों की प्राथमिक शिक्षा मकतबों में प्रारंभ होती थी, जहां मौलवी यानी शिक्षक कुरान के वर्णों की सहायता से

टिप्पणी

उनकी शिक्षा प्रारंभ करवाते थे। बच्चों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने वाले ये मकतब सामान्य तौर पर मकतबों से जुड़े हुए थे। इन विद्यालयों से निकलने वाले विद्यार्थियों को कुरान, आज़ान, नमाज़, लेखन, वार्तालाप, गणित आदि का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त हो जाता था।

(ख) **खानकाह**– खानकाह में केवल मुस्लिम छात्रों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। इन खानकाहों का संचालन दान से प्राप्त आय पर चलता था।

3. **मदरसा**– मकतब की शिक्षा को पूरा कर लेने के बाद छात्रों को उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिए मदरसों में प्रवेश दिया जाता था। इस प्रकार मदरसा मुस्लिमों में उच्च शिक्षा प्रदान करने का माध्यम था। मदरसों को राजकीय सहायता भी प्रदान की जाती थी और साथ ही कुछ मदरसे निजी सहयोग से भी संचालित होते थे। मदरसों में शिक्षार्थियों को रहने के लिए छात्रावास की भी व्यवस्था थी। इन मदरसों में व्याख्यान के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती थी। इन मदरसों से सर्वोच्च उपाधि और शिक्षा पाने के लिए छात्र भारत से मक्का तक चले जाते थे। इन मदरसों में दो तरह की शिक्षा प्रदान की जाती थी– धार्मिक और लौकिक। धार्मिक शिक्षा के अंतर्गत इस्लामी साहित्य, कुरान एवं सूफी सिद्धांतों का गहराई से अध्ययन किया जाता था। लौकिक शिक्षा के तहत कृषि, ज्योतिष, भूगोल, गणित, अरबी–फारसी, साहित्य और व्याकरण एवं अन्य कलाओं, आदि का अध्ययन किया जाता था।

4. **शिक्षा का माध्यम**– मुस्लिम शिक्षा का लक्ष्य अरबी और फारसी भाषा में शिक्षा देना था, जिसमें आगे चलकर उर्दू भाषा का उन्नयन किया गया और शिक्षा का माध्यम बनाया गया।

5. **शिक्षण की विधि**– मुस्लिम शिक्षा में लेखन, अध्ययन की अपेक्षा स्मरण पर जोर दिया जाता था। मकतबों और मदरसों दोनों में निरीक्षण की व्यवस्था थी और मौखिक पढ़ाई पर जोर दिया जाता था। इस समय छात्रों पर सामूहिक की अपेक्षा व्यक्गित ध्यान पर जोर दिया जाता था। मुस्लिम काल की शिक्षण विधि अथवा शिक्षण पद्धति को हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत रख सकते हैं–

   - मकतबों में मौखिक पाठ का पुनरावर्तन शिक्षा का अनिवार्य भाग था। नए पाठ को प्रारंभ करने से पूर्व शिक्षक पूरी तरह से संतुष्ट हो लेते थे कि छात्र ने पढ़ाए गए विषय को पूरी तरह से कंठाग्र किया है अथवा नहीं। संतुष्ट होने पर शिक्षक अगले पाठ को पढ़ाया करते थे।
   - शिक्षा के अंतर्गत पाठ याद नहीं होने पर दंड देने का भी प्रावधान था।
   - मुस्लिम शिक्षा के अंतर्गत कठोर अनुशासन का पालन करना शिक्षा के अंतर्गत शामिल था और जो छात्र इसका पालन नहीं करते थे, उन्हें कठोर दंड देने का भी प्रावधान था।

टिप्पणी

- मुस्लिम शिक्षा के अंतर्गत मदरसा और मकतब दोनों स्थानों पर निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था थी।
- मुस्लिम काल की शिक्षा पद्धति में छोटे बालकों अथवा छात्रों को प्रारंभ में कलमा रटाया जाता था और बाद में कुरान की संपूर्ण आयतों को याद करवाया जाता था।
- मुस्लिम काल में शिक्षा को फारसी भाषा में प्रदान किया जाता था।
- मुस्लिम शिक्षा पद्धति के अंतर्गत शिक्षक अर्थात् मौलवी और मुल्ला व्यक्तिगत स्तर पर छात्रों से संपर्क में रहते थे। इससे व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रतिभावान छात्रों को आगे बढ़ने में सहायता मिलती थी।

6. **पुरस्कार और दंड**– मुस्लिम शिक्षा में छात्रों में आदेश और आज्ञाकारिता को लाने के लिए दंड की व्यवस्था की गई थी। इसमें प्रतिभाशाली छात्रों के प्रोत्साहन के लिए पुरस्कार की भी व्यवस्था की गई थी।

7. **छात्र–शिक्षक संबंध**– मुस्लिम शिक्षा की व्यवस्था में छात्रों और शिक्षकों का संबंध प्राचीन काल की ही तरह सौहार्दपूर्ण था। इस काल में शिक्षा में शुद्धता और समर्पण की भावना थी। समाज में शिक्षकों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और माना जाता था कि जो छात्र शिक्षक की सेवा करते हैं वे अल्लाह की सेवा करते हैं, परंतु शिक्षकों को बहुत ही कम वेतन दिया जाता था। इस काल की शिक्षा में दूसरी तरफ यह भी देखा जाता था कि छात्र और शिक्षकों का संबंध कुछ मामलों में बहुत स्वस्थ नहीं था। उदाहरणस्वरूप हम औरंगजेब को ले सकते हैं जिसने अपने शिक्षक मौला शाह सलेह की उपेक्षा और बेइज्जती कर दी थी। मुगलकालीन शिक्षा पद्धति में छात्र–शिक्षक संबंधों को निम्नलिखित चित्र के द्वारा भी समझा जा सकता है–

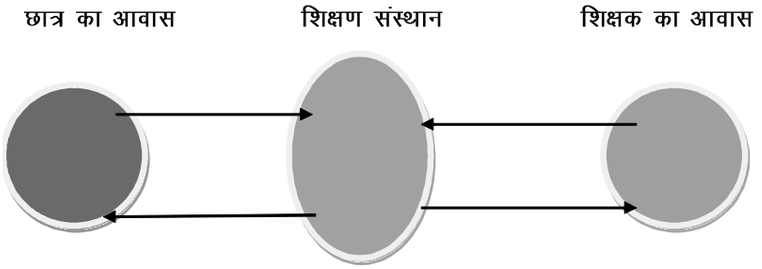

8. **पाठ्यक्रम**– मुस्लिम शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम में कुरान, इस्लाम धर्म का इतिहास और हजरत मोहम्मद की जीवन, आदि के साथ साहित्य, अरबी, फारसी, दर्शन, कानून, यूनानी औषधि, कृषि, अर्थशास्त्र, भूगोल, इतिहास, तर्क, शिल्प, आदि का अध्ययन शामिल था। इस प्रकार इन मदरसों में धार्मिक के साथ भौतिकवादी अध्ययन को भी स्थान दिया जाता था। दूसरी तरफ हिंदू छात्रों हेतु संस्कृत शिक्षा की भी व्यवस्था की गई थी। मुस्लिम शिक्षा के अंतर्गत मकतबों में मौखिक पाठ का पुनरावर्तन शिक्षा का अनिवार्य भाग था।

टिप्पणी

मुस्लिमयुगीन शिक्षा की विशेषताएं

मुस्लिम युग में शिक्षा का विकास इतनी मंथर गति से हुआ कि इसके विकास की कोई विशेषता प्रकट न हो सकी। छुट–पुट शासकों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए शिक्षा संस्थाओं को स्थापित किया। इस युग की शिक्षा की विशेषताएं इस प्रकार थीं–

1. **राज्य द्वारा प्रोत्साहन**– मुस्लिम शासक शिक्षा में रुचि लेते थे। वे मकतबों तथा मदरसों की सहायता करते थे। उन्हें जागीरें दी जाती थी। विद्वानों को राजदरबार में विशेष स्थान दिया जाता था। इस युग के शासकों ने सांप्रदायिक आधार पर मस्जिदों में चलने वाले मदरसों तथा मकतबों को अनुदान देना आरंभ किया।
2. **अरबी तथा फारसी**– मुस्लिम युग में अरबी तथा फारसी की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। मुस्लिम युग में फारसी तथा अरबी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। सरकार में कार्य करने तथा पद प्राप्त करने के लिए अरबी तथा फारसी का ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक था, इसलिए हिंदुओं ने भी अरबी, फारसी भाषाओं का अध्ययन करना आरंभ किया।
3. **धार्मिक प्रभाव**– इस्लाम से प्रभावित होने के कारण इस पर धार्मिक प्रभाव था। हर मुसलमान धर्म तथा ज्ञान की खोज करने के लिए शिक्षा प्राप्त करता था। मुस्लिम युग की शिक्षा में इस्लाम के प्रभाव के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। कुरान को कंठस्थ कराया जाता था। इस्लाम धर्म के अध्ययन पर बल दिया जाता था। शिक्षा पर यह धार्मिक प्रभाव मुस्लिम शासकों की सांप्रदायिकता का प्रतीक था।
4. **भौतिकता**– मुस्लिम युगीन शिक्षा ने व्यावहारिक तथा भौतिकता के दृष्टिकोण से ही शिक्षा का विकास किया। कला–कौशल, शिल्प, कृषि, चिकित्सा आदि की शिक्षा से इस बात की स्पष्ट जानकारी हो जाती है। धार्मिक शिक्षा के साथ इस बात पर भी बल दिया जाता था कि बालक पढ़–लिखकर अपनी रोजी कमाने योग्य हो जाए। इसलिए सैनिक शिक्षा, चित्रकला, संगतराशी, भवन निर्माण, युद्ध सामग्री निर्माण का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। इस प्रकार की शिक्षा उस्ताद लोग अपने शिष्यों को व्यक्तिगत स्तर पर देते थे।
5. **इतिहास लेखन का विकास**– मुस्लिम शासकों ने अपने युग के इतिहास लिखवाकर इतिहास लेखन की कला को विकसित किया। इस युग में मुगल बादशाहों ने तथा अन्य मुस्लिम वंशीय बादशाहों ने अपने काल के इतिहास लिखवाए। बाबरनामा, अकबरनामा आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।
6. **उर्दू की उत्पत्ति**– अरबी, फारसी के संयोग से नई भाषा 'उर्दू' की उत्पत्ति मुस्लिम युग की सबसे बड़ी देन है। आज उर्दू की जो स्थिति है, यह मुस्लिम युग के कारण ही है।

मूल्यांकन

मुस्लिम शिक्षा प्रणाली का प्रवाह भारत में लगभग 500 वर्ष तक रहा। इस प्रणाली ने अनेक शासकों का युग देखा। युग दृष्टि की इस प्रक्रिया में भारतीय जनजीवन पर अमिट छाप पड़ी। इस शिक्षा प्रणाली के गुण तथा दोष इस प्रकार थे–

गुण– श्रीमती सरोजिनी नायडू के अनुसार, "मुस्लिम तथा हिंदू सम्मिश्रण के प्रभाव ने वर्तमान भारतीय संस्कृति को विकसित किया है। हम चाहे मूर्ख ही हों, परंतु अंतर्बंध एवं अंतर्भाव युक्त इस प्रकार को भुला नहीं सकते जिसने आधुनिक भारत का निर्माण किया है।"

टिप्पणी

मुस्लिम युग की शिक्षा के गुण इस प्रकार हैं–

1. **लौकिक तथा धार्मिक शिक्षा का समन्वय**– इस युग में लौकिक तथा धार्मिक शिक्षा का समन्वय आरंभ हुआ। शिक्षा में इसीलिए व्यावसायीकरण की प्रवृत्ति विकसित हुई। राजकीय सेवाओं में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को रखा जाता था।
2. **वस्तुनिष्ठता**– शिक्षा में वस्तुनिष्ठता आ गई थी। शिक्षा केवल ज्ञान के प्रसार के लिए नहीं थी अपितु उसका उपयोगी होना उसकी एक अनिवार्य शर्त थी। औरंगजेब ने राजकुमारों की शिक्षा को व्यावहारिक बनाने पर विशेष बल दिया।
3. **अनिवार्यता**– मुस्लिम युग में मुस्लिम बालकों के लिए शिक्षा को अनिवार्य रखा गया। मुहम्मद साहब ने इसीलिए कहा था– 'ज्ञान को प्राप्त करना उसे प्राप्त करना है, जो शिक्षा प्राप्त करता है, वह ईश्वर को प्राप्त करता है।'
4. **इतिहास लेखन**– इतिहास के विकास तथा लेखन कला में इस युग में बहुत ध्यान दिया गया। मुस्लिम युग में इतिहास लेखन की परंपरा का आरंभ हुआ। साहित्य के विविध अंगों का विकास हुआ।
5. **पारस्परिक संबंध**– छात्रों तथा अध्यापकों के मध्य परस्पर संबंध अच्छे थे, किंतु औरंगजेब के समय में अध्यापक का स्थान इतना ऊंचा नहीं रह गया था।
6. **शिक्षा केंद्र**– मुस्लिम युग में आगरा, दिल्ली, जौनपुर, बीदर, अजमेर, बीजापुर, गोलकुंडा, हैदराबाद, मालवा, खानदेश, गुजरात, लखनऊ, सियालकोट तथा बंगाल में मुस्लिम शिक्षा के केंद्र थे।

दोष– मुस्लिम युग में यद्यपि शिक्षा का प्रचार हुआ, इतना होने पर भी यह शिक्षा दोषों से मुक्त नहीं थी। मुगल सल्तनत के पतन, नादिर तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से इस शिक्षा में शिथिलता भी आ गई थी। इस युग की शिक्षा के दोष इस प्रकार थे–

1. **भौतिक पक्ष पर बल**– मुस्लिम युग में शिक्षा के भौतिक पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया गया है। यद्यपि धार्मिक शिक्षा पाठ्यक्रम का एक अंग थी, परंतु जीवन के भौतिक पक्ष की ओर ध्यान दिया जाता था।
2. **अराजकता**– मदरसों तथा मकतबों का जीवनकाल अराजकता की स्थिति में बहुत कम था। राज्यों की अस्थिरता ने उनके आर्थिक पक्ष को निर्बल कर दिया था।
3. **हिंदी की उपेक्षा**– मुस्लिम युग में अरबी तथा फारसी भाषा शिक्षण का प्रभाव अधिक था। अकबर ने हिंदी के लिए प्रयत्न किए किंतु उसका यह प्रयत्न तथा नीति सफल न हुई और उर्दू का जन्म हुआ।

टिप्पणी

4. **अमीरों के लिए शिक्षा**– मुस्लिम युग में साधन संपन्न ही शिक्षा प्राप्त करते थे। जन शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। शिक्षा नगरों तक सीमित थी। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा नहीं के बराबर थी।

5. **नारी शिक्षा की उपेक्षा**– मुस्लिम युग में नारी शिक्षा की पूर्णतः उपेक्षा की गई। राजघराने की लड़कियों की शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था थी। इस समय असुरक्षा की भावना भी अधिक थी, इसलिए नारी शिक्षा की प्रगति नहीं के बराबर थी।

6. **पढ़ने लिखने पर बल**– मुस्लिम युग में सर्वांगीण विकास पर बल नहीं दिया जाता था। इस युग में पढ़ने तथा लिखने पर विशेष बल दिया जाता था।

7. **विलासिता**– इस युग में स्वाध्याय पर बल नहीं दिया जाता था। छात्रों में भी स्वाध्याय के स्थान पर विलासिता पाई जाती थी। व्यर्थ की विडंबनाओं में छात्र तथा अध्यापक रहते थे।

मुस्लिम शिक्षा का इतिहास 700 वर्षों की राज व्यवस्था एवं सामाजिक प्रणाली का इतिहास रहा है। अनेक राजनीतिक व सामाजिक कारणों से मुस्लिम शिक्षा प्रणाली जनजीवन के हृदय को स्पर्श न कर सकी और राजकीय संरक्षण भी उसे जीवित न रख सका।

4.2.7 भारत में पूर्व औपनिवेशिक काल में शिक्षा

भारत में पूर्व औपनिवेशिक काल को प्राचीन भारतीय शिक्षा के साथ जोड़कर भी देखा जाता है। यह वह काल था जब अंग्रेजों और यूरोपीय तत्वों का भारत में कोई हस्तक्षेप नहीं था। प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रारंभ वैदिक काल से माना जाता है, वैदिक काल में प्रारंभिक शिक्षा का आरंभ परिवार से शुरू होकर गुरुकुल शिक्षा तक माना जाता था। गुरुकुल प्रणाली अधिक प्रचलित थी तथा विद्यार्थियों को गुरुकुल में हर विषय से संबंधित शिक्षा दी जाती थी। वैदिक काल में शिक्षा निशुल्क रूप से प्रदान की जाती थी तथा गुरुकुल की आय का स्रोत दान, भिक्षा तथा गुरु दक्षिणा पर आधारित था। इस काल में परा व अपरा विद्या को महत्व देने के साथ ही सामान्य व विशिष्ट शिक्षा का प्रावधान था, जिसमें व्याकरण, धर्म, नीति शास्त्र के साथ–साथ कर्मकांड, ज्योतिर्विज्ञान, आयुर्विज्ञान, सैनिक शिक्षा, कृषि, पशुपालन, राजनीति विज्ञान, प्राणी शास्त्र जैसे विषयों में भी छात्रों को निपुण बनाया जाता था। इस काल में समाज में शिक्षकों का स्थान सर्वोच्च था तथा शिष्यों द्वारा गुरु को ईश्वर से भी ऊपर माना जाता था।

वैदिक काल में समावर्तन समारोह के द्वारा छात्रों के शैक्षिक कार्य को पूर्ण मानकर उन्हें समाज सेवा के उद्देश्य से गुरुकुल से विदा किया जाता था। वैदिक काल की समाप्ति के पश्चात बौद्ध कालीन शिक्षा ने भारत में जोर पकड़ा, यह शिक्षा कई मायनों में वैदिक शिक्षा के समान थी, जैसे दोनों तरह की शिक्षा में छात्रों के चरित्र निर्माण पर बल दिया गया, आय के स्रोत के रूप में दान व शिक्षा को लिया गया, दोनों प्रणालियों में आवासीय शिक्षण संस्थानों की व्यवस्था थी। किंतु कुछ मुख्य भिन्नताएं जैसे बौद्ध कालीन शिक्षा वैदिक शिक्षा की भांति वर्णाश्रम पर आधारित नहीं थी। वह ईश्वर सत्ता पर विश्वास न करके केवल आवश्यक कर्मकांड को ही मान्यता देने के पक्ष

टिप्पणी

में थी। बौद्ध कालीन शिक्षा का आधार महात्मा बुद्ध द्वारा दिखाया गया अष्टांग मार्ग था, जिसमें ऐसी शिक्षा को महत्व दिया जाता था जो व्यक्ति को मोह माया और दुखों से दूर सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे। बौद्ध कालीन शिक्षा के पश्चात भारत में जिस शिक्षा प्रणाली का प्रारंभ हुआ उसे मुस्लिम शिक्षा प्रणाली या मध्यकालीन शिक्षा के नाम से जाना जाता है। इतिहासकारों के अनुसार आठवीं शताब्दी से ही मुस्लिम आक्रमणकारी भारत में आना आरंभ हो गए थे तथा लगभग 550 वर्षों तक भारत पर मुसलमानों का अधिकार रहा। इतने वर्ष भारत में रहने के कारण भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर मुस्लिम शिक्षा का अत्यंत प्रभाव पड़ा। इस काल में कला, संगीत आदि के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। भारत में मकतब और मदरसों की स्थापना की गई जो कि मस्जिदों से सम्बद्ध होते थे तथा इन संस्थानों में निशुल्क शिक्षा दी जाती थी। पाठ्यक्रम में लौकिक व धार्मिक दोनों तरह की शिक्षा का महत्व था तथा माध्यम के रूप में अरबी और फारसी भाषाएं थीं। इस काल में संस्कृत व पालि आदि भाषाओं का कोई स्थान नहीं था। इस काल में यदि स्त्री शिक्षा की बात करें, तो उनकी स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं थी। समाज में पर्दा प्रथा थी तथा महिलाएं मदरसों में पढ़ने नहीं जाती थीं। उच्च वर्ग की महिलाओं के लिए शिक्षा व्यवस्था उनके घरों पर ही की जाती थी। इस काल में कला के क्षेत्र में हस्तशिल्प को बढ़ावा मिला व वास्तु कला एवं चित्र कला के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। धार्मिक शिक्षा के नाम पर इस्लाम धर्म की शिक्षा पर अधिक बल दिया गया जिससे आध्यात्मिकता के संकरण रूप का प्रसार हुआ। लगभग 550 वर्षों के शासन में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में कई बदलाव हुए जिसके कारण भारतीय शिक्षा के ढांचे में भी अप्रत्याशित बदलाव देखने को मिले।

4.2.8 भारत में औपनिवेशिक काल में शिक्षा

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार के उद्देश्य से आने के पश्चात ही औपनिवेशिक काल का प्रारंभ हुआ। आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य केवल व्यापार तक ही सीमित था, किंतु धीरे–धीरे उन्होंने भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में भी हस्तक्षेप शुरू कर दिया, जिसके लिए ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के आधारभूत ढांचे में बदलाव तथा अंग्रेजी भाषा को महत्व देने की मांग की जाने लगी। शुरू में यूरोपीय शिक्षा पर आधारित विद्यालय केवल अंग्रेज अधिकारियों के उन बच्चों के लिए खोले गए जो भारत में रह रहे थे, किंतु धीरे–धीरे इनमें भारतीय अधिकारियों के बच्चों को प्रवेश देने की बात कही जाने लगी। कंपनी द्वारा भारत में शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप के कारण प्राच्यवादी एवं पाश्चात्यवादी लोगों में विवाद भी बढ़ता गया। औपनिवेशिक काल में कई ऐसे आयोग, समितियां तथा प्रतिवेदन सामने आए जिसने भारतीय शिक्षा को यूरोपीय शिक्षा पद्धति में बदलने का कार्य किया। इस काल में भारतीय शिक्षा के स्वरूप को समझने के लिए समय–समय पर भारत में लाए गए आयोग और समितियों की जानकारी आवश्यक है इनमें से कुछ आयोगों और समितियों का वर्णन इस प्रकार है–

1813 का आज्ञा पत्र

जिस प्रकार से ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में अपने कार्य क्षेत्र को विस्तृत कर रही थी, उससे यह स्पष्ट था कि वे केवल व्यापार तक ही सीमित नहीं रहना चाहते थे, बल्कि ब्रिटिश पार्लियामेंट में बार–बार ईसाई मिशनरियों को भारत जाकर ईसाई धर्म एवं शिक्षा

टिप्पणी

के प्रचार–प्रसार की आज्ञा देने की मांग बार–बार उठाई जा रही थी। 1813 में जब आज्ञा पत्र नवीनीकरण हेतु पार्लियामेंट में प्रस्तुत किया गया तो इसमें ईसाई मिशनरियों को भारत जाने की छूट तथा वहां पर शिक्षा के प्रसार की पूरी अनुमति मिल गई और भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी को अगले 20 वर्षों के लिए न केवल व्यापार करने की अनुमति मिली बल्कि ईसाई धर्म के प्रचार प्रसार की पूरी छूट मिल गई। शिक्षा के लिए इस आज्ञा पत्र में भारतीय साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति के लिए मिशनरियों को अनुमति प्रदान की गई थी। इस कार्य के लिए ₹100000 का बजट भी रखा गया था। वास्तव में कंपनी के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने का मुख्य उद्देश्य भारत में अपने प्रशासनिक कार्यों के लिए लोगों को तैयार करना था।

लॉर्ड मैकॉले का विवरण पत्र तथा निस्पंदन सिद्धांत

भारत में 1813 और 1833 के आज्ञा पत्र के आधार पर शिक्षा कार्यों पर बल दिया गया किंतु भारतीयों में आज्ञा पत्रों को लेकर बहुत रोष भी उत्पन्न हुआ। जहां एक ओर एक समूह प्राच्य शिक्षा के प्रसार प्रचार के लिए कार्य करने के पक्ष में था जबकि दूसरा पक्ष पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में था। यह विवाद इतना बढ़ गया कि इसका कोई उपाय नजर नहीं आ रहा था तथा लोगों में रोष बढ़ता ही जा रहा था। इसके पश्चात 1835 में लॉर्ड मैकॉले कानूनी सलाहकार के रूप में भारत आया तथा उस समय के गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने उसे शिक्षा समिति का अध्यक्ष बनाया। लॉर्ड मैकॉले पाश्चात्य शिक्षा का बड़ा समर्थक था तथा उसके अनुसार भारतीय शिक्षा एवं साहित्य, संस्कृति के द्वारा भारतीयों का विकास संभव नहीं था। वह भारतीय साहित्य और संस्कृति का इतना बड़ा आलोचक था कि उसने संपूर्ण भारतीय शिक्षा साहित्य की तुलना यूरोपीय साहित्य की एक अलमारी में रखे गए साहित्य से की थी। मैकॉले की शिक्षा नीति के द्वारा भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार–प्रसार किया गया और ऐसे लोगों को तैयार करने की बात कही गई जिसमें भारतीय रंग एवं रूप से तो भारतीय रहें किंतु अपनी सोच और विचारधारा से पूर्णतः अंग्रेज बन जाएं। वास्तव में अंग्रेज भारतीयों की शिक्षा को लेकर चिंतित नहीं थे, उनका उद्देश्य अपने व्यापार एवं अन्य कार्य के लिए ऐसे लोगों को तैयार करना था जो उनके काम आ सकें।

लॉर्ड मैकॉले के विवरण पत्र के मुख्य बिंदु

साहित्य का अर्थ : मैकॉले के विवरण पत्र में यूरोपीय साहित्य पर बल दिया गया। उसने अपने विवरण पत्र में यह स्पष्ट किया कि साहित्य का अर्थ केवल यूरोपीय साहित्य को ही माना जाएगा तथा ऐसे भारतीयों को पढ़ा लिखा समझा जाएगा, जिन्होंने यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का अध्ययन किया हो।

शिक्षा का माध्यम : मैकॉले द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि शिक्षा का माध्यम सिर्फ अंग्रेजी होना चाहिए ताकि सभी भारतीय यूरोपीय साहित्य का सही से अध्ययन कर सकें।

यूरोपीय शिक्षा के लिए धन व्यय : मैकॉले द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया कि जो राशि प्रतिवर्ष शिक्षा पर खर्च की जानी है वह सिर्फ यूरोपीय शिक्षा पर खर्च की जाएगी तथा कंपनी के पास इस धनराशि को खर्च करने का पूरा अधिकार होगा।

टिप्पणी

मैकॉले का स्पंदन सिद्धांत

मैकॉले की शिक्षा नीति से यह स्पष्ट था कि वह सिर्फ यूरोपीय शिक्षा का प्रचार प्रसार करना चाहता था तथा अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ऐसे लोगों को तैयार करना चाहता था जो प्रशासनिक कार्यों में कंपनी की मदद कर सकें। ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैकॉले का अधोगामी निस्पंदन सिद्धांत बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इस सिद्धांत के द्वारा एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की योजना तैयार की गई, जिसमें कुछ विशेष उच्च वर्ग समूह के लोगों को शिक्षा देने की बात कही गई और यह निर्धारित किया गया कि यह शिक्षा उच्च वर्ग के लोगों से स्वतः ही छनकर आम जनता तक पहुंच जाएगी। इस सिद्धांत से यह स्पष्ट था कि ईस्ट इंडिया कंपनी भारतीयों की शिक्षा को लेकर गंभीर नहीं थी और इस सिद्धांत ने भारतीयों के बीच भेदभाव की ऐसी नीव डाली जिससे कि समाज में वर्ग संघर्ष को बढ़ावा मिला।

वुड का घोषणा पत्र 1854

ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रत्येक 20 वर्षों में नए आज्ञा पत्र को जारी करने की प्रक्रिया के अंतर्गत लॉर्ड डलहौजी के समय में चार्ल्स वुड की अध्यक्षता में गठित समिति ने 1854 को भारतीय शिक्षा की स्थिति एवं भविष्य की योजनाओं पर विस्तृत योजना तैयार की। चार्ल्स वुड ब्रिटिश इंडिया कंपनी के बोर्ड ऑफ कंट्रोल के सभापति भी थे तथा उन्हीं के नाम पर इस घोषणापत्र को वुड का घोषणा पत्र कहा गया। वुड के घोषणा पत्र को भारतीय शिक्षा का महा पत्र भी कहा गया। शिक्षा को विकास की अहम कड़ी मानते हुए इसके संपूर्ण दायित्व को सरकार का उत्तरदायित्व माना गया तथा शिक्षा विभाग की स्थापना की बात भी कही गई। यह घोषणा पत्र इसलिए भी महत्वपूर्ण माना गया क्योंकि इसमें पहली बार शिक्षा पर खर्च की जाने वाली राशि बिना किसी भेदभाव के देशी अथवा विदेशी संस्थानों को देने की बात कही गई। शिक्षण संस्थानों को सहायता राशि बिना किसी धर्म के आधार पर देने की बात भी कही गई और यह भी सुनिश्चित किया गया कि गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति का प्रावधान भी किया जाए। शिक्षा के ढांचे को स्थाई रूप प्रदान करने के उद्देश्य से शिक्षा में विभिन्न स्तरों की शृंखला की संस्तुति की गई जिसमें प्राथमिक विद्यालय प्रथम स्तर, द्वितीय स्तर पर मिडिल स्कूल, हाई स्कूल तृतीय स्तर और कॉलेज तथा विश्वविद्यालय चतुर्थ स्तर पर रखे गए। जहां एक ओर इस घोषणापत्र में भारतीयों के बौद्धिक विकास के लिए पाश्चात्य ज्ञान को महत्व दिया गया, वहीं इसके द्वारा भारतीयों के नैतिक और चारित्रिक विकास पर भी बल दिया गया। इस घोषणापत्र में देशी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं को शिक्षा का माध्यम माना गया किंतु साथ में यह भी माना गया कि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना चाहिए। इस प्रकार मुख्यतः यूरोपीय ज्ञान को बढ़ावा देने की बात कही गई। घोषणा पत्र में शिक्षकों के मानदेय में बढ़ोतरी, स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अनुदान राशि तथा मुस्लिम शिक्षा में सुधार हेतु विद्यालयों की स्थापना पर भी बल दिया गया।

हंटर कमीशन 1882

1857 की क्रांति के बाद भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध लोगों का आक्रोश बढ़ता जा रहा था तथा वुड्स डिस्पैच को लागू हुए भी कई वर्ष बीत चुके थे। कोई सफल परिणाम न मिल पाने के कारण लोगों के द्वारा भारतीय शिक्षा के पुनर्गठन की मांग की जा रही

टिप्पणी

थी। इसके चलते उस समय के गवर्नर जनरल लॉर्ड रिपन ने 3 जनवरी, 1882 को भारतीय शिक्षा आयोग की स्थापना की। इस आयोग के अध्यक्ष के रूप में सर विलियम हंटर को चुना गया तथा अन्य 20 सदस्यों में 7 भारतीय भी शामिल किए गए। विलियम हंटर के नाम पर भारतीय शिक्षा आयोग को हंटर कमीशन के नाम से भी जाना जाता है। इस आयोग के द्वारा भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली का गहन अध्ययन किया गया तथा मार्च 1883 में एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर निम्नलिखित सुझाव दिए गए– प्राथमिक शिक्षा का कार्य भारत नगर पालिकाओं को तथा जिला परिषद को देने का सुझाव दिया गया। इन निकायों को अपने क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना एवं अध्यापकों की नियुक्ति की जिम्मेवारी दी गई। शिक्षा के खर्च हेतु धनराशि में प्रांतीय सरकारों का योगदान भी होगा ऐसा सुझाव दिया गया। एक सराहनीय कदम के तौर पर प्राथमिक शिक्षा में शिक्षा के माध्यम को स्थानीय भाषा रखने का सुझाव दिया गया तथा माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर कई सुझाव दिए गए जिसमें से माध्यमिक शिक्षा को सुचारू रूप से चलाने के लिए सामाजिक योगदान को प्राथमिकता देने की बात कही गई। पाठ्यक्रम के लिए सुझाव हेतु साहित्यिक विषयों के साथ–साथ ऐसे पाठ्यक्रम पर बल दिया गया जिससे कि विद्यार्थियों को जीवन उपयोगी शिक्षा मिल सके। जिन विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी हो वहां पर प्रशिक्षित अध्यापक रखे जाएं तथा इस कमी को पूरा करने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना का सुझाव दिया गया। वुड्स डिस्पैच की भांति इस आयोग के द्वारा भी महिला शिक्षा पर बल दिया गया तथा उनके लिए छात्रावासों की व्यवस्था की बात कही गई। मुस्लिम समुदाय के छात्रों तथा पिछड़े क्षेत्र के और पिछड़ी जाति के छात्रों को शिक्षा के विशेष प्रावधान के अंतर्गत छात्रवृत्तियों की बात कही गई। शिक्षा के माध्यम के रूप में किसी विशेष भाषा को महत्व नहीं दिया गया अर्थात परोक्ष रूप से अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम माना गया।

लॉर्ड कर्जन की शिक्षा नीति 1904

भारत में शिक्षा कार्यों में सुधार लाने हेतु तथा उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए लॉर्ड कर्जन ने सितंबर 1901 में शिमला सम्मेलन की अध्यक्षता की तथा भारतीय शिक्षा से संबंधित सभी मुद्दों पर गहन विचार–विमर्श किया गया। इस सम्मेलन में शिक्षा संस्थान संचालकों तथा ईसाई मिशनरियों के प्रतिनिधित्व को शामिल किया गया, किंतु किसी भारतीय शिक्षाविद को इसमें शामिल नहीं किया गया। इस सम्मेलन के द्वारा लगभग 150 प्रस्तावों को सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया और इस सम्मेलन के पश्चात 1902 में लॉर्ड कर्जन द्वारा भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग में सदस्यों के रूप में दो भारतीय शिक्षाविदों को भी स्थान दिया गया तथा मुख्य रूप से अध्यक्षता अंग्रेज विद्वान रेले के द्वारा की गई। इस आयोग के मुख्य सुझावों के तौर पर नए विश्वविद्यालयों को खोलने पर रोक लगाई गई तथा वर्तमान में चल रहे विश्वविद्यालयों की दशा को सुधारने पर बल दिया गया। विद्यालयों के पुनर्गठन के लिए सीनेट व सिंडिकेट के पुनर्गठन पर बल दिया गया। विद्यार्थियों की सहायता हेतु उत्तम दर्जे के पुस्तकालयों की स्थापना का सुझाव दिया गया और छात्रों से लिए जाने वाले शुल्क को भी नियंत्रित करने की बात कही गई। ऐसा कहा गया कि छात्रों से लिया जाने वाला शुल्क इतना अधिक न हो कि छात्र उच्च शिक्षा से वंचित रह जाएं और ना

टिप्पणी

ही इतना कम कि बिना योग्यता वाले विद्यार्थी भी इसमें प्रवेश प्राप्त कर लें। प्रत्येक महाविद्यालय में अच्छे पुस्तकालय, भवन, प्रयोगशालाओं की व्यवस्था की जाए। सत्र के बीच में किसी छात्र को ट्रांसफर सर्टिफिकेट ना दिया जाए जब तक कि सीनेट द्वारा विशेष कारण का उल्लेख ना किया गया हो। आयोग के द्वारा शिक्षकों तथा छात्रों के मध्य शोध कार्यों को बढ़ावा देने की बात भी कही गई।

सैडलर कमीशन 1917–1919

1914 के प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत सरकार द्वारा फिर से शिक्षा के क्षेत्र की ओर ध्यान दिया गया, जिसके लिए लीड्स विश्वविद्यालय के कुलपति माइकल सैडलर की अध्यक्षता में कोलकाता विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग के द्वारा न केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय अपितु अन्य विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए भी सुझाव दिए गए थे। 1919 में आयोग ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग के द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में आयोग के द्वारा यह माना गया कि उच्च शिक्षा में सुधार लाने के लिए उससे पहले माध्यमिक शिक्षा की नींव को मजबूत करने की आवश्यकता है तथा उच्च शिक्षा में प्रवेश से पहले छात्र के द्वारा इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की जानी चाहिए, जिसके लिए इंटरमीडिएट कॉलेजों की स्थापना का सुझाव दिया गया। इंटरमीडिएट के पश्चात स्नातक पाठ्यक्रम की अवधि 3 वर्ष की होनी चाहिए तथा छात्र अपनी रुचि के अनुसार विषयों का चयन कर सके ऐसा सुझाव दिया गया। माध्यमिक एवं इंटरमीडिएट के लिए शिक्षा बोर्ड की स्थापना की बात कही गई, जिसमें सदस्य के रूप में सरकार, विश्वविद्यालय, स्कूल तथा कॉलेजों के प्रतिनिधित्व शामिल हो। इस आयोग के द्वारा एक विश्वविद्यालय बोर्ड की स्थापना का भी सुझाव दिया गया जो कि भारतीय विश्वविद्यालयों की विभिन्न गतिविधियों पर नजर रख सके। स्त्री शिक्षा के संबंध में कोलकाता विश्वविद्यालय में शिक्षा के विशेष बोर्ड की स्थापना के साथ–साथ विशेष बालिका विद्यालय की स्थापना का भी सुझाव दिया गया। इस आयोग के सुझावों के आधार पर आने वाले समय में भारत में कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जैसे– पटना, लखनऊ, दिल्ली, हैदराबाद और अन्नामलाई।

हर्तोग रिपोर्ट 1929

भारत में 1919 में द्वैध शासन की व्यवस्था के उपरांत सभी विषय संरक्षित और हस्तांतरित भागों में बांट दिए गए तथा शिक्षा को हस्तांतरित भाग में रखते हुए इसका दायित्व केंद्र तथा प्रांतीय सरकारों को दिया गया। भारत में एक ओर जहां शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ रही थी, वहीं पर शिक्षा व्यवस्था के प्रति असंतोष भी बढ़ रहा था। जिसके लिए 1929 में इंडियन सैचुटरी कमीशन द्वारा एक समिति का गठन किया गया जिसकी अध्यक्षता सर फिलिप हर्तोग के द्वारा की गई। इस आयोग के द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में निम्नलिखित बिंदुओं को उजागर किया गया–

- साक्षरता तथा प्राथमिक शिक्षा में गुणवत्ता में गिरावट
- अपव्यय तथा अवरोधन की समस्या
- पिछड़े तथा ग्रामीण इलाकों में शिक्षा का अभाव, विद्यालयों में शिक्षकों की कमी
- बालिकाओं की शिक्षा को लेकर प्रोत्साहन की कमी।

टिप्पणी

उपर्युक्त बिंदुओं के आधार पर आयोग द्वारा शिक्षण संस्थानों की संख्या की बजाय उनकी गुणवत्ता को बढ़ाने पर बल दिया गया। ग्रामीण स्तर तक शिक्षा पहुंचाने के लिए प्रौढ़ शिक्षा केंद्रों की स्थापना पर बल दिया गया। छात्रों को रुचि के आधार पर वैकल्पिक विषयों का प्रावधान देने की बात कही गई। शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएं, विद्यालयों में उच्च स्तर के पुस्तकालय तथा प्रयोगशालाओं की स्थापना और रोजगार हेतु विश्वविद्यालयों में रोजगार केंद्रों को खोलने की व्यवस्था करने का सुझाव दिया गया।

बुनियादी शिक्षा 1937

ब्रिटिश काल में भारत में शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न आयोग एवं रिपोर्टों के आधार पर कई बदलाव समय–समय पर किए गए, किंतु शिक्षा के क्षेत्र में कोई संतोषजनक परिणाम न मिलने के कारण महात्मा गांधी के द्वारा 1931 में प्राथमिक शिक्षा के अप्रभावी परिणामों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखा गया। इसके पश्चात 1937 में महात्मा गांधी द्वारा वर्धा में एक शिक्षा सम्मेलन की अध्यक्षता की गई तथा भारत में भारतीयों के विकास हेतु प्राथमिक शिक्षा के बेसिक ढांचे पर विस्तृत चर्चा की गई। इसलिए इसे बेसिक शिक्षा, बुनियादी शिक्षा अथवा वर्धा सम्मेलन के नाम से भी जाना जाता है। इस सम्मेलन के प्रमुख सुझावों में 7 से 14 वर्ष के छात्रों को अनिवार्य एवं निशुल्क शिक्षा प्रदान करना, शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा को लिया जाना, शिक्षा को जीवनोपार्जक बनाने के लिए हस्त कौशलों में छात्रों को निपुण करना तथा विद्यालय स्तर के खर्चों के लिए उत्पादन कार्यों से मिलने वाली राशि का इस्तेमाल करना शामिल था। इस सम्मेलन में महात्मा गांधी के द्वारा शिक्षा के व्यापक अर्थ पर बल दिया गया, जिसमें शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास पर बल दिया गया। इसी सर्वांगीण विकास को आधार बनाते हुए इस सम्मेलन में विद्यार्थियों के शारीरिक, मानसिक सामाजिक तथा आर्थिक विकास के महत्व पर बल दिया गया और छात्रों में भारतीयता के विकास के लिए शिक्षा के द्वारा भारतीय संस्कृति को जानने व समझने की बात कही गई। शिक्षा के द्वारा छात्रों को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से यह प्रस्ताव बहुत–बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ।

सार्जेंट रिपोर्ट 1944

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था के साथ–साथ भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में भी कई परिवर्तन देखने को मिले, इसके लिए सरकार के द्वारा केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड को भारत के लिए ऐसी शिक्षा प्रणाली तैयार करने का कार्य सौंपा गया, जिसके द्वारा भारत की शिक्षा में गुणात्मक सुधार किया जा सके। इस कार्य योजना की अध्यक्षता तत्कालीन केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के अध्यक्ष सर जॉन सार्जेंट ने की तथा उनके नाम से इस रिपोर्ट को सार्वजनिक रिपोर्ट 1944 के नाम से जाना जाता है।

इस रिपोर्ट ने प्राथमिक शिक्षा को दो भागों में बांटने का सुझाव दिया जिसे जूनियर बेसिक शिक्षा व सीनियर बेसिक शिक्षा इन दो स्तरों में बांटी गई। इस रिपोर्ट में भी 6 से 14 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए निशुल्क व्यवस्था का प्रस्ताव दिया गया। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखने का सुझाव दिया गया तथा महिला अध्यापकों की नियुक्ति पर बल दिया गया। माध्यमिक स्तर की शिक्षा को भी साहित्यिक एवं प्राविधिक भागों

टिप्पणी

में बांटने का सुझाव दिया गया और माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी के समावेश की बात कही गई किंतु शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखने पर बल दिया गया। गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति के प्रावधान की बात कही गई, साथ ही में उच्च शिक्षा में इंटरमीडिएट शिक्षा को बंद करने का सुझाव दिया गया तथा इसके एक–एक वर्ष को माध्यमिक एवं स्नातक स्तर के स्तर पर समावेश की बात कही गई। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों की नियुक्ति सही वेतनमान तथा ट्यूटोरियल कक्षाओं के प्रावधान का सुझाव दिया गया। उच्च शिक्षा में शोध के महत्व को समझते हुए उच्च स्तर की प्रयोगशालाओं की स्थापना का सुझाव भी दिया गया। इस रिपोर्ट में योग्य अध्यापकों की नियुक्ति की बात कही गई थी इसलिए इसको ध्यान में रखते हुए प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के लिए जूनियर शिक्षक प्रशिक्षण केंद्र खोलने का प्रस्ताव दिया गया तथा सीनियर स्तर के शिक्षकों के लिए सीनियर शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना का सुझाव भी दिया गया।

अपनी प्रगति जांचिए

1. शिक्षा द्वारा समाज भावी पीढ़ी को हस्तांतरित करता है–
   (क) आदर्श, विश्वास (ख) परंपरा, संस्कृति
   (ग) बौद्धिक संपत्ति (घ) उपर्युक्त सभी
2. शिक्षा की ऐतिहासिक प्रणालियों में सम्मिलित है–
   (क) वैदिककालीन शिक्षा प्रणाली (ख) बौद्धयुगीन शिक्षा प्रणाली
   (ग) मुस्लिमयुगीन शिक्षा प्रणाली (घ) उपर्युक्त सभी

4.3 शिक्षा, विविधता और असमानताएं

'सामाजिक विविधता' से अर्थ एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है, जिसमें अलग–अलग समूह मिलजुलकर एक साथ अपने अस्तित्व को बनाए रख सकें। भारत जैसे देश में समाज में कई प्रकार की विविधताएं देखने को मिलती हैं, जैसे कि भाषा के आधार पर, क्षेत्र के आधार पर, धर्म व जाति के आधार पर। सामाजिक विविधता को यदि क्षेत्रवाद के आधार पर देखें तो इसके कई उत्तरदायी कारक नजर आते हैं, जिनमें से आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषावाद और मनोवैज्ञानिक कारक अहम हैं।

4.3.1 क्षेत्र

क्षेत्र के आधार पर पाई जाने वाली विविधता से अर्थ एक ऐसी संस्कृति से है, जिसमें लोगों के मध्य भाषा, भावना, विचारों और व्यवहारों में समानता पाई जाती है तथा क्षेत्र विशेष के लोग अपने क्षेत्र के हितों के विकास के लिए जागरूक होकर कार्य करने का प्रयास करते हैं।

शिक्षा में क्षेत्र आधारित असमानताओं को दूर करने के उपाय

शिक्षा में क्षेत्र आधारित असमानताओं को दूर करने हेतु निम्न उपाय हैं–

टिप्पणी

संसाधनों के आवंटन में निष्पक्षता

शिक्षा प्रणाली के सुचारू रूप से कार्य करने हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र में बिना किसी राजनीतिक व सामाजिक भेदभाव के सभी प्रकार के संसाधन उपलब्ध करवाए जाएं। ऐसे भौगोलिक क्षेत्र जो दूरदराज के क्षेत्रों की श्रेणी में आते हैं, उनमें अक्सर संसाधनों की कमी पाई जाती है, ऐसे प्रयास करने की आवश्यकता है कि ऐसे क्षेत्रों के शैक्षिक संस्थानों में शिक्षकों की कमी न हो तथा शिक्षण अधिगम की प्रक्रिया के लिए आवश्यक मूलभूत सुविधाएं संस्थानों को प्रदान की जाएं।

समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के प्रयास

शिक्षा के द्वारा समाज में ऐसी व्यवस्था लागू करने की आवश्यकता है, जिसके चलते यदि क्षेत्र विशेष में कोई कुरीतियां फैली हों तो उन्हें दूर किया जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि क्षेत्र विशेष में सामाजिक भागीदारी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। उदाहरण के तौर पर ऐसे क्षेत्रों के विकास के बारे में चर्चा की जानी चाहिए जहां शिक्षा में समाज की भागीदारी से वांछित परिणाम मिले हों।

शिक्षा के द्वारा स्थानीय संस्कृति को बढ़ावा देना

शिक्षा का मूल उद्देश्य लोगों को उनकी जड़ों से जुड़े रखना होना चाहिए तथा पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों को जोड़ा जाना चाहिए जो उनके क्षेत्र विशेष के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में सहायक हो। शिक्षा को विभिन्न क्षेत्रों की व्यावसायिक जरूरतों एवं अवसरों से जोड़ना भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे लोगों में शिक्षा के महत्व को समझने में सहायता मिलती है।

जातिवाद व धर्म आधारित भेदभाव से दूरी

क्षेत्रीय विषमता को दूर करने के लिए समाज में व्याप्त अन्य विषमताओं पर भी रोक लगाने की आवश्यकता है, जैसे कि लोगों में जातिवाद और धर्म आधारित भेदभाव को खत्म करना। शैक्षिक संस्थानों में बिना किसी भेदभाव के सभी वर्गों के छात्रों को प्रवेश व सही शिक्षा की व्यवस्था हो तथा केंद्र व राज्य सरकारों की सभी स्कीमों का फायदा दूरदराज के क्षेत्रों में पढ़ रहे गरीब व निचले तबकों के लोगों तक पहुंच सके, इसे सुनिश्चित करना भी आवश्यक है।

गरीबी के कारण शिक्षा से वंचित छात्रों को शिक्षा मुहैया करवाना

क्षेत्रीय विषमता में शिक्षा प्रणाली का सही से कार्य न कर पाने का एक महत्वपूर्ण कारण गरीबी भी है। तो ऐसे क्षेत्र जहां लोग गरीबी के कारण छात्रों को विद्यालय नहीं भेज पाते हैं, वहां आवश्यकता इस बात की है कि सरकार स्थानीय निकायों तथा एनजीओ की मदद के द्वारा ऐसे बच्चों को उनकी सहूलियत के अनुसार शिक्षा देने का कार्य करे तथा शिक्षा को व्यावसायिक शिक्षा के साथ जोड़ने का प्रयास किया जाए। केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा समय–समय पर ऐसे बहुत से प्रयास किए जाते हैं जिनका लाभ पहुंचाने के लिए स्थानीय निकायों की भागीदारी अहम है।

छात्रों की शिक्षा के लिए उपाय

क्षेत्रीय विषमता के अंतर्गत यह बिंदु भी अहम है कि किस प्रकार दूरदराज के क्षेत्रों में जहां सामाजिक और सांस्कृतिक विषमताओं के कारण लड़कियों को शिक्षा के बराबर

टिप्पणी

अधिकार नहीं मिलते हैं, उन्हें अधिकतर घर परिवार के कार्यों तक ही सीमित रखा जाता है। ऐसे क्षेत्रों में बाल विवाह, दहेज प्रथा आदि की समस्याएं अधिक देखने को मिलती हैं। क्षेत्रीय विषमता में यह भी देखने को मिलता है कि किसी धर्म, जाति विशेष की प्रबलता अधिक होने से कई बार लोगों में दूर के क्षेत्र के लोगों के प्रति घृणा की भावना भी पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में वहां सबसे अधिक आवश्यकता स्थानीय स्तर पर लोगों को इस विषय में जागरूक करने की है और नियम कानून को बनाए रखने के लिए स्थानीय प्रशासन की भूमिका अहम होती है।

शिक्षा के क्षेत्र में स्थानीय लोगों की भागीदारी

क्षेत्रीय विषमता को दूर करने के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है तथा इसे सुदृढ़ करने के लिए स्थानीय लोगों को शिक्षा प्रणाली का अहम हिस्सा बनाए जाने की आवश्यकता है, जैसे कि शिक्षा के संदर्भ में दिए जाने वाले निर्णय में स्थानीय लोगों की सहभागिता को महत्व देना तथा उनके सुझावों को मानकर शिक्षा प्रणाली में सुधार लाना आवश्यक है।

4.3.2 जनजाति

जनजाति का अर्थ सामान्यतया ऐसे लोगों से है जो निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं तथा विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए होते हैं। इनका निवास स्थान सामान्यतया पहाड़ी या पठारी क्षेत्र होते हैं। इनके अपने रीति–रिवाज होते हैं जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से काफी सीमा तक भिन्न होते हैं। इसे हम ऐसा क्षेत्रीय समूह कह सकते हैं जो सामान्य भाषा, सामाजिक नियमों एवं आर्थिक कार्यों इत्यादि में समानता के आधार पर एक सूत्र में बंधा हुआ है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जनजाति ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित भू–भाग (जंगल या पहाड़) पर निवास करते हैं, जिनकी संस्कृति एक होती है तथा जो आज भी आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं। इम्पीरियल गजेटियर (Imperial Gazetter) में जनजाति को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है, ''जनजाति परिवारों का वह संकलन है जिसका अपना एक सामान्य नाम होता है जो सामान्य भाषा बोलता है तथा जो सामान्य प्रदेश में रहता है या रहने का दावा करता है और सामान्यतया अन्तर्विवादी होता है, भले ही आरम्भ में ऐसा न करता रहा हो।''

यह परिभाषा जनजाति को अत्यंत सामान्य रूप से प्रतिपादित करती है तथा इसलिए यह परिभाषा संदर्भ में उपयुक्त नहीं हैं। ऐसी ही परिभाषा ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में इन शब्दों में दी गई है, ''जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता को स्वीकार करता है तथा सामान्यतया अपना एक समान पूर्वज मानता है।'' दोनों परिभाषाओं में जनजाति के जो लक्षण बताए गए हैं वे जाति में स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। अतः ये दोनों परिभाषाएं अधिक मान्य नहीं है। लूसी मेयर (Lucy Mair) जैसे विद्वानों ने जनजाति को समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतंत्र राजनीतिक विभाजन माना है। इस प्रकार की परिभाषा भी जनजाति का अर्थ स्पष्ट करने में सक्षम नहीं है।

टिप्पणी

प्रमुख विद्वानों ने जनजाति की परिभाषाएं निम्न प्रकार से दी हैं–

1. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "स्थानीय आदिवासियों के किसी भी ऐसे संग्रह को हम जनजाति कहते हैं जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो तथा सामान्य संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता हो।"
2. मजूमदार के अनुसार, "एक जनजाति परिवारों अथवा परिवारों के समूहों का संग्रह है जिसका एक सामान्य नाम होता है और जिसके सदस्य एक ही भू–क्षेत्र में निवास करते हैं एक भाषा बोलते हैं और विवाह, वृत्ति या व्यवसाय के प्रति कुछ निषेधों का पालन करते हैं तथा उनमें परस्पर आदान–प्रदान एवं दायित्वों की पारस्परिकता की एक सुनिश्चित व्यवस्था विकसित हो गई है।"
3. बोआस के अनुसार, "जनजाति से हमारा तात्पर्य आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य भाषा बोलते हों तथा बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए संगठित हों।"
4. जैकब्स तथा स्टर्न का मत है कि "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का समूह जिसकी समान भूमि हो, समान संस्कृति हो, समान भाषा हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ ओत–प्रोत हो जनजाति कहलाता है।"

मजूमदार व मदान का मत है कि भारत में जनजाति, जाति, सम्प्रदाय, प्रजाति, वर्ग आदि अनेक प्रकार के सामाजिक समूह पाए जाते हैं। इनमें जनजाति का आदिम समुदायों में तथा जाति का हिन्दू समाज में प्रमुख स्थान है। जाति एवं जनजाति शब्द को अनेक विद्वानों ने पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया है जिसके परिणामस्वरूप अनेक जनजातियों को जातियां तथा अनेक जातियों को जनजातियां बता दिया है। इनके अनुसार नातेदारी सम्बन्ध क्षेत्रीय आवास, एक भाषा, संयुक्त स्वामित्व, एक राजनीतिक संगठन, आंतरिक संघर्ष का अभाव आदि जनजाति की विशेषताएं बताई जाती है। अनेक मानव शास्त्रियों ने इनमें से कुछ विशेषताओं को जनजाति की विशेषताएं मानने से स्पष्ट इनकार किया है। उदाहरणार्थ रिवर्स (Rivers) ने क्षेत्रीय आवास को जनजाति का प्रमुख लक्षण नहीं माना है, जबकि पैरी (Parry) ने इस विशेषता पर विशेष जोर दिया है और इतना कहा है कि घुमन्तू जनजातियां भी एक निश्चित क्षेत्र के अंतर्गत ही घूमती रहती हैं। रेडक्लिफ–ब्राउन (Radcliff-Brown) ने आस्ट्रेलियाई जनजातियों के विभिन्न वर्गों के बीच आपसी लड़ाई के उदाहरण भी दिए हैं।

जनजाति की विशेषताएं

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जनजाति में निम्न विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं–

1. **सामूहिक भावना–** जनजाति के लोग अपने तथा अपने सभी परिवारों को एक ही पूर्वज की सन्तान मानते हैं। उनका विचार है कि वे सब एक ही पिता की देन हैं। इसीलिए उनकी संस्कृति, सभ्यता, बोलचाल तथा व्यवहार भी एक समान होते हैं। जनजाति के लोग एक–दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण पारस्परिक मेल–जोल से कार्य करते हैं। इसी को सामूहिक भावना का नाम दिया जाता है।

टिप्पणी

2. **प्रकृति–पूजा–** जाति किसी न किसी देवी देवता में विश्वास रखती है। चाहे वह देवता पत्थर की मूर्ति का रूप हो या किसी जड़ पदार्थ के रूप में हो। जनजाति में इस प्रकार की पूजा में विशेष आस्था दिखाई देती है। इस प्रकार की पूजा प्रत्येक जनजाति के सदस्यों का कर्तव्य माना जाता है।
3. **टोटम तथा निषेध–** प्रत्येक जनजाति अनेक गोत्रों में विभक्त होती है। प्रत्येक गोत्र किसी पशु, पक्षी या पेड़–पौधे से सम्बन्धित है। टोटम का मारना या खाना निषेध है, इसकी पूजा की जाती है। उदाहरणार्थ–कुछ 'बिरहोर' गिद्ध को अपना टोटम मानते हैं। 'गौरेया गोत्र' के बिरहोर यह मानते हैं कि उनके पूर्वजों का जन्म गौरेया के डैने के नीचे हुआ। किसी प्रकार 'मुण्डा' भिन्न–भिन्न 'किलियों' में विभक्त हैं। प्रत्येक का अलग–अलग टोटम होता है। उरांव में 'कुजुर वंशी' कुजुर पौधे का टोटम मानते हैं। 'कछुआ वंशी' उरांव कछुए को नहीं मारते वरन् उसकी पूजा करते हैं। खरिया में 'हुमडुंग करकेता' 'टोपा' 'बा' 'ता ते ते, बकिये' 'सेरेंग' आदि टोटम है। जिनके आधार पर गोत्र है।
4. **निश्चित भू–भाग व भाषा–** प्रत्येक जनजाति का एक निश्चित भू–भाग होता है जिसके अंतर्गत वह जनजाति निवास करती है। प्रत्येक जनजाति का अपना एक विशिष्ट नाम तथा विशिष्ट भाषा होती है।
5. **नेता का नियंत्रण–** प्रत्येक जाति का अपना एक नेता होता है। नेता को ही जनजाति के ऊपर नियंत्रण करने का पूर्ण अधिकार होता है। नेता अपनी जनजाति के सदस्यों को पूर्णरूप से संगठित करता है। इस नेता के नेतृत्व में जनजाति का राजैनतिक संगठन होता है। इसी संगठन के द्वारा जनजाति अपने जन समूह को नियंत्रित रखती है।
6. **आर्थिक निर्भरता–** जनजाति को एक आत्म–निर्भर समूह माना गया है क्योंकि जनजाति के सभी सदस्य अपने दैनिक प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं का निर्माण स्वयं ही करते हैं और अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करते हैं।
7. **जादू–** प्रायः सभी जनजातियां जादू में विश्वास करती हैं। खरिय में जो जादूगर दूसरों की भलाई के लिए कार्य करते हैं वे 'देआरो' कहलाते हैं। उनके अनुरूप जितने भी अकाल या विपत्तियां आती हैं, उनका कारण जादू ही है। संथाल किसी बीमारी या कष्ट को जादू–टोने का ही परिणाम मानते हैं। कुछ मंत्रों की सहायता से जादू टोने के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया जाता है।
8. **अंतर्विवाही जन–समूह–** जनजाति एक अंतर्विवाह समूह होता है। दूसरे शब्दों में जनजाति के सदस्य अपनी जनजाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते। इसी आधार पर बोआस ने कहा है, ''जनजाति अंतर्विवाह की नीति पर आधारित एक ऐसा सामाजिक व राजनीतिक समूह है जिसके सदस्य सामान्य भू–भाग, भाषा, संस्कृति, जीवन–स्तर, धर्म, व्यवसाय तथा वंश–परम्परा के आधार पर समानता की भावना द्वारा बंधे होते हैं।
9. **विशिष्ट नाम–** प्रत्येक जनजाति का एक विशिष्ट नाम होता है और वह उसी नाम से जानी जाती है, जैसे–संथाल, गारो, थारू, खासी आदि।

10. **नियम–** जनजाति के लोगों का सामाजिक जीवन परम्परागत नियमों से संचालित होता है।

टिप्पणी

जनजातीयपन के सूचक

श्यामा चरण दूबे ने उचित लिखा है कि भारतीय संदर्भ में जनजाति की कोई निश्चित एवं संतोषजनक परिभाषा नहीं दी गई है। उन्होंने कुछ उन सूचकों का वर्णन किया है जिनके आधार पर जनजातीय लोगों को भारत के अन्य लोगों से भिन्न किया जा सकता है। जनजातीयता की पहचान करने वाले सूचकांक निम्नलिखित हैं–

- वे भारत भूमि के सबसे पुराने निवासी हैं। इसलिए विशिष्ट क्षेत्र में उनकी जड़ें बहुत पुरानी व गहरी हैं।
- वे घने जंगलों और पहाड़ों में अपेक्षाकृत पृथक जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ जनजातियों का यह पृथक्य खत्म हुआ है, लेकिन कुछ अब भी शेष जनसंख्या से अलग–अलग हैं।
- उनका ऐतिहासिक ज्ञान उथला है। पांच या छह पीढ़ियों से पहले का इतिहास पौराणिक कथाओं के रूप में उन्हें याद है।
- उनके प्रौद्योगिक एवं आर्थिक विकास का स्तर निम्न है।
- अपनी सांस्कृतिक अनुपमा, भाषा, संस्थाएं विश्वास और प्रथाओं के आधार पर वे समाज के अन्य लोगों से स्पष्टतः अलग दिखाई देते हैं।

दूबे ने स्वीकार किया है कि ये सूचक अपरिष्कृत ही हैं, परन्तु इनका न्यूनाधिक संयोग जनजातीयपन को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने यह भी बताया है कि आज अनुसूचित जनजातियों के रूप में वैधानिक दृष्टि से इन्हें सूचीबद्ध किया गया है, परन्तु यह सूचीकरण एक राजनीतिक तथ्य है, न कि मानवशास्त्रीय। इस भांति, भारतीय समाज बहुजातीय, बहुधर्मीय तथा बहुजनजातीय है।

इरावती कर्वे ने ऐसे समाज की उपमा उस रंग बिरंगी गुदड़ी से की है जिसे विभिन्न स्रोतों से कपड़े के टुकड़ों को लेकर एक साथ सी दिया गया है। कोई टुकड़ा किसी चादर से लिया गया है, कोई किसी कमीज से, तो कोई किसी चोली से। भारतीय समाज के इन संघटकों के न केवल स्रोत अलग हैं, बल्कि समाज में उनके प्रवेश के काल भी भिन्न–भिन्न है।

जनजातियां समस्त भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करती हैं। इनके आवासीय क्षेत्रों की दृष्टि से जनजातीय क्षेत्र चार हिस्सों में बांटे गए हैं–उत्तर–पूर्वी क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र एवं पश्चिमी क्षेत्र। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में सिक्किम की लपेचा जनजाति, असम की रामा, मेचा, काछारी एवं मिकिर जनजातियां; मेघालय की गारो और खासो जनजातियां; अरुणाचल की आका, दाफला एवं भीरी जनजातियां; नागालैण्ड की कोण्यक, रंगपात, रोमा, अंगामी, चंग और रेम जनजातियां प्रसिद्ध हैं। मध्य क्षेत्र में साबरा, गड़वा, बोण्डों हो, संथाल, उरांव, मुण्डा, बिरहोर, खुरिया, बैगा तथा बस्तर की मुरिया और माड़िया गोण्ड जनजातियां प्रसिद्ध हैं। दक्षिणी क्षेत्र की प्रसिद्ध जनजातियां चेचू, ओअ, कोटा, पनीयान, इरुला, कादर, माला आदि है। इसी क्षेत्र में अण्डमान–निकोबार द्वीपसमूह में निकोबारी आंगख जावरा जनजातियां हैं। स्पष्ट है कि सुदूर पहाड़ियों और

जंगलों में बसी जनजातियों का भौगोलिक लगाव उनकी सांस्कृतिक विविधता के लिए भी उत्तरदायी है।

उपर्युक्त सूचकांक के अतिरिक्त भारतीय जनजातियों की कुछ विशिष्टताओं को अग्रलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है–

टिप्पणी

- जनजाति के सभी सदस्य आपस में नातेदार तो नहीं होते अपितु प्रत्येक भारतीय जनजाति में नातेदारी प्रथा एक सशक्त संगठनात्मक, नियंत्रणात्मक एवं एकतात्मक सिद्धांत के रूप में क्रियाशील रहती है।
- जनजातियां अंतर्विवाही होती हैं और कुलों एवं उपकुलों में बंटी रहती हैं। कुल स्वजन समूह होने के नाते बहिर्विवाही होते हैं।
- सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व जनजातियों में पाए जाने वाले स्वामित्व का एकमात्र रूप नहीं है, यद्यपि इसका प्रचलन कुछ जनजातियों में पाया जाता है।
- प्रत्येक जनजाति का एक आंतरिक राजनीतिक संगठन होता है। जो विविध स्तरीय पंचायतों पर आधारित होता है।
- जनजातियों के यवागृह की संस्था पाई जाती है।
- लड़कों एवं लड़कियों के लिए सामान्यतया स्कूली शिक्षा का अभाव पाया जाता है।
- जनजातियों में जन्म, विवाह एवं मृत्यु सम्बन्धी विशिष्ट प्रथाएं पाई जाती हैं जो हिन्दुओं और मुसलमानों से भिन्न होती हैं। इनका नैतिक विधान भी हिन्दुओं और मुसलमानों से भिन्न है।
- धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकाण्डों की दृष्टि से जनजातियों की अपनी कुछ विशिष्टताएं होती हैं जो जनजाति एवं निम्न जातियों के हिन्दुओं के बीच के अंतर तक को बता सकती है।

जनजातियों में स्त्रियों की स्थिति

जनजातीय स्त्रियों की स्थिति को निम्न बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है–

- **सामाजिक स्थिति–** जनजातियों में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति निम्न प्रकार है–
  - पुत्र–पुत्रियों के अधिकारों में समानता पाई जाती है।
  - पुत्रियों को पुत्र के समान घूमने–फिरने की स्वतंत्रता है।
  - जनजातीय समाजों में स्त्रियों को विवाह के समय पति के साथ घूमने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।
  - तलाक के नियम भी स्त्री व पुरुष के लिए समान हैं।
  - यौन सम्बन्धों के विषय में भी स्त्रियों व पुरुषों को समानाधिकार प्राप्त हैं।
- **आर्थिक स्थिति–** स्त्रियों की आर्थिक स्थिति निम्न प्रकार हैं–
  - खेती, पशु पालने आदि कार्यों में स्त्रियां पुरुषों के साथ मिलकर कार्य करती हैं।

टिप्पणी

– साधारणतया स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक कार्य करती हैं। स्त्रियां घर का कार्य तथा जीविकोपार्जन आदि भी करती हैं।

- **राजनीतिक स्थिति–** जनजाति का एक मुखिया होता है उसका जनजाति पर पूर्ण नियंत्रण होता है। इस दृष्टि से जनजातियों में पुरुषों का राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय जनजातियों में परिवार मातृ–सत्तात्मक हैं। इनमें स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त माता के रूप में स्त्रियों का महत्व भी स्त्रियों की स्थिति को ऊंचा बनाता है। यदि किसी स्त्री के संतान नहीं होती तो उसकी स्थिति सामान्य रहती है।

भारतीय जनजातियों की प्रजातीय रचना

भारतीय जनजातियों की प्रजातीय उत्पत्ति तथा प्रजातीय लक्षणों को तय करना एक कठिन कार्य है। भारतीय जनजातियों की प्रजातीय रचना के सम्बन्ध में गुहा (Guha) ने अपने निष्कर्षों का सारांश 1952 ई. में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया था–

- दक्षिण भारत की कादर, इरुला और पनीयान जनजातियां अपने घुंघराले बालों के कारण निश्चिततः नीग्रिटो प्रजाति का प्रतिनिधित्व करती हैं।
- भारत के मध्य क्षेत्र की जनजातियां प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति की सदस्य हैं।
- उत्तर पूर्वी भारत की जनजातियों में मंगोलॉयड प्रजाति के लक्षण पाए जाते हैं।
- ब्रह्मपुत्र घाटी में रहने वाली जनजातियों में मंगोलॉयड प्रजाति के लक्षण देखे जा सकते हैं।
  - मजूमदार एवं मदन (Majumdar and Madan) के अनुसार भारतीय जनजातीय जनसंख्या की पैतृकता को मुख्यतः नीग्रिटो, प्रोटो–ऑस्टेलॉयड तथा मंगोलॉयड प्रजातियों से जोड़ा गया है। नीग्रिटो को भारत की प्राचीनतम प्रजाति से जोड़ा गया है और कादर इनके प्रतिनिधि बताए गए हैं। मध्य क्षेत्र की जनजातियों को प्रोटो–ऑस्टेलॉयड प्रजाति के साथ एवं उत्तर–उत्तरपूर्व की जनजातियों को मंगोलॉयड प्रजाति के साथ जोड़ा गया है।
  - योगेश अटल (Yogesh Atal) के अनुसार भी भारतीय जनजातियों को नीग्रिटो, प्रोटो–ऑस्टेलॉयड तथा मंगोलॉयड प्रजातीय समूहों में विभाजित किया जा सकता है। कोचीन के कादर, पुलयान, राजमहल, पर्वतश्रेणी के बगड़ी, असम के अंगामी नागा तथा कुछ अन्य समूहों में नीग्रिटो प्रजाति के तत्व आज भी देखे जा सकते हैं। भारत के मध्य भाग की जितनी भी जनजातियां हैं, वे सभी प्रोटो–ऑस्टेलॉयड (जिसे निषाद कहा जाता है) प्रजाति की सदस्य हैं। मंगोलॉयड प्रजाति (किरात) में उत्तर और उत्तरपूर्व सीमान्त की जनजातियों को सम्मिलित किया जा सकता है।
  - आइकसटेड (Eickstedt) ने भारतीय जन समूह को तीन प्रजातीय समूहों में विभाजित किया है–वेड्डि, मेलेनिड, इण्डिड। वर्तमान मध्य भारत क्षेत्र की जनजातियों को उन्होंने वेड्डि तथा मेलेनिड समूहों का माना है।

मेलेनिड प्रजाति को 'काले भारतीय' कहा जाता है। आंध्रप्रदेश के येनादी तथा चेचू मेलेनिड ही हैं। इण्डिड प्रजाति के लक्षण नीलगिरि पहाड़ियों के निवासी टोडा लोगों में पाए जाते हैं।

टिप्पणी

मध्य भारत (बिहार, उड़ीसा व मध्य प्रदेश) की जनजातियों में गुहा के अनुसार प्रोटो–ऑस्टेलॉयड प्रजाति के लक्षण पाए जाते हैं। संस्कृत साहित्य में उड़ीसा की सवरा व कान्ध जैसी कुछ प्राचीन जनजातियों के शारीरिक गुणों का उल्लेख भी इनके प्रोटो–ऑस्टेलॉयड होने की पुष्टि करता है। इसी राज्य के ओंझर जिला की जुआंग जनजाति में मंगोलॉयड तथा कोरापुट की गदवा जनजाति में नीग्रिटो प्रजाति के प्रभाव मिले हैं। मध्य प्रदेश की गोंड जनजाति में 'कोइतार' प्रजाति के लक्षण बताए जाते हैं।

जनजातीय समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

जनजातियों की समस्याएं तथा उनके निराकरण की विवेचना से यह ज्ञात होता है कि भरसक प्रयत्नों के बावजूद उनकी समस्याओं का समाधान पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। जनजातीय समस्याओं के समाधान हेतु महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं–

1. आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए आदिवासी परिवारों को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि दी जाए। उन्हें कृषि की आधुनिक तकनीकों से परिचित कराया जाए। स्थानांतरित खेती पर रोक लगाई जाए। उन्हें बैल, बीड़ा एवं नवीन यंत्रों तथा कुएं आदि खोदने के लिए कम ब्याज पर ऋण की सुविधा दी जाए, घरेलू उद्योग धंधों का विकास किया जाए, सहकारी समितियों की स्थापना की जाए। औद्योगिक श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी, अच्छे मकान एवं बिजली की व्यवस्था की जाए। कानून द्वारा उनका शोषण रोका जाए। उनके लिए उचित शिक्षा एवं प्रशिक्षण का प्रबंध किया जाए जिससे वे नौकरियों में स्थान पा सकें।
2. सामाजिक समस्याओं के हल के लिए बाल विवाह एवं कन्या मूल्य पर कानूनी रोक के साथ–साथ इनके विरुद्ध जनमत तैयार किया जाए। युवा गृहों का पुनरुत्थान किया जाए और उनमें शिक्षा देने का प्रबंध किया जाए। जनजातियों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाए ताकि वेश्यावृत्ति समाप्त हो सके।
3. स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए आदिवासी क्षेत्रों में चिकित्सालय, डॉक्टर एवं आधुनिक दवाइयों का प्रबंध किया जाए। उनके लिए पौष्टिक आहार तथा विटामिन की गोलियों की व्यवस्था की जाए ताकि कुपोषण से होने वाली बीमारियों से बचा जा सके। चेचक, हैजा आदि के टीकों का प्रबंध किया जाए। उन्हें स्वास्थ्य के नियमों से परिचित कराया जाए। इसके लिए समय–समय पर अलग–अलग स्थानों पर स्वास्थ्य शिविर लगाए जाने चाहिए। चलते–फिरते अस्पतालों की व्यवस्था की जानी चाहिए। स्कूलों, पंचायत, घरों एवं युवा–गृहों में दवाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।
4. शैक्षणिक समस्या को हल करने के लिए आदिवासियों के लिए सामान्य शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा के लिए शिक्षण संस्थाएं खोली जाए। शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो। स्कूलों में उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाए जिससे कि शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्हें बेकारी का

टिप्पणी

सामना नहीं करना पड़े। कृषि, पशुपालन, मुर्गीपालन, मत्स्य पालन, मधुमक्खी एवं अन्य प्रकार की हस्तकलाओं का उन्हें प्रशिक्षण दिया जाए।

5. सांस्कृतिक समस्याओं को हल करने के लिए डॉ. एल्विन का मत है कि ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए, जिसमें ललित कलाओं की रक्षा की जाए। जनजातियों के लिए किए जाने वाले मनोरंजनात्मक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम उन्हीं की भाषा में हों। इससे भाषा की समस्या भी हल होगी। धार्मिक समस्याओं के हल के लिए यह आवश्यक है कि जनजातियों में पाए जाने वाले अंधविश्वासों को समाप्त किया जाए।

जनजातीय समस्याओं के समाधान हेतु केंद्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को मिलकर एक उचित नीति बनानी चाहिए जो उनके हितों की सुरक्षा करे। किसी भी योजना को जनजातीय समूह पर लागू करने से पूर्व उसका परीक्षण किया जाए और उसकी कमियों को दूर करने के बाद ही लागू किया जाए। प्रत्येक जनजाति की अपनी कुछ व्यक्तिगत समस्याएं भी हैं। अतः कोई भी नीति सभी जनजातियों के लिए समान रूप से लाभप्रद नहीं हो सकती जब तक कि उसमें स्थानीय समस्याओं को हल करने का उद्देश्य न हो। जनजातियों के उत्थान के लिए किसी भी नीति को लागू करने में, ऐसे कर्मचारियों का ही सहयोग प्राप्त कर सकते हैं जो इस कार्य में रुचि रखते हों और जिन्हें जनजातीय समस्याओं का ज्ञान हो। समाजशास्त्री व मानवशास्त्री नई कल्याणकारी नीतियों को लागू करने में अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं। कोई भी नीति आदिवासियों पर थोपी नहीं जाए वरन जन–सहयोग से ही उसे लागू किया जाए। आदिवासियों की कल्याणकारी नीतियों में आर्थिक हितों को प्रमुखता दी जाए क्योंकि गरीबी ही अनेक बुराइयों की जड़ है। आदिवासियों के सुधार के पीछे हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं भी बनाए रखें। जो जनजातियां राजनीतिक स्वायत्ता की मांग कर रही हैं, उन्हें इस बात के लिए आश्वस्त किया जाए कि देश की प्रजातंत्रीय व्यवस्था में उनके हितों की पूर्ण रक्षा की जाएगी। डॉ. मजूमदार का मत है कि जनजातीय समस्याओं का कोई एक हल नहीं है और न ही इस मांग का कोई सामान्य आधार।

जनजातियों के सांस्कृतिक विकास के अनेक स्तर और जीवन के विभिन्न प्रतिरूप हैं। जनजातीय जीवन के पुनर्वास की किसी भी योजना को बनाने में उनकी प्रवृत्तियों तथा सांस्कृतिक क्षेत्र से संबद्ध स्थिति को जानना आवश्यक है। जो बात एक सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए उचित है वह दूसरे के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। जनजातियों की समस्याएं अत्यधिक जटिल मानवीय समस्याएं हैं जिनके समाधान हेतु प्रशासकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और वैज्ञानिकों को अपने साधन एक साथ जुटाकर कार्य करना चाहिए।

सभी भारतीय जनजातियों को किसी एक श्रेणी अथवा वर्ग में नहीं रखा जा सकता। प्रत्येक जनजाति की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है, विकास का एक पृथक स्तर है। साथ ही उनकी अपनी निजी संस्थाएं भी हैं। अतः उनके कल्याण हेतु नीति–निर्धारण करने और योजना बनाते समय इस मानवशास्त्रीय तथ्य को ध्यान में रखा जाना अत्यंत आवश्यक है। यह सही है कि केंद्रीय और राज्य सरकारें जनजातीय

उत्थान हेतु कृतसंकल्प हैं और उस दिशा में काफी प्रयत्न भी कर रही हैं तथा उनके कल्याण कार्यों पर करोड़ों रुपया खर्च भी किया जा रहा है। यहां सरकारी और जनजाति कार्य में लगे उच्च पदाधिकारियों को इस दृष्टि से हर समय सजग रहना होगा कि साधनों का दुरूपयोग तो नहीं हो रहा है, विकास संबंधी योजनाओं का लाभ कुछ गिने चुने मुट्ठी भर लोगों को तो नहीं मिल रहा है, स्वार्थी लोग जनजातीय कल्याण के नाम पर कहीं अपने व्यक्तिगत हितों में तो नहीं लगे हैं।

टिप्पणी

वास्तव में भारतीय समाज में धार्मिक विविधता के बावजूद सांस्कृतिक एकता सदैव विद्यमान रही है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सरकार जनजातियों के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चला रही है तथा इनकी समस्याओं के समाधान के लिए दृढ़ संकल्प है, परंतु अभी इस दिशा में काफी कुछ किया जाना शेष है।

4.3.3 जाति

जातीय असमानता एवं भारतीय जाति व्यवस्था एक अत्यन्त जटिल प्रथा है। कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारतीय समाज में जाति से सम्बन्धित असमानता कब से है तथा यह विकास के किन–किन प्रमुख चरणों के पश्चात वर्तमान रूप में पहुंची है। भारतीय समाज की जातीय असमानता के बारे में जो भी तथ्य उपलब्ध हैं वे सब पुराणों तथा शास्त्रों पर आधारित हैं जिनकी विश्वसनीयता पर यूरोप के वैज्ञानिकों को संदेह रहा है। समय के साथ–साथ भारतीय समाज में जाति तथा इससे सम्बन्धित असमानता का स्वरूप भी बदलता रहा है। जाति से सम्बन्धित असमानता को समझने के लिए जातीयता का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक है। यह जाति से जुड़ी हुई अवधारणा है।

जातीयता के कारण, मनुष्य अपनी जाति से जुड़ाव एवं अन्य से हीनता की भावना रखते हैं तथा समाज में प्रायः कटुता का व्यवहार जन्म लेता है क्योंकि जाति व्यवस्था का मूल ही निम्न एवं उच्च जाति पर आधारित है। मनुष्य जिस जाति में जन्म लेता है, वही उसकी जाति हो जाती है तथा समाज में उस अमुक व्यक्ति की पहचान, प्रथमता "जाति" के द्वारा की जाती है। समाज में व्यक्ति का स्तर, जाति के स्तर के आधार पर निर्धारित किया जाता है। भारत में उच्च जातियां स्वयं को, निम्न जातियों से श्रेष्ठ समझती हैं एवं निम्न, जातियों के व्यक्तियों में उच्च जाति के व्यक्तियों के प्रति द्वेष की भावना पाई जाती है। सदियों से शोषण ग्रस्त निम्न स्तरीय जीवन यापन करने वाले निम्न जाति के व्यक्तियों को अम्बेडकर के रूप में एक हितैषी मिला तो, निम्न जाति के हजारों लाखों लोगों ने अपना धर्म, हिन्दू धर्म छोड़कर, बौद्ध धर्म अपना लिया। इन व्यक्तियों की मान्यता थी कि बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने पर, समाज में उनका निम्न स्तर, ऊपर उठ जाएगा, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। भारत में धर्म के नाम पर भी स्तरीकरण है एवं लोगों को धर्म के आधार पर भी उच्च, निम्न मानने का चलन है। निम्न वर्ग के व्यक्तियों द्वारा, बौद्ध धर्म स्वीकार करने पर भी, उच्च जाति के हिन्दुओं में भावना बनी रही कि बौद्ध धर्म उन्हीं लोगों ने अपनाया है जो निम्न जाति से थे।

जाति की विशेषताओं के आधार पर हमने यह भी देखा है कि, एक ही जाति के व्यक्तियों के मध्य आत्मीयता अथवा अपनेपन की भावनात्मक वृत्ति होती है। यह भावनात्मक वृत्ति, किसी समूह या संगठन की "मैं" से "हम" की भावना को व्यक्त करती है। एक ही समूह में व्यक्ति के हितों की रक्षा होने की सम्भावना प्रबल होती है। यही

टिप्पणी

कारण है कि भारत में जातीयता का स्वरूप, एक समस्या में परिवर्तित हो गया है। राजनीतिक दलों ने, जाति आधारित समूहों के आधार पर अपने वोट बैंक स्थापित किए हुए हैं। राजनीतिक दल, अपनी जाति को अनेक प्रकार के लाभ दिलाने का विश्वास दिलाते हैं एवं अनेक अवसरों पर, आरक्षण देने की मांग भी करते हैं। वर्तमान समय में अनेक जातियां इस प्रकार के आरक्षण का लाभ ले रही हैं जिनमें से अनेक जातियां भूतकाल में उच्च सामाजिक संस्तरण में रही थी। इन जातियों के व्यक्ति, शासक वर्ग से सम्बन्धित थे एवं जमींदार भी थे, जैसे– चौधरी, शाल्य, जाट, यादव।

जातीयता एक जटिल समस्या है जिसका राजनीतिक लाभ उठाया जाता रहा है।

जातीयता से जुड़ी असमानताएं

भारत में जाति से सम्बन्धित समस्याओं तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक असमानताओं का इतिहास भी उतना ही पुराना है, जितना कि स्वयं जाति का। भारतीय समाज में जातियों का उदय भी सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर असमानता को उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही किया गया था। जहां पर सामन्ती व्यवस्था में मानव श्रम व विभाजन सामाजिक जातिगत "वर्ग व्यवस्था" के आधार पर था वहीं पर वर्तमान पूंजीवाद व्यवस्था में भी वही अवशेष अभी भी मौजूद हैं। इसका कारण भारत की परम्परागत सांस्कृतिक प्रकृति है। भारत में वर्ण व्यवस्था में समाज को चार प्रमुख वर्णों (जातियों) में विभाजित कर रखा था जो निम्न प्रकार से थे–

(i) **ब्राह्मण**– पुरोहित वर्ग–समाज का वह वर्ग जो शिक्षा प्राप्त वर्ग था तथा धर्म एवं कर्मकाण्ड करने के लिए अधिकृत था।

(ii) **क्षत्रिय**– यह समाज का दूसरे स्थान का वर्ग था जो समाज की अन्दरूनी तथा बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए था। यह वर्ग राजकाज तथा राज्य का स्वामी जैसा वर्ग था जो उपलब्ध संसाधनों का सम्पूर्ण उपयोग करता था। संक्षेप में यह शासक वर्ग ही था।

(iii) **वैश्य**– समाज की आर्थिक गतिविधियों का संचालन तथा व्यापार वैश्य वर्ग करता था।

(iv) **शूद्र**– तीनों वर्णों की सेवा करने वाला तथा सबसे निचले दर्जे का नागरिक शूद्र वर्ग था। यह वर्ग सदियों से सामाजिक व आर्थिक रूप से शोषण का प्रमुख केन्द्र बिन्दु रहा है।

जाति का मूल उद्‌भव ही सामाजिक असमानता को प्रकट करता है तथा जातीय आधार पर वर्गीकृत में असमानता होना ही उसकी चारित्रिक विशेषता है। इन असमानताओं को हम निम्न बिन्दुओं की सहायता से समझ सकते हैं–

- **आर्थिक असमानता** (Economic Inequality) : जब से सभ्यता का विकास हुआ है तभी से समाज में उपयोग की वस्तुओं का आदान–प्रदान आर्थिक रूप से होता रहा है। आर्थिक अवस्था के आधार पर ही समाज में अमुक व्यक्ति या समाज के वर्ग की स्थिति का निर्धारण होता है क्योंकि मनुष्य अपने जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जातिगत आधार पर बंटे हुए समाज (सामन्ती व्यवस्था वाले समाज) में उत्पादन के तमाम संसाधनों पर उच्च जाति के व्यक्तियों, क्षत्रियों तथा

वैश्यों का अधिकार था। परिणामतः समाज का निम्न वर्ग हमेशा से ही श्रमजीवी वर्ग का हिस्सा रहा है। इस आर्थिक असमानता के कारण से समाज का शोषित तथा संसाधनों की सुविधाओं से वंचित वर्ग रहा है।

टिप्पणी

- **सामाजिक असमानता** (Social Inequality) : भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता को सामाजिक असमानता के रूप में देखा जा सकता है। समाज में जातिगत आधार पर समाज का विभाजन है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। शूद्र तथा निम्न जाति के लोगों को हेय दृष्टि से देखकर उन्हें समाज में उच्च वर्गों के समान सम्मान तथा अधिकार (respect and rights) प्राप्त नहीं है। समाज की जातिगत असमानता के आधार पर ही श्रम विभाजन है। साथ ही उच्च जाति के लोग अपने से निम्न जाति के लोगों या परिवारों से सामाजिक संबंध (विवाह आदि) नहीं रखते, जबकि समाज में सोहार्द व शांति तभी सम्भव है जब जातिगत आधार पर संबंध नहीं हो।

जातिगत असमानता के कारण

समाज के जातीय आधार पर बंटवारे के कारणों को समझने के लिए भारतीय सामाजिक व्यवस्था के परम्परागत इतिहास तथा समकालीन विश्व इतिहास के दृष्टिकोण से देखना आवश्यक है। भारतीय समाज भी अन्य समकालीन समाजों के समान ही वर्गीय समाज रहा है। सामन्ती व्यवस्था तथा राजशाही में समाज का विभाजन धार्मिक तथा धार्मिक पुस्तकों (शास्त्रों) के आधार पर किया गया था। प्रमुख रूप से नारद तथा मनु द्वारा कृत ग्रन्थों एवं स्मृतियों के आधार पर समाज के विभिन्न वर्गों के कार्य, अधिकार, दायित्व तथा सामाजिक प्रतिबन्धों का सम्पूर्ण विवरण दिया गया है। भारतीय समाज उन्हीं मूल अवधारणाओं तथा मानकों के अनुसार वर्गीकृत था। उसी के अनुसार समाज की व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करना धार्मिक पुण्य का कार्य तथा 'महान मानव कर्त्तव्य' (great human responsibility) माना जाता था। धर्म में लौकिक जगत के भय तथा पाप व पुण्य की अवधारणा के कारण समाज का कम शिक्षित वर्ग दैवीय प्रकोप तथा डर के कारण इन मान्यताओं का पालन अपना धार्मिक कृत्य समझकर करते थे।

इसी के आधार पर शासक वर्ग अपने शासन में सुचारु शासन व्यवस्था के संचालन के लिए धार्मिक गुरुओं तथा राजपुरोहितों की नियुक्तियां करते थे जो शास्त्रोक्त तथा धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित व्यवस्थाओं के अनुसार चला सकें। यह जातिगत व्यवस्था, समाज की सामन्ती व्यवस्था को जीवन प्रदान करती थी तथा समाज के निम्न वर्ग को अनेक प्रकार से विभाजित करते हुए चलाती रहती थी। जातिगत बंटवारा ही शोषण पर आधारित सामन्ती सामाजिक व्यवस्था के संचालन की नींव थी। समाज में भू–स्वामी तथा भूदास का सम्बंध जाति के आधार पर ही था। भूस्वामी उच्च कुल तथा जाति के लोग होते थे और भूदास या खेतिहर कृषक वर्ग (Peasant and tenant class)। इसमें श्रम के शोषण में परम्परागत रूप से सहायता मिलती रही।

इसके उपरान्त भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना एक क्रांतिकारी तथा ऐतिहासिक घटनाक्रम था जिसमें विश्व ने भारत की व्यवस्था में परिवर्तन में मुख्य भूमिका का निर्वाह किया। यही कारण था कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के समय में भारतीय

टिप्पणी

समाज ने अंगड़ाई लेते हुए परम्परागत सामाजिक जातीयता (वर्ण व्यवस्था) पर आधारित व्यवस्था को बदलने में महत्वपूर्ण कार्य किया, परन्तु 1947 में ब्रिटिश शासन की समाप्ति के बाद भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वह परिवर्तन अविधायी तौर पर प्रभावित हुआ तथा जाति का प्रयोग राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए किया जाता रहा।

भारतीय संविधान में समाज के निम्न वर्ग के लिए विशेष सुविधाओं का प्रावधान किया गया था, जिसके अन्तर्गत समाज के जातीय आधार पर शोषित तथा पिछड़े वर्ग के लिए राज्य को विशेष कार्यक्रम बनाने तथा क्रियान्वित करने को कहा गया था। लेकिन इसके उपरान्त राजनीतिक व अन्य कारणों से समाज के निम्न वर्ग को सरकारी सेवाओं तथा अन्य सुविधाओं में आरक्षण का प्रावधान किया गया। धीरे–धीरे जातीय आधार पर अनेक राजनीतिक दलों (Political parties) का उदय तथा आशातीत विकास हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में जातीय विभाजन और गहरा गया। समाज में जातीय भावना को अनेक राजनीतिक दलों ने अपने–अपने स्वार्थ के लिए अपने राजनीतिक घोषणापत्रों में सम्मिलित करते हुए जाति विशेष के लिए खास योजनाओं की घोषणाएं भी की हैं। इसमें जातीय आधार के साथ–साथ धार्मिक आधार भी सम्मिलित हो गया, जैसे–

- अल्पसंख्यक कल्याणकारी योजनाएं
- दलित कल्याणकारी कार्यक्रम
- अन्य पिछड़ा वर्ग
- अनुसूचित जाति–जनजाति कल्याण

इस प्रकार से समाज में जातीय व्यवस्था को आर्थिक आधार पर भी देखा जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज का अनेक भागों में बंटवारा हुआ रहे ताकि, समाज के वर्ग आपस में ही संघर्ष करते रहें तथा व्यवस्था में किसी प्रकार का दोष व कमी को न देखें। यही कारण है कि राजनीतिक दल, जातिगत आधार पर समाज में वैमनस्य तथा मतभेद उत्पन्न करते रहते हैं और "अपनी जाति अपना नेता" जैसे लोक लुभावन नारों के द्वारा अपना राजनीतिक समीकरण, सत्ता के गलियारे तक पहुंचने के लिए करते हैं। वर्तमान राजनीतिक परिवेश में यह कहना कठिन है कि भारत में जातिगत ढांचे का प्रयोग कब तक होता रहेगा, परन्तु जब हम जातीयता के कारणों को जान लेते हैं तो इससे उत्पन्न असमानताओं की जड़ का भी पता चल जाता है जिससे इसके परिणामों पर सार्थक तर्क दिए जा सकते हैं।

जातिगत असमानताओं से उत्पन्न समस्याएं

समाज में जाति का जन्म ही समाज के बंटवारे को लेकर हुआ था जो मानव के मूल स्वभाव (सामूहिकता, Collectivity) के विपरीत था। यह विपरीत स्वभाव मानव तथा मानव समाज के लिए अनेक समस्याओं का कारण भी बन गया। आज स्थिति यह है कि जातिगत असमानता का प्रभाव मानव समाज के विकास को बहुत प्रभावित कर रहा है। भारतवर्ष में समकालीन समाज में जातिगत विषमता को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में

टिप्पणी

देखा जाए तो पता चलता है कि जातियों में आपस में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न की जाती है कि अमुक जाति अमुक जाति से बेहतर है तथा समाज में बेहतरी की स्थिति में है। एक जाति का समुदाय स्वयं अपनी जाति की भी सुविधाओं को पाना चाहता है। शुरू में आरक्षण का लाभ अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति व पिछड़ा वर्ग को ही प्राप्त था परन्तु "आरक्षण" की अवधारणा आ जाने से जातीयता और जातिगत विषय का दोहन तथा शोषण राजनीतिक कारणों से बहुतायत में होना प्रारम्भ हो गया।

इस विषय में "मंडल कमीशन" के बाद इसने और भी अधिक विकराल रूप धारण कर लिया। इस कमीशन की सिफारिशों के आने के बाद उच्च जाति के लोगों (स्वर्णों) ने कई हिंसक तथा व्यापक प्रदर्शन किए जिससे देश में जातिगत द्वेष तथा इससे सम्बन्धित भेदभाव व असमानता और भी बढ़ गई। अनेक चिन्तकों तथा समाजसुधारकों ने आरक्षण के मुद्दे पर अपनी–अपनी अलग राय व्यक्त की है। कुछ विचारकों का मत है कि आरक्षण का आधार जातिगत या धार्मिक नहीं होकर "आर्थिक" होना चाहिए। इस विचार पर देश में कहीं पर भी एकमत या राय नहीं है। बल्कि कुछ राजनीतिक दल अन्य उप जातियों को भी आरक्षण के दायरे में लाने की मांग कर रहे हैं जैसे, विगत कुछ वर्षों में राजस्थान के गुर्जर जाति का आंदोलन।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जातिगत असमानता के कारण समाज में अनेक समस्याएं जैसे– आरक्षण, बैर, द्वेष तथा विरोधाभास की समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। इसी सन्दर्भ में विचारकों का मत है कि आरक्षण जातिगत रूप की विषमता को दूर करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है वरन् यह समस्या को और गम्भीर रूप प्रदान कर देता है, जैसे सरकारी नौकरी में पदोन्नति के फलस्वरूप कोई अधीनस्थ कर्मचारी आरक्षण का लाभ पाकर अपने से योग्य कर्मचारी के ऊपर चला जाता है तो सरकारी कर्मियों की दक्षता गम्भीर रूप से प्रभावित होती है जो भ्रष्टाचार को भी जन्म देने में सहायक है।

4.3.4 लिंग

लिंग एक जटिल शब्दावली है, जो आंतरिक शक्ति की स्थापना के चरम स्तरीकरण से और भी जटिल हो जाती है। इसकी वर्णनात्मक प्रकृति हमारे सभ्य समाज में पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच मोटे तौर पर विभिन्न लिंग अनुभवों को जन्म देती है। इस कारण से, हमारे दिमाग में एक प्रत्यक्ष सवाल यह उठता है कि लिंग आधारित असमानताएं समाज में जैविक विकास के परिमाण के कारण कैसे उद्धरित होती है? ऐसे ही अन्य प्रश्नों ने विद्वानों के लिए लिंग अध्ययन को और भी जटिल बना दिया है। कुछ दशक पहले, पुरुषों तथा महिलाओं के बीच लिंग अंतर अध्ययन का मुख्य उद्देश्य था। तत्पश्चात नारीवादियों ने निश्चित किया कि नारी के संपूर्ण व्यक्तित्व को विशेष रूप से असमानता से बाहर निकालना आवश्यक है।

निःसन्देह, यदि नारी के पास शक्ति नहीं, तो वह पुरुषों के सामने कुछ भी नहीं है। हालांकि, इसके साथ ही महिलाओं के पास यदि शक्ति हो, तो उन्हें पुरुषों से बेहतर समझा जाता है। लिंग–संबंधित असमानता मुख्य रूप से समाज के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की वजह से है। मुख्यतः पुरुषों तथा महिलाओं के बीच लिंग भेदभाव के गठन के लिए यही दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से जिम्मेदार है। यदि वैसे दृष्टिकोणों को उचित

टिप्पणी

एवं वैज्ञानिक तरीके से पहचान लिया जाता है, तब वर्तमान समाज में लिंग–आधारित भेदभाव के उन्मूलन के लिए मान्य होने पर पहुंचने की संभावना बनती है। हालांकि, इसके बारे में कहना आसान है, पर इसे अमल में लाना बेहद मुश्किल है। पुरुषों तथा महिलाओं को श्रेणीबद्ध करना मुश्किल है, जो प्राचीनकाल से ही समय के अस्तित्व में है। इसीलिए, लिंग विशेषज्ञों का प्राथमिक लक्ष्य वह साधन तलाशना होता है जिससे लिंग को नारीवाद दृष्टिकोण से विश्लेषित किया जा सके और महिलाओं के सम्पूर्ण सशक्तिकरण के लिए इसका उपयोग किया जा सके।

लिंग : अर्थ एवं अवधारणा

"लिंग" शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'जीनस' से हुई। लैटिन शब्द जीनस पर आधारित लिंग, जन्म, परिवार और राष्ट्र को सूचित करता है। इसके प्रारंभिक अर्थ जाति, प्रकार, लिंग, संज्ञा के प्रकार और वर्ग इत्यादि हैं, (जो कि लैटिन में जीनस के भी अर्थ हैं)। आधुनिक युग में लिंग का अर्थ लिंग, लैंगिकता, लैंगिक अंतर, पीढ़ी इत्यादि है। बहुत से समाजशास्त्रियों ने लिंग का नातेदारी, जाति, जैविक अंतरण, भाषा और राष्ट्रीयता के साथ भी बारीकी से अध्ययन किया है। भारत में नारीवाद तथा लिंग विषयक विद्वानों ने लिंग–आधारित मुद्दों से जुड़े हलों का पता लगाने में योगदान दिया है, परन्तु उनके मत विभाजित हैं। बहुत से शोधार्थियों ने यह बताया है कि सरकार पूरी तरह से अपनी जिम्मेदारी नहीं निभा रही है, मुख्यतः इसी वजह से भारत में महिलाएं कमजोर हालात में हैं।

स्थितियों, मानदंडों और भूमिकाओं ने हमें अभी अपनी जिंदगी को नियंत्रित, सुसंगत और उम्मीद के मुताबिक संगठित करने की अनुमति दी है, जो कि किसी सामाजिक संरचना की मुख्य संरचनाएं हैं। यह विषय उन स्थापित सामाजिक मानदंडों से जुड़ा है, जो ऐसे बर्ताव का सुझाव देते हैं, जिससे कि वैसे लोगों से घुलना–मिलना आसान हो जाता है, जिन्होंने किसी अन्य सामाजिक पद को प्राप्त कर लिया है। कुछ स्थितियों में, लोगों को इन मानदंडों का ज्ञान हो सकता है। जब इंसान का मानक व्यवहार कठोर रूप से परिभाषित होता है, तब किसी निश्चित पक्ष की आजादी से प्रायः समझौता होता है। ये कठोर परिभाषाएं सरल संकल्पनाओं के बजाय उन रूढ़िबद्ध सिद्धान्तों के विकास से जुड़ी हैं, जिनमें एक समान वर्ग वाले लोगों में कुछ निश्चित विशेषताएं समान होती हैं, क्योंकि जन्म से ही पुरुषों और महिलाओं को समाज में एक निश्चित स्थान दिया गया है।

यद्यपि इस रूढ़िबद्धता में कुछ सकारात्मक विशेषताएं भी हो सकती हैं परन्तु प्रायः वे ऐसी नकारात्मक विशेषताओं से भरे होते हैं, जिनका उपयोग किसी निश्चित समूह के सदस्य से भेदभाव करने के लिए किया जाता है। पुरुषों और महिलाओं की उनके जैविक बनावट के आधार पर ग्रहण की जाने वाली विशेषताओं के अनुसार ही उनके द्वारा हैसियतों में रूढ़िबद्धता प्राप्त होती है। महिलाओं को चंचल और अविश्वसनीय कहकर रूढ़िबद्ध किया जाता है क्योंकि उनके भीतर ऐसा उग्र हार्मोन होता है, जो उनमें अप्रत्याशित भावनात्मक रवैया बढ़ाता जा रहा है।

भारत में लिंग की अवधारणा 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों के दौरान स्थापित हुई थी। प्रारम्भ में इस सीमांकन की पंक्ति को आकर्षित करने के लिए इसे एक

टिप्पणी

विश्लेषणात्मक शब्द के रूप में इस्तेमाल किया गया था, जैसे–जैविक लिंग, मतभेद और इसका इस्तेमाल प्राणियों अन्य संबंधित दक्षताओं के व्यवहार को सूचित करने के लिए मानव निरंतर करते रहे हैं। इसे संज्ञा के रूप में जैसे– लक्षण और व्यवहार जैसे शब्दों के रूप में उपयोग में लाया गया है। इसीलिए लिंग जैविक विषयों को दर्शाता है और मनुष्य जाति में एक महिला से एक पुरुष का भेद बतलाता है। उसी तरह लिंग पुरुषों और महिलाओं से जुड़े सामाजिक, पारम्परिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक लक्षणों के माध्यम से सामाजिक संदर्भों को भी दर्शाता है।

लिंग एक महिला को दूसरे पुरुष से अलग करता है, जो कि एक जैविक सन्दर्भ है। लिंग को मनुष्य रूप में वर्गीकृत किया गया है, जिससे कि पुरुष या स्त्री होने का सामाजिक निर्माण ज्ञात होता है। एक व्यक्ति के जन्म होने पर तदनुसार लिंग को उसके पुरुष या स्त्री होने के लिए जिम्मेदार माना जाता है, लेकिन जन्म के बाद समाज के माध्यम से उसके लिंग की स्थिति को अनुकूलित किया जाता है।

लिंग शब्द का प्रयोग जैविक मतभेद के वास्तविक, शारीरिक और मानसिक प्रभाव से किया गया था। बहुत से तर्क यह बताते हैं की सत्ता की एक पितृसत्तात्मक परंपरा को बनाए रखने और महिलाओं के बीच एक चेतना पैदा करने के लिए, उन्हें घरेलू बनाना स्वाभाविक रूप से अनुकूल था। दरअसल किसी भी लिंग के लिए जिम्मेदार मानी गई स्थिति और हासिल की जाने वाली स्थिति में तुलना होने की संभावना बहुत कम है। आज की दुनिया में, इन मतभेदों जैसे– कन्या भ्रूणहत्या जैसे महत्वपूर्ण पहलू को प्रभावी गर्भ निरोधक से बहुत हद तक कम कर दिया गया है। आमतौर पर महिलाओं को लम्बे समय से उनके जीवन के एक छोटे अनुपात में उन्हें प्रजनन के लिए जीवित रखा जा रहा है। इन भूमिकाओं को बहुत पहले खारिज कर देना चाहिए था। इस तरह का भेद पहली बार नहीं किया था। इसीलिए मानव विज्ञान, मनोविश्लेषण और चिकित्सा अनुसंधान में नारीवाद एक बहुत बड़ा हिस्सा रहा है।

लिंग महज एक शब्द के रूप में जाना जाता है, परन्तु यह राजनीतिक बदलाव तक ला सकता है। लिंग के आधार पर लेखकों के सुझाव से नारीवाद और लिंग के बीच अंतर को एक ध्रुवीकरण माना गया है और लिंग भेद से जुड़े अर्थ का अवलोकन हम सामाजिक रूप से स्वयं कर रहे हैं। चूंकि अस्थिर मानव समाज निर्माण के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों के भीतर इन जैविक कारकों को हम समझते हैं, इसीलिए विभिन्न परिणाम देते हैं। समाजशास्त्रियों ने सैद्धांतिक दृष्टिकोण के अनुसार लिंग भूमिकाओं और मार्गदर्शन की प्रक्रियाओं को समझाया है, जिससे कि हमें सामाजिक वास्तविकता की व्याख्या के लिए सामान्य आंकड़े मिले हैं।

समाजशास्त्रियों की भूमिका लिंगों की उन जैविक अवधारणाओं से जुड़ी है, जिनके बारे में अकसर गलतफहमी बनी हुई है कि सामाजिक क्षेत्रों के परिणाम लैंगिक भूमिका पहचान के तहत सम्मिलित हो रहे हैं। हालांकि इस अवधि को उपयोग में बदलने के लिए समाज में मानवीकरण होता रहा है। समाजशास्त्रियों के लेखन में लिंग शब्द की पारिभाषिक भूमिका को सकारात्मक के बजाय नकारात्मक भूमिका दे दी गई है। तदनुसार, लिंग भूमिकाएं इस उम्मीद के नजरिए के साथ व्यवहार कर रही हैं कि समाज को लिंग के प्रत्येक प्रकार से जोड़ा जाए। लिंग की इस परिभाषा को सामाजिक– सांस्कृतिक स्थानों पर सभी ओर से प्रासंगिक किया गया है।

लैंगिक असमानता : एक वर्तमान समस्या

टिप्पणी

वर्तमान समाज पुरुष प्रधानता वाला समाज है जिसे पितृसत्तात्मक समाज कहा जाता है। यह सच है कि महिला एवं पुरुष में कुछ जैविक अन्तर पाया जाता है पर जहां तक मानव व्यवहार तथा भावनाओं का संबंध है ये दोनों में ही पाए जाते हैं। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में लैंगिक असमानता एक समस्या के रूप में है क्योंकि महिला को एक उपभोग तथा प्रयोग करने वाली "वस्तु" के समान समझा जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि महिला, पुरुषों से कमजोर है तथा वह उनकी बराबरी नहीं कर सकती। ऐसी भावना की उत्पत्ति को देखने से पता चलता है कि समाज वर्गों में विभक्त है और ये वर्ग जितने अधिक होंगे यह पूंजीवादी व्यवस्था उतनी ही अधिक मजबूत होगी।

सामंती व्यवस्था में भी इस प्रकार का प्रचार प्रसार था कि महिलाओं का स्थान पुरुषों से निम्नतर है तथा स्त्री को हमेशा–हमेशा के लिए पराश्रित रहना पड़ता है जैसे– बालकाल में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्रों के आश्रित रहना उसकी किस्मत बन गई, जो यह सिद्ध करता है कि पुरुष प्रधान समाज नहीं चाहता कि वह महिला से किसी प्रकार का द्वन्द्व या प्रतियोगिता का सामना करे। इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई कि महिला अशक्त रहे। लेकिन महिला भी इंसान है जब–जब स्त्री ने यह समझा है उसने स्वयं ही अपने अधिकारों के प्रति चेतना दिखाई है जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज महिलाओं के अधिकारों को एक समस्या के रूप में देखने लगा।

शोधकर्ताओं ने लैंगिक असमानता पर अनेक कार्य किए तथा पाया कि यह एक सामाजिक समस्या है जो समाज में अनेक प्रकार से देखी व पाई जाती है।

इसके प्रमुख स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से हैं–

(i) **लैंगिक असमानता एवं सामाजिक उत्पीड़न** (Gender Inequality and Social Exploitation) : स्त्री को पुरुष से अलग रखना ही लैंगिक असमानता है अर्थात समाज के सदस्यों के बीच लिंग पर आधारित (gender based) अन्तर प्रकट करना लैंगिक असमानता है जिसमें महिला तथा पुरुष दोनों को अलग–अलग से देखा व समझा जाता है। भारतीय समाज में लैंगिक असमानता के विकृत रूप सामन्ती व्यवस्था से ही चिह्नित किए जा सकते थे, उस समय सामाजिक व्यवस्था हिन्दू धर्म शास्त्रों के अनुसार दी जाती थी तथा स्त्री को पुरुषों के समान कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसकी व्यवस्था मनु स्मृति के अनुसार चली थी।

इसमें महिला को पुरुष की सेविका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझा गया तथा बच्ची को प्रारम्भ से ही "पति परमेश्वर", "पति देवता" पवित्र आचरण तथा सेवा सुश्रूषा का सबक पढ़ाया जाता था जिससे स्त्री की पहचान इंसान के रूप में पराश्रित, अबला तथा सेविका के रूप में बन गई। वह समाज में अपना योगदान न पा सकी, समाज का असमान विकास हुआ तथा समाज का पिछड़ापन इसी का कारण है।

टिप्पणी

(ii) **आर्थिक असमानता** (Economic Inequality) : मानव समाज के इतिहास में यह मांग हमेशा से होती रही है कि स्त्री को भी पुरुष के समान बराबरी का अधिकार तथा सम्मान प्राप्त हो, परन्तु सामाजिक ढांचा आर्थिक आधार पर निर्धारित होता है, समाज का प्रत्येक सम्बंध आर्थिक आधार पर बनता या बिगड़ता है। समाज में नारी को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होने से वह पुरुषों के ऊपर निर्भर होती है जिस कारण वह कोई भी निर्णय स्वयं नहीं ले पाती और मानसिक कुंठा तथा घुटन भरी जिंदगी व्यतीत करती हुई जीवन यापन करने को विवश है। इसी आर्थिक असमानता के कारण पढ़ी लिखी, सुशिक्षित तथा कामकाजी महिलाओं को भी सामान्य जीवन में अनेक सामाजिक समस्याओं का सामना कर पड़ता है क्योंकि सामाजिक तथा आर्थिक ढांचा महिलाओं का आधिपत्य स्वीकार करने की स्थिति में नहीं है।

यही कारण है कि आधुनिकता के इस समय में भी, जबकि महिला सशक्तिकरण की बात कही जाती है परन्तु व्यावहारिक रूप से महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति तथा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। हालांकि भारतीय संविधान ने महिलाओं को सभी अधिकार बिना किसी प्रकार के भेदभाव के प्रदत्त किए हैं। महिलाओं से किसी प्रकार के भेदभाव की अनुमति नहीं है लेकिन वास्तव में हम अपने चारों तरफ जो देखते हैं वह हमारे समाज का एक कटु सत्य है जिसमें अनेक काबिल महिलाएं, शादी के उपरान्त घरेलू कामकाज करते हुए घुटन भरी (गुलामी की) जिन्दगी व्यतीत करती देखते हैं। उनका स्वयं का कोई आर्थिक अधिकार नहीं है यदि उन्हें आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त हो जाए तो वह गुलामी की इन जंजीरों को तोड़कर फेंक सकती हैं।

लैंगिक आधार पर शैक्षिक असमानता

भारतीय समाज में प्रायः देखा गया है कि मध्यम तथा निम्न वर्गीय समाज में लैंगिक आधार पर बहुत गम्भीर असमानता है। भारत की 2011 की जनगणना के अनुसार पुरुष तथा महिला की साक्षरता में 10 प्रतिशत का अन्तर है। हालांकि उत्तर भारत के अनेक राज्यों में यह प्रतिशत बहुत अधिक है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 25–35 प्रतिशत महिलाएं साक्षर हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि आज के वैश्वीकरण के युग में भी भारतीय नारी लैंगिक आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछड़ी हुई है तथा एक ऐसा जीवन जीने को विवश है जिसको किसी भी प्रकार से मानवीय नहीं कहा जा सकता (विकसित राष्ट्रों के सन्दर्भ में)।

नगरीय क्षेत्रों में आंकड़े बताते हैं कि माता–पिता अपनी कन्या सन्तानों को सरकारी या सस्ते विद्यालयों में पढ़ाने को प्राथमिकता देते हैं, जबकि वहीं पर बालक को अच्छे महंगे पब्लिक विद्यालय में पढ़ाते हैं और उसे कन्या सन्तान के मुकाबले अधिक वरीयता तथा अधिकार दिए जाते हैं। इसके साथ–साथ पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने के पूरे प्रयास किए जाते हैं तथा पुत्री को औपचारिक शिक्षा दिलवाकर झटपट शादी कर दी जाती है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था ही इसी प्रकार की है। समाज में यह

टिप्पणी

तथ्य स्थापित हो गया है कि महिला का कार्य घर गृहस्थी चलाना भर है तथा पढ़ लिखकर भी वही करना है तो फिर उसमें समय व अर्थ व्यय क्यों किया जाए? यही धन दहेज के रूप में देकर अच्छा वर प्राप्त कर लिया जाए तथा कन्या को गृहिणी (घरेलू सेवक) के रूप में धकेल दिया जाए। लैंगिक आधार पर जनगणना करने वाली इकाई के अनुसार भारत में महिला साक्षरता का प्रतिशत निम्न प्रकार से है–

वर्ग	महिला साक्षरता
1971	18.4%
1981	25.0%
1991	39.0%
2001	54.0%
2011	65.46%

(Source Census of India)

लैंगिक असमानता कम करने के प्रयास

लैंगिक आधार पर सामाजिक असमानता को कम करने के लिए उन कारणों को दृष्टिगत रखकर उपाय करने आवश्यक हैं। भारतीय समाज में लैंगिक विषमता को महिलाओं की दयनीय तथा शक्तिहीन स्थिति से जोड़कर देखा जाता है। इसी कारण लैंगिक असमानता के मुख्य आधार स्त्री के सशक्तिकरण की बात कही जाती है (empowerment of female gender)। लैंगिक असमानता इसलिए भी समाप्त नहीं हो रही क्योंकि हमारे समाज में वैदिककाल, मुगलकाल तथा आधुनिककाल में स्त्रियों को मान सम्मान व संस्कृति के साथ जोड़कर देखा जाता है। इस समस्या को समाप्त करने के लिए प्रयास ब्रिटिश काल में प्रारम्भ हुआ था। इसके साथ ही साथ आर्य समाज ने इस दिशा में सुधार के सार्थक प्रयास किए। इनके प्रमुख उद्देश्य थे –

(i) स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार व प्रसार

(ii) बाल विवाह पर रोक

(iii) दहेज पर निषेध

(iv) बहुपत्नी पर निषेध

(v) विधवा विवाह व अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन

तत्पश्चात 1917 में डॉ. ऐनी बेसेंट के नेतृत्व में "महिलाओं की भारतीय समिति" का गठन हुआ। इसके पश्चात अनेक ऐसे ही संगठन अस्तित्व में आए, जिनके प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार से थे–

(i) स्त्री शिक्षा का सक्रिय विस्तार

(ii) बाल विवाह, दहेज, बहुपत्नी विवाह पर प्रतिबन्ध

(iii) समान स्त्री अधिकारों की मांग

(iv) स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को उठाने के प्रयास

(v) स्त्रियों को नागरिक शिक्षा

टिप्पणी

गांधी के दांडी मार्च में महिलाओं की भागीदारी ने भारतीय नारी को प्रथम बार यह अनुभव कराया कि वे भी समाज का एक मुख्य अंग है। इसी का परिणाम यह हुआ कि महिला संगठनों ने महिला अधिकारों की मांग करना प्रारम्भ कर दिया तथा फलस्वरूप सरकार ने हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम 1949, बाल विवाह अधिनियम 1949, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, तलाक अधिनियम 1955 आदि को पारित किए।

इनमें सबसे महत्वपूर्ण 1937 में पारित "हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम" था जिसमें महिला को पुत्र के समान सम्पत्ति पर अधिकार दिया गया।

1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (The Hindu succession act-1956) के अनुसार यह कानून पारित किया गया कि महिलाओं को सब अधिकार पुरुषों के समान प्राप्त होंगे। इस कानून के पारित होने के बाद से मध्यम वर्ग ने तथा उच्च वर्ग ने विशेषकर नगरीय क्षेत्रों में बहुत विकास किया है तथा अनेक महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति सजग हुई हैं। उन्होंने स्वयं को स्वयं की इच्छाशक्ति तथा शक्ति से समाज में सम्मानजनक स्थिति तक पहुंचाया है।

इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन घरेलू हिंसा के प्रति बने अधिनियम 2005 ने कई सुधार किए हैं। इस अधिनियम के पारित हो जाने के बाद महिला, घरेलू हिंसा के विरुद्ध न्यायालय की सहायता ले सकती है जिसका पूरा व्यय सरकार करती है। मामलों की त्वरित कार्यवाही भी होती है।

इसी प्रकार से भारत सरकार ने राष्ट्रीय महिला आयोग (National comission of women) की स्थापना की है जिसके प्रत्येक राज्य के मुख्यालय तथा जनपद स्तर पर कार्यालयों की स्थापना की गई है और जो महिलाओं के विरुद्ध होने वाले उत्पीड़न तथा शोषण के निराकरण के लिए है।

इसी तर्ज पर अनेक स्वयं सहायता समूह (Self help group) भी सक्रिय हैं, जिनके द्वारा लैंगिक असमानता दूर करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

लैंगिक असमानता निवारण के अन्य घटक

भारतीय समाज को अन्दर से देखने पर पता चलता है कि यह समाज महिलाओं के साथ किस स्तर का भेदभाव करता चला आया है। इस भेदभाव की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक तथा सदियों पुरानी है जिसे समाप्त करने में भी कई और पीढ़ियां लगेंगी क्योंकि हमारा समाज वर्गों में बंटा हुआ है जिसके सबसे निम्न वर्ग तक पहुंचने में समय तो अवश्य लगेगा। इसके साथ उत्साहवर्द्धक तथ्य यह है कि उच्च वर्ग तथा उच्च मध्यम वर्ग के अंदर लिंग पर आधारित भेदभाव कम हुआ है जिसमें मुख्य भूमिका स्वयं महिला ने ही निभाई है। आगे भी महिला स्वयं की लड़ाई स्वयं ही लड़ेगी तथा स्वयं को स्वतंत्र कर लेगी। इसके लिए प्रमुख तथ्य निम्न प्रकार से हो सकते हैं–जिन पर कार्य करके उत्पीड़ित तथा भेदभाव से पीड़ित महिलाएं स्वयं को सम्मान अवश्य दिला सकती हैं क्योंकि लिंग पर आधारित असमानता तथा भेदभाव तभी समाप्त होगा जब महिला स्वयं को स्वयं के प्रयासों से सबल व शक्तिशाली बना लेती है–

- महिला को आर्थिक रूप से शक्तिशाली बनाने के व्यावहारिक प्रयास होने चाहिए।

टिप्पणी

- जो कार्य पुरुष करते हैं उन पर महिलाओं को अपनी पकड़ तथा पहुंच बनानी चाहिए।
- स्त्रियों को मेहनत करके स्वयं को पुरुषों की भांति शक्तिशाली बनाना चाहिए।
- परिवार के सदस्यों को अपने पक्ष (favour) में लेकर, आधुनिक समाज के सकारात्मक पक्षों का अध्ययन व परामर्श करके, सरलता से परिवार में भागीदारी बढ़ाई जानी चाहिए।
- इस यथार्थ को बल मिलना चाहिए कि पुरुष तथा महिला एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं वरन् पूरक हैं।

4.3.5 ग्रामीण एवं शहरी आवास

भारत विविधताओं का देश है। यहां भाषा, धर्म, संस्कृति, जाति यहां तक कि रहने के स्थान के आधार पर भी विविधता देखने को मिलती है। सेंसेक्स 2011 के आंकड़ों के अनुसार 68.84% जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्र तथा 31.16% लोग शहरी क्षेत्रों में रहते हैं। संख्या के आधार पर अधिक लोगों के ग्रामीण क्षेत्रों से जुड़े होने के कारण भी ग्रामीण क्षेत्रों में मूलभूत सुविधाओं की कमी देखने को मिलती है। बिजली, पानी, सड़क, मकान के साथ–साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी विषमताएं देखने को मिलती हैं। 2011 के आंकड़ों के अनुसार भारत की कुल साक्षरता में शहरी क्षेत्र में साक्षरता 86% तथा ग्रामीण क्षेत्रों में मात्र 68.9% है। साक्षरता दर में भारी अंतर के कई कारण हैं, जिन्हें ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के समक्ष आने वाली चुनौतियों तथा शहरी इलाकों के लोगों को मिलने वाले अवसरों के रूप में समझा जा सकता है।

ग्रामीण व शहरी आवास के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में असमानता

शैक्षिक संस्थानों की संख्या

संख्या के आधार पर यदि ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के आधारभूत ढांचे को देखा जाए, तो ग्रामीण क्षेत्रों में शहरों की अपेक्षा कम शैक्षिक संस्थान देखने को मिलते हैं तथा छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहरों की ओर पलायन करते हैं। ऐसे में जो परिवार अपने बच्चों को शहर में शिक्षा प्रदान करने में असमर्थ होते हैं, उनके बच्चे प्रतिभाशाली होने के बावजूद भी उच्च शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

अपर्याप्त बुनियादी सुविधाएं

शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा की स्थिति में जो अंतर देखने को मिलता है, उसका एक कारण बुनियादी सुविधाओं की ग्रामीण क्षेत्रों में पाई जाने वाली कमी भी है। जहां तक शहरी शिक्षा व्यवस्था की बात है तो मुख्यतः यह देखने को मिलता है कि शहरों में पढ़ने वाले बच्चों को वह सब सुविधाएं आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं, जिनका उनकी शिक्षा की प्रक्रिया में अहम योगदान होता है। वहीं दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्र के विद्यालयों में पढ़ाई के लिए कमरों का न होना, बैठने के लिए फर्नीचर तथा पाठ्य संबंधी शिक्षण सामग्री की कमी देखने को मिलती है। छात्र एवं छात्राओं के लिए अलग से टॉयलेट की व्यवस्था न होना भी कई ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों की शिक्षा में बाधा का

काम करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में अध्यापकों की कमी भी उस क्षेत्र के छात्रों की शिक्षा के विकास में बाधा उत्पन्न करती है।

टिप्पणी

गुणवत्ता में कमी

जहां एक ओर शहरी क्षेत्रों में पर्याप्त सुविधाओं वाले विद्यालय उपलब्ध हैं और नवाचार तथा तकनीकी के मेल से पढ़ाने वाले अध्यापकों की भी कमी नहीं है, वहीं दूसरी ओर दूरदराज के क्षेत्रों में बच्चों को दी जा रही शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान देने के लिए अध्यापकों की कमी होना एक बाधा का काम करती है।

शिक्षा की गुणवत्ता पर प्रश्न उठाते हुए एक रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यार्थी जो प्राइमरी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं वे विद्यार्थी सही से बोलना, लिखना और पढ़ना भी नहीं जानते हैं, ऐसी स्थिति में शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता बनाए रखना एक बहुत बड़ी चुनौती है। इसी के साथ शहरी क्षेत्र में पढ़ रहे बच्चों के पास अपनी पढ़ाई के साथ–साथ कई ऐसे विकल्प उपलब्ध होते हैं, जिनमें वह विशेष रुचि रखते हैं तथा अलग–अलग प्रकार की चीजों को सीखते हैं, जैसे– गीत–संगीत, खेलकूद आदि से संबंधित गतिविधियां। दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थी इन सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्र के लोगों में जागरूकता की कमी

शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा में जो भिन्नता पाई जाती है, उसका एक कारण ग्रामीण क्षेत्र के लोगों में जागरूकता की कमी भी देखी गई है। जबकि यह स्थिति शहरी इलाकों के विद्यालयों में देखने को नहीं मिलती है। शहरी क्षेत्रों में अधिकांश माता–पिता स्वयं विद्यालय में अध्यापकों व प्रशासकों के साथ मिलकर छात्रों के भविष्य को लेकर चिंतन, मनन करते हैं, वहीं ग्रामीण क्षेत्र में छात्र की शिक्षा को उसके रोजगार के साथ जोड़कर देखा जाता है और उसे घर तथा खेत खलियान में अपने मां–बाप की मदद के लिए भी तैयार रहना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों में शिक्षा के प्रति रुचि में कमी का एक कारण लोगों का कम पढ़ा–लिखा होना भी है।

जाति और धर्म के आधार पर भिन्नता

कई ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी लोगों में धर्म , जाति तथा सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव देखने को मिलता है, जिसके कारण भी कुछ लोग शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं। वहीं दूसरी ओर शहरी इलाकों में इस प्रकार के भेदभाव कम देखने को मिलते हैं जिससे कि लोगों में व्यक्तिगत विकास की प्रेरणा बनी रहती है।

उपर्युक्त चर्चा में लाए गए बिंदुओं के आधार पर निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण और शहरी इलाकों की विषमताओं से निपटने के लिए शिक्षा के ढांचे को ग्रामीण क्षेत्रों में और अधिक मजबूत करने की आवश्यकता है। जिसमें ग्रामीण इलाकों में उच्च गुणवत्ता के शैक्षिक संस्थान, पर्याप्त सुविधाएं तथा साक्षरता दर बढ़ाने के लिए प्रौढ़ केंद्रों की उपलब्धता एवं गुणवत्ता को बढ़ाना आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के लिए जाति, धर्म तथा संप्रदाय की राजनीति से ऊपर उठकर काम करने की आवश्यकता है क्योंकि भारत की अर्थव्यवस्था में ग्रामीण क्षेत्रों की अहम भूमिका होती है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारतीय समाज में किस प्रकार की विविधता देखने को मिलती है?

   (क) लिंग के आधार पर (ख) क्षेत्र के आधार पर

   (ग) धर्म व जाति के आधार पर (घ) उपर्युक्त सभी

4. 2011 की जनगणना के अनुसार, पुरुष तथा महिला साक्षरता में अंतर प्रतिशत लगभग है–

   (क) 12 (ख) 11

   (ग) 7 (घ) 9

4.4 शिक्षा और आधुनिकीकरण

आधुनिक युग विज्ञान तथा तकनीकी का युग है। इस समाज में जो वैज्ञानिक खोजें, अविष्कार, शोध के परिणामस्वरूप जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं उनसे मानव के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में बहुत बदलाव आया है। इसके अतिरिक्त कृषि, उद्योग, व्यापार, संचार, चिकित्सा, शिक्षा आदि क्षेत्र भी प्रभावित हुए हैं। इस परिवर्तन, बदलाव, प्रगति व विकास को स्पष्ट करने में विशेषज्ञों ने आधुनिकीकरण जैसी अवधारणा का प्रयोग किया है। सामान्यतः आधुनिकीकरण की अवधारणा का प्रयोग समाज में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी देशों में आए परिवर्तनों या विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों को समझने में किया गया है। कुछ विद्वानों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया तो कुछ ने इसे प्रतिफल के रूप में स्वीकार किया है।

आधुनिकीकरण की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने आधुनिकीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया है–

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964–66) के प्रतिवेदन के अनुसार– "किसी राष्ट्र के आधुनिकीकरण से तात्पर्य विज्ञान एवं तकनीकी के प्रयोग से उस राष्ट्र के आर्थिक विकास करने और जनसाधारण के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने से है।"

मैरियन जे. लेवी के अनुसार, "मेरी आधुनिकता की परिभाषा शक्ति के जड़ स्रोतों और प्रयत्न के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपकरणों पर आधारित है। मैं इन दो तत्वों में से प्रत्येक को सातत्व का आधार मानता हूं।"

डेनियल लर्नर के अनुसार, "आधुनिकीकरण एक पश्चिमी मॉडल है।" उन्होंने अपनी पुस्तक The Passing of a Traditional Society: Modernizing the Middle East में आधुनिकीकरण की निम्न विशेषताएं बताई हैं–

1. बढ़ता हुआ नागरीकरण।
2. बढ़ती हुई साक्षरता।
3. बढ़ती हुई साक्षरता के साधनों, जैसे– समाचार पत्रों, पुस्तकों, रेडियो आदि के प्रयास द्वारा शिक्षित लोगों के अर्थपूर्ण विचार विनिमय में सहभागिता को बढ़ावा।

4. इन सबसे मनुष्य की क्षमता में वृद्धि।
5. राजनीतिक जीवन की विशेषताओं को उन्नत करने में सहायक।

टिप्पणी

आइसेनस्टैड ने अपनी पुस्तक Modernization : Protest and Change (1966) में विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण को निम्न प्रकार व्यक्त किया है–

1. आर्थिक क्षेत्र में– प्रौद्योगिकी का उच्च स्तर।
2. राजनीतिक क्षेत्र में– समूह में शक्ति का प्रसार तथा सभी वयस्कों को शक्ति प्रदान करना (मताधिकार द्वारा) एवं संचार के साधनों द्वारा प्रजातंत्र में भाग लेना।
3. सांस्कृतिक क्षेत्र में– विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि तथा दूसरे लोगों की परिस्थितियों के प्रति सहानुभूति में वृद्धि।
4. संरचना के क्षेत्र में– सभी संगठनों के आकार का बढ़ना, उनमें जटिलता एवं विभेदीकरण की दृष्टि में वृद्धि।
5. परिस्थितिकीय क्षेत्र में– नगरीकरण की वृद्धि।

एम.एन श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक Social Change in Modern India (1963) तथा Modernization : A Few Queries (1969) में आधुनिकीकरण के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। आज आधुनिकीकरण को एक तटस्थ शब्द नहीं मानते। उन्होंने आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशतः 'अच्छाई' से लिया है। उनके अनुसार किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क के कारण किसी गैर पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। इन्होंने आधुनिकीकरण में बढ़ा हुआ नागरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास लिया है।

आधुनिकीकरण के लाभ

आधुनिकीकरण के द्वारा देश को निम्न लाभ हैं–

1. आधुनिकीकरण द्वारा जीवन स्तर में सुधार की संभावनाओं में वृद्धि।
2. देश में उद्योगों में बढ़ोतरी की गति तीव्र।
3. शिक्षा में आधुनिकीकरण के कारण विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा के प्रसार उन्नयन की गति में तीव्रता से वृद्धि।
4. देश में उच्च शिक्षा में शोध को बढ़ावा मिला।
5. देश में प्रबंध तकनीकी के क्षेत्र में नवीन खोजें हुई तथा इनका प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में किया जाने लगा।
6. देश की शिक्षा में साक्षरता के विकास में वृद्धि।
7. देशवासियों की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि।
8. वयस्क को मताधिकार प्राप्त।
9. बालकों में तर्क व चिंतन का विकास।

शिक्षा और आधुनिकीकरण : योगेंद्र सिंह

टिप्पणी

प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह सार्वभौमिक वैधानिक व्यवस्था को पश्चिमीकरण का एक सकारात्मक पहलू मानते हैं। यह कानून व्यवस्था सामाजिक समानता पर बल देती है तथा बुराइयों को समाप्त करती है। भारत में पहला कानून आयोग 1834 में मैकाले के अधीन बना किन्तु इसका प्रयोग 1860 के बाद ही संभव हुआ। मैकाले कानून आयोग ने कई अधिनियम; जैसे– क्रिमिनल अधिनियम 1861, नागरिक अधिनियम 1859, उत्तराधिकार अधिनियम 1865, अनुबन्ध अधिनियम 1872, सम्पत्ति का हस्तांतरण का नियम 1882 आदि बने। विवाह की उम्र संबंधी अधिनियम भी बने। भारतीय संविधान में इस प्रकार के अनेकों अधिनियमों का उल्लेख है। इसके बाद आवश्यकतानुसार इनमें संशोधन किया जाता रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी अंग्रेजों के आने के बाद आमूल परिवर्तन हुआ। आधुनिक शिक्षा सबके लिए सुलभ थी। यह उदारवाद पर आधारित हुई। योगेन्द्र सिंह ने आधुनिक शिक्षा के संबंध में लिखा है– "Modern Education has a fundamentally different orientation and organization, its content is liberal and exoteric, and it is steeped in modern scientific world view. Freedom, equality, humanism and denial of faith in dogmas are the themes which a modern education should contain."

आधुनिक शिक्षा पद्धति मैकाले द्वारा 1835 में लाई गयी तथा आमजन से संबंधित शिक्षा पद्धति सर चार्ल्स वुड्स (Sir Charles Woods) द्वारा 1854 में आई। 1882 में निजी शिक्षण संस्थाओं द्वारा शिक्षा देने संबंधी नियम बनाये गये। प्राथमिक शिक्षा क्षेत्रीय भाषा पर आधारित थी जबकि उच्च शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम संबंधी नियम बनाये गये। प्राथमिक शिक्षा क्षेत्रीय भाषा पर आधारित थी जबकि उच्च शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्तरीकरण के कठोर सिद्धांत में लचीलापन लाया गया। योगेंद्र सिंह का मानना है कि परंपरागत शिक्षा और नवीन आधुनिक शिक्षा के मध्य द्वन्द्व की स्थिति रही जिसके कारण समानता, विवेकशीलता, वैज्ञानिकता, व्यावहारिकता जैसी नवीन विचारधाराएं अस्तित्व में आयीं। योगेन्द्र सिंह का मानना है, "आधुनिकीकरण में सभी परंपरागत संस्कृतियां नई पहचानरूपी संचेतना के साथ आगे बढ़ीं।"

अनेक शहरों का विकास इसी काल में हुआ। समाजवाद, दल व्यवस्था तथा मार्क्सवाद इत्यादि का विकास भी हुआ। संचार व्यवस्था में अनेक परिवर्तन आये। यातायात के साधन के रूप में रेल यातायात का विकास अंग्रेजों के काल में हुआ। नये वैज्ञानिक शब्द जैसे इंजेक्शन, मिक्सचर, पेन्सिलीन तथा शासन क्षेत्र में कलक्टर, कोर्ट, जज और बैरिस्टर शब्द भी इसी काल में व्यवहार में आये। संचार व्यवस्था में रेल, स्टेशन, सिग्नल, कृषि क्षेत्र में ट्यूबवैल, इलेक्ट्रीसिटी, ट्रैक्टर, बाईसाइकिल जैसे शब्द ग्रामीण अंचल में बोले जाने लगे। इसी आधार पर योगेन्द्र सिंह का कहना है– "आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया के रूप में परंपरा की तुलना में अधिक लचीला है। इसमें काफी खुलापन भी है।"

अतः कहा जा सकता है कि परंपरा और आधुनिकीकरण प्रक्रियाएं एक–दूसरे की पूरक हैं। आज कोई समाज न तो पूर्ण रूप से परंपरागत है और न ही आधुनिक। भारतीय संदर्भ में कहा जा सकता है कि विवेकशीलता और परंपरा के मध्य बहु आयामी संबंध है।

भारत में आधुनिकीकरण

टिप्पणी

आधुनिकीकरण से तात्पर्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देश–विदेश की अद्यतन वैज्ञानिक खोजों, वैज्ञानिक तकनीकी एवं प्रशासनिक तकनीकी के प्रयोग से उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने और जनसाधारण के जीवन स्तर को उठाने से होता है। हमारा राष्ट्र एक विकासशील राष्ट्र है। वर्तमान समय में देश के प्रत्येक क्षेत्र में संसार के किसी भी देश की अद्यतन वैज्ञानिक खोजों, तकनीकी एवं प्रशासनिक तकनीकी का प्रयोग कर रहे हैं। आधुनिकीकरण के कारण शिक्षा के हर क्षेत्र चाहे वह कृषि हो, चाहे उद्योग हो, चाहे व्यापार हो और चाहे प्रशासन हो, विकास की गति में वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप देश के जीवन स्तर में भी वृद्धि हुई है।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की धीमी गति के कारण

हमारे देश में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ तो अंग्रेजी शासन से हो गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात तेजी भी आई, परंतु तेजी की गति मंद थी। उसके अनेक कारण हैं–

1. छात्रों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का अभाव।
2. विज्ञान, तकनीकी एवं प्रशासन शिक्षा का निम्न स्तर।
3. आर्थिक विपन्नता।
4. प्राकृतिक संसाधनों की कमी।
5. मानव संसाधन का निम्न स्तर।
6. जनसंख्या विस्फोट।
7. निष्ठा एवं ईमानदारी की कमी का होना।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करने के उपाय

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में तेजी लाने के लिए निम्न उपाय किए जा सकते हैं–

1. **अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था**
   - (क) आधुनिकीकरण के लिए प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क की जाए, सभी बच्चे प्रवेश लें एवं टिके रहें।
   - (ख) सभी बच्चे कक्षा 10 तक शिक्षा प्राप्त करें एवं उत्तीर्ण भी हों।
   - (ग) शिक्षा में सामान्य विज्ञान को पाठ्यचर्या में शुरू से ही स्थान दिया जाए।
   - (घ) पाठ्यक्रम स्वाभाविक एवं उपयोगी हो, ऐसी रचना की जाए।
2. **उच्च कोटि की विज्ञान तकनीकी एवं शिक्षा की व्यवस्था**
   - (क) + 2 पर मेधावी छात्रों को विश्वविद्यालीय शिक्षा के लिए तैयार किया जाए।
   - (ख) + 2 उत्तीर्ण करने के बाद पुनः अति मेधावी एवं परिश्रमी छात्रों का चयन किया जाए। उन्हें विश्वविद्यालयी विज्ञान, तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा के

पाठ्यक्रमों में प्रवेश दिया जाए तभी इतनी ही धनराशि से विज्ञान तकनीकी, तकनीशियन व प्रबंधक तैयार कर सकेंगे।

(ग) उच्च शिक्षा में मौलिक शोधों को बढ़ावा दिया जाए।

टिप्पणी

3. **आर्थिक विकास को गति**– आर्थिक विकास के लिए आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण की बहुत आवश्यकता है। ये दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। आर्थिक विकास के लिए उद्योगों के आधुनिकीकरण की बहुत आवश्यकता है क्योंकि उद्योगों के द्वारा वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा जिसके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक विकास होगा।
4. **प्राकृतिक संसाधनों की खोज**– जब देश का आर्थिक विकास होगा तभी देश में आधुनिकीकरण की गति में वृद्धि होगी। इसके लिए देश में प्राकृतिक संसाधनों की खोज करके उनका उपयोग किया जाना चाहिए ताकि देश के जीवन स्तर को सुधारा जा सके।
5. **उच्च कोटि के मानव संसाधन का सृजन**– उच्च कोटि के मानव संसाधन के निर्माण का एकमात्र साधन है– उत्तम श्रेणी की शिक्षा। इसके लिए सर्वप्रथम उच्च स्तर पर विज्ञान तकनीकी और प्रशासन की शिक्षा के स्तर को उठाया जाए, उसे विकसित देशों के स्तर लायक बनाया जाए, दूसरे प्रतिभा पलायन पर अंकुश लगाया जाए। प्रतिभा पलायन को देश में अच्छे अवसर प्रदान करके प्रतिभा पलायन को रोका जा सकता है। यह तभी संभव है जब प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए विशेष वेतन निश्चित किया जाए।
6. **जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण**– हमारे देश में सबसे बड़ी समस्या जनसंख्या में वृद्धि है। इसके लिए जनसंख्या वृद्धि पर रोक या नियंत्रण आवश्यक है, तभी देश में जीवन स्तर में वृद्धि की जा सकती है।
7. **राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण**– हमारे देश में आधुनिकीकरण, आर्थिक विकास और जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा कर्तव्यनिष्ठता और ईमानदारी की कमी है क्योंकि विकास कार्यों के लिए आवंटित धनराशि का सही उपयोग नहीं होता है। अतः आधुनिकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों के चरित्र का निर्माण किया जाए ताकि देश सही हाथों में जाए व देश का विकास किया जाए।

आधुनिकीकरण और शिक्षा

शिक्षा मानव के विचार और व्यवहार में परिवर्तन करने का मुख्य साधन है। भारत में आधुनिकीकरण के लिए दो उपायों की चर्चा की गई है–

1. दस वर्षीय अनिवार्य शिक्षा एवं निःशुल्क सामान्य शिक्षा की व्यवस्था।
2. उच्च कोटि का विज्ञान तकनीकी एवं प्रशासन की शिक्षा की व्यवस्था।

आधुनिकीकरण के उपायों (जैसे– आर्थिक विकास, प्राकृतिक संसाधनों की खोज, मानव संसाधन का निर्माण, जनसंख्या नियंत्रण और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण) की प्राप्ति शिक्षा प्रदान कर ही की जा सकती है।

आधुनिकीकरण में शिक्षा के उद्देश्य

आधुनिकीकरण प्रक्रिया में शिक्षा के निम्न उद्देश्य हैं–

1. बालक के तर्क चिंतन का विकास करना।
2. बालक के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना।
3. बालक में नेतृत्व गुणों का विकास करना।
4. नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना।
5. बालक की बौद्धिक क्षमताओं का विकास करना।
6. बालकों में नागरिकता का विकास करना।
7. बालकों में सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन देना।
8. बालकों में राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीयता की भावना विकसित करना।

टिप्पणी

आधुनिकीकरण हेतु पाठ्यक्रम

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम में निम्न विषयों तथा क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए–

1. पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों की प्रमुखता होनी चाहिए।
2. पाठ्यक्रम में कम्प्यूटर की शिक्षा अनिवार्य की जाए।
3. अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के कारण अंग्रेजी को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिए।
4. पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि आधुनिकीकरण को बढ़ावा मिल सके।
5. पाठ्यक्रम में कार्य अनुभव को महत्व दिया जाए ताकि श्रम के प्रति व्यक्ति की निष्ठा बनी रहे।
6. पाठ्यक्रम में समाजोपयोगी उत्पादक कार्य तथा रचनात्मकता और सृजनात्मकता को प्रोत्साहित करने वाले विषयों को स्थान दिया जाए।
7. पाठ्यक्रम में नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा तथा मानव मूल्यों की शिक्षा का प्रावधान हो।
8. पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य शिक्षा तथा समाज सेवा कार्यक्रमों को स्थान मिले।
9. आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान करने के लिए स्त्री शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा, पर्यावरण शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा आदि को स्थान मिले।
10. विस्तार, भाषण, शिविर, प्रतियोगिताएं, प्रदर्शनियों, संग्रहालय, विज्ञान क्लब, पुस्तकालय, वाचनालय आदि को भी पाठ्यक्रम में शामिल किया जाए।

आधुनिकीकरण में शिक्षण विधियां

आधुनिकीकरण को ध्यान में रखते हुए परंपरागत विधियों के स्थान पर वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। जैसे– योजना विधि, समस्या समाधान विधि, प्रदर्शनी विधि, ह्यूरिस्टिक विधि, निरीक्षण विधि, प्रयोग एंव भाषण

विधि का प्रयोग किया जाए। इसके अतिरिक्त दृश्य–श्रव्य सामग्री का प्रयोग शिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाना चाहिए।

टिप्पणी

आधुनिकीकरण में विद्यालय की व्यवस्था

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विद्यालय का वातावरण भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिए विद्यालय का वातावरण–

1. प्रजातांत्रिक होना चाहिए ताकि प्रत्येक बालक को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अधिकाधिक अवसर उपलब्ध हो सके।
2. बालकों में नेतृत्व क्षमता के विकास में भी विद्यालय महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अतः विद्यालय में ऐसे कार्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि उनमें नेतृत्व क्षमता का विकास हो सके।
3. विद्यालय में पाठ्य सहगामी क्रियाओं की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए और बालकों को उनमें भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।
4. विद्यालय के आधुनिकीकरण के लिए भवन, फर्नीचर, भौतिक सुविधाएं, पुस्तकालय, वाचनालय, क्रीड़ास्थल, प्रयोगशालाओं आदि की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए।
5. विद्यालय का वातावरण श्रेष्ठ होना चाहिए।
6. बालकों को शिक्षकों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

आधुनिकीकरण में शिक्षक की भूमिका

शिक्षा में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। इस संबंध में दुबे के अनुसार, 'शिक्षा एक यंत्र है और यंत्र अंततः उस व्यक्ति पर अवलंबित होता है जो उसे चलाता है। शिक्षा की आधुनिकीकरण के साधन के रूप में कितनी कार्यक्षमता हो सकती है, इसका दारोमदार उसके अभिविन्यास, विषय वस्तु तथा अन्य व्यक्तियों पर है, जो उसे देते तथा प्राप्त करते हैं।' एक अच्छा शिक्षक अपने ज्ञान, अनुभव, शिक्षण विधि तथा व्यवहार से बालकों को अच्छा ज्ञान दे सकता है और बालकों के दृष्टिकोण का विकास कर सकता है। अतः शिक्षा में आधुनिकीकरण की तीव्रता लाने के लिए उसमें निम्न विशेषताएं होनी चाहिए–

1. शिक्षक को अपने विषय का पूर्ण और अन्य विषयों तथा क्षेत्रों का विस्तृत ज्ञान होना चाहिए।
2. शिक्षक को अपनी नवीनतम शैक्षिक प्रौद्योगिकी का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और शिक्षक को इनका प्रयोग अपने शिक्षण में करना चाहिए।
3. शिक्षक को शिक्षण कार्यों में रुचि होनी चाहिए और उसे इस पद के महत्व, उसकी गरिमा तथा उसके कार्यों से पूर्ण परिचित होना चाहिए।
4. शिक्षक को बालकों को बताना चाहिए कि प्रतियोगिता के युग में यदि हम उन्नति करना चाहते हैं, दुनिया के दूसरे देशों के साथ कदम मिलाकर चलना चाहते हैं तो हमें देश का आधुनिकीकरण करना चाहिए।
5. शिक्षक को अपने छात्रों में सकारात्मक, निर्णयात्मक और यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए।

टिप्पणी

6. शिक्षा में आधुनिकीकरण के लिए छात्रों में पढ़ने की रुचि जागृत करनी चाहिए। पाठ्यक्रम की पुस्तकों के अतिरिक्त समाचार पत्र और ज्ञानवर्द्धक पत्रिकाएं पढ़ने तथा रेडियो, टेलीविजन आदि पर ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त होने वाली जानकारियों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।
7. शिक्षक को विद्यालय में विभिन्न पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था करनी चाहिए तथा उनमें भाग लेने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करना चाहिए।
8. शिक्षक को अपने छात्रों के समक्ष आदर्श बनना चाहिए और उसे एक मार्गदर्शक की भूमिका निभानी चाहिए।
9. शिक्षक को अपने छात्रों में सकारात्मक, निर्माणात्मक और यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

5. "आधुनिकीकरण एक पश्चिमी मॉडल है।"– यह किसका कथन है?
   (क) मैरियन जे. लेवी (ख) डेनियल लर्नर
   (ग) आइसेनस्टैड (घ) एम.एन. श्रीनिवास
6. आधुनिकीकरण में शिक्षा का क्या उद्देश्य है?
   (क) बच्चों के नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना
   (ख) बच्चों में नेतृत्व गुणों का विकास करना
   (ग) बच्चों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना
   (घ) उपर्युक्त सभी

4.5 शिक्षा में समता और समानता : सकारात्मक भेदभाव और आरक्षण

इक्विटी शब्द सामाजिक न्याय की अवधारणा से निकला है जिसका अर्थ है समता। यह एक धारणा है, जिसके अंतर्गत कुछ चीजें हैं जो लोगों में होने का प्रतिनिधित्व करती है। सभी को बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का हक मिलना चाहिए, ताकि सभी को समान पुरस्कार व कार्यभार प्राप्त हो सके। किसी को भी विभिन्नता के आधार पर कार्य भार नहीं प्रदान किया जाना चाहिए। इस नीति का प्रयोग निष्पक्षता और लक्ष्यों की दिशा में न्याय निर्देशित करने के लिए किया जाना चाहिए।

शिक्षा में समानता को समता से पृथक नहीं देखा जा सकता। अन्य शब्दों में– समानता के बिना समता सार्थक नहीं हो सकती। ये परस्पर अत्यधिक निकटता से सम्बद्ध हैं। समता के बिना समानता की चर्चा ही नहीं की जा सकती। इसीलिए इन दोनों शब्दों का उल्लेख साथ में किया जाना आवश्यक है। यहां यह जोर देना है कि इन दो शब्दों का प्रयोग संवैधानिक ढांचे के अनुरूप करना होगा।

टिप्पणी

समता का संकीर्ण अर्थ

संकीर्ण अर्थ में समता या इक्विटी का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति की आय व पर्यावरण की गुणवत्ता का एक न्यूनतम स्तर प्रदान करना है। हर समुदाय की संसाधनों एवं अवसरों की पहुंच बराबर होनी चाहिए। व्यक्ति या लोगों के समूहों को सरकार के कार्यों का परिणाम के रूप में समुदाय के अन्य लोगों की तुलना में एक से अधिक पर्यावरण के बोझ को ले जाने के लिए कहा जाना चाहिए। इक्विटी के लिए किसी के लिए भी लाभ या हानि की समानता होनी चाहिए, ताकि सभी की गुणवत्ता व जीवन स्तर में बराबरी की जा सके।

इक्विटी की अवधारणा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देखा गया है। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में कहा गया है कि इक्विटी (जन्मजात) गौरव व मानव परिवार के सभी सदस्यों के बराबर है, तथा दुनिया में अधिकारों की मान्यता स्वतंत्रता की नींव और शांति है।

एक अवधारणा के रूप में इक्विटी मानव के सतत् विकास की एक मौलिक धारणा है जो भविष्य, पीढ़ियों की क्षमता, अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करती है। सतत् विकास की ब्रंटलैण्ड आयोग की परिभाषा अंतरपीढ़ी (Inter generational) इक्विटी पर आधारित है। उनके अनुसार, ''गरीबी केवल अपने आपमें एक बुराई है, लेकिन सतत् विकास के लिए सभी की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने और सभी को समान अवसर के लिए तथा एक बेहतर जीवन के लिए उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने की आवश्यकता है। देश के लिए आर्थिक विकास के युग की आवश्यकता है। देश में बहुत गरीबी है अतः उसके लिए विकास को बनाए रखने के लिए संसाधनों को बराबरी से बांटने की जरूरत है।"

इक्विटी का शाब्दिक अर्थ– अमेरिकन लाइब्रेरी के अनुसार– इक्विटी फ्रांसीसी भाषा का शब्द है जिसका लैटिन भाषा से सीधा संबंध है, जिसका अर्थ है बराबर। शिक्षा के क्षेत्र में यह शैक्षणिक परिणामों की इक्विटी में सुधार के लिए आता है।

इक्विटी में यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि शैक्षणिक परिणामों में मतभेद, धन आय, बिजली या सम्पत्ति में मतभेद का परिणाम नहीं है।

इक्विटी की विशेषताएं

1. इक्विटी में शिक्षा के परिणामों के लिए सभी को समान सुविधाएं व समान अवसर प्रदान किए जाएं।
2. सभी के लिए शिक्षा के पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाएं।
3. विभिन्न सामाजिक समूहों में छात्रों को समान परिणाम प्राप्त हों।
4. शिक्षा के क्षेत्र में अवसर की समानता प्रदान की जानी चाहिए।

शिक्षा में समता व समानता का आशय

समता का आशय है कि विधि के समक्ष प्रत्येक नागरिक अन्य नागरिकों के समान है। इसी कारण समता का महत्व यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मजात योग्यताएं व प्रतिभाएं विकसित करने का समान अवसर प्राप्त हो। किसी व्यक्ति को 'सीढ़ी पर

ऊपर चढ़ने' से न रोका जाए (यदि ऊपर चढ़ने की योग्यता उसमें न हो तो अलग बात है)। लोकतंत्र में व्यक्तियों/समूहों में किसी भी आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए, वहां के समस्त नागरिकों को परस्पर समान अधिकार प्राप्त हों। इसका तात्पर्य हुआ–

टिप्पणी

- राज्य को नस्ल, सम्प्रदाय, जाति, लिंग, जन्मस्थली इत्यादि के आधार पर नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं करना है।
- विधि के समक्ष प्रत्येक को अन्यों के समकक्ष समझा जाए।
- अस्पृश्यता को पूर्ण निर्मूलित किया जाए।
- मौलिक अधिकारों, निर्वाचन में उतरने इत्यादि के संदर्भ में सब समान हों।
- प्रत्येक सम्प्रदाय को अन्य प्रत्येक सम्प्रदाय के समतुल्य माना जाए।
- साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से प्रत्येक नागरिक अपने सम्प्रदाय का अनुकरण कर पाए।

अब भी जो पिछड़े हैं उन्हें अन्य के समतुल्य स्तर पर उठाया जाए ताकि विषमता की खाई को पाटा जा सके एवं अविकसितों को विकसितों के समकक्ष विकसित किया जा सके। इस प्रयोजन से इन्हें विशेष सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए– अनुसूचित जनजातियां, अनुसूचित जातियां, पिछड़े वर्ग एवं नारियां व बच्चे।

इस प्रकार अधिकारों व अवसरों के दृष्टिकोण से समस्त व्यक्तियों संग समान व्यवहार किए जाने को समता कहते हैं। इसका तात्पर्य यह भी है कि किसी भी व्यक्ति को उसके अधिकार से वंचित न रखा जाना समता है। समता के अधिकार की व्यवस्था हमारे भारतीय संविधान में की गई है परंतु विशेष रियायतें (सुविधाएं) अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों, पिछड़ी जातियों व वर्गों सहित स्त्रियों तथा बच्चों के लिए प्रदान की गई हैं।

समानता का तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति पक्षपात व पूर्वाग्रहयुक्त व्यवहार से स्वाधीनता प्राप्त हो। समदर्शिता को समानता में लागू किया जाता है क्योंकि समानता के बिना समता सम्भव नहीं। समानता तो समता की अनुपूरक/सम्पूरक है। इसका आशय यह हुआ कि उन सबको समान अंश विधिवत् उपलब्ध कराया जाए जो किसी न किसी कारणवश वंचित रहे हैं अथवा ऐसी स्थिति में नहीं रहे हैं कि उन सुविधाओं से लाभान्वित हो पाएं जिनसे उन्हें विकसित जनों के समकक्ष लाया जा सकता है।

शिक्षा एवं भारतीय संविधान में समता एवं समानता या निष्पक्षता

भारतीय संविधान में समता के अधिकार को 'मौलिक अधिकार' के रूप में चिह्नित किया गया है।

विधि के समक्ष समता– अनुच्छेद 14 के अंतर्गत विधि के समक्ष समता अथवा विधियों की समतापूर्ण सुरक्षा का आश्वासन सबको दिया गया है। इसमें घोषित किया गया है– "राज्य द्वारा विधि के समक्ष किसी व्यक्ति की समता अथवा विधियों की समान सुरक्षा को नकारा नहीं जाएगा"।

भेदभाव नहीं– अनुच्छेद 15 में किन्हीं आधारों पर भेदभाव निषिद्ध किया गया है। सम्प्रदाय, नस्ल, जाति, लिंग अथवा जन्मस्थली के आधार पर किसी नागरिक से भेदभाव

टिप्पणी

किए जाने का निषेध है। इस अनुच्छेद में सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने का समान अधिकार भी सौंपा गया है।

अवसरों की समता– अनुच्छेद 16 में सार्वजनिक रोजगार के प्रसंगों में अवसर की समता के प्रति आश्वस्त किया गया है। इसमें घोषित किया गया है– "किसी भी नागरिक के सम्प्रदाय, नस्ल, जाति, भाषा इत्यादि के आधार पर उसे राज द्वारा संचालित किसी शैक्षणिक संस्थान में प्रवेश से रोका नहीं जाएगा, न ही इन आधारों पर राज्य–निधियां प्राप्त करने से दूर रखा जाएगा।"

अनुच्छेद 15 व 29– अनुच्छेद 15 में कहा गया है– "न तो इस अनुच्छेद में, न ही अनुच्छेद 29 की धारा(2) में राज्य को इससे रोका गया है कि यह नागरिकों के सामाजिकतया व शैक्षणिकतया पिछड़े वर्ग अथवा अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों की प्रोन्नति के लिए विशेष प्रावधान करे।"

अनुच्छेद 15(3) को इस प्रकार पढ़ते हैं– "इस अनुच्छेद में ऐसा कुछ नहीं है कि जिसमें राज्य को नारियों व बच्चों के लिए विशेष प्रावधान लाने से रोका जाएगा"। यह प्रावधान बालिकाओं के लिए पृथक संस्थानों के लिए किया गया था।

अस्पृश्यता का त्याग– अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता को निर्मूलित कर दिया गया है व किसी रूप में इसे रखा जाना निषिद्ध है।

मुक्त संस्थान का अधिकार : अनुच्छेद 30 में सब वर्गों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि ये अपनी स्वयं की इच्छा से संस्थान खोल सकते हैं। इस अनुच्छेद में कहा गया है–

- "सम्प्रदाय व भाषा चाहे जो भी हो समस्त अल्पसंख्यकों को यह अधिकार है कि ये अपनी स्वयं की रुचि अनुरूप शैक्षणिक संस्थानों को स्थापित व संचालित कर सकेंगे";
- "राज्यों द्वारा सहायतानुदान के संदर्भ में किसी शैक्षणिक संस्थान से भेदभाव इस आधार पर नहीं किया जाएगा कि वह अल्पसंख्यक के प्रबंधनाधीन है फिर चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा भाषा का क्यों न हो।"

दुर्बल तबकों के लिए विशेष सुविधाएं – अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों व अन्य पिछड़े वर्गों एवं स्त्रियों के लिए विशेष सुविधाएं उपलब्ध कराई जाने की अनुशंसा की गई है। आरक्षण की सुविधा अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों व अन्य पिछड़े वर्गों को प्रदान की गई है।

अनुच्छेद 46 में लिखा गया है – "राज्य द्वारा जनता के दुर्बल तबकों के शैक्षणिक व आर्थिक हितों की विशेष देखरेख को बढ़ावा दिया जाना होगा, विशेषतः अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के तथा इन्हें सामाजिक अन्याय से एवं उत्पीड़न के समस्त रूपों से बचाना होगा।"

विकलांग बच्चे जनता का दुर्बल तबका है। इस प्रकार इनकी शिक्षा व आर्थिक उन्नयन संविधान के अनुच्छेद 46 के अंतर्गत शासन का उत्तरदायित्व बन गया है।

इस रीति में शिक्षा में समता व समानता प्रदान करने की दिशा में कार्य किया गया है ताकि कोई व्यक्ति शिक्षा के अधिकार से वंचित न रह जाए। भारतीय संविधान के

टिप्पणी

उपर्युक्त विभिन्न प्रावधानों में सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान भारतीय सामाजिक ढांचे में किसी व्यक्ति के सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, लिंग इत्यादि के आधार पर उससे भेदभाव नहीं किया गया है वरन् लोकतंत्र में ऐसा प्रयास किया जाता है कि प्रत्येक दृष्टिकोण से समता स्थापित की जाए व प्रदर्शित किया जाता है कि व्यक्तिगत समता के लोकतांत्रिक सिद्धांत के लिए सम्भावित सम्मान अधिकतम किया जाए। संक्षिप्ततया ऐसा कहा जा सकता है कि वर्तमान भारतीय सामाजिक ढांचे में–

- विधि के समक्ष सब व्यक्ति समान हैं।
- सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, लिंग अथवा जन्मस्थली के आधार पर नागरिकों के मध्य भेदभाव नहीं किया जाएगा।
- सार्वजनिक रोजगार के प्रसंग में अवसरों की समता है।
- सर्वसाधारण आचार–संहिता लागू करने का प्रयास करते हुए समता को स्थापित किया जा चुका है।
- अस्पृश्यता इत्यादि निर्मूलित करते हुए समता की स्थापना की जा चुकी है।
- अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों व अन्य पिछड़े वर्गों एवं स्त्रियों को विशेष सुविधाएं उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है।
- 6 से 14 वर्षायु के समस्त बच्चों के लिए निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करते हुए इस आयु–समूह के बच्चों संग समतापूर्ण व्यवहार किया गया है।
- साम्प्रदायिक, राजकीय व सामाजिक समता उपलब्ध है।
- शिक्षा पाने के समान अवसर सभी व्यक्तियों को प्रदान किए गए हैं। शिक्षा के द्वार सबके लिए खुले हैं।

शिक्षा में समता व समानता की आवश्यकता एवं महत्व

शिक्षा में समता व समानता की आवश्यकता को उजागर करते बिंदु निम्नानुसार हैं–

मानवाधिकार– शिक्षा को सार्वभौमिक मानवाधिकार माना गया है। समता व पर्याप्त अवसर के विचार को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में उजागर किया गया है जिसे कि यूनाइटेड नेशन्स की महासभा में 10 दिसम्बर, 1948 को अपनाया गया था। इसके परिणामस्वरूप 'भेदभावमुक्तता' व 'शिक्षा का अधिकार' के सिद्धांतों का प्रबल समर्थन किया गया था। ये दो सिद्धांत 'शिक्षा में अवसर की समता' की अवधारणा में निहित हैं। इसीलिए सम्प्रदाय, नस्ल अथवा वर्ग के आधार पर किसी व्यक्ति को शिक्षा से दूर रखा जाना मानवाधिकार का उल्लंघन कहलाएगा।

लोकतंत्र हेतु आवश्यक– भारत एक लोकतांत्रिक देश है। लोकतंत्र अपने समस्त सदस्यों की समान स्वाधीनता व समान अधिकारों के सिद्धांत पर आधारित होता है, फिर चाहे उनकी नस्ल, सम्प्रदाय, लिंग, वृत्ति अथवा आर्थिक स्थिति जैसी भी हो। स्वाधीनता, बंधुत्व व न्याय के माध्यम से लोकतंत्र को चरितार्थ किया जा सकता है।

लोकतांत्रिक समाज में समान अधिकार व अवसरों की समता प्रदान की जाती है। इसी कारण शिक्षा में समता व समानता आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से सबको शिक्षित करते हुए लोकतांत्रिक संस्थानों की सफलता सुनिश्चित की जा सकती है।

टिप्पणी

समतावादी समाज– शिक्षा में समानता व समता एक समतापूर्ण समाज की स्थापना के लिए आवश्यक हैं, ऐसा समाज जिसमें समानता व सामाजिक न्याय को रिवाजों जैसा बना दिया गया हो।

आर्थिक विकास– शिक्षा में समता व समानता राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हैं। आर्थिक विकास में वांछित सफलता को नहीं पाया जा सकता यदि शिक्षा में समता व समानता उपलब्ध न कराई गई हो तो।

राष्ट्र की प्रोन्नति– शिक्षा में समता व समानता से राष्ट्र की द्रुत प्रोन्नति को सुनिश्चित किया जा सकता है। शिक्षा अब एक निवेश है। व्यक्तियों को यदि शिक्षा में समान अवसर अनुभव हों तो उन्हें अपनी सहज प्रतिभाओं को विकसित करने की सम्भावना निखारने का अवसर सुलभ हो जाएगा व इस प्रकार समाज समुन्नत होता जाएगा।

प्रतिभाओं की खोज– शिक्षा में समता व समानता से राष्ट्र के समस्त निवासियों में प्रतिभा की खोज प्रेरित होगी। इस प्रकार बृहत् संख्या में विशेषज्ञीय नौकरियों के लिए विशेषज्ञता प्राप्त प्रतिभाओं से सम्पन्न लोग उपलब्ध हो जाएंगे तथा समाज को लाभ पहुंचेगा।

निकट सम्पर्क– शिक्षा में समता व समानता से समाज की अन्य आवश्यकताओं के मध्य निकट का सम्पर्क विकसित होगा एवं कुशल कर्मचारियों की उपलब्धता होगी।

समाज का समाजीकरण प्रारूप– शिक्षा में समता व समानता से समाज के समाजीकरण प्रारूप की स्थापना की प्रक्रिया में एक शांत क्रांति लाने में सहायता हो सकती है।

आधुनिकीकरण– सामाजिक, आर्थिक, राजकीय व शैक्षणिक क्षेत्रों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तेज करने में शिक्षा में समता व समानता आवश्यक है।

शिक्षा में समता व समानता कैसे लाएं?

शिक्षा में समता व समानता लाने के लिए निम्नांकित रीतियों व साधनों का प्रयोग किया जा सकता है–

बर्बादी व ठहराव से बचाव : प्राथमिक स्तर पर अत्यधिक बर्बादी व ठहराव को देखा गया है। अनिवार्य व सार्वभौमिक शिक्षा के संवैधानिक निर्देश को तब तक साकार नहीं किया जा सकता जब तक कि बर्बादी व ठहराव की समस्या का सम्पूर्ण समाधान नहीं कर लिया जाता। बर्बादी व ठहराव के कारणों को ढूंढ–ढूंढकर निष्कासित करना है। बर्बादी व ठहराव को घटाने के कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं–

- वित्तीय सहायता उपलब्ध करानी होगी;
- पालकों को शिक्षित किया जाना होगा;
- अंश–कालिक शिक्षा प्रदान करनी होगी;
- बालिका–शिक्षा के प्रति उदासीनता जैसी सामाजिक रूढ़ियों व बालक–बालिका सहशिक्षा की ओर संकीर्ण दृष्टिकोण का बहिष्कार करना होगा;

टिप्पणी

- शालाओं की दूरी घटानी होगी;
- अधिकाधिक संख्या में शालाएं खोली जानी होंगी;
- शालेय परिवेश का उन्नयन करना होगा;
- पाठ्यचर्या का उन्नयन करना होगा। इसे बाल–उन्मुख, क्रियाशीलता–केंद्रित, अनुभव–आधारित, जीवन–केंद्रित व समुदाय–अभिमुख करना होगा;
- अध्यापन की सुरुचिपूर्ण युक्तियों का समावेश करना होगा;
- समाज के वंचित व पिछड़े तबकों के बच्चों के लिए शिक्षा–सुविधाओं को बढ़ाना होगा;
- अनौपचारिक शिक्षा प्रदान करनी होगी।

सकारात्मक भेदभाव और आरक्षण

सकारात्मक भेदभाव इस धारणा पर आधारित है कि कानून द्वारा औपचारिक समानता स्थापित करना ही पर्याप्त नहीं है। जब हम उन असमानताओं को समाप्त करना चाहते हैं जो गहराई तक अपनी पैठ बना चुकी हैं, तब सामाजिक असमानताओं के संस्थापित रूपों को कम और दूर करने की दिशा में ज्यादा सकारात्मक कदम उठाना अनिवार्य हो जाता है। सकारात्मक भेदभाव की अधिकांश नीतियां इस तरह तैयार की गई हैं ताकि वे पिछली असमानताओं के संचयी प्रभाव को ठीक कर सकें। सकारात्मक भेदभाव सुविधावंचित समुदायों के लिए छात्रवृत्तियां और छात्रावास जैसी सुविधाओं पर अधिमानी व्यय से लेकर शैक्षिक संस्थानों और नौकरियों में प्रवेश के लिए विशेष विचार तक कई रूपों में हो सकता है। हमारे देश में हमने शिक्षा और नौकरियों में आरक्षण या आरक्षित सीटों की नीति अपनाई है ताकि वंचित समूहों को समानता का अवसर प्रदान कर सकें और यह अत्यधिक चर्चा तथा असहमति का विषय रहा है। कुछ समूह अपवर्तन और पृथक्करण के रूप में सामाजिक पूर्वाग्रह व भेदभाव का शिकार बने हैं, इस तथ्य को आधार बनाकर इस नीति का बचाव किया जाता है। जिन समुदायों ने विगत जीवन में कष्ट भोगे और समान अवसरों से जिन्हें वंचित रखा गया, उनसे तत्काल यह आशा नहीं की जा सकती कि, वे दूसरों के साथ समान शर्तों पर प्रतियोगिता करें। इसलिए समतावादी और न्यायसंगत समाज का सृजन करने के लिए उन्हें विशेष सुरक्षा और सहायता दिए जाने की आवश्यकता है। सकारात्मक भेदभाव के रूप में विशेष सहायता को एक अस्थायी या समयबद्ध उपाय माना जा सकता है। इससे यह माना जाता है कि विशेष ध्यान से ये समुदाय विद्यमान अहितों पर काबू पा सकेंगे और फिर समान शर्तों पर दूसरों के साथ स्पर्धा कर सकेंगे।

यद्यपि सकारात्मक भेदभाव की नीतियां समाज को ज्यादा से ज्यादा समान बनाने की समर्थक रही फिर भी कई सिद्धांतवादी उनके विरुद्ध तर्क–वितर्क करते हैं। वे यह प्रश्न उठाते हैं कि, लोगों के साथ अलग ढंग से व्यवहार करके क्या समानता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है? सकारात्मक भेदभाव के समीक्षक विशेष रूप से आरक्षण की नीतियों के आलोचक, ऐसी नीतियों के विरुद्ध तर्क–वितर्क करने के लिए समानता के सिद्धांत का सहारा लेते हैं। उनका मानना है कि उच्च शिक्षा में प्रवेश या नौकरियों से वंचित लोगों के लिए आरक्षण का प्रावधान अनुचित है क्योंकि यह मनमाने

टिप्पणी

ढंग से समाज के अन्य वर्गों को उनके समान बर्ताव के अधिकारों से वंचित करता है। उनका कहना है कि आरक्षण विपरीत भेदभाव का रूप है।

समानता के लिए सभी व्यक्तियों के मध्य एक सा व्यवहार करना अपेक्षित है और जब हम व्यक्तियों के मध्य उनकी जाति या रंग के आधार पर भेदभाव करते हैं तो ऐसे ये हम जाति और प्रजाति पूर्वाग्रहों को सुदृढ़ करते हैं। इन सिद्धांतवादियों के लिए समाज को विभाजित करने वाले सामाजिक विभेदों को दूर करना महत्वपूर्ण कार्य है। इस चर्चा के संदर्भ में, राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत और व्यक्तियों के समान अधिकारों के रूप में समानता के मध्य विभेद करना संगत है। व्यक्तियों को शैक्षिक संस्थानों और 35 संविधान की आधारभूत विशेषताएं एवं शिक्षा के प्रावधान सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार में प्रवेश के लिए समान रूप से विचार किए जाने का अधिकार प्राप्त है। कभी–कभी सीमित सीटों या नौकरियों के लिए स्पर्धा में वंचित स्तर के लोगों को नुकसान उठाना पड़ सकता है। उस प्रथम पीढ़ी के विद्यार्थी जिनके माता–पिता व पूर्वज अशिक्षित थे, उनकी जरूरतें और परिस्थितियां शिक्षित परिवारों में जन्मे लोगों से नितांत भिन्न होती हैं। अपवर्जित समूहों के सदस्यों के लिए चाहे वे दलित हों, महिलाएं या कोई अन्य हों, राज्य को ऐसी सामाजिक नीतियां निर्मित करनी चाहिए जो ऐसे लोगों को बराबरी का दर्जा देने में और एक–दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करने का निष्पक्ष अवसर दें।

शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल के क्षेत्रों में, भारत ने सुविधावंचित आबादी के लिए उतना नहीं किया जितना उनके लिए किया जाना जरूरी था या जिसके वे हकदार हैं। विद्यालयी शिक्षा की असमानताएं सुस्पष्ट हैं। ग्रामीण क्षेत्रों या शहरी बस्ती के कई निर्धन बच्चों को विद्यालयों में लाने का अवसर ही नहीं मिलता। उन्हें यदि अवसर मिल भी जाता है तो उन्हें विद्यालयों में सर्वोत्कृष्ट कई विद्यालयों की तुलना में सुविधाएं बहुत ही कम उपलब्ध होती हैं। बच्चे जिन असमानताओं के साथ विद्यालय में प्रवेश लेते हैं, वे असमानताएं उनकी शैक्षिक योग्यताओं को सुधारने या अच्छा रोजगार प्राप्त करने के अवसरों में बाधक होती हैं। उन्हें उत्कृष्ट व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश प्राप्त करने में कई दिक्कतें आती हैं क्योंकि, उनके पास विशेष कोचिंग की फीस अदा करने के लिए पैसे या साधन नहीं होते हैं। इन व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के शुल्क भी अत्यधिक होते हैं। परिणामस्वरूप वे निर्धन बच्चे, ज्यादा सुविधा प्राप्त वर्गों के बच्चों के साथ समान शर्तों पर प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।

इनमें से कई बच्चे उच्च श्रेणियों में प्राथमिक विद्यालय मध्य में ही छोड़ देते हैं और माध्यमिक शिक्षा तक आगे नहीं जाते हैं। शिक्षा का खराब गुणवत्तापूर्ण स्तर एक अन्य महत्वपूर्ण कारक है जिससे प्रतिधारण कम हो जाता है। विद्यालयों में पर्याप्त साधन और सामग्रियां उपलब्ध नहीं होते। विद्यालयों की हालत खराब होती है, वहां अध्यापकों और आधारभूत संरचना का अभाव अमैत्रीपूर्ण है। विद्यालय का परिवेश अमैत्रीपूर्ण एवं सुविधावंचित विद्यार्थियों के साथ भेदभाव होता है।

हमें यह समझना होगा कि मात्र शिक्षा तक पहुंच शिक्षा में साक्ष्य सुनिश्चित नहीं करती, बल्कि प्रतिधारण और समापन भी उतना ही महत्व रखते हैं। अनुसूजित जातियों के विद्यार्थियों का विद्यालयों में नामांकन दर और विद्यालय छोड़ने की दर सामान्य

विद्यार्थियों की तुलना में अत्यंत नकारात्मक है। उनके पिछड़ेपन के सूचक दर्शाते हैं कि सकारात्मक नीति का कार्यान्वयन समुचित रूप से नहीं हो रहा। सुरक्षित विभेदीकरण नीति के साथ इन समूहों की "धारिता प्रतिभा" का उपागम इस स्थिति को बहुत ही कम बदल पाया है।

टिप्पणी

सुरक्षित भेदभाव की नीति के संवैधानिक उपायों के संचालन के पचास वर्षों बाद भी वांछित लक्ष्य और वास्तविक उपलब्धि में अभी भी अंतराल है। केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में अनुसूजित जातियों और अनुसूजित जनजातियों का प्रतिनिधित्व इस वास्तविकता को बयान करता है। इस संदर्भ में, यहां बच्चों के निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 की धारा 12 का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है। अधिनियम में प्रत्येक गैर–सरकारी असहायता प्राप्त विद्यालय के लिए शुरुआत स्तर की कक्षा में, कमजोर और सुविधा वंचित वर्ग के कम से कम 25 प्रतिशत ऐसे बच्चों को प्रवेश देना अनिवार्य है। विद्यार्थियों के इस वर्ग के लिए राज्य सरकार विद्यालयों को उनके द्वारा लिया जाने वाला शुल्क या राज्य विद्यालयों में प्रति बच्चा व्यय जो भी कम होगा, उसके बराबर की राशि की प्रतिपूर्ति करेगी। हाल ही के 13 अप्रैल, 2012 के उच्चतम न्यायालय के निर्णय में न्यायपीठ ने धारा 12 की वैधता को बनाए रखा। न्यायपीठ का कहना था कि 25 प्रतिशत आरक्षण सभी सरकारी 37 संविधान की आधारभूत विशेषताएं एवं शिक्षा के प्रावधान और असहायता प्राप्त गैर–सरकारी विद्यालयों पर एक समान रूप में लागू होगा। इनमें असहायता प्राप्त और गैर–सरकारी अल्पसंख्यक विद्यालय तथा आवासीय विद्यालय शामिल नहीं हैं।

सीमान्तवर्ती प्राथमिक विद्यार्थियों का नामांकन क्षीण होना राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रशासन विश्वविद्यालय (2012) की प्रारंभिक शिक्षा पर व्यापक रिपोर्ट नामांकन में वृद्धि दर्शाती है, लेकिन अनुसूचित जातियों, अनुसूजित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों, मुस्लिम विद्यार्थियों में सीमांत गिरावट को दर्शाती हैं। सभी सामाजिक समूहों में लड़कियों का नामांकन स्थिर हुआ है, लेकिन समग्र नामांकन में बढ़ने का निहितार्थ सभी राज्यों में असमान है। प्राथमिक कक्षाओं में लड़कियों के नामांकन में परिवर्तन नहीं आया। यह अभी 48.4 प्रतिशत है, जो उच्च प्राथमिक कक्षाओं में भी यह बिना किसी परिवर्तन के अभी भी 48.39 प्रतिशत है (2009–10)। प्राथमिक/उच्च प्राथमिक कक्षाओं में अनुसूचित जातियों के विद्यार्थियों का नामांकन थोड़ा कम हुआ है। पहले यह 19. 81 प्रतिशत था लेकिन अब 19.06 प्रतिशत है (2009–10)। कुल अनुसूचित जातियों के नामांकन में 49 प्रतिशत लड़कियों का है। अनुसूचित जनजातियों के नामांकन में नगण्य परिवर्तन हुआ है। यह 10.93 प्रतिशत से 10.7 प्रतिशत हो गया है (2009–10)। इसमें अनुसूचित जनजाति के नामांकन में लड़कियों का आधा नामांकन जारी है। लेकिन अन्य पिछड़े वर्ग में प्राथमिक स्तर के नामांकन में पिछले वर्ष के 42.15 प्रतिशत के नामांकन से कम होकर 40.09 प्रतिशत रह गया है। उच्च–प्राथमिक स्तर पर भी इस प्रकार गिरावट देखने में मिली है। प्राथमिक विद्यालयों (13.04 प्रतिशत) और उच्च प्राथमिक स्तर (11.25 प्रतिशत) में मुस्लिमों के नामांकन में थोड़ी गिरावट आई है। 2009–10 में नामांकन थोड़ा सा बेहतर हुआ था। यह प्राथमिक कक्षाओं में 13.48 प्रतिशत और उच्च प्राथमिक स्तर पर 11.89 प्रतिशत था।

टिप्पणी

आधारभूत अवसंरचना की दृष्टि से देखें तो 55.33 प्रतिशत विद्यालयों में वृद्धि हुई है तथा लड़कियों के लिए शौचालयों और लड़कों के लिए शौचालयों (35.44 प्रतिशत) में वृद्धि हुई है। 2009–10 में केवल 50.9 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों में लड़कियों के लिए शौचालय था और 25.72 प्रतिशत में यही सुविधा लड़कों के लिए भी थी। कुल अध्यापकों में अनुसूचित जातियों और महिला अध्यापकों के प्रतिशत में सीमांत वृद्धि हुई है, लेकिन अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्ग के अध्यापकों में सीमांत गिरावट आई है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. विधि के समक्ष समता को किस अनुच्छेद के अंतर्गत मान्यता दी गई है?

(क) अनुच्छेद 14 (ख) अनुच्छेद 15

(ग) अनुच्छेद 16 (घ) अनुच्छेद 17

8. शिक्षा में समता को मानवाधिकार के रूप में कब अपनाया गया था?

(क) 10 दिसंबर, 1940 (ख) 15 नवंबर, 1945

(ग) 10 दिसंबर, 1948 (घ) 15 दिसंबर, 1952

4.6 लैंगिक असमानता : लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा

व्यावहारिक तौर पर लैंगिक असमानता का संबंध महिलाओं की उपेक्षा और उनको पुरुषों के समान अधिकार न देने की परंपरा से है। ऐसे समाज में 'नारी वर्ग को'–चाहे वह उच्च वर्ग की हो या निम्न वर्ग की – सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य महत्वपूर्ण अधिकारों से वंचित कर दिया गया जबकि वही अधिकार पुरुषों को प्राप्त थे। इसे ही 'लैंगिक असमानता' कहते हैं।

4.6.1 लैंगिक समानता एवं शिक्षा को प्रभावित करने वाले कारक

लिंग समानता अकसर उपयोग किया जाने वाला शब्द है लेकिन पर्याप्त रूप से व्याख्यायित नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में लिंग समानता की अवधारणा की पर्याप्त समझ से शिक्षा कार्यक्रम विकसित करना और इसके विकास हेतु शिक्षा के कार्यक्रम को सक्षम किया जा सकता है, तथा अच्छी तरह से प्रबंधित और मूल्यांकित किया जा सकता है। यथार्थवादी होने के लिए, इसे लैंगिक समानता, लिंग समानता और लिंग समानता की अवधारणाओं को निशिचित तौर पर स्पष्ट करना चाहिए। उन दोनों के बीच अंतर को पर्याप्त रूप से उजागर किया जाना चाहिए और इससे संबंधित मुद्दों को भी निपटाया जाना चाहिए। लिंग समानता लड़कों/पुरुषों और लड़कियों/महिलाओं दोनों को समान अवसर और अधिकार देने वाले होते हैं, तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विस्तार से समान रूप से योगदान और लाभ प्राप्त कर सकते हैं। समानता और निष्पक्षता शिक्षा में समानता की रीढ़ है। यूनेस्को के अनुसार, लिंग समानता तब प्राप्त होती है, जब लड़के और लड़कियां समान अनुपात में होते हैं और उनके विशिष्ट आयु समूहों के अनुसार शैक्षिक प्रणाली में शामिल होते हैं। हालांकि, सिर्फ प्रणाली में

टिप्पणी

दाखिला लिया जाना ही पर्याप्त नहीं है, प्रणाली में स्तरों के माध्यम से पारित किया जाना भी उतना ही जरूरी है। नामांकन समानता की दिशा में पहला कदम लिंग निष्पक्षता एवं लड़कियों और लड़कों के लिए उचित व्यवहार की प्रथा है। समाज में मौजूदा चुनौतियों से मुकाबला करने के लिए उचित व्यवहार वाले कदमों की गारंटी लेनी चाहिए ताकि लिंग निष्पक्षता को प्राप्त किया जा सके।

निष्पक्षता का एक मूलभूत मानक सभी के लिए समान अवसर प्रदान करना भी रहा है। मानदंड उनके लिंग, वित्तीय स्थिति या जाति पर आधारित नहीं होना चाहिए। यूएसएआईडी के प्रावधानों के अनुसार, नामांकन के समय लिंग समानता प्राप्त करने के लिए निष्पक्ष युक्तियां जैसे छात्रवृत्ति स्थापित की जा सकती है। लिंग समानता प्राप्त करने का दूसरा तरीका उन विषयों में अतिरिक्त कोचिंग देना है जिनमें छात्रों की कमी है। उदाहरण के लिए, यूएसएआईडी/मिस्र ने समानता को कम करने के लिए 28,000 लड़कियों को शैक्षणिक व्यवस्था में दाखिला दिलाया है। तंजानिया में, यूएसएआईडी ने छात्रों को अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए विज्ञान शिविर प्रदान किए। इस तरह की निष्पक्ष योजनाएं बाद में लम्बे समय में लैंगिक समानता प्राप्त करने में मदद करती हैं। इन प्रावधानों को पर्याप्त रूप से लागू किया जाना चाहिए और शिक्षकों और समाज को इनके बारे में जानकारी होना चाहिए। लैंगिक समानता प्राप्त करने की दिशा में की गई प्रगति की समय–समय पर जांच भी आवश्यक है।

यूएसएआईडी के अनुसार, लड़कियों को शिक्षित करने के लिए एक सफल योजना में समता और साथ ही निष्पक्षता के मामले में समानता पर ध्यान देना आवश्यक है। एजेंसी ने टिप्पणी की है, कि लड़कियों को लेकर किए जाने वाले बदलावों को शिक्षा सुधार की एक सुसंगत समग्र रणनीति में एकीकृत किया जाना चाहिए।

गुणवत्ता और समानता के बीच संबंध

विद्यालय में नामांकन पहला कदम है, लेकिन उसके बाद, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है। लेकिन केवल इसी से समानता स्थापित नहीं होगी। दोनों लिंगों के लिए समान अवसर प्रदान करना सबसे महत्वपूर्ण है। सभी छात्रों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की गारंटी देने के लिए पहुंच, गुणवत्ता और प्रासंगिकता के बीच संतुलन स्थापित करने का एक साधन है। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए लिंग–संवेदनशील पाठ्यक्रम और शिक्षण तकनीक उपलब्ध कराने के द्वारा यह संभव हो सकता है।

शिक्षा में गुणवत्ता और समानता निकटता से जुड़े हैं। जो छात्र गरीब परिवारों के हैं, अधिक संभावना यही है कि उनके माता–पिता अशिक्षित होंगे अतः स्वयं बहुत कुछ नहीं पढ़ पाएंगे। इसलिए, शिक्षक द्वारा ऐसे छात्रों पर अधिक ध्यान देने की जरूरत है। पर्याप्त शिक्षा एवं देखभाल की अनुपस्थिति में, छात्रों का प्रदर्शन प्रभावित होता है और वे अपने शिक्षकों में रुचि भी खो देते हैं। लड़कियों में लड़कों की तुलना में शिक्षकों की गुणवत्ता से प्रभावित होने की अधिक संभावना होती हैं। कई अवसरों पर, शिक्षा आज के रोजगार और वयस्कता के लिए छात्रों को तैयार करने में असमर्थ होती है क्योंकि जीवन जीने के लिए और आत्मनिर्भर बनने के लिए उपयुक्त कौशल प्रदान नहीं किए जाते हैं।

टिप्पणी

सीखने के तरीकों में समानता

लड़कों और लड़कियों दोनों के लिए समान सीखने के अवसर प्रदान करना इसमें शामिल है। इस प्रक्रिया में भी पर्याप्त ध्यान देने और दोनों को समान रूप से प्रबंधित करना शामिल है। दोनों के लिए एक ही पाठ्यक्रम का प्रावधान आवश्यक है और इस आधार पर शिक्षण शैली को दोनों को समायोजित करने के लिए अनुकूलित किया जाना चाहिए। संपूर्ण शिक्षण प्रक्रिया किसी भी प्रकार के लिंग पूर्वाग्रह को प्रतिबिंबित नहीं करनी चाहिए तथा इसे लेबल और टाइपकास्ट से मुक्त होना चाहिए। इन दोनों का अकादमिक और गैर–शैक्षिक कौशल ज्ञात करने हेतु उपयोग होना चाहिए।

शैक्षिक उपलब्धियों की समानता

अकादमिक उपलब्धियों की समानता एक ऐसी प्रणाली को संदर्भित करती है जिसमें लड़कियों और लड़कों को अपने सपनों को पूरा करने और प्राप्त करने के लिए समान अवसर मिलना चाहिए। ये उपलब्धियां पूरी तरह से विद्यार्थियों के प्रयासों और प्रतिभाओं के अनुसार होनी चाहिए और उनके लिंग से प्रभावित किसी भी पूर्वनिर्धारित धारणा पर आधारित नहीं होनी चाहिए। स्कूलों को छात्रों के हितों को प्रोत्साहित करना चाहिए और मूल्यांकन के सेट पैटर्न के आधार पर उनके प्रदर्शन का मूल्यांकन करने की हमेशा कोशिश नहीं करनी चाहिए। हालांकि मूल्यांकन प्रणाली आवश्यक है, यह केवल मापदंड नहीं होना चाहिए। ऐसे मूल्यांकन प्रतिभा और आत्मविश्वास में अवरोध उत्पन्न कर सकते हैं और छात्रों के दिमागों में संदेह पैदा कर सकते हैं। लड़कियों और लड़कों दोनों को अपने कैरियर की वरीयता का चयन करने हेतु समान स्वतंत्रता होनी चाहिए और उन्हें प्राप्त करने में सक्षम होने के समान अवसरों के साथ प्रदान किया जाना चाहिए।

2006 में अंतर्राष्ट्रीय छात्र आकलन कार्यक्रम (पीआईएसए) द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार, इस आयाम में लैंगिक समानता को प्राप्त करने में काफी अंतर था क्योंकि लड़कियों और लड़कों का प्रदर्शन उनके प्रदर्शन के आधार पर किया जा रहा था। गणित में लड़कियों की रुचि हमेशा की तरह कम रही जबकि लड़कों ने गणित में बेहतर स्कोर किया। अकेले टेस्ट स्कोर को संकेतक नहीं माना जाना चाहिए। यह पता लगाया जाना चाहिए कि दोनों समान अवसर प्राप्त कर रहे हैं और कभी–कभी अगर प्रदर्शन एक ही स्तर पर है, तो यह जरूरी नहीं प्रणाली में कि न्यायसंगत सुधार की आवश्यकता है। इन पहलुओं ने कक्षा गतिशीलता की पर्याप्त रूप से व्याख्या करने के महत्व पर जोर दिया और यह पता लगाने की कोशिश की कि कैसे इन पहलुओं ने भविष्य के विकल्प और कैरियर विकल्प के सही चयन को प्रभावित किया।

लैंगिक भेदभाव

शिक्षा के लिए लड़कों को अधिक महत्व दिया जाता है लड़कियों को नहीं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 5–8 वर्ष की आयु के लगभग 80 प्रतिशत बच्चे स्कूल में नामांकित हैं शेष 20 प्रतिशत बच्चे निम्न सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के कारण कभी स्कूल नहीं गये। अनुसूचित जाति–जनजाति के बच्चों का औसत नामांकन बहुत कम है जबकि लड़कियों को स्कूल जाने के साथ–साथ घर की जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ती हैं अतः उन्हें अपना स्कूल का गृह कार्य करने का समय नहीं मिला और सामान्यतः अनुपस्थित

रहती हैं। लड़कियों द्वारा प्राथमिकता घरेलू कार्य को दी जाती है जबकि लड़कों द्वारा शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती है। लड़कियों को पुरस्कृत तब किया जाता है जब वे घर का काम ज्यादा करती है या छोटे भाई बहनों को अच्छी तरह संभालती हैं जबकि लड़कों को उनके स्कूल की परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने पर पुरस्कृत किया जाता है।

टिप्पणी

आर्थिक कारक

- **अभिभावकों का रवैया:** माता–पिता कभी–कभी एक लड़की की शिक्षा पर धन खर्च करने के लिए उत्सुक नहीं होते हैं। यद्यपि उनके पास बच्चों के लिए समान स्नेह होता है, किंतु निर्धन परिवारों में लड़की की बजाय लड़कों को शिक्षित किया जाता है। बच्चों के कल्याण में माता–पिता का निवेश कभी–कभी लिंगीय पक्षपातपूर्ण हो सकता है। आम धारणा यह है कि वृद्धावस्था में बेटे अपने माता–पिता की देखभाल करते हैं।
- **विद्यालय की ऊंची शुल्क:** उच्च विद्यालय की फीस लड़कियों को पर्याप्त शिक्षा तक पहुंचने से रोकती है, क्योंकि कुछ अवसरों पर माता–पिता अपना धन खर्च करने के लिए तैयार नहीं हैं। परिणामतः, या तो लड़की को शिक्षा से वंचित किया जाता है या स्कूल को बीच में छोड़ने के लिए कहा जाता है। माता–पिता परिवार के लड़के के लिए पर्याप्त शिक्षा सुनिश्चित करने के लिए अपने धन का प्रबंध करते हैं। इसका कारण यह है कि माता–पिता एक बच्चे को एक सुरक्षित भविष्य के लिए एक निवेश के रूप में शिक्षित करने पर विचार करते हैं। इसमें न केवल स्कूल की फीस एवं यात्रा व्यय बल्कि कई अप्रत्यक्ष लागतें और कई अन्य/अतिरिक्त गैर–शैक्षणिक गतिविधियों की लागत शामिल हैं। इसके अलावा, लड़कियों के मामले में, माता–पिता को सामाजिक–सांस्कृतिक परंपराओं को बनाए रखने और सुरक्षा की गारंटी देने की अतिरिक्त लागत का सामना करना पड़ता है। इसलिए, एक लड़की को शिक्षित करने की लागत लड़कों की तुलना में अधिक हो जाती है।

घरेलू कारक

- **घरेलू कार्य:** ग्रामीण क्षेत्रों में यह देखा गया है कि लड़कियां बहुत ही कम आयु में दैनिक घरेलू गतिविधियों में भाग लेना शुरू कर देती हैं। बड़ी लड़की को कई मामलों में छोटे भाई बहनों की देखभाल करनी होती है, जबकि माता–पिता अपने खेतों में काम करते हैं या अन्य नियमित कार्य करते हैं। अध्ययनों से पता चला है कि इस जिम्मेदारी को ज्यादातर बेटियों द्वारा लिया जाता है, न कि परिवार के पुत्रों के द्वारा।
- **माता–पिता की इच्छा:** यदि घर का नेतृत्व करने वाली महिला होती है तो लड़की को शिक्षित होने की संभावना अधिक होगी क्योंकि महिला प्रमुख को निर्णय लेने का अधिकार होगा। एकल माता–पिता के परिवारों में वित्तीय संकट भी अधिक हो सकता है जिस वजह से बालिकाओं की शिक्षा अवरूद्ध हो सकती है।

विद्यालयी कारक

टिप्पणी

- **गैर–शैक्षणिक गतिविधियों में नगण्य भागीदारी**: स्कूल में बहुत ही कम लड़कियां गैर–शैक्षणिक गतिविधियों में भाग लेती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि स्कूलों में लड़कियों को ऐसी गतिविधियों का एक हिस्सा बनने के लिए पर्याप्त सुविधाएं नहीं होती हैं। उदाहरण के लिए, इनमें से अधिकतर गतिविधियां स्कूल के बाद होती हैं और कभी–कभी छात्रों को ऐसी गतिविधियों में भाग लेने के लिए परिवहन सुविधा प्रदान नहीं की जाती है। इसलिए, माता–पिता अकसर अपनी बेटियों को ऐसी गतिविधियों में शामिल होने से हतोत्साहित करते हैं। लड़कों की तुलना में लड़कियों की भागीदारी खेल में बहुत कम होती है। मुस्लिम लड़कियों को सांस्कृतिक प्रतिबंधों को भुगतना पड़ता है, जिससे उन्हें अपनी पसंद के परिधान तक पहनने से रोक दिया जाता है; उन्हें कपड़े बदलने या अपने घरों के अलावा किसी अन्य जगह नहाने से रोका जाता है।
- **महिला शिक्षिकाओं की स्कूलों में कमी**: विकासशील देशों में, लड़कियों को महिला प्रशिक्षक की अनुपस्थिति के कारण लैंगिक असमानता का शिकार होना पड़ता है। माता–पिता प्राथमिक स्कूल के बाद लड़कियों की शिक्षा को बंद करने की प्रवृत्ति रखते हैं। अन्य क्षेत्रों में भी लिंगीय समानता का पालन नहीं हो रहा है जिससे महिलाओं की आबादी पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
- **गैर उपस्थिति**: लड़कियां स्कूल में अधिक अनियमित होती हैं, जिससे उनके ग्रेड खराब हो जाते हैं। इसके लिए जिम्मेदार कारक कभी–कभी घर के कामकाज से संबंधित होते हैं, जिससे उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ता है। कुछ मामलों में उचित स्वच्छता और शौचालयों की कमी को एक कारक माना जा सकता है क्योंकि मासिक धर्म चक्र के दौरान लड़कियों को शौचालय की सुविधा की आवश्यकता होती है।
- **स्कूलों में लड़कियों के लिए सुविधाएं**: माता–पिता लड़कियों के लिए स्कूल में सुरक्षित वातावरण चाहते हैं और वे सुविधाओं की कमी के बारे में लगातार चिंता करते हैं। कभी–कभी विद्यालय बुनियादी सुविधाएं प्रदान करने में विफल होते हैं, जैसे साफ शौचालय या परिवहन। लड़कियों को कुछ पहलुओं पर अतिरिक्त सहायता और मार्गदर्शन तथा गोपनीयता की आवश्यकता होती है, जो स्कूल अकसर प्रदान करने में विफल रहते हैं। यह कम उपस्थिति की ओर जाता है। स्कूल में इससे बालिकाओं की उपस्थिति कम हो जाती है, परिणामतः कक्षाओं में छात्राएं पिछड़तीं हैं और उनका पढ़ाई में प्रदर्शन खराब होता है। यूनिसेफ मानकों के अनुसार, सभी छात्रों के लिए अलग–अलग और स्वच्छ शौचालय उपलब्ध कराना स्कूल के लिए अनिवार्य है।
- **शिक्षक का व्यवहार**: छात्रों के प्रति शिक्षक का रवैया बहुत ही महत्वपूर्ण कारक है। छात्र स्कूल में अपने शिक्षकों के साथ सबसे ज्यादा बात करते हैं। यह देखा गया है कि कई अवसरों पर शिक्षक लैंगिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होते हैं। कुछ शिक्षक छात्रों के साथ बातचीत करते समय उपयोग की जाने वाली भाषा के प्रति सचेत नहीं होते हैं। शिक्षक कभी–कभी कक्षा में विषेष छात्रों की तरफ

ध्यान देते हैं। कुछ कक्षाओं में लड़कियों के प्रति शिक्षकों के रुखे व्यवहार के कारण लड़कियां स्कूल छोड़ देती हैं।

टिप्पणी

- **घर के आसपास के क्षेत्र में स्कूलों की कमी :** एक और पहलू है, जो छात्राओं के लिए शिक्षा तक पहुँच कम कर देता है वह है स्कूल की दूरी। ग्रामीण क्षेत्रों में, माता–पिता बेटियों के स्कूल जाने के लिए दूरदराज के स्थानों की यात्रा करने के इच्छुक नहीं हैं। लड़कियों के मामले में विद्यालय छोड़ने के लिए दूरी एक महत्वपूर्ण निर्धारक है। इस मुद्दे पर किए गए कई अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि स्कूल की दूरी बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि उनकी बेटी को दूर तक यात्रा करना पड़ता है तो माता–पिता सहज महसूस नहीं करते हैं। मनोवैज्ञानिक मैरी एन्सवर्थ के अनुसार, आसपास के स्कूलों में लड़कियों के नामांकन की सुविधा का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

सांस्कृतिक कारक

- **कम उम्र में विवाह :** विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में माता–पिता अकसर अपनी बेटियों की बहुत कम उम्र में, शादी करते हैं। वे उनकी शिक्षा पूरी होने के लिए उत्सुक नहीं होते हैं। वास्तव में, यदि लड़की शिक्षित होती है तो अधिकांश गांवों में माता–पिता असुरक्षित महसूस करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि वह अधिक योग्य होगी तो इसे एक उपयुक्त लड़का पाने के लिए अधिक मुश्किल का सामना करना होगा। माता–पिता को ऐसा भी लगता है कि उनकी बेटी के शिक्षित होने पर विवाह की लागत बढ़ जाएगी।
- **किशोर गर्भावस्था :** कई शोधकर्ताओं ने लड़कियों की शिक्षा तक कम पहुँच के लिए काफी हद तक किशोर गर्भावस्था को कारण बताया है। अध्ययनों ने यह बताया है कि जो लड़कियां स्कूल में बुरा प्रदर्शन करती हैं या छोड़ने वाली होती हैं या निचली आर्थिक स्थिति से संबंधित होती हैं, उनमें किशोर गर्भावस्था के अधिक मामले होते हैं।
- **सांस्कृतिक विश्वास :** 2005 में एक गैर सरकारी संगठन **सेव द चिल्ड्रन** द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार, धार्मिक विश्वासों और पारंपरिक मानदंड अकसर सबसे विकासशील देशों में पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करने से लड़कियों को रोकने के कारण हैं। कई संस्कृतियों में, यहां तक कि वर्तमान समय में भी यह माना जाता है कि महिला की भूमिका घर का ख्याल रखना और बच्चों को संभालना है; और इन कार्यों को करने के लिए स्कूल शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती है। प्रोफेसर जेन फाल्किंगहेम और एग्नाला बेस्छेरी के अनुसार, ताजिकिस्तान जैसे देशों में, लड़कियों को आध्यात्मिक कक्षाओं में भाग लेने की अनुमति है, जो उन्हें एक आदर्श पत्नी बनने के लिए कौशल प्रदान करता है। मुस्लिम समुदायों में 'पर्दा' या महिलाओं के एकांत की परंपरा, शिक्षा में लिंग असमानता के लिए योगदान करने वाला एक और महत्वपूर्ण कारक होता है। 2010 में यूनेस्को द्वारा किए गए शोध के अनुसार, अधिकांश विकासशील देशों के ग्रामीण क्षेत्रों में पारंपरिक मूल्यों की मजबूत उपस्थिति है।

टिप्पणी

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज में कई कारक मौजूद होते हैं जिनका महिलाओं की आबादी के लिए शिक्षा तक पहुंच पर सीधा प्रभाव पड़ता है। कुछ मामलों में, लिंग दोनों के लिए कारक बनता हैं। शहरी आबादी की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब परिवारों की लड़कियों पर इन कारकों का अधिक प्रभाव पड़ता है।

4.6.2 लैंगिक समानता में पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों की भूमिका

पाठ्यक्रम समतामूलक मानदंडों पर आधारित होना चाहिए और इसे समाज में होने वाले सकारात्मक परिवर्तनों के साथ विकसित होना चाहिए। इसमें उचित मूल्यों को शामिल किया जाना चाहिए, जो छात्र के व्यक्तित्व का एक हिस्सा होना चाहिए। यदि समाज में मानदंड लैंगिक असमानता पर आधारित होते हैं, तो इन पाठ्यक्रमों में पाठकों के साथ–साथ शिक्षकों के शिक्षण विधियों पर भी प्रतिबिंबित होने का एक मजबूत मौका होगा।

पाठ्यक्रम में घटक, जैसे कि शिक्षण सामग्री और सीखने की सामग्री, शिक्षण में उपयोग की जाने वाली भाषा, साथ ही साथ मूल्यांकन और मूल्यनिर्धारण के उपाय होते हैं। अधिकांश देश अपने पाठ्यक्रम को विश्व अर्थव्यवस्था और आंतरिक परिवर्तनों के अनुसार अपने सुधार के लिए प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ नाइजीरिया में, पाठ्यक्रम राष्ट्रीय कानून का एक हिस्सा है और जब सरकार में बदलाव होता है या मजबूत सार्वजनिक आंदोलनों के प्रभाव कारण इसे अकसर बदल दिया जाता है। अधिकांश देशों की शिक्षा नीति और पाठ्यक्रम शिक्षा में समानता प्रदान करने पर केंद्रित है। यह बहुत जरूरी है कि नीतियों को स्पष्ट करना चाहिए ताकि लड़कियों की शिक्षा की मांग में उल्लेखनीय वृद्धि हो। जिस तरीके से लड़कियां, उनके परिवार और शिक्षक, शिक्षा और पाठ्यक्रम के पदार्थ का विश्लेषण करते हैं, वे पूरे सामाजिक प्रणाली में लिंग समानता को प्रभावित करेंगे।

कई देशों में, लड़कों और लड़कियों को पढ़ाने के लिए जो उपयुक्त है उसके बारे में पाई जाने वाली अभिधारणा शिक्षा में समानता को कमजोर कर सकती है। उदाहरण के लिए, कई समुदायों में, यह माना जाता है कि लड़कियों में गणित के लिए योग्यता नहीं है और यह कि गृह विज्ञान जैसे पाठ्यक्रम लड़कों के लिए नहीं हैं। इस प्रकार के पाठ्यक्रम से सम्बन्धित अभिधारणाएं और परिणामस्वरूप विकसित शिक्षण पद्धतियां, लिंग असमानताओं के अभ्यास के कार्य को आगे बढ़ती हैं। ज्यादातर देशों में, लड़कियों की स्कूलों तक पहुंच है लेकिन उनके पास पाठ्यक्रम में समानता नहीं है। इस संतुलन को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयास किए जाने हैं। समाज में महिलाओं को एक सकारात्मक भूमिका में हाइलाइट करना होगा, और मिशेल बाचीलेट, मलाला यूसुफजई, जूलिया गिलार्ड और ग्रेस मैचेल जैसी महिलाओं के कार्यों को स्वीकार किया जाना चाहिए। उन्होंने शिक्षा की समानता और लड़कियों को शिक्षित करने के महत्व को फैलाने के लिए बहुत सारे प्रयास किए हैं। लैंगिक रुकावट और असमानताओं के समाज से छुटकारे के लिए पाठ्यक्रम विकसित किया जाना है, जो पाठ का हिस्सा बनना जारी

है। अधिकतर महिलाओं को एक भौतिक भूमिका में पेश किया जाता है, जबकि पुरुषों को सभी निर्णय लेने का कार्य सौंपा जाता है और संरक्षक के रूप में देखा जाता है।

टिप्पणी

लिंग असमानता को चुनौती देने में पाठ्यक्रम की भूमिका भी विशेष महत्व रखती है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। ये दीगर बात है कि समय–समय पर पाठ्यक्रम में आवश्यकतानुसार बदलाव लाए जाते रहे हैं। पहले के पाठ्यक्रम में लड़कों को ध्यान में रखकर उन्हीं के अनुसार पाठ्यक्रम तैयार किए जाते थे किन्तु जब से लड़कियों की शिक्षा की बात आयी है और उनकी समानता की बात आयी है तब से भी पाठ्यक्रम में बदलाव लड़कियों को ध्यान में रखकर किए गए हैं किन्तु अब समय वातावरण और परिवेश को देखते हुए पाठ्यक्रम में पुर्न बदलाव की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

बदलाव प्रकृति का नियम है। आगे बढ़ते जाना भी सुनिश्चित होता है। ऐसे में यदि पाठ्यक्रम में विशेष रूपेण लड़कियों को दृष्टि में रखकर परिवर्तन किए जाएंगे और कक्षाओं में उन्हें गंभीरता से लिया जाएगा तो निश्चित ही पाठ्यक्रम की भूमिका लिंग असमानता को चुनौती देने में मुख्य बन जाएगी। इसमें किंचित संदेह नहीं होना चाहिए।

संशोधित पाठ्यक्रम को अध्यापक गण पूरी तैयारी के साथ दोनों लिंगों को पढ़ायें, बताएं, समझाएं। लड़कियों को ध्यान में रखकर जो बदलाव पाठ्यक्रम में किए गए हैं, उन्हें विशेष रूप से विशेष तैयारी के साथ शिक्षक गण कक्षा में पढ़ाएं। अध्यापकों को चाहिए कि वे कक्षा में पाठ्य सह–गामी क्रियाओं (Cocurricular Activities) के आयोजन भी करें। इनसे छात्रों की भावनाओं में भी बदलाव निश्चित रूपेण आएगा। प्राथमिक स्तर पर छात्राओं का मानसिक स्तर जितना होता है उसी को दृष्टि में रखते हुए हल्के–फुल्के ज्ञानवर्धक

मनोरंजक पाठ्यक्रम तैयार किए जाएं। वे भी सार्थक सिद्ध हो सकते हैं। इसके लिए लड़कियों के लिए पाठ्यक्रम में कहानी, किस्से, चुटकुले और कविताओं आदि के माध्यम से उनको शिक्षा दी जा सकती है।

पाठ्यक्रम के साथ–साथ छात्राओं को भ्रमण आदि पर भी ले जाकर उनका ज्ञानवर्धन कराया जा सकता है। उनको दर्शनीय, ऐतिहासिक, मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद स्थल दिखलाकर उनको मनोरंजन और भ्रमण के माध्यम से भी शिक्षा दी जा सकती है। वैसे भी आजकल तो पढ़ने के अतिरिक्त, दृश्य और श्रव्य के माध्यम से भी शिक्षा प्रदान करने के प्रावधान हैं। जितना छात्राएं पढ़कर सीखती हैं उससे ज्यादा वे दृश्य एवं श्रव्य के माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। खेल–खेल में शिक्षा के माध्यम से भी लड़कियों को शिक्षित किया जा सकता है। इसके लिए पाठ्यक्रम तैयार किए जा सकते हैं। सप्ताह में कुछ दिन किताबें पढ़ाई जाएं, कुछ दिन भ्रमण पर ले जाकर शिक्षा दी जाए तो कुछ दिन दिखलाकर शिक्षा देने के पाठ्यक्रम भी तैयार किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त लड़कियों से भी पूछा जा सकता है कि वे और किस प्रकार से शिक्षा लेना पसंद करेंगी। उनकी पसंद को सधी हुई भाषा में संबंधित अधिकारियों तक पहुंचाकर भी

टिप्पणी

पाठ्यक्रम में बदलाव लाये जा सकते हैं। इस प्रकार लिंग असमानताओं को चुनौती देने में पाठ्यक्रम भी सकारात्मक भूमिका निभाकर अपना योगदान दे सकते हैं।

शिक्षा ग्रहण करने में पाठ्यक्रम बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। कारण, उसी के अनुसार शिक्षक गण कक्षा में पढ़ाते हैं। पाठ्यक्रम उबाऊ नहीं होना चाहिए। बोझिल नहीं होना चाहिए। लड़कियों को ध्यान में रखकर जमीनी स्तर पर चिन्तन करके व्यावहारिक पाठ्यक्रम तैयार करने चाहिए। पाठ्यक्रम अपनी विद्वता और ज्ञान के आधार पर नहीं अपितु शिक्षा, कक्षा और लड़कियों को दृष्टि में रखकर, उन्हीं के स्तर पर सोचकर तैयार करके उत्तम रहते हैं। सरल और सहज तथा मनोरंजक भाषा में पाठ्यक्रम की पुस्तकें तैयार करनी चाहिए। आपने देखा होगा कि प्रश्नपत्र कभी–कभी इतने घुमा–फिराकर, क्लिष्ट भाषा में पेचीदगी के साथ तैयार किए जाते हैं कि परिक्षार्थियों के सिर के ऊपर से होकर उन्हें उलझाकर रख देते हैं। ऐसे में परीक्षार्थी उत्तर जानते हुए भी भ्रम में पड़ जाने के कारण उनके सही–सही उत्तर नहीं दे पाते हैं। वे हताश हो जाते हैं। इसका प्रभाव परिक्षार्थियों पर पड़े बिना नहीं रहता।

ऐसे में कहना है कि पाठ्यक्रम ऐसे ग्राह्य बनाए जाएं जिनको बच्चे पढ़ने में और अध्यापक पढ़ाने में उत्सुकता का अनुभव करें। विशेष रूप से लड़कियों के लिए तो ऐसे पाठ्यक्रम बनने ही चाहिए, जिससे शिक्षा ग्रहण करने मे उनकी रूचि बनी रहे। प्रत्येक शिक्षा आयोग ने अपनी रिपोर्टों में स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान ही सामान्य पाठ्यक्रम तथा एक–एक प्रथक विशिष्ट पाठ्यक्रम निर्धारित करना चाहिए। इस विशिष्ट पाठ्यक्रम में गृह विज्ञान, गृह अर्थशास्त्र तथा गृह प्रबंधन जैसे विषय, ललित कलाएं (संगीत, चित्रकलाएं तथा नृत्यकला) रखी जानी चाहिए। विषय चुनने की आजादी स्त्रियों को पूर्णरूपेण अपनी इच्छानुसार होनी चाहिए। वस्तुतः स्त्री शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्त्रियों को योग्य गृहणी, योग्य माता और पत्नी बनाना विशेष है। इसके अतिरिक्त वे भारत के सामान्य नागरिकों की तरह पुरुषों के समान कर्तव्य और अधिकारों का पालन कर सकती हैं। इस प्रकार लिंग असमानता की चुनौती का सामना करने में पाठ्यक्रम भी अपनी विशेष भूमिका निभा सकते हैं।

पाठ्यपुस्तकों की भूमिका

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि पाठयक्रम और पाठ्यपुस्तकों में लैंगिक समानता के पहलू में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है, कई देशों ने संगठनों को विकसित करना शुरू कर दिया है जो पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के विकास और संशोधन की जांच करते हैं। पाठ्यपुस्तकें पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य हिस्सा है क्योंकि उनके पास सामग्री का लिखित पाठ है जिसे सिखाया जाना है। अकसर यह महसूस किया जाता है कि अधिकांश पाठ्यपुस्तकें समानता की महत्वपूर्ण अवधारणा पर आधारित नहीं हैं।

एक सार्थक पाठ्यक्रम वह है जो लिंग की समानता पर आधारित हो और शिक्षा के क्षेत्र में समानता प्राप्त करने के लिए काम करने में सक्षम है। सभी शैक्षणिक नीतियों के ढांचे को पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों पर ध्यान देना चाहिए। पाठ्यक्रम में सभी

टिप्पणी

गतिविधियों को शामिल किया गया है जिन्हें स्कूल में सिखाना होगा, जिसके परिणामस्वरूप छात्रों में विकास होगा। पाठ्यक्रम निर्देशों के लिखित मैनुअल के रूप में भी कार्य करता है, जो शिक्षण करते समय पालन किया जाना चाहिए। क्या पढ़ाया जाना चाहिए, पाठ्य सामग्री को किसी खास कोर्स या ग्रेड के लिए लिखित पाठ्यपुस्तकों की सहायता से रेखांकित किया गया है। गुणवत्ता और समानता की चिंताओं के बारे में अनुसंधान में एक प्रारंभिक उपयोगी कदम के रूप में एक पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक की उचित जांच की जा सकती है। यह उन विद्यार्थियों के बारे में सवाल उठाने के मूल्य को प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार छात्रों को शिक्षित किया जा रहा है और क्या उनकी भागीदारी के लिए पर्याप्त प्रावधान किए गए हैं। यह इस तथ्य को भी उजागर करता है कि शिक्षा समाज में उनकी स्थिति में सुधार करती है। एक पाठ्यक्रम विषय, जैसे जाति, वर्ग, धर्म और सांस्कृतिक चरित्र के बारे में एक छाप पैदा कर सकता है। कई देशों में पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक को विकसित करने वाले पुरुष हैं और पुरुष वर्चस्व के विचारों पर जोर देते हैं। उदाहरण के लिए, आम तौर पर नेपाल में, पाठ्यपुस्तकों को पुरुषों द्वारा लिखा गया है जो शैक्षणिक व्यवस्था में लैंगिक असमानता की समस्या के बारे में अज्ञानी हैं। अधिकांश सामग्री लेखक ने परिवारों के कमाई वाले सदस्यों और डॉक्टरों, इंजीनियरों और वैज्ञानिकों जैसे हावी होने वाले लोगों के रूप में पुरुषों को प्रोजेक्ट किया है, और महिलाओं को केवल गृहकर्मियों के रूप में चित्रित किया जाता है, जो परिवार को खिलाने का कार्य करते हैं और अधिकतर व्यवसायों में होते हैं। नर्सों और शिक्षकों की ये भूमिकाएं परंपरागत हैं और आधुनिक समाज में तेजी से बदल रही हैं। इसलिए, हमारे पाठ्यपुस्तकों में भी उन्हें बदलना आवश्यक होता है। कई देशों ने पाठ्यपुस्तकों को देखना शुरू कर दिया है ताकि समीक्षा की जा सके और ऐसी धूर्त लिंग भूमिकाओं को बंद कर सके। 2005 में, यह ऑडिट मंगोलिया और थाईलैंड में किया गया था, जिसमें सभी माध्यमिक शिक्षा पाठ्यपुस्तकों की जांच की गई थी। सभी सामग्रियां जिनसे महिलाओं के लिए एक निष्क्रिय पहचान दे दी गई थी, उन्हें दूर कर दिया गया था। 2009 में यूनिसेफ ने लैंगिक संवेदनशील शैक्षणिक सामग्री तैयार करने के लिए पाठ्यक्रम डेवलपर्स और पाठ्यपुस्तकों के लेखकों के बीच जागरूकता फैलाने के प्रयास किए।

शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं और लड़कियों की भागीदारी को कम करने के लिए समाज को दोष देने की एक सामान्य प्रवृत्ति है, लेकिन वास्तव में, यहां तक कि स्कूलों की स्थापना भी इसी के लिए होती है। अधिकांश विकासशील देशों में प्रस्तुत पाठ्यक्रम लैंगिक असमानता से निपटने में असमर्थ है और शिक्षण लैंगिक पूर्वाग्रहों को समाप्त करने में पूरी तरह असफल रहा है। वर्षों के, अध्ययनों से पता चला है कि पाठ्यपुस्तकों को टाइपकास्ट और लिंग–पक्षपाती सामग्री को पूरी तरह से दूर करने में सक्षम नहीं हुए हैं। वास्तव में पाठ्य पुस्तकों ने असमानता को बढ़ाने के लिए योगदान किया है। केन्याई अनुसंधान के अनुसार, महिलाओं को उनकी पाठ्यपुस्तकों में सुविधा नहीं है; वे कृषि विषय पर चर्चा करते समय पाठ्य पुस्तकों में शामिल नहीं होते हैं, जहां उनका योगदान बहुत ही सार्थक है। 1985 में सीरिया में एक समीक्षा के अनुसार, जहां 28 पुस्तकों की

टिप्पणी

छानबीन हुई थी, यह पाया गया कि पुस्तकें पीड़ितों के रूप में महिलाओं को चित्रित करती हैं और उनकी उपस्थिति एवं प्रभाव को कम कर देती हैं। ये किताबें 8 से 12 वर्ग के छात्रों के लिए थीं। 1980 में भारतीय पाठ्यपुस्तकों के विश्लेषण में पता चला है कि 75 प्रतिशत किताबें पुरुष प्रभुत्व की थीं और केवल सात प्रतिशत पुस्तकों में महिलाओं को नेतृत्वकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

अधिकांश पुस्तकों एवं ग्रंथों में महिलाओं के आत्म–बलिदान और आज्ञाकारी गुणों पर जोर दिया गया है, जबकि पुरुषों को उनके साहस, चतुराई और सफलता के लिए वर्णित किया गया है। पाठ्यपुस्तकों ने कुल 463 व्यवसायों का उल्लेख किया– पुरुषों को 84 प्रतिशत आवंटित किया गया और शेष 16 प्रतिशत महिलाओं के हिस्से में आए। इसलिए, पुस्तकों ने छात्रों के लिए पुरुष प्रभुत्व का संदेश ले लिया और स्टिरियोटाइप सेक्स भूमिकाओं की पुष्टि की जो स्कूल के बाहर स्पष्ट थी। एक मंच द्वारा आयोजित एक सर्वेक्षण में जो शिक्षा को बढ़ाने, सांस्कृतिक मूल्यों और भारतीय समाज में नागरिक भावना को बढ़ावा देने के लिए काम करता है, फ्रेंड फॉर एजुकेशन ने यह महसूस किया गया कि 103 पृष्ठ की प्राथमिक विद्यालय की पाठ्यपुस्तक, जिसमें लगभग 100 तस्वीरें और छवियां हैं, 52 प्रतिशत पुरुषों की छवियां और केवल 6 प्रतिशत महिलाओं की दर्शाई गईं हैं, पुरुष को खुशियां और ताकत जैसे सहयोगी लक्षणों के साथ अधिक दिखाया जाता है, जबकि महिलाओं का वर्णन करते समय ये लक्षण पूरी तरह से अनुपस्थित हैं।

गणित पाठ्यपुस्तकों में पाठ का उल्लेख व्यापारियों या बैंकरों के रूप में पुरुषों को दर्शाता है। सभी संख्यात्मक में नर अक्षर हैं जो लाभ और हानि के समीकरण का विश्लेषण करने की कोशिश कर रहे हैं। पाठ्यपुस्तकों में लिंग प्रकार के नतीजों से छुटकारा पाने के लिए, पुरुषों और महिलाओं के चित्रों को जिस तरह से पेश किया गया है, उसे गंभीरता से संबोधित किया जाना चाहिए। पाठ्यपुस्तकों और सभी अनुदेशात्मक सामग्री से परंपरागत लिंग रूढ़ियों को खत्म करना होगा। एक प्रयास के आधुनिक संस्करणों की स्थापना के लिए किया जाना चाहिए लड़कियों/महिलाओं में पुरुष काउंटर पार्ट्स के रूप में कई शैक्षिक योग्यताएं हैं। इसके लिए आवश्यक है कि पाठ्यक्रम को समाज में हुए परिवर्तनों के साथ और अधिक प्रासंगिक बनाया जाना चाहिए।

इस बात को ऊपर भी बताया गया है कि शिक्षा प्रदान करने में पाठ्य पुस्तकों की भी मुख्य भूमिका और जिम्मेदारी भी रहती है। इसलिए पाठ्यक्रम के आधार पुस्तकें विशेष तौर से अच्छे और गुणी लेखकों द्वारा लिखायी जानी चाहिए। पाठ्य पुस्तकों के लेखकों को भाषा और व्याकरण का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। पुस्तक लिखने में लीपा–पोती और खानापूर्ति वाली नीति नहीं अपनानी चाहिए। न ही भाई–भतीजा वाद की नीति ही अपनायी जानी चाहिए। निष्पक्षीय रूप से पाठ्यक्रम के आधार पर विद्वजनों को पाठ्य पुस्तकें लिखने के लिए देनी चाहिए। आपको स्मरण ही होगा, अभी कुछ वर्षो पहले एन.सी.ई.आर.टी. की एक पाठ्य पुस्तक का विषय और शीर्षक कुछ और था तथा

लिखा कुछ और ही गया था। जब यह पुस्तक कक्षाओं में आयी, तब इस पर आपत्ति की गई। इसका भी ध्यान रखा जाए कि आपत्तिजनक पाठ्यक्रम न तैयार किया जाए और न ही पाठ्य पुस्तकें ऐसी तैयार की जाएं, जिन पर आपत्ति खड़ी हो।

टिप्पणी

वस्तुतः पाठ्य पुस्तकों की भूमिका और जिम्मेदारी लिंग की असमानताओं को दूर करने में काफी सशक्त होती है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि दोनों ही लिंग हमारे देश का भविष्य होते हैं। उनकी शिक्षा दीक्षा पर समान रूप से ध्यान देने की नितांत आवश्यकता है। पाठ्य पुस्तकें ऐसी हों जो लिंग असमानता को बढ़ावा न दें। वरन् ऐसी होनी चाहिए जो लिंग असमानताओं की चुनौतियां देने में खास भूमिका और अपनी जिम्मेदारी को निभा सकें। लड़कियां लड़कों से आगे निकलती जा रही हैं। कारण, वे चुनौतियों को स्वीकार कर अब उनसे जूझना जान गई हैं। दसवीं, बारहवीं की बोर्ड परीक्षाओं के परिणामों में अधिकतर लड़कियां लड़कों से आगे ही रहती हैं।

इसका प्रमुख कारण जो समझ में आता है वह है कि लड़कियां अपने मन को केन्द्रित करने में दक्ष होती हैं। वे समयानुसार अपनी परीक्षा की तैयारी करती हैं।

यहां यह भी बताना जरूरी समझा जा रहा है कि आजकल प्राइवेट स्कूलों से अच्छे परिणाम सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के आ रहे हैं। इसका सबसे बड़ा कारण प्राइवेट स्कूल सरकारी नियमों के चलते अपने यहां कुछ पुस्तकें तो एन.सी.ई.आर.टी. की लगा लेते हैं और ज्यादा पुस्तकें वे प्राइवेट लगाते हैं। इस प्रकार बस्तों का बोझ तो बढ़ता ही हैं, जिससे बालक–बालिकाओं के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आज न सही कुछ समय बाद ये प्रभाव स्पष्ट वा अस्पष्ट रूपेण दिखलायी पड़ने लगता है। प्राइवेट स्कूल का पाठ्यक्रम काफी विस्तार लिए हुए होता है। ऐसे में प्राइवेट स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों पर अंकुश लगाने की महत्ती आवश्यकता है। जिससे बच्चे मुख्य विषयों पर ही ध्यान केन्द्रित करके तैयारी कर सकें और अच्छे प्राप्तांक भी प्राप्त कर सकें। ऐसे में पाठ्य पुस्तकों की भूमिका और जिम्मेदारी दुगुनी हो जाती है। उनका दायित्व बढ़ जाता है।

पाठ्यपुस्तकों में पाठ को सुधारने हेतु चरण

- निर्माण की प्रक्रिया के दौरान पाठ्यपुस्तकों को अच्छी तरह से जांचा जाना चाहिए।
- लेखकों को सामग्री के बारे में उचित दिशानिर्देश दिए जाने चाहिए, जिन्हें टेक्स्ट में शामिल किया जा सकता है।
- शिक्षकों की धारणा को बदलना होगा ताकि वे पाठ में सही संदेश दे सकें।
- पाठ का मात्रात्मक और गुणात्मक विश्लेषण करने की आवश्यकता है और यह पाठ्य पुस्तकों में प्रदर्शित भी होना चाहिए।
- पाठ की भाषा, शब्दावली, चित्रण और शैली सभी को सकारात्मक तरीके से पुरुष और महिला दोनों को प्रस्तुत करना चाहिए।
- पाठ्यपुस्तकों पर नजर रखी जानी चाहिए और पुस्तकों के लिए डेटा एकत्र करने की प्रक्रिया अच्छी तरह से संगठित होनी चाहिए। किताबें प्राथमिक स्तर से ही

टिप्पणी

लैंगिक पूर्वाग्रह से मुक्त होनी चाहिए क्योंकि युवा दिमाग बहुत आसानी से प्रभावित होते हैं।

- इस विषय पर अपने विचारों का विश्लेषण करने के लिए शिक्षकों का साक्षात्कार लेने की आवश्यकता है और उन्हें सामग्री को सही तरीके से प्रस्तुत करने के लिए अच्छी तरह से प्रशिक्षित किया जा सकता है।
- पाठ्यपुस्तक की सामग्री का मूल्यांकन गुणवत्ता और साथ ही मात्रा के आधार पर किया जाना चाहिए, जिसका मतलब है कि पाठ में पुरुषों और महिलाओं के चित्रों का समान अनुपात होना चाहिए। इसका कारण यह है कि इन चित्रों में पुरुषों और महिलाओं को कुछ भूमिकाओं या पदों में दिखाया गया होता है, पुरुषों और महिलाओं की भूमिकाओं के बारे में दृष्टिकोण रूढ़िओं के गठन एवं उनके प्रभाव में एक लंबा रास्ता तय करते हैं। पुरुष और महिला लेखकों द्वारा लिखित पाठ और पाठ में नामों का उल्लेख करने की आवश्यकता है। कहानियों में पिता और माताओं की भूमिका पाठकों के विचारों को प्रभावित कर सकती हैं। वर्णों के व्यवसाय, चाहे पुरुष या महिला, जैसा कि टेक्स्ट/छवियों में वर्णित या चित्रित किया गया है, उनका विश्लेषण किया जाना चाहिए। पाठ की गुणवत्ता को प्रशिक्षकों और शिक्षकों द्वारा बनाए रखा जाना चाहिए। शिक्षक द्वारा ठीक से व्याख्या नहीं किये जाने पर लिंग–मुक्त पाठ लिंग पूर्वाग्रह को प्रतिबिंबित कर सकता है।

4.6.3 शिक्षक की भूमिका

लैंगिक असमानता से निपटने के लिए शिक्षक की भूमिका अतिमहत्वपूर्ण है। वैश्विक अध्ययन से पता चलता है कि लड़के शिक्षक का ध्यान सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरीकों से अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। परिणामस्वरूप कक्षा की सभी गतिविधियों में भी इनका वर्चस्व होता है। परिणामस्वरूप, लड़कों के लिए अधिक सीखने के अवसरों को खोलता है, उनका आत्मविश्वास बढ़ जाता है और उन्हें विभिन्न गतिविधियों में अधिक अवसर मिलते हैं। कक्षा की गतिविधियों के दौरान लड़कियों की अनदेखी की जाती हैं। नतीजतन, वे आत्मविश्वास खो देती हैं और विनम्र होने की प्रवृत्ति दिखाती हैं। शिक्षक, कुछ मामलों में, कक्षा में लड़कियों पर कम ध्यान देते हैं, जो उनके शैक्षणिक प्रदर्शन को भी प्रभावित करता है। एम. जन्गविद और जू रॉबिन्सन जैसे लेखकों ने अवगत कराया है कि ऐसे पर्याप्त प्रमाण हैं कि शिक्षक समानता के मुद्दे के बारे में पता होने के बावजूद, लड़कों और लड़कियों से अलग से और एक भिन्न अंदाज़ में व्यवहार होने देते हैं। इस स्थिति में लड़कियों पर प्रतिकूल असर पड़ता है।

यह देखा गया है कि लड़कों पर शिक्षक को अधिक ध्यान देना पड़ता है क्योंकि ज्यादातर स्थितियों में शिक्षक उन्हें अनुशासित और कक्षा के क्रम को बनाए रखने की कोशिश करते हैं। एक और अवलोकन यह है कि शिक्षकों ने अपनी कक्षा में लड़कियों की तुलना में लड़कों का अधिक समर्थन किया है; इसलिए लड़कों को अधिक प्रशंसा प्राप्त होती है जिससे लड़कियों को उपेक्षित महसूस होता है। अध्ययनों से पता चला है कि कई अवसरों पर शिक्षक छात्रों के बीच प्रतिद्वंद्विता को प्रोत्साहित करते हैं क्योंकि

टिप्पणी

यह उन्हें कक्षा में अनुशासित करने में सक्षम बनाता है लेकिन कुछ अवसरों पर उन्हें बेहतर प्रदर्शन करने में मदद मिलती है। शिक्षक अकसर दावा करते हैं कि वे कक्षा में लड़कों पर अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि यह उनकी गतिविधियों पर नजर रखने में उनकी मदद करता है। लेकिन इससे लड़कियां कक्षा में निष्क्रिय हो जातीं हैं और उनके आत्म–सम्मान और आत्मविश्वास पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि शिक्षण के क्षेत्र में अपने अनुभव के बावजूद सभी शिक्षकों ने एक समान शैली में व्यवहार किया है। पुरुष और महिला शिक्षकों का कक्षा में लड़कों और लड़कियों के प्रति समान रवैया है। फिर भी, कक्षा में विचार–विमर्श, रणनीति में पूर्व निर्देश शिक्षक एक उचित कक्षा वातावरण बनाने में मदद करता है। यह देखा गया है कि शिक्षकों की धारणा है कि लड़कियां शारीरिक और बौद्धिक रूप से प्राकृतिक रूप से कमजोर हैं, यह तथ्य लड़कियों को कक्षा में निम्न स्तर का अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है कि उनका समग्र प्रदर्शन और परिणाम अकादमिक प्रदर्शनों में लड़कों की तुलना में कम है। कई अध्ययनों से पता चला है कि लड़कियों में गणित और विज्ञान जैसे विषयों के लिए कम योग्यता है और यह समस्या आगे बढ़ रही है क्योंकि स्कूल में इन विषयों को पढ़ाने के लिए महिला शिक्षकों का अभाव है।

पाठ्यक्रम लैंगिक समानता पर आधारित हो सकता है, लेकिन यह जिस तरह से छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, यह पूरी तरह से शिक्षक पर निर्भर है। भले ही समाज में व्यापक असमानताएं मौजूद हों, फिर भी शिक्षक स्कूल के भीतर एक निष्पक्ष माहौल बना सकते हैं। अगर शिक्षक सकारात्मक दृष्टिकोण से सिखाते हैं कि लड़कियां गणित में अच्छी तरह से प्रदर्शन कर सकती हैं तो निश्चित रूप से लड़कियों पर इसका उत्साहजनक प्रभाव होगा और उनके प्रदर्शन में सुधार होगा। साइमन आक्पक्कू के अनुसार, शिक्षकों को ज्ञान के प्रमोटर के रूप में माना जाता है, साथ ही स्रोत के माध्यम से ज्ञान दिया जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, वह यह सुनिश्चित करने के लिए बाध्य है कि सभी छात्र सीख सकते हैं। लैंगिक समानता पर प्रभावी नीति संरचना प्रारंभिक कदम है, जो समस्या से निपटने के लिए आवश्यक है, और राष्ट्रों तथा सरकारों को लेने की जरूरत है। एक और कदम यह गारंटी देना है कि इन संरचनाओं को शिक्षण और सीखने के तरीकों हेतु प्रभावी नीतियों के विकास का नेतृत्व करना चाहिए ताकि सार्थक परिणाम प्राप्त किए जा सकें।

लैंगिक समानता के अवसर विकसित करने के लिए शिक्षकों, प्राचार्यों और पर्यवेक्षकों को अच्छी तरह से प्रशिक्षित होना आवश्यक है तथा समाज का समर्थन भी अत्यंत आवश्यक है।

लड़के–लड़की की असमानता को चुनौती देने के लिए सन 1986 में शिक्षा को लेकर सरकार द्वारा राष्ट्रीय नीति 1986 बनायी गई थी, उसमें लिंग असमानता को दूर करने के लिए जो नीति बनायी थी, उसमें कुछ बिन्दु इस प्रकार थे–

- लड़कियों के लिए प्राथमिक शिक्षा की योजना बनाकर उसे क्रियान्वित करके लिंग असमानता को दूर किया जा सकता है।

टिप्पणी

- लड़कियों को व्यावसायिक व तकनीकी शिक्षा प्रदान कराकर लिंग असमानता को चुनौती दी जाए।
- लड़कियों की शिक्षा समानता के लिए विविध प्रकार की क्रियाएं चलायी जाएं।
- स्मरण रहे यह शिक्षा नीति सन 1996 में सरकार द्वारा प्रकाश में लायी गई थी।
- लड़कियों को लड़कों के समान ही शिक्षा देकर उन्हें लड़कों के बराबर ही अवसर प्रदान करने की बात भी इसी नीति 1986 में लायी गई थी।

अब लड़कियों को आगे बढ़ाने और लिंग असमानताओं को चुनौती देने में शिक्षकों की भूमिका पर विचार करते हैं। जिस प्रकार बिना इंक के रिफल का कोई महत्व नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार बिना योग्य शिक्षक के उचित शिक्षा भी नहीं दी जा सकती। शिक्षक तो शिक्षा की धुरी है। आप कैसी भी सशक्त और उपयोगी शिक्षा नीति बना लें, उसे विद्यार्थियों तक पहुंचाने का कार्य तो अन्ततः शिक्षक को ही करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम योग्य शिक्षक होने चाहिए। उनमें शिक्षक के सभी गुण क्रियान्वित रूप में मौजूद होने चाहिए। शिक्षक को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। त्याग और समर्पण की भावना से ओत–प्रोत होना चाहिए। जुझारू प्रवृत्ति का होना चाहिए। पूर्ण प्रशिक्षित होना चाहिए। हमें कदापि भूलना नहीं चाहिए कि शिक्षक का स्थान तो गोविंद (भगवान) से भी ऊंचा माना गया है। शिक्षक में धैर्य भी होना अति आवश्यक है।

वह शिक्षक ही है जो गांव–गांव, घर–घर जाकर लड़कियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय में प्रवेश दिला सकता है। उसे लड़कियों के माता–पिता एवं अभिभावकों के मन से लड़कियों के प्रति उत्पन्न हुई असुरक्षा की भावना को दूर करना चाहिए। उन्हें विश्वास दिलाना चाहिए कि आज पुरानी बातें और विचारधारा को छोड़कर लड़कियों को पढ़ाएं, उन्हें शिक्षा दिलाएं, उन्हें आगे बढ़ाएं और स्वावलम्बी बनाएं। लड़कियों को लड़कों जैसे अवसर प्रदान कराएं। उसमें हम शिक्षक आपके साथ हैं, अभिभावकों को ऐसा विश्वास दिलाया जाय। लड़कियों को कन्या विद्यालयों में दाखिला दिलाकर उन्हें शिक्षित बनाया जाय। शिक्षकों को लड़कियों के माता–पिता को समझाना चाहिए कि बिना शिक्षा प्राप्त किए तो लड़की भी पशु समान ही मानी जाएगी। अतः अशिक्षा के अंधेरे से लड़की को भी निकाल कर शिक्षा के उजाले में शिक्षा का सूरज दिखलाओ।

शिक्षकों को विद्यालयों में भी लड़कियों के प्रति सहृदय होने की आवश्यकता है। उनके मन से भीरूपन, शर्म और झिझक को भी दूर करने की आवश्यकता है, लड़कियां किसी से कम नहीं हैं। बस, उन्हें अवसर प्रदान करने की आवश्यकता है। इसके लिए शिक्षक, प्रधान भूमिका निभाकर लिंग असमानता को चुनौती देने में खासी भूमिका निभा सकते हैं।

लिंग के आधार पर तो यह भेद प्रकृति प्रदत्त है किन्तु लड़की बुद्धि में, समझदारी में लड़कों से जन्म से ही बेहतर होती है। वह कुशाग्र बुद्धि वाली होती है। बस उसे घर से बाहर लाकर स्कूल/विद्यालय के द्वार दिखाने की आवश्यकता है। घर से निकालकर

स्कूल में लाने का यह कार्य जुझारू प्रवृत्ति वाले शिक्षकगण बड़ी आसानी से कर सकते हैं।

टिप्पणी

जो लड़कियां लड़कों के स्कूल में विद्या ग्रहण करती हैं, उनके साथ लड़कों जैसा ही व्यवहार किया जाए, यह दायित्व विद्यालय प्रशासन का हो जाता है। लड़कियों के लिए संयुक्त विद्यालयों में विशेष प्रबंध किए जाने चाहिए। उनके लिए लड़कों से अलग शौचालयों का प्रबंध किया जाना चाहिए। ऐसे विद्यालयों में नैतिक शिक्षा और आध्यात्मिक शिक्षा का प्रबंध करना भी उचित होगा। संयुक्त विद्यालयों में पुरुष और स्त्री दोनों ही अध्यापक होने चाहिए। लड़कियां पुरुष अध्यापक से जो बात नहीं कर सकती, वह महिला शिक्षक से आसानी से कह पाती हैं। शिक्षकों को लिंग असमानता को दूर करने के लिए चुनौती देनी चाहिए। यदि शिक्षक चाहे तो कक्षा में भी दोनों लिंगों के विद्यार्थियों को समान दृष्टि से देखकर शिक्षा देकर इस लिंग असमानता को दूर कर सकता है। लिंग असमानता को दूर करने संबंधी अध्यापक–प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में भी कुछ पाठ अलग से जोड़ने की महती आवश्यकता आज विशेष जान पड़ती है। इससे प्रशिक्षित शिक्षकों को लिंग असमानता को चुनौती देने में अतिरिक्त मार्ग दर्शन भी प्राप्त हो सकेगा।

4.6.4 लैंगिक समानता और सहपाठी प्रभाव

अधिकांश लोगों का मानना है कि लिंग के बारे में बच्चे की धारणा और इसकी पहचान विकसित करने में परिवार सबसे प्रभावशाली कारक है। हालांकि, सहपाठी एक और महत्वपूर्ण कारक है क्योंकि यह उसके परिवार के बाद बच्चे की सामाजिक दुनिया का एक हिस्सा बन जाता है। शब्द "सहपाठी" दो या दो से अधिक व्यक्तियों और परिवर्तनों के बीच बातचीत का संदर्भ देता है जो पारस्परिक विचार–विमर्ष के कारण होता है। मनोवैज्ञानिक, रॉय बॉयमेस्टे और मार्क लेरी ने निष्कर्ष निकाला है कि व्यक्तियों को एक–दूसरे के साथ संबद्ध करने की मूल आवश्यकता है। बच्चों के साथ–साथ वयस्कों में, इस इच्छा से संगति और सहकर्मी समूहों का निर्माण होता है। सामाजिक पहचान सिद्धांत के अनुसार, पीयर ग्रुप स्वयं–मूल्यांकन को जन्म देता है और व्यक्ति अपनी सदस्यता बनाए रखने के लिए समूह के मानकों का पालन करने के लिए उत्सुक रहता है।

सहपाठी निर्माण प्रीस्कूल में शुरू होता है, जब बच्चे स्वाभाविक रूप से लैंगिकता का प्रदर्शन शुरू कर देते हैं और उनकी पसंद, पात्रों और गतिविधियों को जन्म देती हैं। मार्टिन एट अल के अनुसार (2013), लिंग के आधार पर बच्चों को प्रायोजित गतिविधियों में प्रमुख प्रतिनिधियों के रूप में माना जा सकता है। इसके अलावा, सहकर्मी समूह की उपलब्धि को परिभाषित करने पर जोरदार प्रभाव होता है और अपेक्षित लिंग भूमिकाओं के अनुकूल होने की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है।

यह पाया गया है कि अपने शुरुआती वर्षों से ही बच्चे समलिंगी समूह बनाना आरंभ कर देते हैं और एक ही लिंग समूह में अधिकतर गतिविधियां करते हैं। यहां तक कि युवा बच्चों के समूहों ने भी नियम तय किए होते हैं। लड़कियां ज्यादातर गुलाबी और

टिप्पणी

लाल रंग के कपड़े पहनती हैं जबकि ज्यादातर लड़के काले और नीले रंग के कपड़े पहनते हैं। लड़कियां ज्यादातर इनडोर गेम खेलती हैं, जिसमें एक घर का दृश्य होता है और ज्यादातर लड़के बाहर मैदानी खेल खेलते हैं। लड़कियां गुड़िया पसंद करती हैं और लड़के कारों और ट्रकों में रुचि रखते हैं। लड़के हमेशा यह मानते हैं कि लड़कियां खेल में अच्छी नहीं होती हैं, और इसलिए उन्हें अपने खेल में शामिल नहीं करते। उन्हें लगता है कि लड़कियां खेल को धीमा कर देती हैं क्योंकि वे तेजी से चलने में सक्षम नहीं होती हैं। इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि प्राथमिक विद्यालय के चरण में लिंग विभेद शुरू हो जाता है। लड़कियां अपने समूह में खेलती हैं, और विशेष खेलों के प्रति अधिक इच्छुक होती हैं, जैसे हॉप्सकोच और चीयरलीडर्स आदि। लड़के बास्केटबॉल या किकबॉल खेलते हैं। बच्चों की ड्रेसिंग, संगीत की पसंद, टेलीविजन शो और यहां तक कि कभी–कभी उनकी साइकिल का मॉडल भी उनके समूह से सम्बन्धित होता है।

उच्च विद्यालय और महाविद्यालय में लैंगिक अलगाव जारी है। यह देखा गया है कि विद्यालय में छात्रों को उचित विकल्प बनाने के लिए मजबूर करते हैं। सहकर्मी समूह तय करता हैं कि कौन से गतिविधियां एक विशेष समूह के लिए उपयुक्त हैं। फुटबॉल, बास्केटबॉल, सॉकर जैसे आक्रामक खेल, ज्यादातर लड़कों द्वारा चुने जाते हैं। लड़कियां तैराकी और अधिकतर इनडोर खेलों को चुनती हैं। स्कूलों में विभिन्न क्लबों की सदस्यता लिंग प्राथमिकताओं से प्रभावित होती है, उदाहरण के लिए, मॉडलिंग, फैशन या पुस्तकों से संबंधित क्लब लड़कियों को पसंद आते हैं, जबकि मुक्केबाजी, कार रेसिंग और क्रिकेट लड़कों को आकर्षित करते हैं। जिन विद्यार्थियों ने विपरीत लिंग के क्लबों में शामिल होने का प्रयास किया, वे अकसर उपहास का पात्र बना दिये जाते हैं या परेशान किये जाते हैं।

सहपाठियों के बीच छात्र की स्थिति की पहचान करने वाले कारक

दोस्तों के बीच प्रसिद्ध और लोकप्रिय होने की कोशिश की जाती है। दूसरों द्वारा प्रशंसा और पसंद किया जाना लोकप्रियता की कुंजी है लड़कों और लड़कियों के बीच प्रसिद्ध और लोकप्रिय होने के लिए मानदंड भिन्न होता है। दोनों लिंगों के साथ संचार करने के मजबूत सामाजिक कौशल होने के बाद लड़के लोकप्रिय हो जाते हैं, वे खेल में अच्छे हैं तो यह मर्दाना छवि प्रस्तुत करता है। लड़कियों को उनके शारीरिक स्वरूप, शिक्षा के क्षेत्र में प्रदर्शन और कभी–कभी अपने माता–पिता की वित्तीय स्थिति के कारण लोकप्रियता प्राप्त होती है। वास्तव में, कभी–कभी केवल सहपाठी समूह में स्वीकार किए जाने के लिए ही स्थापित मानदंडों की अर्हता प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। कुछ अवसरों पर शिक्षक की राय का भी उनकी लोकप्रियता पर असर पड़ता है।

साथियों के बीच ड्रेस अप का तरीका लिंग रूपों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। पुरुष और महिलाएं ड्रेसिंग के बारे में जागरूकता और सकारात्मक चीजों के बारे में विचार रखते हैं, जो किसी व्यक्ति की लिंग पहचान को उजागर करती हैं। विशिष्ट रंगों के वस्त्र और वस्त्रों की शैली लड़कों और लड़कियों के लिए सार्वभौमिक हैं किसी व्यक्ति के वस्त्रों को लैंगिक स्पष्टता का एक महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। निर्धारित मानकों

के अनुसार ड्रेसिंग तथा समकक्षों द्वारा मान्यता प्रदान और स्वीकार किया जाना महत्वपूर्ण है। अगर छात्र निर्धारित लिंग मानकों के अनुसार वस्त्र नहीं पहनते हैं तो उन्हें सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं दी जाती है।

टिप्पणी

शारीरिक स्वरूप एक अन्य कारक है जो छात्रों की स्थिति को प्रभावित करता है। शारीरिक बनावट अकसर सौंदर्य मानकों के लिए महत्वपूर्ण मानदंड होता है। साथियों द्वारा शारीरिक बनावट के बारे में टिप्पणियां कभी–कभी आत्मविश्वास को कमजोर कर सकती हैं और हीनभावना पैदा कर सकती हैं। लड़कियों और लड़कों दोनों को शारीरिक बनावट को लेकर टिप्पणी मिलती है, और अधिक वजन वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत अधिक तनाव प्रदान करने वाला हो सकता है।

लिंग के मानकों को किसी की जाति और नस्ल के आधार पर भी देखा जाता है। साथियों के बीच लोकप्रियता पर त्वचा के रंग का प्रभाव भी पड़ता है। कभी–कभी ऐसी लिंग असमानता व्यक्ति को सामाजिक अलगाव की ओर ले जाती है और यह स्कूल में नस्लवाद फैलाने का एक मजबूत कारण हो सकता है।

सहकर्मी समूह में स्वीकृति के लिए लिंग के अनुसार व्यवहार करने की आवश्यकता महत्वपूर्ण है। 1996 में डिशियन, स्प्रेक्लेन, एंड्रयूज और पैटरसन द्वारा किए गए एक अध्ययन के मुताबिक यह पाया गया कि आपत्तिजनक मित्रों ने नियमों का पालन न करने पर मुखर विरोध किया। दूसरी तरफ, गैर–आपत्तिजनक मित्रों में नियम–टूटने पर प्रतिक्रिया करने की कम प्रवृत्ति थी, लेकिन सकारात्मक विचार–विमर्श के प्रति सकारात्मक तरीके से प्रतिक्रिया व्यक्त की। जो बच्चे लैंगिक रूढ़िवादी व्यवहार नहीं करते हैं उन्हें अकसर बहिष्कार का सामना करना पड़ता है उदाहरण के लिए, एक किशोर लड़की को युवा लड़कों में दिलचस्पी रखनी पड़ती है, और यदि वह रुचि नहीं दिखाती तो उसे उसके साथियों द्वारा असामान्य माना जाता है। जो बच्चे स्कूल आते हैं और केवल अध्ययन पर ध्यान केंद्रित करते हैं तथा उन पर अध्यापकों का अनुग्रह भी होता है, तो अकसर उनके साथियों द्वारा उन्हें पसंद नहीं किया जाता है यदि कोई लड़की खेल तथा अन्य गतिविधियों में अधिक रुचि दिखाती है जो कि लड़कों द्वारा अनुगृहित भी होती हैं, तो उसे अकसर "टॉम्बॉय" कहा जाता है और अन्य लड़कियों द्वारा उपहास किया जाता है।

यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि सहपाठियों का लैंगिक पहचान बनाने में एक मजबूत प्रभाव होता है। यह प्रीस्कूल से चरण के रूप में शुरू होता है और वयस्कता तक जारी रहता है। वास्तव में हम जैसे–जैसे बड़े होते हैं यह विस्तृत होता जाता है। यह प्रभाव व्यक्ति के पूरे जीवन चक्र के दौरान महसूस किया जा सकता है।

यह कथन सही है कि लिंग असमानताओं को चुनौती देने में साथियों की भूमिका भी प्रमुख होती है। यह कहावत तो सुनी ही होगी कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। या फिर सोहबत (संगत/कुसंगत) का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। तात्पर्य है कि बच्चे जिन बच्चों के साथ रहते हैं उनके संस्कार प्रभाव उनमें येन–केन प्रकारेण आ ही जाते हैं। अब यदि लड़कियां पढ़ी–लिखी लड़कियों के साथ रहेंगी तो वे अवश्य ही स्वयं भी पढ़ना लिखना पसंद करेंगी और अपनी सहेलियों से भी इस संबंध

टिप्पणी

में बातें करेंगी। अब यदि वे सहेलियां भी पढ़ी–लिखी हैं और पढ़ाई लिखाई के महत्व को समझती हैं तो निश्चित रूप से वे अपनी अनपढ़ या कम पढ़ी–लिखी सहेलियों को प्रोत्साहित करेंगी, उकसायेंगी। कहते हैं भूखे को खिलाने वाला यदि मिल जाए तो वह तो मन से चटकारे लेकर खाएगा ही। पढ़ना–लिखना भी एक प्रकार की भूख ही होती है।

लड़कियों के लिए आज शिक्षण प्रशिक्षण के अनेकानेक सरकारी गैर–सरकारी संस्थान खुले हुए हैं। लड़कियां तो आज लड़कों से भी प्रत्येक क्षेत्र में आगे निकलती जा रही हैं। कारण, लड़कियों ने लिखाई–पढ़ाई के महत्व को समझना प्रारम्भ कर दिया है। आज तो स्थिति ये है कि लड़कियां एक दूसरे की देखा–देखी भी गांव, कस्बों से निकलकर अपनी सहेलियों के संग शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए शहरों में जा रही हैं वहां उनके रिश्तेदार नहीं भी हैं और हैं भी, तो भी वे लड़कियों के छात्रावास में जाकर अध्ययन कर रही है। सफल होकर अच्छी–अच्छी नौकरियां प्राप्त कर रही हैं।

यदि लड़की को घर के संस्कार और शिक्षा अच्छी मिलती है तो वह कहीं भी अकेली या फिर अपनी सहेली के साथ चली जाए तो उसे तब तक कोई हानि नहीं हो सकती, जब तक कि वह अपने आप में दृढ़ प्रतिज्ञ है। लड़की आज अपनी रक्षा स्वयं करना जान गई है। फिर साथियों की संगत भी विशेष महत्व रखती है। साथियों का सहयोग हो तो लिंग असमानता को करारी चुनौती देने में लड़कियां आगे ही रहती हैं।

4.6.5 लैंगिक समानता की चुनौतियां

स्कूलों में लिंग असमानता लड़के–लड़कियों में एकदम से नहीं आ जाती। बच्चे माता–पिता, परिवार, गली–मुहल्ले, कस्बे, शहर, महानगर से अपनी यात्रा तय करते हुए पाठशाला में प्रवेश लेते हैं अथवा उन्हें प्रवेश दिलाया जाता है। इसमें सर्वप्रथम सरकारी तंत्र प्रयास रत रहता है। फिर परिवार, समाज और वातावरण भी बच्चों को स्कूल में आने के लिए प्रेरित करते हैं। इन तमाम बिन्दुओं का प्रभाव–मानसिक और बौद्धिक स्तर पर बच्चो पर पड़ता है। अलग–अलग भाव लेकर लड़के–लड़कियां स्कूलों में प्रवेश लेते हैं। उन स्थानों के वातावरण के प्रभाव उन पर छाये रहते हैं। इनमें भी लड़कियों को विशेष रूप से स्कूलों में लाया जाता है।

लड़कियां जब स्कूल के खुले और अनुशासित वातावरण में पहली बार कदम रखती हैं तब उन्हें सभी कुछ अजीब–अजीब सा लगता है। अब ऐसे में जब लड़कों या फिर लड़कियों से उनका सामना होता है तब वे यकायक अपने आपको सहज नहीं कर पाती हैं। अब यहां पर स्कूल प्रशासन और कक्षा तथा कक्षाध्यापक की भूमिका मुखरित हो उठती है। कैसा व्यवहार इन स्थानों पर ये लोग विशेषरूपेण लड़कियों के साथ करते हैं, यह मुद्दा मुख्य है। यहां पर सभी के चरित्र और विवेक की भी मुख्य भूमिका उभर कर सामने आती है।

लड़कियों को स्कूली वातावरण और वहां सम्पर्क में आने वालों के साथ सहज होने में काफी समय लगता है। ऐसे में स्कूलों में लिंग असमानता और उसका प्रभाव देखने में आता है।

टिप्पणी

सामान्यतया लिंगीय विभेद के निम्नांकित प्रमुख प्रकार होते हैं–

(1) जातिगत विभेद

(2) प्रजातीय विभेद

(3) लिंगीय विभेद

(4) भाषायी विभेद

(5) रंगगत विभेद

(6) सांस्कृतिक विभेद

(7) आर्थिक विभेद

(8) स्थानगत विभेद।

ये सभी विभेद स्कूलों में भी लड़के–लड़कियों को प्रभावित किए रहते हैं। यह मानवता के विरूद्ध है। मनुष्य की एकता में विभेद रोड़ा है। परन्तु लिंगीय विभेद के कारण बालिकाओं को कुछ परिवारों में 'मीन मानसिकता' और रूढ़िवादिता के कारण भ्रूणावस्था में ही नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त जन्म के बाद भी कन्याओं के साथ भेदभाव किया जाता है। वैसे इस स्थिति में आज सरकारी तंत्र, शिक्षा और सामाजिक जागरूकता के कारण काफी बदलाव आया है। यूनेस्को के अध्ययन के अनुसार, भारत में प्रत्येक वर्ष एक करोड़ तीस लाख कन्या भ्रूणों की हत्या कर दी जाती है। इस आंकड़े से लिंगीय विभेद की स्थिति पर सहज ही विचार किया जा सकता है।

अब लिंगीय विभेद के कारण भी जान लें, जो निम्नवत् हैं–

(1) मान्यताएं तथा परम्पराएं

(2) संकीर्ण विचारधारा

(3) जागरूकता का अभाव

(4) अशिक्षा

(5) सरकारी उदासीनता

(6) सामाजिक कुप्रथाएं

(7) दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली

(8) आर्थिक तंगी

(9) सांस्कृतिक कारक, और

(10) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

सामान्यतया लिंगीय विभेदों को समाप्त करने के निम्नलिखित उपाय हो सकते हैं–

(i) जनशिक्षा का प्रसार

(ii) जागरूकता लाना

(iii) भ्रूण हत्या रोकने पर कठोर दण्ड का प्रावधान

(iv) बालिका शिक्षा का प्रसार

टिप्पणी

(v) शिक्षा प्रणाली में सुधार

(vi) लड़कियों के लिए अलग से व्यावसायिक विद्यालयों की व्यवस्था

(vii) सामाजिक कुप्रथाओं पर रोक

(viii) सामाजिक परम्पराओं तथा मान्यताओं पर कुठाराघात

(ix) सुरक्षित वातावरण

(x) प्रशासनिक प्रयास, और

(xi) संवैधानिक इलाज

उपरोक्त लिखित उपायों से भी स्कूलों में लिंग असमानता को समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार स्कूलों में लड़के–लड़की के भेद को मिटाकर समानता का वातावरण पैदा किया जा सकता है।

लिंग असमानता को दूर करने के कुछ और भी उपाय हैं, यथा–

- स्कूलों में तब तक लैंगिक असमानता को दूर नहीं किया जा सकता जब तक कि आम जनता में उचित जन शिक्षा का प्रचार प्रसार नहीं हो जाता।
- लैंगिक असमानता को दूर करने के लिए परिवार, घर और समाज तथा स्कूल में भी जागरूकता लाना आवश्यक है।
- कन्या भ्रूण हत्या एक जघन्य अपराध है, इसे दूर करने के लिए कठोर नियम लागू होने और उनके सख्ती से पालन करने की आवश्यकता है।
- समाज में सरकार और समाज द्वारा बालिका शिक्षा के प्रचार–प्रसार पर बल देने की भी आवश्यकता। इसे गंभीरता से लेने की आवश्यकता है। वैसे सच्चाई यह भी है कि सरकारी स्कूलों में प्रशासन और शिक्षक अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्णरूपेण कर्तव्यनिष्ठ नहीं होते। इसके लिए स्कूल निरीक्षकों को जागरूक करने की आवश्यकता है।
- भारत की शिक्षा प्रणाली में सुधार करके भी इस असमानता को स्कूलों से दूर किया जा सकता है। नई शिक्षा प्रणाली को विधिवत लागू करने पर भी बल दिया जाना चाहिए।
- लड़कियों के लिए अलग से व्यावसायिक विद्यालयों की व्यवस्था करके भी इस समस्या से मुक्ति पाई जा सकती है। हमारे पिछड़े समाज में अभी भी कुप्रथाएं प्रचलित हैं। कारण, वहां शिक्षा का अभाव तो है ही, रूढ़िवादिता और प्राचीन परम्पराओं का अंधेरा भी छाया हुआ है। लड़कियों को शिक्षा देने की प्रथा नहीं है। वहां लड़कियां घर को ही संभालने में लगी रहती हैं।
- हमारा देश बहुरंगी संस्कृति प्रधान देश है–पूर्व की संस्कृति कुछ और है, तो उत्तर की कुछ और है। इसी प्रकार उत्तर की संस्कृति कुछ और है तो दक्षिण में लड़के–लड़की में विशेष भेद नहीं माना जाता। फिर भी संस्कृति के अनुसार व्यवहार अवश्य किया जाता है। यहां यह विभेद सामने आ जाता है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों की परम्पराएं एवं मान्यताएं भी भिन्न हैं। इन पर सामाजिक

कार्यकर्त्ता अपने प्रभाव से लैंगिक असमानताओं के प्रति लोगों के रूझान में परिवर्तन लाकर स्कूली लैंगिक असमानता को भी कम कर सकते हैं।

- यदि स्कूलों का वातावरण पवित्र होगा तो माता–पिता, अभिभावक कन्याओं को स्कूल भेजने में हिचकेंगे नहीं। इसलिए स्कूलों में अनुशासन के माध्यम से भी लैंगिक असमानता दूर की जा सकती है।
- स्कूलों में लैंगिक असमानता को दूर करने में विद्यालय प्रशासन भी अपना योगदान दे सकते हैं। स्कूलों में अनुशासन, शिष्टाचार और नैतिक शिक्षा के पाठ व्यवहारिक रूप में बच्चों को पढ़ाये जाने चाहिए।
- स्कूलों में लैंगिक असमानता को दूर करने के लिए सरकारी प्रशासन भी यदा–कदा स्कूलों में आकर वहां की अनुशासन व्यवस्था को चुस्त–दुरुस्त कर सकता है। स्कूल की चार दिवारी में क्या होता है, इसका पता माता–पिता अभिभावक, सामाजिक कार्यकर्त्ता और सरकारी प्रशासन को भी होना अतिआवश्यक है।

टिप्पणी

इस प्रकार उपर्युक्त कदम उठाकर भी स्कूलों में लैंगिक असमानता को दूर कर शैक्षिक स्तर पर भी समानता लाई जा सकती है।

4.6.6 लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा के लिए सरकारी प्रयास

एनपीई 1986 के उद्देश्यों के अनुरूप लक्ष्य हासिल करने हेतु 1989 में 'महिला समाख्या योजना' ग्रामीण क्षेत्रों खासकर सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों की महिलाओं की शिक्षा तथा उनके सशक्तीकरण के लिए यह आरंभ की गई। निर्धारित नियमानुसार बालिका शिक्षा योजना के अंतर्गत सरकार द्वारा घोषित किया गया है कि महिला समाख्या राज्यों में, राज्य सरकार द्वारा महिला समाख्या सोसाइटी के माध्यम से जबकि अन्य राज्यों में सर्वशिक्षा अभियान समिति के माध्यम से लागू की जाएगी। राज्य सर्वशिक्षा अभियान समिति को निधि सर्वशिक्षा अभियान मानक के अनुसार जारी किया जाएगा। राज्य व जिला स्तर पर योजना का संचालन व मूल्यांकन महिला समाख्या संसाधन केंद्र द्वारा और गैर–महिला समाख्या राज्यों में सर्वशिक्षा अभियान समिति में प्रारंभिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम के लिए गठित समिति, करेगी। आवासीय विद्यालय के शिक्षकों एवं अन्य कर्मचारियों को प्रशिक्षण, जिला शैक्षिक प्रशिक्षण संस्थान, प्रखंड संसाधन केंद्र और महिला समाख्या संसाधन समूह के सहयोग से किया जाएगा।

राज्य सहायता समूह

प्रारंभिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम (एन.पी.ई.जी.ई.एल) योजना के तहत् स्वीकृत राज्य स्तरीय समन्वय समिति, कार्यक्रम को निर्देशन और सहायता प्रदान करेगी। इस समूह में राज्य सरकार के संबंधित विभाग व भारत सरकार के प्रतिनिधि, बालिका शिक्षा के क्षेत्र से संबंधित विशेषज्ञ व शिक्षाविद् आदि भी शामिल होंगे। इस समिति द्वारा विद्यालय के उपयुक्त मंडल एवं स्थान का निर्धारण, जिला समिति द्वारा कार्यान्वित की जा रही प्रारंभिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम (एन.पी.ई.जी.ई.एल.) एवं नई प्रस्तावित योजना की सिफारिश के आधार पर की जाएगी।

टिप्पणी

राष्ट्रीय सहायता समूह

राष्ट्रीय सहायता समूह को राष्ट्रीय स्तर पर महिला समाख्या कार्यक्रम के अंतर्गत गठन किया गया है, जो कार्यक्रम में उठने वाले अवधारणात्मक मुद्दे एवं मामले पर अपनी प्रतिक्रिया व सुझाव देंगे और बालिका शिक्षा के बारे में भारत सरकार को नीतिगत मामले में सलाह देंगे। यह समूह, शोध व प्रशिक्षण संस्थान, शिक्षाविद् और गैर–सरकारी संस्थाओं के साथ इंटरफेस प्रदान करेगा तथा बालिका शिक्षा के क्षेत्र में और लोगों के अनुभव को शामिल करेगा।

राष्ट्रीय सहायता समूह में कम लोग शामिल होते हैं और वे साल में केवल दो से तीन बार मिलते हैं। राष्ट्रीय सहायता समूह की लघु उप–समिति का गठन–शिक्षकों को लिंग प्रशिक्षण (जेन्डर ट्रेनिंग), लिंग आधारित शिक्षण–प्रवीणता सामग्री का विकास, दृश्य–श्रव्य कार्यक्रम का विकास आदि विशिष्ट उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया जाएगा। इसके लिए वह संबंधित संस्थाओं से अतिरिक्त कर्मियों या उस क्षेत्र से जुड़ेगा, विशेषज्ञ की सेवा भी प्राप्त कर सकेगा।

कार्य प्रणाली की व्यवस्था

बालिकाओं की संख्या और प्रदान किए जाने वाले आवासीय विद्यालय के प्रकार के आधार पर स्कूल के प्रारूप का चयन, इस उद्देश्य के लिए जिला समिति द्वारा दी गई सिफारिशों के आधार पर, राज्य स्तरीय समिति द्वारा किया जाएगा। जहां जरूरी हो प्रस्ताव राष्ट्रीय स्तर पर गठित सेल को अग्रसारित किया जाएगा जो बाह्य अभिकरण या परामर्शदाता की सहायता से उसका मूल्यांकन करेगा।

कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना के अंतर्गत वित्तीय प्रतिमानक एवं दायित्व

कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय के लिए केंद्र सरकार, राज्य व केंद्र शासित प्रदेशों के लिए वित्तीय अंशदान का नियम सर्वशिक्षा अभियान के समान होगा। सर्वशिक्षा अभियान एक घटक के रूप में कार्यरत है। सर्वशिक्षा अभियान के लिए केंद्र और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय भागीदारी नौवीं योजना अवधि के दौरान 85:15, दसवीं योजना में 75:25 तथा उसके बाद यह 50:50 की होगी। लागत को वहन करने की वचनबद्धता राज्य सरकारों से लिखित रूप में ली जाएगी।

सर्वशिक्षा अभियान और प्रारंभिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम (एन.पी.ई.जी.ई.एल) के लिए पहले से ही तैयार प्रावधान में, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना का प्रावधान, अतिरिक्त प्रावधान होगा।

सर्वशिक्षा अभियान समिति, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना को प्रारंभिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम (एन.पी.ई.जी.ई.एल) व महिला समाख्या कार्यक्रम के साथ समन्वय स्थापित करने को सुनिश्चित करेंगे। यह इस बात को भी सुनिश्चित करेंगे कि उसके लिए निर्गत या दी गई निधि का उचित रूप से निवेश हो तथा गतिविधियों में दोहरापन न हो।

भारत सरकार, इस उद्देश्य के लिए निधि सीधे सर्वशिक्षा अभियान क्रियान्वयन समिति को जारी करेगी। राज्य सरकारें भी अपना हिस्सा राज्य क्रियान्वयन समिति को जारी करेंगी।

टिप्पणी

उसके बाद, जहां जरूरी हो, वहां निधि महिला समाख्या सोसाइटी को जारी किया जाएगा। उन राज्यों में जहां महिला समाख्या को क्रियान्वित नहीं किया गया हो, वहां इस योजना का क्रियान्वयन सर्वशिक्षा अभियान सोसाइटी के जेन्डर यूनिट के माध्यम से किया जाएगा और सर्वशिक्षा अभियान के लिए उपयोग में लाए जा रहे विद्यमान तंत्र को उपयोग में लाया जाएगा।

राज्य समिति को कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना निधि को संचालित करने के लिए बैंक में एक अलग जमा खाता (बचत खाता) खुलवाना चाहिए।

राज्य सरकार को भी एक अलग बजट शीर्षक से सर्वशिक्षा अभियान समिति को समान मात्रा में निधि जारी करनी चाहिए। उसी अनुरूप जिला एवं उप–जिला संरचना पर भी अलग खाता बनाकर देखभाल करनी होगी।

बालिका–कल्याण

महिला और बालिका विकास मंत्रालय बालिकाओं के कल्याण तथा विकास के लिए कई योजनाएं लागू कर रहा है। पायलट रूप में 7 राज्यों में वर्ष 2008–09 से 'धनलक्ष्मी'– नामक एक योजना का क्रियान्वयन किया जा रहा है, जो बालिका को खास स्थिति में नकद स्थानान्तरण की सुविधा देती है।

यह योजना बालिका के परिवार को कुछ शर्तों को पूरा करने, जैसे– जन्म पंजीकरण, प्रतिरक्षा, स्कूल में दाखिला तथा कक्षा आठ तक की कक्षा में उपस्थिति आदि के आधार पर नकद राशि का हस्तांतरण करती है तथा यदि बालिका 18 साल तक अविवाहित है तो एक बीमा कवर भी किया जाता है।

किशोरी शक्ति योजना (केएसवाइ) को 6118 एकीकृत बाल विकास योजना (आइसीडीएस) परियोजनाओं में किशोरियों (11 से 18 वर्ष) के लिए चलाया जा रहा है, जिसमें आइसीडीएस के इंफ्रास्ट्रक्चर के जरिए किशोरियों के स्व–विकास, पोषण तथा स्वास्थ्य दशाओं, शिक्षा एवं अंकीय योग्यता, व्यावसायिक योग्यता आदि पर ध्यान दिया जा रहा है।

किशोरियों के लिए पोषण कार्यक्रम योजना (एनपीएजी) का क्रियान्वयन 51 जिलों में एक पायलट प्रोजेक्ट के रूप में किया जा रहा है। इसके अंतर्गत 11 से 19 साल की किशोर बच्चियों को मुफ्त 6 किग्रा. अनाज प्रति माह प्रदान किया जा रहा है। वर्ष 2009–10 के दौरान 10 करोड़ रुपए 'धनलक्ष्मी' योजना के लिए आवंटित किए गए थे। इसी अवधि में 'किशोरी शक्ति योजना' के लिए आवंटित कुल फंड की राशि 71. 30 करोड़ है। यह फंड 1.1 लाख प्रति परियोजना प्रति वर्ष की दर से जारी किया गया। किशोरियों के लिए वर्ष 2009–10 के दौरान पोषण के लिए 162.77 करोड़ रुपए आवंटित किए गए तथा राज्यवार आवंटन प्रत्येक राज्य में लाभार्थियों की अपेक्षित संख्या पर आधारित है।

आशा है उपर्युक्त सभी प्रयासों के फलस्वरूप लड़कियां और महिलाएं परिवार तथा देश निर्माण में बढ़चढ़ कर भाग ले पाएंगी तथा भारत वैभव एवं समृद्धि की नई ऊंचाइयों को छू पाएगा।

टिप्पणी

बदलता दृष्टिकोण

भारतीय समाज में लड़की के जन्म को दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता है किन्तु शिक्षित परिवारों में और अन्य वर्गों की विचारधारा में अब निश्चित रूप से परिवर्तन आया है। कुछ समाज शास्त्रियों का मानना है कि यह परिवर्तन शिक्षित शहरी मध्यमवर्गीय महिलाओं में आई जागृति का परिणाम है। वे नहीं चाहती कि उनकी बेटियां भी दमन का जीवन व्यतीत करें। यह भी प्रकाश में आया है कि हाल के वर्षों में दिल्ली एवं मुंबई के शिक्षित वर्ग की महिलाओं में भ्रूण जांच परीक्षण के विषय में प्रतिकूल विचार उत्पन्न हुए हैं। इस विषय में राष्ट्र संघ की कुछ एजेंसियों (यूनिसेफ एवं यूनिफेम) का योगदान महत्वपूर्ण है।

विज्ञान ने यह प्रामाणित कर दिया है कि प्रतिभा एवं मानसिक योग्यताओं के संबंध में स्त्री और पुरुष दोनों समान है। कई क्षेत्रों में तो लड़कियों ने लड़कों से बेहतर प्रदर्शन किया है तथा उन क्षेत्रों में अपना नाम विख्यात किया है जो पहले पुरुष प्रधान क्षेत्र माने जाते थे। आज लड़कियों को पसन्द किया जाता है क्योंकि वे अपने माता–पिता से भावनात्मक स्तर पर निकटता निरन्तर बनाए रखती हैं।

लिंग के आधार पर असमानता को कम करने के लिए भरसक प्रयास किये गए हैं। शिक्षा में लड़कियों की भागीदारी के परिणामस्वरूप ही यह सुधार संभव हुआ है। इसी तरह स्कूलों में लड़कियों की भर्ती में भी बढ़ोतरी हुआ है। उच्च शिक्षा में भी स्थिति सुधरती नजर आ रही है। अतः कहा जा सकता है कि भारत में शनै–शनै लड़कियों के प्रति नजरिया बदल रहा है। लड़कियों का समाजीकरण पारम्परिक मान्यताओं, सामाजिक मानकों एवं मूल्यों तथा परिवार एवं वैवाहिक संस्थानों से प्रभावित होता है अतः परम्परागत मान्यताओं को तोड़ते हुए हर वर्ग के लोगों के बीच नये सामाजिक प्रतिमान स्थापित करने होंगे। इसके अतिरिक्त परम्परागत विचारधाराओं और प्रथाओं में सुधार करना होगा। सामाजिक परिवर्तन के लिए मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन अत्यंत अनिवार्य है। लड़कियों के साथ लिंग के आधार पर असमानता तथा भेदभाव को दूर करने के लिए समान विकास तथा कानूनी नीतियों को अपनाना होगा।

अपनी प्रगति जांचिए

9. लैंगिक भेदभाव के प्रमुख कारकों में से एक है–

   (क) सांस्कृतिक कारक (ख) आर्थिक कारक

   (ग) विद्यालयी कारक (घ) उपर्युक्त सभी

10. विद्यालय के संदर्भ में लैंगिक असमानता का एक कारक है–

    (क) पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकें (ख) शिक्षक

    (ग) सहपाठी (घ) उपर्युक्त सभी

4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (घ)

3. (घ)
4. (ग)
5. (ख)
6. (घ)
7. (क)
8. (ग)
9. (घ)
10. (घ)

टिप्पणी

4.8 सारांश

शिक्षा मानव विकास हेतु प्रयुक्त किया जाने वाला सबसे प्रमुख साधन है। शिक्षा ही एक मात्र ऐसा माध्यम है जिसकी सहायता से व्यक्ति के समस्त पक्षों का सर्वांगीण विकास किया जा सकता है। शिक्षा के ही द्वारा हमारी कीर्ति का प्रकाश चारों ओर फैलता है तथा शिक्षा ही हमारी समस्याओं को सुलझाती है एवं हमारे जीवन को सुसंस्कृत बनाती है। हम देश में रहें अथवा विदेश में, शिक्षा प्रत्येक स्थान पर हमारी सहायता करती है। अर्थात जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर कमल का फूल खिल उठता है तथा सूर्य अस्त होने पर कुम्हला जाता है ठीक उसी प्रकार शिक्षा के प्रकाश को पाकर प्रत्येक व्यक्ति कमल के फूल की भांति खिल उठता है। शिक्षा वह प्रकाश है जिसके द्वारा बालक की समस्त शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है। इससे वह समाज की सर्वांगीण उन्नति में अपनी शक्ति का उत्तरोत्तर प्रयोग करने की भावना से ओतप्रोत होकर संस्कृति तथा सभ्यता को पुनर्जीवित एवं पुनर्स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर 2000 ई.पू. भारत में जिस सभ्यता का उद्‌भव हुआ वह वैदिक सभ्यता के नाम से जानी जाती है। आर्यों ने जिस सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला रखी वह मौलिक तो थी ही भावी भारत के लिए अनुकरणीय भी थी। इस अनूठी संस्कृति के लगभग सभी अंगों का चरमोत्कर्ष वैदिक काल में परिलक्षित होता है। भारत का इतिहास सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारकों से उतना प्रभावित नहीं रहा जितना कि यहां की आध्यात्मिकता ने उसे प्रभावित किया है। यहां की संस्कृति ने विश्व–बंधुत्व तथा अति मानवता को प्राथमिकता दी है। प्राचीन काल में आध्यात्मिकता से ही राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक धाराएं प्रभावित हुईं। सत्याचरण, प्रेम, अहिंसा पर ही सामाजिक जीवन की नींव रखी गई थी। प्राचीन काल में शिक्षा इसी सिद्धांत पर आधारित थी। अनादिकाल से भारत में शिक्षा स्वयं के लिए नहीं, अपितु धर्म के लिए प्राप्त की जाती थी। यह मुक्ति एवं आत्मबोध का साधन थी और जीवन का महान लक्ष्य मुक्ति था।

वैदिक काल में शिक्षा को दो भागों में विभक्त किया गया था– परा विद्या एवं अपरा विद्या। परा विद्या में अलौकिक एवं अपरा विद्या में लौकिक ज्ञान दिया जाता था।

टिप्पणी

परा विद्या को श्रेष्ठतम दर्जा हासिल था, क्योंकि इसमें ब्रह्म का ज्ञान करवाया जाता था, ईश्वर व आत्मा को मिलाने पर बल दिया जाता था। परा विद्या के द्वारा चरम लक्ष्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति का रास्ता दिखाया जाता था और अपरा विद्या में शिष्य को व्यवहारिक ज्ञान दिया जाता था, जिससे वह जीवन में आने वाली चुनौतियों के लिए तैयार हो सके।

ब्राह्मणयुगीन शिक्षा व्यवस्था बहुत कुछ वेदकालीन शिक्षा का ही परिष्कृत तथा उन्नत रूप थी। इस युग में पुरोहितवाद बढ़ रहा था। साथ ही शिक्षा की संस्थाओं में अनेक स्वरूप विकसित होने लगे। शाखा, चरण, परिषद्, कुल तथा गोत्र संस्थाओं का जन्म शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए होने लगा था। उपनिषद, आरण्यक, ब्राह्मण आदि ग्रंथों की रचना इसी युग की देन है। वनों में प्रसिद्ध आश्रमों की स्थापना होने लगी थी। इसी युग में सूत्र साहित्य का सर्जन भी हुआ। दर्शन की छः शाखाओं– सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, कर्म या पूर्व मीमांसा, वेदांत या उत्तर मीमांसा आदि का विकास भी इसी युग की देन है। इस युग की विशेषता है– वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण तथा उसका शिक्षण, शूद्र तथा स्त्रियों की शिक्षा कम होने लगी थी।

बौद्धयुगीन शिक्षा ईसा पूर्व 5वीं सदी में अस्तित्व में आई। ब्राह्मणों ने जन साधारण को शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया। फलतः बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव ने जनता को शिक्षित करने, उन्हें धर्म का आचरण करने की स्वतंत्रता प्रदान की। बुद्ध ने जीवन को व्यावहारिक स्वरूप दिया। इसलिए व्यावहारिक धर्म और व्यावहारिक शिक्षा जन साधारण के लिए उपलब्ध हो गए।

वास्तविकता यह है कि बौद्ध युगीन शिक्षा स्वयं में भिन्नता रखते हुए भी वैदिक युग की शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी। बौद्ध शिक्षा संघों में थी। "बौद्ध शिक्षा पद्धति प्रायः बौद्ध संघ की पद्धति है, जिस प्रकार वैदिक युग में यज्ञ संस्कृति के केंद्र थे, उसी प्रकार बौद्ध युग में संघ शिक्षा और विद्या के केंद्र थे। बौद्ध संसार में अपने संघों से पृथक या स्वतंत्र रूप में शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं था। सब प्रकार की धार्मिक तथा लौकिक शिक्षा श्रमणों के हाथ में थी।"

भारत में मुस्लिम शिक्षा प्रणाली बहुमुखी होकर विकसित हुई। इसने एक ओर इस्लाम तथा कुरान को जीवन शैली का आधार बनाया तो दूसरी ओर मिश्रित संस्कृति और सभ्यता से नई दिशा विकसित हुई। "मुस्लिम शिक्षा एक विदेशी प्रणाली थी, जिसका भारत में प्रतिरोध किया गया और जो ब्राह्मण शिक्षा से अति अल्प संबंध रखकर अपनी नवीन भूमि में विकसित हुई।"

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार के उद्देश्य से आने के पश्चात ही औपनिवेशिक काल का प्रारंभ हुआ। आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य केवल व्यापार तक ही सीमित था, किंतु धीरे–धीरे उन्होंने भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में भी हस्तक्षेप शुरू कर दिया, जिसके लिए ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के आधारभूत ढांचे में बदलाव तथा अंग्रेजी भाषा को महत्व देने की मांग की जाने लगी। शुरू में यूरोपीय शिक्षा पर आधारित विद्यालय केवल अंग्रेज अधिकारियों के उन बच्चों के लिए खोले गए जो भारत में रह रहे थे, किंतु धीरे–धीरे इनमें भारतीय अधिकारियों के बच्चों को प्रवेश देने की बात कही जाने लगी। कंपनी द्वारा भारत में शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप के कारण प्राच्यवादी एवं पाश्चात्यवादी लोगों में विवाद भी बढ़ता गया।

औपनिवेशिक काल में कई ऐसे आयोग, समितियां तथा प्रतिवेदन सामने आए जिसने भारतीय शिक्षा को यूरोपीय शिक्षा पद्धति में बदलने का कार्य किया।

टिप्पणी

'सामाजिक विविधता' से अर्थ एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है, जिसमें अलग–अलग समूह मिलजुलकर एक साथ अपने अस्तित्व को बनाए रख सकें। भारत जैसे देश में समाज में कई प्रकार की विविधताएं देखने को मिलती हैं, जैसे कि भाषा के आधार पर, क्षेत्र के आधार पर, धर्म व जाति के आधार पर। सामाजिक विविधता को यदि क्षेत्रवाद के आधार पर देखें तो इसके कई उत्तरदायी कारक नजर आते हैं, जिनमें से आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषावाद और मनोवैज्ञानिक कारक अहम हैं।

जनजाति का अर्थ सामान्यतया ऐसे लोगों से है जो निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं तथा विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए होते हैं। इनका निवास स्थान सामान्यतया पहाड़ी या पठारी क्षेत्र होते हैं। इनके अपने रीति–रिवाज होते हैं जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से काफी सीमा तक भिन्न होते हैं। इसे हम ऐसा क्षेत्रीय समूह कह सकते हैं जो सामान्य भाषा, सामाजिक नियमों एवं आर्थिक कार्यों इत्यादि में समानता के आधार पर एक सूत्र में बंधा हुआ है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जनजाति ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित भू–भाग (जंगल या पहाड़) पर निवास करते हैं, जिनकी संस्कृति एक होती है तथा जो आज भी आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं।

जातीय असमानता एवं भारतीय जाति व्यवस्था एक अत्यन्त जटिल प्रथा है। कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारतीय समाज में जाति से सम्बन्धित असमानता कब से है तथा यह विकास के किन–किन प्रमुख चरणों के पश्चात वर्तमान रूप में पहुंची है। भारतीय समाज की जातीय असमानता के बारे में जो भी तथ्य उपलब्ध हैं वे सब पुराणों तथा शास्त्रों पर आधारित हैं जिनकी विश्वसनीयता पर यूरोप के वैज्ञानिकों को संदेह रहा है। समय के साथ–साथ भारतीय समाज में जाति तथा इससे सम्बन्धित असमानता का स्वरूप भी बदलता रहा है। जाति से सम्बन्धित असमानता को समझने के लिए जातीयता का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक है। यह जाति से जुड़ी हुई अवधारणा है।

भारत में लिंग की अवधारणा 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों के दौरान स्थापित हुई थी। प्रारम्भ में इस सीमांकन की पंक्ति को आकर्षित करने के लिए इसे एक विश्लेषणात्मक शब्द के रूप में इस्तेमाल किया गया था, जैसे–जैविक लिंग, मतभेद और इसका इस्तेमाल प्राणियों अन्य संबंधित दक्षताओं के व्यवहार को सूचित करने के लिए मानव निरंतर करते रहे हैं। इसे संज्ञा के रूप में जैसे– लक्षण और व्यवहार जैसे शब्दों के रूप में उपयोग में लाया गया है। इसीलिए लिंग जैविक विषयों को दर्शाता है और मनुष्य जाति में एक महिला से एक पुरुष का भेद बतलाता है। उसी तरह लिंग पुरुषों और महिलाओं से जुड़े सामाजिक, पारम्परिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक लक्षणों के माध्यम से सामाजिक संदर्भों को भी दर्शाता है।

वर्तमान समाज पुरुष प्रधानता वाला समाज है जिसे पितृसत्तात्मक समाज कहा जाता है। यह सच है कि महिला एवं पुरुष में कुछ जैविक अन्तर पाया जाता है पर जहां तक मानव व्यवहार तथा भावनाओं का संबंध है ये दोनों में ही पाए जाते हैं।

टिप्पणी

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में लैंगिक असमानता एक समस्या के रूप में है क्योंकि महिला को एक उपभोग तथा प्रयोग करने वाली "वस्तु" के समान समझा जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि महिला, पुरुषों से कमजोर है तथा वह उनकी बराबरी नहीं कर सकती। ऐसी भावना की उत्पत्ति को देखने से पता चलता है कि समाज वर्गों में विभक्त है और ये वर्ग जितने अधिक होंगे यह पूंजीवादी व्यवस्था उतनी ही अधिक मजबूत होगी।

भारतीय समाज को अन्दर से देखने पर पता चलता है कि यह समाज महिलाओं के साथ किस स्तर का भेदभाव करता चला आया है। इस भेदभाव की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक तथा सदियों पुरानी है जिसे समाप्त करने में भी कई और पीढ़ियां लगेंगी क्योंकि हमारा समाज वर्गों में बंटा हुआ है जिसके सबसे निम्न वर्ग तक पहुंचने में समय तो अवश्य लगेगा। इसके साथ उत्साहवर्द्धक तथ्य यह है कि उच्च वर्ग तथा उच्च मध्यम वर्ग के अंदर लिंग पर आधारित भेदभाव कम हुआ है जिसमें मुख्य भूमिका स्वयं महिला ने ही निभाई है। आगे भी महिला स्वयं की लड़ाई स्वयं ही लड़ेगी तथा स्वयं को स्वतंत्र कर लेगी।

आधुनिक युग विज्ञान तथा तकनीकी का युग है। इस समाज में जो वैज्ञानिक खोजें, अविष्कार, शोध के परिणामस्वरूप जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं उनसे मानव के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में बहुत बदलाव आया है। इसके अतिरिक्त कृषि, उद्योग, व्यापार, संचार, चिकित्सा, शिक्षा आदि क्षेत्र भी प्रभावित हुए हैं। इस परिवर्तन, बदलाव, प्रगति व विकास को स्पष्ट करने में विशेषज्ञों ने आधुनिकीकरण जैसी अवधारणा का प्रयोग किया है। सामान्यतः आधुनिकीकरण की अवधारणा का प्रयोग समाज में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी देशों में आए परिवर्तनों या विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों को समझने में किया गया है। कुछ विद्वानों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया तो कुछ ने इसे प्रतिफल के रूप में स्वीकार किया है।

आधुनिकीकरण से तात्पर्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देश–विदेश की अद्यतन वैज्ञानिक खोजों, वैज्ञानिक तकनीकी एवं प्रशासनिक तकनीकी के प्रयोग से उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने और जनसाधारण के जीवन स्तर को उठाने से होता है। हमारा राष्ट्र एक विकासशील राष्ट्र है। वर्तमान समय में देश के प्रत्येक क्षेत्र में संसार के किसी भी देश की अद्यतन वैज्ञानिक खोजों, तकनीकी एवं प्रशासनिक तकनीकी का प्रयोग कर रहे हैं। आधुनिकीकरण के कारण शिक्षा के हर क्षेत्र चाहे वह कृषि हो, चाहे उद्योग हो, चाहे व्यापार हो और चाहे प्रशासन हो, विकास की गति में वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप देश के जीवन स्तर में भी वृद्धि हुई है।

शिक्षा में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। 'शिक्षा एक यंत्र है और यंत्र अंततः उस व्यक्ति पर अवलंबित होता है जो उसे चलाता है। शिक्षा की आधुनिकीकरण के साधन के रूप में कितनी कार्यक्षमता हो सकती है, इसका दारोमदार उसके अभिविन्यास, विषय वस्तु तथा अन्य व्यक्तियों पर है, जो उसे देते तथा प्राप्त करते हैं।' एक अच्छा शिक्षक अपने ज्ञान, अनुभव, शिक्षण विधि तथा व्यवहार से बालकों को अच्छा ज्ञान दे सकता है और बालकों के दृष्टिकोण का विकास कर सकता है।

टिप्पणी

शिक्षा में समानता को समता से पृथक नहीं देखा जा सकता। अन्य शब्दों में– समानता के बिना समता सार्थक नहीं हो सकती। ये परस्पर अत्यधिक निकटता से सम्बद्ध हैं। समता के बिना समानता की चर्चा ही नहीं की जा सकती। इसीलिए इन दोनों शब्दों का उल्लेख साथ में किया जाना आवश्यक है। यहां यह जोर देना है कि इन दो शब्दों का प्रयोग संवैधानिक ढांचे के अनुरूप करना होगा।

समता का आशय है कि विधि के समक्ष प्रत्येक नागरिक अन्य नागरिकों के समान है। इसी कारण समता का महत्व यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मजात योग्यताएं व प्रतिभाएं विकसित करने का समान अवसर प्राप्त हो। किसी व्यक्ति को 'सीढ़ी पर ऊपर चढ़ने' से न रोका जाए (यदि ऊपर चढ़ने की योग्यता उसमें न हो तो अलग बात है)। लोकतंत्र में व्यक्तियों/समूहों में किसी भी आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए, वहां के समस्त नागरिकों को परस्पर समान अधिकार प्राप्त हों।

समानता का तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति पक्षपात व पूर्वाग्रहयुक्त व्यवहार से स्वाधीनता प्राप्त हो। समदर्शिता को समानता में लागू किया जाता है क्योंकि समानता के बिना समता सम्भव नहीं। समानता तो समता की अनुपूरक/सम्पूरक है। इसका आशय यह हुआ कि उन सबको समान अंश विधिवत् उपलब्ध कराया जाए जो किसी न किसी कारणवश वंचित रहे हैं अथवा ऐसी स्थिति में नहीं रहे हैं कि उन सुविधाओं से लाभान्वित हो पाएं जिनसे उन्हें विकसित जनों के समकक्ष लाया जा सकता है।

शिक्षा के लिए लड़कों को अधिक महत्व दिया जाता है लड़कियों को नहीं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 5–8 वर्ष की आयु के लगभग 80 प्रतिशत बच्चे स्कूल में नामांकित हैं शेष 20 प्रतिशत बच्चे निम्न सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के कारण कभी स्कूल नहीं गये। अनुसूचित जाति–जनजाति के बच्चों का औसत नामांकन बहुत कम है जबकि लड़कियों को स्कूल जाने के साथ–साथ घर की जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ती हैं अतः उन्हें अपना स्कूल का गृह कार्य करने का समय नहीं मिला और सामान्यतः अनुपस्थित रहती हैं। लड़कियों द्वारा प्राथमिकता घरेलू कार्य को दी जाती है जबकि लड़कों द्वारा शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती है। लड़कियों को पुरस्कृत तब किया जाता है जब वे घर का काम ज्यादा करती है या छोटे भाई बहनों को अच्छी तरह संभालती हैं जबकि लड़कों को उनके स्कूल की परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने पर पुरस्कृत किया जाता है।

भारतीय समाज में लड़की के जन्म को दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता है किन्तु शिक्षित परिवारों में और अन्य वर्ग की विचारधारा में अब निश्चित रूप से परिवर्तन आया है। कुछ समाज शास्त्रियों का मानना है कि यह परिवर्तन शिक्षित शहरी मध्यमवर्गीय महिलाओं में आई जागृति का परिणाम है। वे नहीं चाहती कि उनकी बेटियां भी दमन का जीवन व्यतीत करें। यह भी प्रकाश में आया है कि हाल के वर्षों में दिल्ली एवं मुंबई के शिक्षित वर्ग की महिलाओं में भ्रूण जांच परीक्षण के विषय में प्रतिकूल विचार उत्पन्न हुए हैं। इस विषय में राष्ट्र संघ की कुछ एजेंसिया यूनिसेफ एवं यूनिफेम का योगदान महत्वपूर्ण है।

पाठ्यक्रम समतामूलक मानदंडों पर आधारित होना चाहिए और इसे समाज में होने वाले सकारात्मक परिवर्तनों के साथ विकसित होना चाहिए। इसमें उचित मूल्यों को शामिल किया जाना चाहिए, जो छात्र के व्यक्तित्व का एक हिस्सा होना चाहिए। यदि समाज में मानदंड लैंगिक असमानता पर आधारित होते हैं, तो इन पाठ्यक्रमों में पाठकों

के साथ–साथ शिक्षकों के शिक्षण विधियों पर भी प्रतिबिंबित होने का एक मजबूत मौका होगा।

टिप्पणी

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि पाठयक्रम और पाठ्यपुस्तकों में लैंगिक समानता के पहलू में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है, कई देशों ने संगठनों को विकसित करना शुरू कर दिया है जो पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के विकास और संशोधन की जांच करते हैं। पाठ्यपुस्तकें पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य हिस्सा है क्योंकि उनके पास सामग्री का लिखित पाठ है जिसे सिखाया जाना है। अकसर यह महसूस किया जाता है कि अधिकांश पाठ्यपुस्तकें समानता की महत्वपूर्ण अवधारणा पर आधारित नहीं हैं।

लैंगिक असमानता से निपटने के लिए शिक्षक की भूमिका अतिमहत्वपूर्ण है। वैश्विक अध्ययन से पता चलता है कि लड़के शिक्षक का ध्यान सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरीकों से अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। परिणामस्वरूप कक्षा की सभी गतिविधियों में भी इनका वर्चस्व होता है। परिणामस्वरूप, लड़कों के लिए अधिक सीखने के अवसरों को खोलता है, उनका आत्मविश्वास बढ़ जाता है और उन्हें विभिन्न गतिविधियों में अधिक अवसर मिलते हैं। कक्षा की गतिविधियों के दौरान लड़कियों की अनदेखी की जाती हैं। नतीजतन, वे आत्मविश्वास खो देती हैं और विनम्र होने की प्रवृत्ति दिखाती हैं। शिक्षक, कुछ मामलों में, कक्षा में लड़कियों पर कम ध्यान देते हैं, जो उनके शैक्षणिक प्रदर्शन को भी प्रभावित करता है। एम. जन्गविद और जू रॉबिन्सन जैसे लेखकों ने अवगत कराया है कि ऐसे पर्याप्त सबूत हैं कि शिक्षक समानता के मुद्दे के बारे में पता होने के बावजूद, लड़कों और लड़कियों से अलग से और एक भिन्न अंदाज़ में व्यवहार होने देते हैं। इस स्थिति में लड़कियों पर प्रतिकूल असर पड़ता है।

स्कूलों में लिंग असमानता एकदम से लड़के–लड़कियों में नहीं आ जाती। बच्चे माता–पिता, परिवार, गली–मुहल्ले, कस्बे, शहर, महानगर से अपनी यात्रा तय करते हुए पाठशाला में प्रवेश लेते हैं अथवा उन्हें प्रवेश दिलाया जाता है। इसमें सर्वप्रथम सरकारी तंत्र प्रयास रत रहता है। फिर परिवार, समाज और वातावरण भी बच्चों को स्कूल में आने के लिए प्रेरित करते हैं। इन तमाम बिन्दुओं का प्रभाव–मानसिक और बौद्धिक स्तर पर बच्चो पर पड़ता है। अलग–अलग भाव लेकर लड़के–लड़कियां स्कूलों में प्रवेश लेते हैं। उन स्थानों के वातावरण के प्रभाव उन पर छाये रहते हैं। इनमें भी लड़कियों को विशेष रूप से स्कूलों में लाया जाता है।

बालिका शिक्षा योजना के अंतर्गत सरकार द्वारा घोषित किया गया है कि महिला समाख्या राज्यों में, राज्य सरकार द्वारा महिला समाख्या सोसाइटी के माध्यम से जबकि अन्य राज्यों में सर्वशिक्षा अभियान समिति के माध्यम से लागू की जाएगी। राज्य सर्वशिक्षा अभियान समिति को निधि सर्वशिक्षा अभियान मानक के अनुसार जारी किया जाएगा। राज्य व जिला स्तर पर योजना का संचालन व मूल्यांकन महिला समाख्या संसाधन केंद्र द्वारा और गैर–महिला समाख्या राज्यों में सर्वशिक्षा अभियान समिति में प्रारंभिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम के लिए गठित समिति, करेगी। आवासीय विद्यालय के शिक्षकों एवं अन्य कर्मचारियों को प्रशिक्षण, जिला शैक्षिक

प्रशिक्षण संस्थान, प्रखंड संसाधन केंद्र और महिला समाख्या संसाधन समूह के सहयोग से किया जाएगा।

4.9 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **वस्तुनिष्ठ** : वैकल्पिक।
- **परिप्रेक्ष्य** : संदर्भ, विषय।
- **स्रोत** : साधन, आधार।
- **क्षुधा** : भूख।
- **पदार्पण** : प्रवेश करना।
- **निषिद्ध** : मनाही, अमान्य।
- **विद्यारंभ** : विद्या की शुरुआत।
- **प्रोत्साहन** : बढ़ावा देना।
- **विषमता** : असमानता।
- **मुहैया** : उपलब्ध।
- **सर्वशिक्षा** : सभी के लिए शिक्षा।
- **दायित्व** : जिम्मेदारी, कर्तव्य।
- **आवंटित** : बांटना।
- **मानदंड** : मानक, पैमाना।
- **प्रतिमान** : अनुकरणीय आदर्श।
- **संदर्भ** : रचना, बनावट।
- **यथार्थवाद** : जो जिस रूप में हो उसे उसी रूप में स्वीकार करना।
- **सुसंगत** : बहुत उचित, युक्ति–युक्त, संगतिपूर्ण।
- **समग्र** : आदि से अंत तक।
- **अर्हता** : योग्यता, उपयुक्तता।
- **बहुरंगी** : कई रंगों वाला, रंग–बिरंगा।
- **उपहास** : मजाक उड़ाना, तुच्छ जानना।
- **सहृदय** : कोमल गुणों से युक्त हृदय वाला।
- **कुशाग्र** : होशियार।

4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में प्रचलित रही सभी शिक्षा पद्धतियों के नाम बताइए।

टिप्पणी

2. उन आधारों के नाम बताइए जो शिक्षा के संदर्भ में विविधता और असमानता के लिए जिम्मेदार हैं।
3. शिक्षा और आधुनिकीकरण पर संक्षिप्त लेख लिखिए।
4. शिक्षा में समता और समानता की वृद्धि में सहायक कारकों का वर्णन कीजिए।
5. शिक्षा के संदर्भ में लैंगिक असमानता के प्रमुख कारकों के नाम बताइए।
6. लड़कियों और महिलाओं की शिक्षा के लिए किए जा रहे सरकारी प्रयासों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ में भारत में प्रचलित रही सभी शिक्षा प्रणालियों का विश्लेषण कीजिए।
2. शिक्षा, विविधता और असमानताएं विषय की विवेचना कीजिए।
3. शिक्षा और आधुनिकीकरण विषय का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।
4. शिक्षा में समता और समानता के सभी पक्षों की विवेचना कीजिए।
5. शिक्षा के संदर्भ में लैंगिक असमानता का विवेचन कीजिए।
6. लड़कियों एवं महिलाओं की शिक्षा के लिए किए जा रहे सरकारी प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
7. बालिकाओं के औपचारिक शिक्षा प्रणाली में कम भागीदारी तथा विद्यालय छोड़ने की ऊंची दर के कारणों की विवेचना कीजिए।
8. ग्रामीण, शहरी तथा पिछड़े वर्गों के संदर्भ में बालिका शिक्षा पर सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव की व्याख्या कीजिए।
9. बालिका शिक्षा को असमान करने वाले प्रभावित कारकों की चर्चा कीजिए।
10. समानता और गुणवता के बीच संबंधों की व्याख्या कीजिए।
11. शैक्षिक उपलब्धियों की समानता से आप क्या समझते हैं? विवेचना कीजिए।

4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Chanana, Karuna. 1988. *Socialisation, Education, and Women: Explorations in Gender Identity*. Delhi: Orient Longman.
2. Dube, Leela, Rajni Palriwala. 1990. *Structures and Strategies: Women, Work and Family*. New Delhi: SAGE Publications.
3. Chodrow Nancy. 1978. *The Reproduction of Mothering*. Berkeley: University of California Press.
4. Dube Leela etal. 1986. *Visibility and Power: Essays on Women in Society and Development*. New Delhi: OUP.